कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

पे PhonePe

ACCEPTED HERE

Scan & Pay Using PhonePe App

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

[क्षत्रिय का कर्त्तव्य—सबकी रक्षा]

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥ —मनु० ७।१,२

(अथ) वर्णाश्रमव्यवस्था का विवेचन करने के अनन्तर (राजधर्मान् व्याख्यास्यामः) राजधर्मों की व्याख्या करेंगे । 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस विषय को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है 'अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः' । स्वयं भगवान् मनु ने इस विषय का प्रवर्त्तन 'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि' कहकर किया है ।

प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का वाचक या पदार्थ का द्योतक होता है। संस्कृत के शब्दों की यह विशेषता है कि उनका अर्थ उनके निजी स्वरूप में निहित होता है। वे सभी भावपूर्ण तथा किसी विचार का प्रतीक अथवा मूर्त्तरूप होते हैं और अपने विशिष्ट अर्थ के कारण ही किसी पदार्थविशेष के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिस शब्द का जो अर्थ विवक्षित होता है, वह उसपर बलात् आरोपित नहीं होता, अपितु प्रकृति-प्रत्यय के योग से उसके मूलरूप से निःसृत होता है। वस्तुतः हमारे यहाँ 'नीति' और 'धर्म' शब्द का इतने गम्भीर अर्थों में प्रयोग किया गया है कि संसार की अन्य किसी भी भाषा में उनके पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते। केलिफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर ने संस्कृत के कालजयी ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' का अंग्रेजी में अनुवाद करते समय उसकी भूमिका में लिखा था—"Western scholarship should be ashamed that it has not been able to find an equivalent of the Sanskrit word 'Niti' (नीति). At best it can be paraphrased as 'wise conduct of life." जिन दिनों मौलाना अबुलकलाम आज़ाद तथा प्रोफेसर हुमाँयु कबीर क्रमशः भारत के शिक्षामन्त्री तथा शिक्षासचिव थे, तब १ अक्तूबर १९५५ को भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से देशभर के शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों के नाम भेजे गये एक परिपत्र में सभी स्कूलों व कालिजों में धर्मशिक्षा को एक अनिवार्य विषय बनाने की प्रेरणा करते हुए कहा गया था—"There is a system of values which is recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and in fact the individuals constituting it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community."

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि—चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि जिस प्रकार का राजा होना चाहिए और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, उसको सब प्रकार कहते हैं ॥१॥

जैसा परम् विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान्, सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥२॥ उसका प्रकार यह है—

इस परिपत्र के अन्तिम वाक्य में धर्म शब्द की जो व्याख्या की गयी है वह मानो महाभारत के इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का शब्दानुवाद है—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स वै धर्म इति स्मृतः ॥

अरबी, फारसी व अंग्रेजी के पक्षधर इन महारथियों को धर्म का आश्रय तभी लेना पड़ा जब उन्हें अपनी भावनाओं के अनुरूप अभिव्यक्ति के लिए अन्य भाषाओं में कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला। धर्म शब्द का योगार्थ है—जो धारण करे। राजनीतिक नियम राष्ट्र को धारण करते हैं, इसलिए वे धर्म हैं। वस्तुतः अंग्रेजी में Caper law शब्द का जो अर्थ है वही वेद के धर्म शब्द का है। अंग्रेजी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश O.E.D. (Oxford English Dictionary) में Caper law शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—'The body of rules, whether formally enacted as binding on its members or subjects.' उधर आप्टे ने अपने संस्कृत-इंगलिश कोश में धर्म के law, ordinance, statute अर्थ दिये हैं। इस प्रकार धर्म और लॉ पर्यायवाची ठहरते हैं। हमारे सब धर्मसूत्रों, स्मृतियों आदि में सर्वत्र राज्य-नियमों के लिए धर्मशब्द ही प्रयुक्त हुआ है और जैसाकि हम आगे देखेंगे, वेद में निर्दिष्ट सभा और समिति राज्य की नियामक विधानसभाएँ (Legislatures) हैं।

संस्कृत के प्रामाणिक कोश 'वाचस्पत्यम्' तथा 'शब्दकल्पद्रुम' आदि के अनुसार **'धृ धारणे धातोः मन् प्रत्ययः। धरति लोकान् ध्रियते वा प्रजाभिः इति धर्मः।'** **व्युत्पत्ति के अनुसार 'धृञ् धारणे (भ्वादि) धातोः' 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उणादि० १।१४०), ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः, पक्षपातरहितो न्यायः** (उणादिव्याख्यायाम्)।

सत्यार्थप्रकाश के 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूँ।"

'धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, अथवा राज्य को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए'—यह उद्घोष 'धर्म' के गूढार्थ को न समझने के कारण किया जाता है। धर्म के जिस स्वरूप का निर्देश ग्रन्थकार ने ऊपर किया है, उसकी उपेक्षा के कारण ही आज राजनीति दूषित हो गयी है और समाज पापाचार में ग्रस्त हो गया है। यदि पुरुष में नारी के गुण आ जाएँ तो वह देवता बन जाता है। इसके विपरीत यदि नारी में पुरुष के गुण आ जाएँ तो वह कुलटा हो जाती है। इसी प्रकार यदि राजनीति में धर्म आ जाए तो वह पवित्र हो जाती है और इसके विपरीत यदि धर्म में राजनीति आ जाए तो वह मनुष्य के लिए भयानकरूप से घातक हो जाता है। जिसे आज राजनीति कहा जाता है, प्राचीन भारतीय वाङ्मय में और यहाँ उसे राजधर्म के नाम से अभिहित किया है।

यहाँ 'राजधर्म' में तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'राजप्रजाधर्म' में धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में हुआ है। कर्त्तव्य, औचित्य, व्यवहार, आचरण इन सभी भावों को इस प्रयोग में सन्निविष्ट किया गया

[तीन सभाओं का निर्माण]

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥

—ऋ० मं० ३। सू० ३८ । मं० ६

है। जैसे—राजा के बिना प्रजा की और प्रजा के बिना राजा की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही कर्त्तव्य के बिना अधिकार की और अधिकार के बिना कर्त्तव्य का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए इस समुल्लास में राजा और प्रजा, उनसे सम्बन्धित सभा-समितियों के कर्त्तव्याधिकारों, प्रशासनिक स्तर पर विभिन्न राजकीय विभागों, राज्य की रक्षार्थ सेना, वित्तीय आवश्यकताओं, न्यायालयों, विदेशनीति आदि सभी विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु० २।६), 'वेदो धर्ममूलम्' (गौतमधर्मसूत्र १।१।२), **'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७), **'वेदाः प्रमाणं लोकानाम्'** (महा० शान्ति० २७०।१)— सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

—मनु० १२।१००

वेदशास्त्रविद् अर्थात् वेद को जाननेवाला व्यक्ति सैनापत्य अर्थात् सेनाओं का संगठन और संचालन कर सकता है, दण्डनेतृत्व अर्थात् न्यायव्यवस्था की स्थापना कर सकता है और सर्वलोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य को व्यवस्थित कर सकता है। मनु के इस श्लोक का तात्पर्य है कि वेद में राजनीति का सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया है। इस प्रकार राजधर्म वेदमूलक है। प्रत्येक वेदमन्त्र की देवता है। **'या तेनोच्यते सा देवता'**—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही उसकी देवता है। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के मन्त्र संख्या २०, २२, २३, ३१ तो साक्षात् 'राजप्रजे' दैवत हैं। मन्त्र संख्या २१ की देवता न्यायाधीश, २८ की प्रजापति, ३० व ३२ की राजा, ३४ व ३५ की प्रजा, ३८ की सभासद तथा ४० से ४४ तक की प्रजा है। **'गणानां त्वा'** इस १६वें मन्त्र की देवता 'गणपति' (राष्ट्रपति) है, जिसमें राष्ट्रपति पद की अर्हताओं का वर्णन किया है।

बिना शासक के शासन नहीं चल सकता। ब्रह्माण्ड का व्यवस्थित संचालन इसीलिए हो रहा है कि उसका एक संचालक है जिसको परमेश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है। **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** (यजुः० २५।१०)—इस अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति प्रजापति वा राजा एक ही है। अनेक होते तो सुचारु रूप से संचालन न हो पाता। ब्रह्म का लक्षण करते हुए बादरायण (महर्षि वेदव्यास) ने वेदान्त में लिखा है—**'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'** (४।४।१७)। इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है कि जगत् की उत्पत्त्यादि तो नित्यसिद्ध ईश्वर का अधिकार है। यह कार्य तो ईश्वर मुक्तात्माओं के अधिकार में भी नहीं देता। कारण ? जीवात्मा अनेक हैं। यदि उन्हें उत्पत्यदि का अधिकार दे दे तो उनमें से कोई सृष्टि को उत्पन्न करना चाहेगा और कोई उसका संहार करना चाहेगा। इस प्रकार परस्पर विरोध के कारण सृष्टि के कार्य में बाधा पड़ेगी। इसलिए समस्त ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का एकछत्र राज्य है। वह परमात्मा अपनी महिमा से, अपने असीम सामर्थ्य और उच्चतम गुणों के कारण इस जगत् का एकमात्र राजा है—**'महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'** (यजुः० २५।११)।

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक सम्राट् (परमेश्वर) का शासन

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुख-प्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा-सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

है—**'सम्राडसि'** (यजुः० ५।३२) वैसे ही मनुष्यसमाज में अपने-अपने सीमित क्षेत्र में शासन करनेवाले सर्वोच्च व्यक्ति को उसके गुणों के कारण राजा नाम से अभिहित किया जाता है।

ऋग्वेद ५।६६।६ में शासन को 'बहुपाय्य' अनेकों की सहायता से चलनेवाला बताया है। मनुस्मृति (७।५५) के आधार पर ग्रन्थकार ने लिखा है—'विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर करना बहुत ही बुरा काम है।" इसलिए—

त्रीणि सदांसि—ग्रन्थकार ने इस वेदमन्त्र को उद्धृत करके राज्यकार्य का संचालन करने के लिए तीन सभाएँ नियुक्त किये जाने का निर्देश किया है। मन्त्र में आये 'राजाना' तथा 'भूषथः' शब्दों से स्पष्ट है कि इन सभाओं की नियुक्ति का अधिकार केवल राजा को नहीं है। 'राजाना' शब्द द्विवचनान्त है—**'द्विवचनस्याकारादेशश्छान्दसः'** । क्रियापद 'भूषथः' भी द्विवचनान्त है। इस प्रकार यहाँ 'राजानौ' पद से राजा और प्रजा दोनों का ग्रहण होता है। तदनुसार ही इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'राजा और प्रजा के पुरुष मिलके' लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये तीन सभाएँ राजा द्वारा मनोनीत (nominated) न होकर संयुक्तरूप से राजा और प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा नियुक्त होंगी। प्रजा के पूर्ण सहयोग के बिना शासनतन्त्र सुचारु रूप से नहीं चल सकता।

वर्त्तमान में राज्यव्यवस्था या शासनतन्त्र के तीन अंग, विधायिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) माने जाते हैं। विधायिका का काम शाशन को व्यवस्थितरूप से चलाने के लिए अपेक्षित विधि-विधान तैयार करना, कार्यपालिका का काम निर्धारित विधि-विधान के अनुसार कार्य करना तथा न्यापालिका का काम दोनों को नियन्त्रित करना है। लोकतन्त्र में 'तन्त्र' का आधार लोक होता है। जब लोकवाणी की अवहेलना करके 'तन्त्र' प्रबल हो जाता है तो मूल्यों का संकट उत्पन्न हो जाता है। ग्रन्थकार ने **'त्रीणि सदांसि'** का अर्थविद्यार्य सभा, धर्मार्यसभा तथा राजार्यसभा किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन्हें 'राजार्यसभा, आर्यविद्यासभा तथा आर्यधर्मसभा' नामों से अभिहित किया है। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने ऋ०भा०भू० के स्वसम्पादित संस्करण में वहाँ टिप्पणी में लिखा है—

"उत्तरत्र 'आर्यविद्यासभा' 'आर्यधर्मसभा'पदप्रयोगदर्शनाद् भाषायां च 'आर्यराजसभा' पदनिर्देशाच्चेहापि 'आर्यराजसभा' इत्येव पाठो युक्तो भवेत्। सत्यार्थप्रकाशे षष्ठसमुल्लासे चैतन्मन्त्रव्याख्यायां 'राजार्यसभा विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' प्रयोगदर्शनादिह 'आर्यविद्यासभा-आर्यधर्मसभा' पदयोः स्थाने 'विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' पाठो वानुसन्धेयः। वयन्तूभयथापि प्रयोगदर्शनाद् आर्याणां राजा, आर्याणां विद्या, आर्याणां धर्म इत्येवं षष्ठीसमासे 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) इति नियमेन राजविद्याधर्माणां पूर्वनिपातः। 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युपसर्गः प्रवर्त्तते' इति नियमेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० २।२।३०) इत्युत्सर्गेण आर्यपदस्यादिप्रयोगोऽपि ज्ञेयः। एतच्च राजदन्तादिषु पठितेषु धर्मादिपदेषूभयथाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'धर्मादिषूभयम्' इति नियमस्य स्वीकरणादपि समर्थ्यते।"

ग्रन्थकार द्वारा राज्यप्रबन्ध के लिए धर्मार्यसभा आदि के रूप में कार्यविभाजन का क्या आधार है, हम

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

—अथर्व० का० १५ । अनु० २ । व० ६ । मं० २ । (१५।६।२)

सभ्यं सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

—अथर्व० का० १६ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥ (१६।५५।६)

नहीं कह सकते । हो सकता है, कोई प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ उनके देखने में आया हो । यह भी हो सकता है कि यह उनकी अपनी ऊहा या सूझ हो । यहाँ तीनों सभाओं के नामों का उल्लेखमात्र हुआ है । उनकी व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सूत्ररूप में उपलब्ध है । वहाँ लिखा है—"वे तीनों ये हैं—प्रथम राजप्रबन्ध के लिए एक आर्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किये जाएँ; दूसरी आर्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए; तीसरी आर्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे ।" जिस धर्मसभा का काम धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि करना है, निश्चय ही उससे Ecclesiastical Department या सीग़ा अमूरे मज़हबी (धर्मविभाग) अभिप्रेत नहीं है । ग्रन्थकार के मत में 'जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त कर्म है, वह धर्म और जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है' (स०प्र०) अथवा 'जो पक्षपातरहित न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो' (ऋ०भा०भू० वेदोक्तधर्मविषय) । इस लक्षणयुक्त धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करना धर्मसभा का काम है । इस प्रकार धर्मार्यसभा न्यायव्यवस्था या न्यायसभा का अपर नाम है । तदनुसार न्यायालय, जेलविभाग, सुधारगृह आदि के माध्यम से सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करना धर्मार्यसभा के क्षेत्र के अन्तर्गत है ।

विद्यार्यसभा के अन्तर्गत प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था, सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबके विकास के लिए अपेक्षित अनुसन्धान, प्रयोगशालाएँ, सांस्कृतिक कार्य, कला-कौशल, संग्रहालय, सूचना तथा प्रसारण, पुस्तकालय, प्रकाशन, खेलकूद आदि हैं ।

राजार्यसभा के अन्तर्गत गृहविभाग, विदेशविभाग, रक्षाविभाग, राजस्व, अर्थव्यवस्था, उद्योग, कृषि, यातायात, संचार आदि आ सकते हैं ।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के सम्यक् शासन के लिए विविध प्रकार की सभा, समिति, परिषद् आदि का होना आवश्यक है । प्रजा के विभिन्न वर्गों के विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से विचार करके ही किसी बात का निर्णय होना चाहिए । कोई भी एक व्यक्ति सर्वज्ञ या सर्वगुणसम्पन्न नहीं होता । इसलिए किसी एक की बुद्धि पर निर्भर करके शासनकार्य ठीक-ठाक नहीं चल सकता । ग्रन्थकार का स्पष्ट निर्देश है कि "तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बर्तें ।" इसीलिए उन्होने ऋ०भा०भू० में आदेश दिया है—'तीन प्रकार की सभाओं को "राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं । जहाँ एक अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ निश्चितरूप से प्रजा पीड़ित होती है ।" प्रकारान्तर से इस बात को उन्होंने बार-बार कहा है ।

तं सभा च समितिश्च—यहाँ अथर्ववेद के १५वें काण्ड के ६वें सूक्त का प्रसंग है—**स विशोऽनुव्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्** ॥ १-२ अर्थात् वह (राजा) प्रजाजनों के अनुकूल चला । सभा, समिति, सेना और सुरा (सुरा=षुर=सुर (ऐश्वर्य); षु प्रसवैश्वर्ययोः=राज्यकोष) उसके अनुकूल चले । राजा अनुरोध करता है कि '**सभा च मा समितिश्चावताम्**' (अथर्व० ७।१२।१) सभा और समिति

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था, और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें ॥१॥

सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि—'हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें ॥२॥

मेरी रक्षा करें। इसके उत्तर में कहा गया है कि जो राजा प्रजाजनों की इच्छाओं का आदर करता है, उसी को सभा, समिति, सेना और राज्यकोष का सहयोग मिलता है।

सभा और समिति के विषय में अथर्ववेद ७।१२।२ में बताया है—

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

राजा (राष्ट्रपति) कहता है—हे सभा और समिति नामक सभाओ ! मैं जानता हूँ कि तुम नरिष्टा हो—(१) नृणां इष्टा नरिष्टा अर्थात् तुम प्रजा की हितकारिणी हो और (२) न रिष्टा=नरिष्टा=अनतिलंघ्या अर्थात् तुम्हारे निर्णय का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे सभासद् मेरे साथ एक वाणीवाले अर्थात् मिलकर विचार करनेवाले हों।

वेद (अथर्ववेद ७।१२।१) में सभा-समिति को राजा की 'दुहिता' (प्रजापतेर्दुहितरौ) बताया है और उनके सदस्यों को उसका 'पितर' कहा है। उनके (सभा-समिति के) आदेशों का राजा उल्लंघन नहीं कर सकता। इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि यहाँ 'दुहिता' का सामान्य अर्थ पुत्री नहीं होना चाहिए। इसलिए यहाँ दुहिता का रूढ अर्थ न लेकर उसका यौगिक अर्थ लेना होगा जो उसके धातु से प्राप्त होगा। दुहिता शब्द **'दुह प्रपूरणे'** धातु से निष्पन्न होता है। सभा और समिति राज्यसम्बन्धी कार्यों को पूरा करती हैं। इनकी सहमति के बिना राजा और उसकी सरकार कोई कार्य नहीं कर सकती। अन्तिम स्वीकृति सभा और समिति की होगी। पितर शब्द **'पा रक्षणे'** धातु से निष्पन्न होता है। उनकी योग्यता और अनुभव के कारण ही राजा चाहता है कि सभा-समिति का प्रत्येक सभासद् उसे उचित परामर्श दे (स मा उपशिक्षात्)। इसलिए वे राजा के पितर=पितृस्थानीय हैं। जब तक सभासदों का बहुमत राजा के साथ है तब तक वह सुरक्षित है, इसलिए **'पा रक्षणे'** धात्वर्थ के अनुसार वे पितर हैं और इस प्रकार उसके रक्षक हैं। जब ये सभासद् उसके पितृस्थानीय हैं तो उनसे निर्मित सभा-समिति के आदेशों का पालन करना उसका कर्त्तव्य है। इसी में उसका अपना और राष्ट्र का हित है।

कुछ विद्वान् 'दुहिता' का लोक में प्रचलित अर्थ 'पुत्री' ही करते हैं। उनके मत में सभा और समिति राजा की पुत्री के समान हैं, जिनसे वह मिलकर चलने और उसकी रक्षा करने का अनुरोध करता है। वह उनसे यह भी आशा करता है कि जब कभी वह उनसे व्यष्टि अथवा समष्टिरूप में किसी विषय में सम्मति माँगे तो वे उसे अपेक्षित जानकारी देते हुए उसे निष्पक्ष एवं सुविचारित सम्मति दिया करें। पुत्रियों को जन्म देना और उनका समुचित पालन-पोषण करके समर्थ बनाना पिता का काम है, किन्तु वे सदा उसके अधीन नहीं रहतीं। समर्थ होने पर वे अपना हिताहित समझने लगती हैं और पति की अनुव्रता हो जाती हैं। इसी प्रकार निर्वाचन-प्रक्रिया के द्वारा सभा और समिति को संगठित करना राजा का काम है। तत्पश्चात्

सभापति के निर्देशन में विवेक द्वारा निश्चय करके राजा को दिशानिर्देश करने में वे स्वतन्त्र हैं।

सभा—समिति की उत्पत्ति और विकास—इसका विवरण अथर्ववेद के आठवें काण्ड के दसवें सूक्त में उपलब्ध है। तदनुसार—

> **विराड् वा इदमग्र आसीत् ।**
> **तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥**
> **सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥२॥**
> **गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३॥**
> **सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥**
> **यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥६॥**
> **सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१०॥**
> **यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥११॥**
> **सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२॥**
> **यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥१३॥**

अर्थात्—सृष्टि के प्रारम्भ में कोई शासनव्यवस्था न थी। राज्य से प्रजाशक्ति ही थी। सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार की अवस्था का होना स्वाभाविक था। इस अराजकता की स्थिति में लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि क्या यही अवस्था रहेगी? वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और गृहपति में परिणत हो गयी। अलग-अलग बिखरे व्यक्ति परिवार बनाकर रहने लगे और मुखिया के अधीन रहकर व्यवस्थित जीवन बिताने लगे। यह प्रजाशक्ति फिर उत्क्रान्त हुई और सभा में परिणत हो गई। प्रजाशक्ति फिर उत्क्रान्ति हुई और समितियों के रूप में परिणत हो गई। यह प्रजाशक्ति पुनः उत्क्रान्त हुई और आमन्त्रण में परिणत हो गयी। जो यह जानते हैं वे क्रमशः परिवार, सभा, समिति और आमन्त्रण के सभासद् होते हैं।

जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए संगठन के विभिन्न स्तर बनते जाते हैं और लोग मिल-बैठकर अपनी समस्याओं का समाधान खोजने लगते हैं। इसका पहला घटक 'सभा' है। सभा का अर्थ है—लोगों का आवश्यकतानुसार कोई निश्चय करने के उद्देश्य से समानरूप से या एक साथ चमकना अर्थात् अपने विचारों को प्रकाशित करना। 'सभा' के बाद 'समिति' की अवस्था आती है। 'समिति' शब्द का अर्थ है—'सं सम्यक् यन्ति जना निश्चयार्थं यत्र।' लोगों का किसी निश्चय के लिए सम्यक् प्रकार से जाना। 'सम्' (सम्यक्) उपसर्ग का आशय यह है कि 'समिति' में भेजे जानेवाले लोगों की योग्यता सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए।

सभा तथा समिति शब्दों की व्युत्पत्ति से इनका प्रतिनिधि संस्था होना प्रतीत होता है। सभा और समिति संसद् की निम्न और उच्च सभाओं —(Lower and upper houses)— जैसी संस्थाएँ हैं।

कतिपय विद्वानों की मान्यता के अनुसार शासन व्यवस्था सम्बन्धी उत्क्रान्ति की अन्तिम अवस्था 'आमन्त्रण' होती है। आमन्त्रण संयुक्त राष्ट्रसंघ की सार्वभौम या विश्वभर की सर्वोच्च राजसभा प्रतीत होती है। 'आमन्त्रण' शब्द से ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का निपटारा करने के लिए आयोजित की जाती थी, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को 'आमन्त्रित' किया जाता था।

श्री स्वामी वेदानन्दजी ने स्वसम्पादित 'वेदामृत' में 'आमन्त्रण' शब्द से मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल का ग्रहण किया है जो समूची राजव्यवस्था का नियमन करता है, । मन्त्रिमण्डल में राज्य के योग्यतम व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए । तीनों सभाओं में से विभिन्न विषयों के पारंगत एवं अनुभवी लोगों को लेना चाहिए ।

यहाँ एक चुभता हुआ प्रश्न उठता है कि जब वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में ही हो गया था और उनमें मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान विद्यमान था तो उनमें राज्यव्यवस्था के लिए राजसभाओं के क्रमिक विकास की बात कैसे आई ? इसमें सन्देह नहीं कि वेद में तीनों कालों का प्रयोग यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु त्रिकालाबाधित वेद में भूतकाल का प्रयोग कैसे सम्भव है ? इसका समाधान पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में कर दिया है । उनके मत में लौकिक भूतार्थक लकारों का प्रयोग वेद में नहीं है । उनका कहना है—**'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'** अर्थात् इन तीनों लकारों का प्रयोग धातु का अर्थमात्र बताने के लिए किया जाता है । काशिकाकार ने इसकी व्याख्या में लिखा है—**'छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वत्र कालेषु लुङ्लङ्लिट्प्रत्यया भवन्ति'** । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसका अनुमोदन किया है, अतः इन लकारों के प्रयोग के कारण भूतकाल की क्रिया मानकर वेद में इतिहास या क्रमिक विकास की कल्पना करना व्याकरण तथा वेद दोनों के साथ अन्याय करना होगा । वस्तुतः वेद का उपदेश सार्वभौम एवं सार्वकालिक है । अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार उससे काम लिया जा सकता है । राजसभाओं का निर्माण मनुष्यों की संख्या, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनकी समस्याओं अथवा परिस्थितियों की जटिलता पर निर्भर करता है । वेद का ज्ञान मिल जाने और आदर्श राज्य-व्यवस्था का ज्ञान हो जाने पर भी सृष्टि के आदि में जनसंख्या की अल्पता और इस कारण जटिलता की न्यूनता के कारण प्रारम्भ में वेद में निर्दिष्ट संविधान को उसकी समग्रता में लागू करने की आवश्यकता नहीं होगी । पर जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाएगी और पारस्परिक सम्बन्धों में विषमता के कारण समस्याएँ उलझती जाएँगी वैसे-वैसे समाज के विकास की अवस्था के अनुकूल राजसंस्थाओं का विकास होता जाएगा । भारत के संविधान में राज्य स्तर पर प्रत्येक प्रदेश में विधानपरिषद् तथा विधानसभा दोनों का प्रावधान होते हुए भी सब प्रदेशों में विधानपरिषद् की व्यवस्था नहीं है । राज्यों की सीमाओं तथा उनकी जनसंख्या के अनुसार विधानपरिषदों का गठन व विघटन होता रहता है । तदनुसार ही केन्द्र और राज्यों के अधिकारों की सूची में भी परिवर्तन होता जाता है ।

अथर्ववेद ७।१३।३ में 'संसद्' शब्द आया है, जो सभा (Lower House=House of representatives =लोकसभा) तथा समिति (Upper House=Council of states=राज्यसभा) दोनों का संयुक्त नाम है । ऋग्वेद १०।१२५।३ में एक अन्य शब्द का प्रयोग हुआ है—**'राष्ट्री संगमनी'** । यह शब्द भी सामान्यरूप से सभा और समिति दोनों को कहता प्रतीत होता है । 'संगमनी' शब्द में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण में 'ल्युट्' प्रत्यय है । इस प्रकार 'संगमनी' शब्द का अर्थ होगा—जहाँ मिल-बैठकर विचार करने (सं गच्छध्वं सं वदध्वम्) के लिए इकट्ठे हों । मन्त्र में 'राष्ट्री' पद 'संगमनी' का विशेषण है । इस प्रकार 'राष्ट्री संगमनी' का अर्थ हुआ—जहाँ राष्ट्रभर के प्रतिनिधि इकट्ठे हों । आवश्यकता पड़ने पर सभा तथा समिति के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान है । उसके लिए अथर्ववेद (७।१३।१) में 'संगतेषु' शब्द का प्रयोग हुआ है । संगत शब्द का अर्थ भी एकत्र होना है । इन दोनों शब्दों के धातु और उपसर्ग एक ही हैं और अर्थ भी एक है । इस प्रकार सभाओं का सामान्यवाचक शब्द 'संगमनी', 'राष्ट्री' विशेषण के साथ राष्ट्रिय महासभा (National

[राजवर्ग की पूर्ण स्वतन्त्रता से हानि]

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, **किन्तु राजा जो सभापति तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन, और प्रजा राजसभा के अधीन रहे** । यदि ऐसा न करोगे तो—

'राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्याद्राष्ट्री विशं घातुकः । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥

—शत० का० १३ । अनु० २। ब्रा० ३॥

Assembly) का वाचक ठहरता है । अथर्ववेद ७।१२।१ में प्रयुक्त 'संविदाने' (एकमत) शब्द का अभिप्राय है कि जब तक सभा और समिति दोनों किसी प्रस्ताव को स्वीकार न करें—चाहे पृथक्-पृथक् बैठकर और चाहे संयुक्त अधिवेशन में—तब तक राजा उसे मानने के लिए बाध्य नहीं है ।

ऋग्वेद १।१८।६ में सभाध्यक्ष के लिए एक पारिभाषिक या विशिष्ट नाम दिया प्रतीत होता है । ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य में 'सदसस्पति' की व्याख्या करते हुए लिखा है—**(सदसः) सीदन्ति विद्वांसो धार्मिका न्यायाधीशाः यस्मिंस्तत्सदः सभा तस्य (पतिम्) स्वामिनम् ।'** इस प्रकार संसद् के अध्यक्ष (Speaker) का पर्यायवाची 'सदसस्पति' हो सकता है, क्योंकि वेद में मुख्यतः लोकसभा के लिए सभा शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'संसदः' तथा 'सदसः' दोनों के लिए षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त प्रयोग से सर्वथा स्पष्ट है कि सभा और समिति एक ही नियामक सभा की छोटी-बड़ी सभाएँ हैं । किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर उसके पक्ष-विपक्ष में सब पहलुओं से गम्भीरतापूर्वक विचार करने की दृष्टि से सामान्य तथा विशिष्ट दो स्तरों पर विचार करना श्रेयस्कर है । इससे किसी कार्य के सहसा हो जाने पर भी रोक लगी रहती है ।

जहाँ सभा का सदस्य तो कोई भी बन सकता है, वहाँ समिति के सदस्यों को एक विशेष प्रकार के आचार और विद्या की योग्यता (Moral and Intellectual Merit) के आधार पर नियुक्त किया जाना आवश्यक है । समाज में ब्राह्मण सबसे अधिक ज्ञानी और आचारवान् लोग होते हैं, अतः समिति में उनकी संख्या अधिक होनी चाहिए । इस प्रसंग में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परिभाषा में आचार के धनी, निःस्वार्थ, परोपकारी और अपने विषय के तत्त्वदर्शी विद्वानों को ही ब्राह्मण कहा जाता है । ब्राह्मणत्व के साथ जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

सभ्य सभाम्—यहाँ 'सभ्याः' तथा 'सभासदः' दोनों प्रथमा विभक्ति के बहुवचनान्त हैं, किन्तु 'सभ्य' सम्बोधन में एकवचनान्त है । ऋ०भा०भू० में ग्रन्थकार ने भी इन पदों को इसी रूप में ग्रहण किया है । अनेक सभासदों के बीच में एकवचनान्त 'सभ्य' पद से सभाध्यक्ष का ग्रहण करना प्रकरणानुकूल भी है । यहाँ राजा सभाध्यक्ष से अनुरोध करता है कि तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा कर (च) और (ये) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद सभा में बैठे हैं, वे भी सभा की रक्षा करें । सभा की रक्षा करने का तात्पर्य उसके संचालन में सहयोग देना तथा उसके निर्णयों को स्वीकार करके उन्हें कार्यान्वित करना-कराना है ।

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति—वेद न केवल 'संवृत राजत्व' (Elected Monarchy) का प्रतिपादन करते हैं, प्रत्युत स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य को प्रजा के लिए सर्वथा घातक मानते हैं । इस प्रसंग में हम यहाँ यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजनीतिपरक मन्त्रों में से दो मन्त्र प्रस्तुत करते हैं । पहला मन्त्र इस प्रकार है—

यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति ।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ —यजुः० २३।२२

यजुर्वेद के मध्यकालीन भाष्यकार उवट और महीधर ने इन मन्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को न समझ-कर जो अश्लील और बेहूदा अर्थ किये हैं, उन्हें पढ़कर वेद में किसी की श्रद्धा नहीं रह सकती, परन्तु जब हम शतपथब्राह्मण में और वर्त्तमान में ग्रन्थकार द्वारा किये गये वेदभाष्य में इन मन्त्रों के अर्थ पढ़ते हैं तो पता चलता है कि इन मन्त्रों में राजनीतिसम्बन्धी कितनी महत्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। पहले हम शतपथ की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

'(यकासकौ शकुन्तिका) विड् वै शकुन्तिका (आहलगिति वञ्चति) विशो वै राष्ट्राय वञ्चति (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति) विड् वै गभो राष्ट्रम्पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥'
—१३।२।६।६

शतपथकार ने अपनी व्याख्या में केवल कठिन शब्दों के पर्याय दिये हैं और अन्तिम शब्दों में सम्पूर्ण मन्त्र के भाव का निर्देश कर दिया है। ग्रन्थकार ने अपनी ऋग्वेदादीभाष्यभूमिका में शतपथ की व्याख्या को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'(यकासकौ शकुन्तिका) जैसे श्येन के साम्हने छोटी चिड़िया निर्बल होती है, उसी तरह राजा के सामने प्रजा निर्बल होती है। (आहलगिति वञ्चति) राजा लोग राज्यसुख प्रयोजन के लिए प्रजा को सदा ठगते ही रहते हैं—लूटते रहते हैं। (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका) राजा प्रजा में रहता हुआ उसका नाश करता है और उसे अपने लिए सुख की धारिका और अपने द्वारा निगली हुई-सी—निगलने, खाने योग्य समझता है। इसलिए राजा को 'विशं घातुकः' कहते हैं, अतः एक, स्वेच्छाचारी राजा नहीं होना चाहिए। उसे सभाधीन सभाध्यक्ष होना चाहिए।'

ऋ० भा० भू० में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र पर जो कुछ संस्कृत लिखा है, उसी का यह हिन्दी अनुवाद है। इससे मन्त्र के प्रतिपद का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, परन्तु अपने यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने प्रतिपद अर्थ भी दिया है। शतपथानुसारी उस अर्थ को हम यहाँ अपने शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

(यका) जो (असकौ) वह प्रजा है (शकुन्तिका) वह तो एक छोटी-सी चिड़िया के समान है (इति) ऐसा मानकर (आहलक्) चारों ओर से प्रजा का विमर्दन करनेवाला राजा (वञ्चति) प्रजा के साथ कुटिलता का व्यवहार करता है। (पसः) वह राजा (गभे) प्रजा पर (आहन्ति) सब तरह से आक्रमण करता है —अत्याचार करता है। (धारका) राज्य का धारण करनेवाली प्रजा (निगल्गलीति) गलित=क्षीण हो जाती है।

मन्त्र के शाब्दिक अर्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि शतपथकार ने तथा उसके आधार पर ग्रन्थकार ने इसका जो आशय व्यक्त किया है वह सर्वथा मन्त्रानुमोदित है। मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार बाज़ चिड़िया को आतंकित करता और अन्ततः नाश कर देता है, उसी प्रकार स्वच्छन्द और शक्तिशाली राजा प्रजा को तंग करता है और सभी तरह से उसका विमर्दन करता रहता है। उसके प्रति कुटिलता का व्यवहार करते हुए उसे सर्वथा क्षीण कर देता है।

अब दूसरा मन्त्र लीजिए। मन्त्र यह है—

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते ।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥ —यजुः० २३।३०

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिसलिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (=अत्यन्त पीड़ित करता) है, इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। (न पुष्टं पशुं मन्यते) जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं, वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता, श्रीमान् को लूट-खूँट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा। इसलिए—

इसपर शतपथकार की व्याख्या इस प्रकार है—

(यद्धरिणो यवमत्ति) विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति (न पुष्टं पशु मन्यते) तस्माद्राजा पशून् न पुष्यति (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति।'

शतपथ की व्याख्या संक्षिप्त होते हुए भी मन्त्र का भाव समझने के लिए पर्याप्त स्पष्ट है। ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भू० में शतपथ के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'(यद्धरिणो यवमत्ति) राज्यसम्बन्धी एक स्वेच्छाचारी राजा मृग की तरह राज्य के उत्तम पदार्थों का आहरण करता रहता है। जैसे मृग शस्य को खाकर प्रसन्न होता है वैसे ही राजा भी अपने सुख को चाहता है, अतः वह अपने सुख-प्रयोजन के लिए प्रजा को भक्ष्य बना लेता है। (न पुष्टं पशु मन्यते) जैसे मांसाहारी पुष्ट पशु को देखकर उसके मांस को खाने की इच्छा करता है, उसे बढ़ाना या जिलाना नहीं चाहता, उसी तरह एक स्वेच्छाचारी राजा अपने सुख-सम्पादन के लिए यही सोचता रहता है कि प्रजा में मुझसे अधिक कोई न हो पाये। वह प्रजा की पुष्टि नहीं करता। (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) जैसे कोई शूद्र, जिसकी। शूद्रा,अर्यजारा—स्वामी या वैश्य है जार जिसका ऐसी—हो गई है, पुष्टि को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही ऐसे स्वेच्छाचारी राजा की प्रजा भी पुष्टि और वृद्धि को प्राप्त नहीं होती। इसीलिए भीरु वैशीपुत्र और मूर्ख शूद्रापुत्र को राज्याधिकार में स्थापित नहीं करना चाहिए।'

यह ग्रन्थकार के ऋ०भा०भू० स्थित संस्कृतभाष्य का हिन्दी रूपान्तर है और केवल मन्त्र के भाव की सामान्य व्याख्या है। यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने इसका प्रतिपद अर्थ भी किया है। जो इस प्रकार है—

'(यत्) जब राजा (हरिणः) हरिण जैसे (यवम्) खेत में उगे हुए जौ को (अत्ति) खा जाता है, वैसे ही प्रजा को खा जाता है और प्रजारूप जौ को (पुष्टं) पुष्ट (पशु) देखने योग्य (न मन्यते) नहीं मानता—उसे पुष्ट देखना नहीं चाहता तब प्रजा (पोषाय) अपनी पुष्टि के लिए (न धनायति) धन नहीं प्राप्त करती, अर्थात् स्वेच्छाचारी प्रजाभक्षक राजा के राज्य में जो धन प्राप्त होता है, वह उसकी चिरस्थायी पुष्टि का कारण नहीं होता। उपमा देते हैं—(यत्) जैसे (अर्यजारा) स्वामी या वैश्य है जार जिसका, ऐसी (शूद्रा) सेविका शूद्रस्त्री (पोषाय न धनायति) अपनी वास्तविक वृद्धि के लिए धन प्राप्त नहीं करती, अर्थात् जैसे अपनी सेविका शूद्रस्त्री पर बलात्कार करनेवाले मालिक की कृपा से शूद्रा को जो धन प्राप्त होता है, वह उसकी समृद्धि का कारण नहीं बनता।'

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार मृग खेत को चर जाता है वैसे ही स्वेच्छाचारी राजा प्रजा की सुख-समृद्धि को चर जाता है और जैसे अनाचारी मालिक अपनी सेविका पर बलात्कार करके उसके सतीत्व का अपहरण कर लेता है, वैसे ही वह प्रजा पर अत्याचार करके प्रजा की सुख-सम्पत्ति का अपहरण

[सभापति होने के योग्य व्यक्ति]

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

—अथर्व० का० ६। अनु० १०। व० ६८। मं० ११। (६।९८।१)

हे मनुष्यो ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो, (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो, (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य, (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण कर्म-स्वभावयुक्त, (वन्द्यः) सत्करणीय, (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य, (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे, उसी को सभापति राजा करे ॥१॥

कर लेता है। इसलिए वेद की सम्मति में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य नहीं होना चाहिए।

ऋ०भा०भू० में राजप्रजाधर्मविषय के अन्तर्गत विषय का समापन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'राज्य के लिए एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ एक को राजा मानते हैं, वहाँ सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसी से किसी की उन्नति नहीं होती।''

इन्द्रो जयातीति—इन्द्र शब्द परमात्मा और राजा दोनों का वाचक है। जो ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण प्रजा का स्वामी है, वह परमात्मा है और जो धरती पर अपने अधीनस्थ प्रजा के पालन-पोषण और रक्षण की व्यवस्था करता है, वह राजा है। दोनों प्रजापति हैं, किन्तु जहाँ परमात्मा महाराजाधिराज है, वहाँ पृथिवी अथवा उसके किसी भाग का शासक मात्र राजा है। ऋ०भा०भू० में ग्रन्थकार ने इन्द्र का अर्थ **'परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा'** किया है। परमेश्वररूप में इन्द्र समस्त ब्रह्माण्ड के योगक्षेम की व्यवस्था करता है और सभाप्रबन्धक के रूप में राजा अपने अधीनस्थ प्रजा के ऐश्वर्य, न्याय आदि के लिए प्रयत्नशील रहता है। **'स्वकीय- सत्यप्रकाशन्यायेन'** (ऋ०भा०भू०) यह राजा के राजत्व और स्वामित्व के साथ-साथ उसकी लोकप्रियता का हेतु है। राजसूय यज्ञों की परम्परा में महाभारत (सभा० ३७।१६-२०) में शिशुपाल की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः .... ॥

हम भय, लोभ या सान्त्वना के कारण युधिष्ठिर को कर नहीं देते। यह धर्म में प्रवृत्त है, इसलिए कर देते हैं।

इस (इन्द्रो जयातीति) तथा अगले (इमं देवाः) मन्त्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो सबको माननीय होवे उसी को राजा करे'' तथा ''सम्मति करके सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रु रहित करे।'' वेदादि शास्त्रों को देखने से पता चलता है कि राजा के चुनाव में किसी-न-किसी रूप में सभी प्रजाजन भाग लेते थे। वेद में प्रजाजनों के लिए 'विश' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद (३।४।२) में कहा है—**'त्वां विशो वृणतां राज्याय'**—देश में रहनेवाली समस्त प्रजाएँ अपने

ऊपर शासन करने के लिए तेरा वरण करें—तुझे चुनें। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत श्रौत, आपस्तम्ब तथा बोधायनसूत्रों के अनुसार 'विश' का अर्थ है राष्ट्र अथवा राज्य की समस्त प्रजा। कात्यायन ने विश का अर्थ 'जाति' किया है। **'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो यन्तु'** (अथर्व० ३।४।१)—समस्त दिशाओं के वासी तुझे आदरपूर्वक बुलाएँ।

राजा पर समस्त राज्य के योगक्षेम का उत्तरदायित्व होता है। इसलिए उसके चुनाव में छोटे-बड़े माण्डलिक राजाओं से लेकर साधारण-से-साधरण व्यक्ति तक को अपनी सम्मति देने का अधिकार है। वेद ने इस सिद्धान्त की बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ —अथर्व० ३।५।७

राजा के निर्वाचन में भाग लेनेवाले लोगों (Electoral College) को 'राजकृतः' (राजा को बनानेवाले) कहा गया है। वैदिक समाज चार वर्णों में विभक्त है। ऐतरेयब्राह्मण (८।२८) तथा तैत्तिरीय (१।७।८) के अनुसार राजा को राज्यारोहण से पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्य (शूद्र) चारों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। शतपथ (६।३।२।५) में लिखा है—

"ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सर्वमनुमन्यन्ते। ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति, न स यस्मै न।"

अन्यत्र (शत० ५।३।५।३१-३७) तथा (५।२।३।४) में इस विषय का विस्तृत विवेचन करके कहा है कि जब तक राजा को ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा पृथिवी पर रहनेवाले सभी वर्णों तथा वर्गों का समर्थन और उनकी अनुकूलता प्राप्त न हो तब तक उसका अभिषेक नहीं हो सकता।

वैदिक काल के 'राजकृत' ब्राह्मणकाल में 'रत्नी' तथा रामायणकाल में 'राजकर्त्ता' कहलाने लगे। राम और भरत का निर्वाचन इन्हीं लोगों ने किया था। **'समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्'** (अयोध्या० ७६।१); **'समेत्य राज्यकर्त्तारः सभामीयुः द्विजातयः'** (अयोध्या० ६७।२)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन प्रत्यक्ष (Direct) न होकर प्रजा के विभिन्न वर्गों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता था।

अथर्ववेद में एक मन्त्र (६।८७।१) द्वारा राजा को सावधान भी किया गया है। वहाँ कहा है—

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

यह मन्त्र (ऋग्वेद १०।१७३।१) में भी आया है। (विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु) समस्त प्रजा तुझे हृदय से चाहे। देख, कहीं तेरे दोष से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत्) तेरे हाथ से (मा अधिभ्रशत्) न फिसल जाए, अर्थात् जब तक प्रजा तुझे चाहेगी तभी तक तू इस पद पर रह सकेगा। अन्यथा शासन तेरे हाथ से निकल जाएगा। इससे अगले मन्त्र (६।८७।२) में भी चेतावनी दी गयी है—**'माप च्योष्ठाः'**, तू अपने पद से कभी च्युत न होना। यह कोरी धमकी नहीं है। **'राजा वै प्रकृतिरंजनात्'**—प्रजा का रंजन करने से ही राजा की यह संज्ञा है। अथर्ववेद १५।८।१ में कहा है—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'**, उसने प्रजा को प्रसन्न किया, इसलिए वह राजा कहलाया। जो अपने कार्यों से प्रजा को दुःखी या असन्तुष्ट रखता है, उसे राज्यच्युत कर दिया जाता है। महाभारत में इसी कारण राजा वेन के राज्यच्युत किये जाने का उल्लेख मिलता

इमं देवाऽसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥२॥

—यजुः० अ० ९। मं० ४०॥

हे (देवाः) विद्वानो, राजप्रजाजनो ! तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्तिराज्य, (महते ज्यैष्ठ्याय) सबसे बड़े होने, (महते जानराज्याय) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने, और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिए (असपत्नं सुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्णविद्याविनययुक्त, सबके मित्र, सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रुरहित करो [॥१॥] और

[सेना उत्तम शस्त्रास्त्रों से सदा सन्नद्ध रहे]

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

—ऋ० मं० १ । सू० ३९ । मं० २॥

है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मध्यकाल में स्वेच्छाकारिता नीति (Laissez faire policy) का प्रचलन था। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार न्यूनतम कार्य करती थी—'That government is best which governs the least'. शान्तिव्यवस्था, सुरक्षाव्यवस्था, न्यायप्रक्रिया आदि बहुत थोड़े-से कार्य सरकार को करने होते थे। लोकतन्त्र के विकास के साथ कल्याण-राज्यों (Welfare states) की कल्पना का विकास हुआ और धीरे-धीरे जनता के सर्वविध कल्याण की ज़िम्मेदारी सरकार पर आ पड़ी। परिणामतः राजा के चुनाव का महत्त्व बढ़ गया।

इमं देवा—राज्याभिषेक में विनियुक्त इस मन्त्र के अनुसार राजा की नियुक्ति इन प्रयोजनों के लिए की जाती है—क्षात्रधर्म के लिए, बड़े ऐश्वर्य के लिए, विशाल साम्राज्य के लिए, समुचित राज्यव्यवस्था के लिए, राजकीय पराक्रम के लिए और देश को बाहर-भीतर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए। राजा के विशेषण के रूप में 'असपत्नम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वह अजातशत्रु हो, उसका कोई विरोधी न हो अथवा वह निर्विरोध, सर्वसम्मति से चुना गया हो। अथर्ववेद के दशम काण्ड के पाँचवें सूक्त में ११ बार राजा के विशेषण के रूप में 'सपत्नहा' (शत्रुओं का संहारक) शब्द का प्रयोग हुआ है। **'वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु '** (ऋ०भा०भू०)। मन्त्र में आये वाक्य **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** में 'ब्राह्मणानां सोमः' निर्धारण में षष्ठी विभक्ति मानकर किया गया यह अर्थ सर्वथा युक्त है। राजा को सभाध्यक्ष के रूप में इसलिए निर्वाचित किया जाता है, क्योंकि वह विद्वान्, समस्त सभासदों में सौम्यगुणयुक्त (चन्द्रमा के समान शान्त और सबको प्रिय) एवं सकलविद्यानिष्णात है। ब्राह्मणों का सोम को राजा कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण लोग राजा को राजा मानते हुए भी अन्ततः सोम अर्थात् शान्ति और न्याययुक्त परमात्मा को ही राजा मानते हैं—**प्रजापतेः प्रजा अभूम**। इसलिए वे राजा की न्याययुक्त आज्ञाओं का ही पालन करते हैं, अनुचित, अन्याययुक्त आज्ञाओं का नहीं।

स्थिरा वः—ऋ०भा०भू० में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"**इस मन्त्र में परमेश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो !** तुम सब काल में उत्तम बल-

ईश्वर उपदेश करता है कि—हे राजपुरुषो ! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुष-बाण, करवाल=तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने, (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिए (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों। (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा वियजी होओ, परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है, उसके लिए पूर्व चीजें मत हों, अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता रहता है, और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥

वाले हो, किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुष-बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें। (वीडू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें। (उत प्रतिष्कभे) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट मनुष्यों की सेना के वेग को थामने के लिए प्रबल हों। तथा (युष्माकमस्तु०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी तविषी अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो। जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्ती राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे। (मा मर्त्यस्य०) परन्तु मेरा यह आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिए है और जो (मायिनः) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं, उनके लिए नहीं किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा। इसलिए तुम लोग सदा धर्मकार्यों को ही करते रहो।"

वस्तुतः जिस राष्ट्र के सैनिक अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं, उनके हथियार (आयुधाः शस्त्रमस्त्रमायुच्छत्रुघ्नमायुधम्—मेदिनी) सदा दृढ़ और सेना सदा प्रशंसनीय वीरकृत्यों से गौरवान्वित रहती है। ऐसी सेना (तविषी सेना बलं च—निघण्टु २।६) परमेश्वर के आशीर्वाद से (पराणुदे—परा=परे+णुद प्रेरणे) शत्रु सेना का पराभव कर (प्रतिष्कभे स्कभि प्रतिबन्धे सौत्रो धातुः) प्रशंसा के योग्य होती है, परन्तु परमात्मा का आशीर्वाद धर्मात्मा लोगों को ही मिलता है।

यदि दुष्टकर्मी या अन्याकारी की विजय हो जाए तो समझना चाहिए कि या तो सेना के हथियार शत्रु के हथियारों की तुलना में घटिया थे या सेना में अनैतिकता बढ़ गयी थी। इस विषय में चरकसंहिता (विमानस्थान अध्याय ३) में लिखा है—

"यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्त्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्द्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्त देवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेनापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति विकृतं वा वर्षति। वाता न सम्यगभिवान्ति क्षितिर्व्यापद्यते सलिलान्युपशुष्यन्ति। ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्। तत उद्ध्वसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्।"........"तथा शस्त्रप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति।"

अर्थात्—जब देश, नगर, निगम और जनपद के अध्यक्ष धर्म को छोड़ कर अधर्म से प्रजा का पालन करते हैं तब उनके आश्रित, उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी, व्यवहारोपजीवी लोग भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब वह अधर्म बलपूर्वक धर्म को लुप्त कर देता है। तदन्तर उन लुप्तधर्मी मनुष्यों को देवता भी छोड़ जाते हैं। उन लुप्तधर्म, अधर्मप्रधान और देवताओं से त्यक्त मनुष्यों की ऋतु विकृत हो जाती हैं। इस कारण समय पर जल बरसता नहीं और बरसता है तो विकृत बरसता है या आवश्यकता न होने पर बरसता

[तीनों सभाओं के अधिकारी वा सभासद् कैसे हों]

महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद्, और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुणकर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम, और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र, और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो-जो निज के काम हैं उन-उन में स्वतन्त्र रहें।

[सभापति के गुण]

पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहिएँ—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥१॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥२॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥३॥ —मनु० ७।४१,६,७

है। वायु ठीक नहीं चलती, पृथिवी विकृत हो जाती है, जल सूख जाते हैं। औषध अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर विकृत हो जाती हैं। इस प्रकार इन देश, काल, पृथिव्यादि के स्पर्श और अभ्यवहार्य दोषों से जनपद नष्ट हो जाते हैं। .... संग्राम का कारण भी अधर्म ही है।

इन्द्रानिल—सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य समाज की अवस्था के विषय में अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के दशम सूक्त के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायाः। सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥

अर्थात्—पहले विराट् (वि+राज्) अवस्था थी। किसी प्रकार की कोई राज्यसंस्था न थी, किसी प्रकार का शासक और शासित का सम्बन्ध नहीं था। ऐसी अराजकता की स्थिति में सबको डर लगने लगा और वे सोचने लगे कि क्या सदा यही अवस्था रहेगी ? तब—'**शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत**'—जिस प्रकार नक्षत्र चन्द्रमा को अपने में मुख्य बना लेते हैं, उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र=निर्वीर्य, निर्बल प्रजाएँ (शकधूमम्) सबको कंपा देनेवाले पुरुष को (राजानम्) राजा (अकुर्वत) बना लेती हैं। यह वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं है, अपितु सृष्ट्युत्पत्ति का दार्शनिक रूप है। यह एक शाश्वतविचाररूप है कि मनुष्य-सृष्टि के प्रारम्भ में किस प्रकार की सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था होती है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि राज्यव्यवस्था भयमूलक है। बीसवें काण्ड के १४वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में बड़ा स्पष्ट कहा है—

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः।
वाजे चित्रं हवामहे ॥

अर्थात्—हे (अपूर्व्य) अपूर्वशक्तिसम्पन्न सम्राट् (अवस्यवः) आपसे रक्षा चाहनेवाले हम प्रजाजन आपको

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबका प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, यम=पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या, अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बाँधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधनेवाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला सभापति होवे ॥१॥

जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में करड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो ॥२॥

और जो अपने [प्रभाव] से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही **सभाध्यक्ष=सभेश होने के योग्य** होवे ॥३॥

(हवामहे) राजगद्दी पर बुलाते हैं; (त्वां भरन्तः) आपके भरण-पोषण की (कर आदि के द्वारा) व्यवस्था हम करेंगे ।

आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही राजा की नियुक्ति की जाती है । राजा के पर्यायवाची 'राजन्य','बाहुज' 'क्षत्रिय' (क्षतात् त्रायतेऽसौ स क्षत्रियः) आदि शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है । वेद के कथनानुसार क्षत्रिय का समाज में वही स्थान है जो शरीर में भुजाओं का—**'बाहू राजन्यः कृतः'**; रक्षा के लिए क्षत्रिय=राजा की शरण वैसे ही ली जाती है, जैसे ज्ञान के लिए ब्राह्मण की—**'ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्'** ।

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार राजा की उत्पत्ति विजय के निमित्त नेतृत्व की आवश्यकता का परिणाम है । उसमें बताया है कि जब इस संसार में देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था और देवता निरन्तर परास्त हो रहे थे तो उन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा नहीं है, इसीलिए हम सदा हारते हैं । हम लोगों को भी कोई राजा बनाना चाहिए । ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोम को राजा चुना और उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त की । **'विद्वांसो हि देवाः'**—विद्वानों के लिए भी अपना संगठन बनाना और किसी को अपना नेता नियुक्त करना उतना ही आवश्यक है जितना दूसरों के लिए ।

महाभारत के शान्तिपर्व अ० ५६ में भी भीष्मपितामह और युधिष्ठिर के बीच राजत्वविषयक वार्त्तालाप हुआ, उसमें राजा और उससे सम्बन्धित बहुत-सी बातों का अत्यन्त विशद वर्णन पाया जाता है । भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को बताया था—प्राचीनकाल में न कोई राजा था और न कोई राज्य । कुछ समय बाद लोगों ने देखा कि केवल पारस्परिक सहयोग पर्याप्त नहीं है । लोगों ने विष्णु से परामर्श करके एक राजा निर्वाचित करना आवश्यक समझा । .... वेणु स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगा तो लोगों ने उसे राज्यच्युत करके मार डाला । तब लोगों ने वेणु के वंशज पृथु को राजा चुना । वह इन्द्र की भाँति रूपवान्, कवचयुक्त, धनुर्धारी, वेदवेदांग का ज्ञाता और धनुर्वेद का पारदर्शी था । उस नरश्रेष्ठ को समग्र दण्डनीति का ज्ञान था । उस पृथु ने हाथ जोड़कर ऋषियों से कहा कि आप मुझे संक्षेप से बताएँ कि मैं क्या करूँ । तब उन ऋषियों ने कहा—'जो धर्मयुक्त हो वही कार्य निःशंक होकर करो । कौन प्रिय है और कौन अप्रिय, इसका विचार छोड़कर सब प्राणियों से समान व्यवहार करो । काम, क्रोध, लोभ और मान का विचार दूर से ही त्याग दो । जो मनुष्य धर्म से विचलित हो, शाश्वत धर्म का विचार करके अपने बाहुबल से उसे रोको । मन, वाणी और कर्म से यह प्रतिज्ञा करो कि आप जो कहेंगे उसे पृथिवी का वेद समझकर उसका पालन करूँगा । जो नित्यधर्म दण्डनीति में कहा है, निःशंक होकर उसका पालन करूँगा ।' पृथु ने इन

आदेशों का पालन करने तथा अच्छी तरह शासन करने की प्रतिज्ञा की। उसने धर्म तथा वचन के अनुसार शासन किया। प्रजा उससे प्रसन्न थी, इसलिए वह राजा कहलाया—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'** (अथर्ववेद १५।८।१)। 'अरज्यत' व 'राजन्यः'— इन शब्दों से प्रतीत होता है कि वेद ने 'रञ्ज्' धातु मानी है, जिसका अर्थ 'राग' अर्थात् प्रजा से अनुराग अर्थात् प्रजारञ्जन है। उणादि ३।१०० में राजन्य पद का व्युत्पादन **'राजृ दीप्तौ'** द्वारा किया है। कालिदास ने 'राजन्' शब्द में रञ्ज धातु का प्रयोग किया है। यथा—**'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'** (रघुवंश ४।१२) ; **'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः'** (रघुवंश ६।१२) तथा **'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्'** (रघुवंश ४।१२)।

इसी से मिलती जुलती, किन्तु अधिक व्यवहारोपयोगी एक और आख्यायिका शान्तिपर्व के ६७वें अध्याय में मिलती है। अराजक राष्ट्र के विषय में वहाँ लिखा है कि जहाँ कोई राजा नहीं होता वहाँ धर्म नहीं ठहरता और लोग एक-दूसरे को खाते हैं, वे अपने धन और स्त्री का भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरों के धन का हरण करके प्रसन्न होते हैं। परन्तु जब उनका अपना धन हरा जाता है तो सोचते हैं कि राजा होता तो ठीक था। पापियों को भी सुख नहीं मिलता। एक का माल दो छीनते हैं तो दो का बहुत। वे स्वतन्त्र मनुष्यों को दास बनाते हैं और स्त्रियों का हरण करते हैं। इसलिए देवताओं ने प्रजापालक की स्थापना की। यदि संसार में दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं, वैसे बलवान् निर्बलों को खा जाएँ। जब इस प्रकार की अवस्था हुई और प्रजा का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया कि जो हममें कटुभाषी, उद्दण्ड, पर-स्त्रीगामी और दूसरे का धन हरनेवाला होगा उसे हम बहिष्कृत कर देंगे। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न होने से हमारी बड़ी हानि हो रही है। इसलिए हमें कोई ईश्वर दीजिए जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा परिपालन करे। ब्रह्मा ने मनु को इस काम के लिए चुना। सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ और राजकार्य है भी बड़ा कठिन, विशेषकर ऐसे मनुष्यों में जो सदा मिथ्याचार करते हैं। इसपर लोगों ने कहा कि आप डरें नहीं, पाप करनेवाला ही दण्ड भोगेगा। हम लोग आपके कोष के लिए पशुओं और स्वर्ण का ५० वाँ भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम शस्त्रधारी लोग आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही आप हमारी रक्षा करें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हमारी वैसे ही रक्षा करें जैसे देवताओं की इन्द्र करते हैं। सूर्य की भाँति शत्रुओं को तपाते हुए आप विजय के निमित्त यात्रा कीजिए और शत्रुओं को अभिभूत कीजिए, आपकी सदा जय होगी। मनु ने इसे स्वीकार किया।

इन आख्यायिकाओं से स्पष्ट है कि मात्स्यन्याय से दुःखी होकर लोगों ने राजा की आवश्यकता अनुभव की। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। समाज में जब कोई आपत्ति सिर उठाती है तब आपसे आप लोगों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उकी चर्चा होने लगती है। वेद के शब्दों में प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होती है। जब वह चर्चा बहुत व्यापक हो जाती है तो लोग एकत्र बैठकर उसपर विचार करने लग जाते हैं। गम्भीरता से विचार करने और समस्या का हल निकालने की सभा-समितियों का गठन होने लगता है। यह शक्ति हर किसी में नहीं होती, इसलिए यह काम समाज के बुद्धिजीवी लोगों पर छोड़ दिया जाता है। ये बुद्धिजीवी या समझदार लोग ही देवता कहलाते हैं और उनके विचार या चिन्तन का नाम मन्त्र है। इन

विद्वज्जनों में जो प्रमुख होता है वह ब्रह्मा (बृहत्वाद् ब्रह्म) कहाता है। अनुगीता, अध्याय २६ में कहा है —

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरंचिरिति चाप्यजः ॥
महानात्मा मतिर्विष्णुः जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।
पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते ॥

इसी प्रकार वायुपुराण में लिखा है —

मनोमहान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यतेः बुधैः ॥ —वा० पु० अ० ४

मानव इतिहास के आदिकाल में एक आन्दोलन उठा। लोगों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए आवश्यक नियम बनाये। यह भी निश्चय हुआ कि जो इन नियमों के विरुद्ध आचरण करेगा उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। यह सब हो जाने पर भी सबने उस व्यवस्था का पालन नहीं किया। उद्दण्ड और उच्छृंखल लोग बलादि के मद में नियम तोड़ने लगे। इस मात्स्यन्याय से दुःखी होकर प्रजा ने ऐसे पुरुष की आवश्यकता अनुभव की, जो कानून तोड़नेवालों का दमन करके जनता द्वारा बनाये गये नियमों का बलपूर्वक पालन करा सके। समाज में जो देवता अर्थात् विद्वान् लोग थे उन्होंने परस्पर मिलकर विचार किया और इस विषय में ब्रह्मा=समाज में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा सर्वमान्य किन्तु निर्लिप्त व्यक्ति के पास जाकर उससे परामर्श करने का निश्चय किया। ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इस कार्य के लिए मनु सर्वाधिक उपयुक्त पुरुष है। प्रजा ने वैसा ही किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में महामति चाणक्य ने लिखा है—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ।
धान्यं षड्भागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥ —अर्थशास्त्र अधि०१ कै० १३।६-७

इस वृत्तान्त के अनुसार राजा का कर्त्तव्य है कि वह समाज को धर्म (कानून) के अनुसार व्यवस्थित करे, अपराधियों का दमन करे और प्रजा उसे निर्धारित कर दे। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि प्रजा ने राजा को मनमाने नियम बनाने का अधिकार नहीं दिया, यह अधिकार उसने अपने लिए सुरक्षित रखा। प्रजा द्वारा निर्मित नियमों का प्रजा द्वारा परिपालन कराने तक ही उसके अधिकार को सीमित रखा। पाश्चात्य विचारकों ने इसे सामाजिक क़रार का नाम दिया। फ्रॉस में राज्यक्रान्ति के अवसर पर रूसो के 'Social Contract' नामक ग्रन्थ का जनता पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अपनी सामूहिक सुविधा के लिए व्यक्ति अपने अधिकार समाज को देते हैं। फिर समाज अपने अधिकार राजा को देता है। इस प्रकार राजा का अधिकार समाज की सहमति पर निर्भर है। वास्तविक सत्ता जनता या प्रजा की है। प्रजा पहले है, राजा पीछे। राजा और प्रजा दोनों प्रतिज्ञाबद्ध हैं। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि वह उस राजा को न केवल राज्यच्युत करदे, अपितु उसके अपराध के लिए उसे दण्डित करे। महाभारतान्तर्गत आख्यायिका में वेन को मृत्युदण्ड दिये जाने का उल्लेख है। अन्य देशों में भी राजा इसी प्रकार दण्ड के भागी बनते रहे हैं और आज भी बनते हैं।

सामाजिक क़रार (Social Contract) के सिद्धान्त का वर्णन सबसे पहले अथर्ववेद (२०।१४।१) में मिलता

है, जहाँ राजा का आह्वान करते हुए प्रजाजन कहते हैं कि रक्षा चाहनेवाले (अवस्यवः) हम लोग (वयम्) आपको, बुलाते हैं (हवामहे) और करादि के द्वारा आपके भरण-पोषण की प्रतिज्ञा करते हैं (त्वां भरन्तः)।

राजा के आठ गुण—उपर्युक्त **'इन्द्रानिल से महेन्द्रः प्रभावतः'** पर्यन्त श्लोकों में भगवान् मनु ने एक आदर्श राजा में अपेक्षित आठ गुणों का उल्लेख किया है। प्रस्तावनारूप इससे पहले श्लोक में भगवान् मनु कहते हैं—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥

इस श्लोक में राजा की आवश्यकता बतलाते हुए मनु कहते हैं कि राजा के बिना इस जगत् में सब ओर भय के कारण व्याकुलता फैल जाने पर इस सब समाज और राज्य की सुरक्षा के लिए प्रभु ने राजा नाम से अभिहित विशिष्ट पुरुष को बनाया अर्थात् प्रजाजनों को राजा बनाने की प्रेरणा की। अगले श्लोक में चमत्कार पैदा करने के लिए अलंकारयुक्त भाषा में बताया कि परमेश्वर ने (शाश्वतीः मात्रा निर्हृत्य) इनकी स्वाभाविक मात्राओं=गुणों के अंशों का सार लेकर राजा के व्यक्तित्व का निर्माण किया। 'च' से पूर्व श्लोक के 'राजानमसृजत्' क्रियापद की अनुवृत्ति है। इन गुणों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **इन्द्र**—जैसे इन्द्र भरपूर वर्षा करके जगत् को तृप्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजा को सुख की वर्षा से तृप्त करे, अर्थात् उनको सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ, ऐश्वर्य प्रदान करके सन्तुष्ट करे। **'इदि परमैश्वर्ये'** भ्वादि धातु से **'ऋज्रेन्द्राग्नवज** (उणादि २।२८) सूत्र से 'रन्' प्रत्यय के योग से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। **'इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः'** (निरुक्त १०।८) = ऐश्वर्यप्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है। ७।७ में इसके पर्यायवाची रूप में 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

२. **वायु (अनिल)**— जैसे वायु सब प्राणियों, स्थानों में प्रवि ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट-होकर अपनी तथा शत्रु की सब बातों की जानकारी रखनी चाहिए। **'वा गतिगन्धनयोः'** अदादि धातु से **'कृवापाजि०'** (उणादि १।१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय के योग से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **' वायुर्वातेर्वर्तेर्वा स्याद् गतिकर्मणः'** (निरुक्त ११।५)। ६।३०६ में 'मारुत' का प्रयोग है।

३. **यम**—परमेश्वर की नियन्त्रक वा मारक शक्ति। जैसे परमेश्वर कर्मफल का समय आने पर अपने-पराये सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार दण्डित करता या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी अपराध करने पर अपने-पराये का भेद न करके सबको समानरूप से दण्ड देना चाहिए और अपने वश में रखना चाहिए। ७।७ में मनु ने यम का पर्यायवाची 'धर्मराट्' ग्रहण किया है। धर्म अर्थात् न्यायपूर्वक शासन करनेवाला धर्मराट् होता है। स० प्र० के प्रथम संस्करण में 'न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला' के आगे इतना विशेष लिखा है —"जैसे भरत राजा ने अपने पुत्र का स्वहस्त शिरश्छेद कर दिया था और सगर ने अपना एक पुत्र असमंजस वन में निकाल दिया था। यह बात महाभारत में विस्तार से लिखी है कि जब अपने पुत्र का पक्षपात न किया तो और का कैसे करेंगे ?" प्रथम संस्करण में 'यम' की व्याख्या में यह वाक्य बड़े महत्त्व का है — "राजा भी धन की रक्षा सदा करे जिससे राजा के ऊपर ऋण वा दरिद्र कभी न होवे। अपने वा प्रजा के ऊपर जब आपत्काल आवे तब उस धन से अपनी वा प्रजा की **रक्षा कर लेवे।**" **इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार** ने राजा को अपनी ओर से परामर्श दिया है कि आपात्-स्थिति (Emergency) के लिए एक सुरक्षित **कोष** (Reserve Fund) की व्यवस्था अवश्य करे जो आड़े वक्त में काम आ सके।

४. **अर्क** —जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा सन्तप्त किये बिना जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट पहुँचाये बिना कर ग्रहण करे। **'अर्च पूजायाम्'** भ्वादि धातु से **'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः'** (उणादि ३।४०) सूत्र से 'क' प्रत्यय के योग से 'अर्क' शब्द सिद्ध होता है। ६।३०५ में 'अर्क' के पर्यायवाची 'आदित्य' का प्रयोग है।

५. **अग्नि**—जैसे अगनि अशुद्धि का नाश करके शुद्धि करनेवाली होती है और तेजयुक्त करती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता करने तथा प्रजा को पीड़ित करनेवालों को प्रभावशाली ढंग से सन्तापित करनेवाला एवं दण्ड से सुधारनेवाला होवे। **'अगि गतौ'** धातु से **'अङ्गेर्नलोपश्च'** '(उणादि ४।५०) सूत्र से 'निः' प्रत्यय के योग से 'अग्नि' निष्पन्न होता है।

६. **वरुण**—जैसे जल अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फँसा लेता है उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले। **'वृञ् वरणे'** स्वादि धातु से **'कृवृदारिभ्य उनन्'** (उणादि० ३।५३) सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय से निष्पन्न।

७. **चन्द्र**—जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है और पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर सब प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा को शान्ति और प्रसन्नता देनेवाला हो। उसे राजा के रूप में देखकर सबको हर्ष हो। **'चदि आह्लादने दीप्तौ च'** भ्वादि धातु से **'स्फायितञ्जिवञ्चि'०** (उणादि २।१३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय से सिद्ध। ७।७ में पर्यावाची सोम है।

८. **वित्तेश**—७।७ और ६।३११ में इसके पर्यायवाची क्रमशः कुबेर और धरा (पृथिवी) शब्दों का ग्रहण किया है। जैसे धरती तथा धनेश परमेश्वर समानभाव से सब प्राणियों का पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरहित होकर समानभाव से पुत्रवत् सबका पालन करे। मनु ६।३०४-३१० में राजा के अग्नि आदि होने का हेतु इस प्रकार दिया है—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रात् सम्यगर्कव्रतं हि तत्॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्यः सर्वस्तद्धि यमव्रतम्॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एव हि दृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेताद्धि वारुणम्॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतियो यस्मिन् सचान्द्रव्रतिको नृपः॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्॥

अर्थात्—जैसे इन्द्र चार मास अच्छी वर्षा करता है वैसे ही इन्द्रव्रत को करता हुआ राजा राष्ट्र पर कामनाओं की वर्षा करे। जैसे सूर्य आठ मास किरणों के द्वारा जल लेता है, वैसे ही राजा राष्ट्र से कर लेवे, यह उत्तम सूर्यव्रत है। सब पदार्थों में प्रविष्ट होकर जैसे वायु विचरता है, वैसे ही राजा को गुप्तचरों के द्वारा सबमें प्रविष्ट होना चाहिए, यह मारुतव्रत है। जैसे यम समय आने पर प्रिय-अप्रिय सबको नियन्त्रित करता है, वैसे ही राजा भी सबको नियन्त्रित करे, यह यमव्रत है। जैसे सब विश्व वरुण के पाशों में बँधा दीखता है वैसे ही राजा सबको दण्ड देवे, यह वरुणव्रत है। जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर सब प्रसन्न होते हैं, वैसे ही जिससे सब प्रजाएँ प्रसन्न हों, वह राजा चान्द्रव्रतिक है। राजा पापियों पर प्रतापयुक्त तथा नित्य तेजस्वी हो और और दुष्टों का घातक हो, यह आग्नेयव्रत है।

नारदस्मृति में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है —

कारणान्निर्निमित्तं वा यथा क्रोधवशं गतः ।
प्रजां दहति भूपालस्तदाग्निरभिधीयते ॥
यदा तेजः समालम्बेद् विजिगीषुरुदायुधः ।
अभियाति परान् राजा तदेन्द्रः समुदाहृतः ॥
विगतक्रोधसन्तापो हृष्टरूपो यदा नृपः ।
प्रजानां दर्शनंयाति सोम इत्युच्यते तदा ॥
धर्मासनगतः श्रीमान् दण्डं धत्ते यदा नृपः ।
समः सर्वेषु भूतेषु तदा वैवस्वतो यमः ॥
यदा त्वर्थिगुरून् प्राज्ञान् भृत्यादीन् पृथिवीपतिः ।
अनुगृह्णाति दानेन तदा धनद उच्यते ॥ १७।२७-३१

अर्थात् जब राजा सकारण वा अकारण क्रुद्ध होकर प्रजा को सन्तप्त करता है, तब वह अग्नि कहाता है। जब विजय का अभिलाषी होकर, हथियार उठाकर, तेजस्वी बनकर शत्रुओं पर आक्रमण करता है, तब उसे इन्द्र कहते हैं। क्रोध और सन्ताप से रहित होकर जब प्रजाओं पर प्रसन्नरूप हुआ दृष्टिगोचर होता है, तब वह सोम कहलाता है। जब राजा धर्मासन=न्यायासन पर बैठकर सब प्राणियों के प्रति समताभाव से दण्ड धारण करता है, तब वह यम है। जब सब याचकों, बड़ों, ज्ञानियों, नौकरों आदिक को दान के द्वारा अनुगृहीत करता है तब वह धनद अर्थात् कुबेर कहाता है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा इन गुणों के कारण इस नामवाला है। यही उसका अंशहरत्त्व है।

मनु ९।३११ में राजा की उपमा पृथिवी से दी है —

यथा सर्वाणि भूतानि धारा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥

अर्थात् जैसे पृथिवी सब भूतों (प्राणियों) को समानरूप से धारण करती है, वैसे ही सब प्राणियों को समानरूप से धारण करनेवाले राजा का पृथिवीसम्बन्धी व्रत है। व्रत का अर्थ आचार-नियम है।

चतुर्थ समुल्लास में वर्णव्यवस्था का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि "वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।" इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मार्य आदि

[सच्चा राजा=दण्ड]

सच्चा राजा कौन है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥

सभाओं में प्रत्येक सभा के कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को ही तत्तत् सभा का सभासद नियुक्त किया जाना चाहिए । धर्मार्यसभा का मुख्य कार्य कानून बनाना है । त्यागी, संयमी तपस्वी, सन्तोषी और लोभ-लालच की वृत्ति से रहित, सत्यनिष्ठ तथा परोपकार के व्रती ब्राह्मण लोग जब राजसभाओं में जाकर कानून बनाएँगे तो वे कानून सभी अर्थों में धरती पर धर्मराज्य स्थापित करनेवाले होंगे । ऐसे ब्राह्मण जब सभाओं के सदस्य होगें तो स्वयं निःस्वार्थ एवं निष्पक्ष होने के कारण उनकी दृष्टि राजा और राजकर्मचारियों पर रहेगी । ऐसी स्थिति में कहीं भी अन्याय या अत्याचार नहीं होगा । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'ब्राह्मण' और 'राजन्य' क्रमशः विधायिका (=धर्मसभा =Legislature) तथा कार्यपालिका (=राजसभा =Executive) के पर्याय होंगे । विधि-विधान का निर्माण सर्वविद्यानिष्णात ब्राह्मण कर सकते हैं, जबकि उसका कार्यान्वयन क्षत्रिय कर सकते हैं, जिन्हें शासन द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करनेवालों को नियन्त्रित करने तथा आवश्यकता पड़ने पर बलप्रयोग का अधिकार और सामर्थ्य प्राप्त है । विधायिका और कार्यपालिका के परस्पर सहयोग और न्यायपालिका (Judiciary) के अनुशासन से ही शासनव्यवस्था सुचारुरूप से चल पाती है । सेना और पुलिस का अपर नाम क्षत्रिय है । डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक लिखा है—

"Inspite of its attachment to the principle of non violence, Hindu Society made room for a group dedicated to the use of force, the kshatriyas. As long as human nature is what it is , as long as society has not reached its highest level, we require the use of force, so long as society has individuals who are hostile to all order and peace, it has to develop controls to check the anti-social elements. These anti-social forces gather together for revolt when the structure of society is shaken by war or internal dissentions."

— Hindu View of life, p . 78

तीनों सभाओं के ऐसे आदर्श सभासदों में सर्वश्रेष्ठ मानव को सभापति बनाये जाने का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है । इसका अभिप्राय है कि राजा और प्रजा (सभा के सदस्य) मिलकर तीन सभाएँ बनाएँगे और तीनों सभाएँ मिलकर अपने में से योग्यतम पुरुष को सभापति बनाएँगी । समिति की स्वतन्त्र सत्ता है । वह भी अपने में से योग्यतम को अपना सभापति नियुक्त करेगी, परन्तु इस सभा और समिति का निर्माण कैसे होगा, इसका कोई निर्देश ग्रन्थकार ने नहीं किया ।

सभेश राजा—इससे तो राजा और सभापति दोनों एक संयुक्त पद प्रतीत होता है, परन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, राजा के चुनाव की प्रक्रिया पूर्वोक्त सभेश या सभापति से बिल्कुल भिन्न है । फिर 'इन्द्राऽनिल, इत्यादि श्लोकों में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे निश्चय ही राजा में उपपन्न होते हैं 'सभाध्यक्ष' या 'सभेश' में नहीं । सभा और समिति दोनों का भी एक अध्यक्ष नहीं हो सकता । इससे पूर्व **'सभ्य सभां मे**

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥३॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥४॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥५॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥६॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥७॥
[कामी, मूर्ख, लोभी दण्ड धारण नहीं कर सकता]

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥८॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥९॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥१०॥

—मनु० ७।१७,१६,२४,—२८,३०,३१

पाहि' इत्यादि मन्त्र में भी राजा, सभापति (मुख्य सभासद) को सम्बोधित करता है। इससे भी राजा और सभापति दो स्वतन्त्र सत्ताएँ ठहरती हैं।

दण्डः शास्ति—दण्ड की उपयोगिता के विषय में 'शुक्रनीतिसार' में लिखा है —

निवृत्तिरसदाचाराद् दमनं दण्डतश्च यत् ।
येन संदम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ।
स उपायो नृपाधीनः स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥
जायते धर्मनिरता प्रजा दण्डभयेन च ।
करोत्याधर्षणं नैव तथा चासत्यभाषणम् ॥
क्रूराश्च मार्दवं यान्ति दुष्टा दौष्ट्यं त्यजन्ति च ।
पशवोऽपि वशं यान्ति विद्रवन्ति च दस्यवः ॥
पिशुना मूकतां यान्ति भयं यान्त्याततायिनः ।
करदाश्च भवन्त्यन्ये वित्रासं यान्ति चापरे ।
अतो दण्डधरो नित्यं स्यान्नृपो धर्मरक्षणे ॥

जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, — वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है ॥१॥

वही प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को 'धर्म' कहते हैं ॥२॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाए, तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाए, तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥३॥

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित, और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाएँ। दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे ॥४॥

जहाँ कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र, भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है, परन्तु जो दण्ड का चलानेवाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ॥५॥

जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी, विचारके करनेहारा, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं ॥६॥

जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है, वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥७॥

जब दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान्, अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित [कुटुम्बसहित] राजा ही का नाश कर देता है ॥८॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय, विद्या-सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥९॥

और जो पवित्र-आत्मा, सत्याचार, और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् है, वह न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥१०॥

इसलिए—

राज्ञां सदण्डनीत्या हि सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः ।
दण्ड एव हि धर्माणां शरणं परमं स्मृतम् ॥
अहिंसैवासाधुहिंसा पशुवत् श्रुतिचोदनात् ॥ —शुक्र० ४।४४,४७-४६,५१-५२

अर्थ—दण्ड के द्वारा असत् (दुष्ट) आचरण से निवृत्ति और दमन होता है, अतः जिस उपाय से मनुष्य का अच्छी प्रकार से दमन होता है, उसे 'दण्ड' कहते हैं। यह दण्ड नामक उपाय राजा के अधीन होता है, क्योंकि वही सबका स्वामी होता है।

दण्ड के भय से प्रजा अपने-अपने धर्म में निरत रहती है तथा वह किसी दुर्बल पर आक्रमण और असत्यभाषण नहीं करती। दण्ड से क्रूर लोग कोमल बन जाते हैं और दुष्ट लोग अपनी दुष्टता को छोड़ देते हैं। पशु भी दण्ड से वश में आ जाते हैं, दस्यु—डाकू, चोर, लुटेरे भाग जाते हैं। पिशुन (चुगलख़ोर) चुप हो जाते है, आततायी लोग भयभीत हो जाते हैं, कर न देनेवाले कर देने लगते हैं, अतः धर्म की रक्षा

के लिए राजा को सदा दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।

दण्डसहित नीति का व्यवहार करने से राजा के सभी कार्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि दण्ड ही सारे धर्मों का एकमात्र रक्षक माना गया है। वेद द्वारा विहित हिंसक पशु के वध के समान दुष्ट पुरुषों की हिंसा अहिंसा ही है। वस्तुत **'हिंसायाः हिंसा अहिंसैव हिंसाया विघातत्वात्।'**

दण्ड के विभिन्न रूप—शुक्राचार्य के मत में —

> **निर्भर्त्सनं चापमानोऽनशनं बन्धनं तथा।**
> **ताडनं द्रव्यहरणं पुरान्निर्वासनांकने॥**
> **व्यस्तक्षौरमसद्यानमङ्गच्छेदो वधस्तथा।**
> **युद्धमेते ह्युपायाश्च दण्डऽस्यैव प्रभेदकाः॥** —शुक्र० ४।४५-४६

अर्थात् —भर्त्स्ना (फटकारना, धिक्कारना, डाँटना आदि), अपमान (पदावनति), भूखा रखना, बन्धन में डालना, ताड़ना देना, धन छीन लेना, देश या नगर से निष्कासित कर देना, दाग देना, सिर मुँडवा देना, गधे आदि पर चढ़ाना, किसी अङ्गको कटवा देना, प्राणदण्ड देना या युद्ध करना —ये सब दण्ड के भेद हैं।

समीक्ष्य सः —दण्डव्यवस्था अत्यन्त दुष्कर कार्य है। वह सुविचारित होना चाहिए। जितना पाप अपराधी को दण्ड न देने में है, उससे कहीं अधिक किसी निरपराध को दण्ड देने में है। शुक्राचार्य कहते हैं—

> **दण्ड्यस्यादण्डनान्नित्यमदण्ड्यस्य च दण्डनात्।**
> **अतिदण्डाच्च गुणिभिस्त्यज्यते पातकी भवेत्॥** —शुक्र ४।५३

दण्ड देने योग्य व्यक्ति को दण्ड न देने से, अदण्डनीय को दण्ड देने से तथा नियमानुसार आवश्यकता से अधिक दण्ड देने से गुणीजन राजा के विरुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करने से राजा स्वयं भी पापी हो जाता है।

किन्तु जब तक प्रजा को राजा के पक्षपातरहित होकर न्यायपूर्वक दण्ड देनेवाला होने का विश्वास नहीं होगा तब तक यह व्यवहार में नहीं आ सकेगा। इसके लिए आवश्यक है कि राजा धर्म, अर्थ और काम के यथार्थ स्वरूप को जानकर तदनुसार आचरण करनेवाला हो। राजा को चाहिए कि वह **'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मविवर्जितौ'** तथा इस बात का ध्यान रखे कि **'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'**। अर्थशुचिता और जितेन्द्रियता के बिना राजा के न्यायकारी होने की आशा नहीं की जा सकती। जिसे आप्त पुरुषों का सहयोग प्राप्त नहीं और जो विषयों में आसक्त है वह शास्त्रविहित दण्डविधान को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ नहीं हो सकता।

यत्र श्यामः — इस श्लोक में दण्ड का आलंकारिक वर्णन के आधार पर रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग का क्रोधयुक्त आँखोंवाला व्यक्ति भयावह मालूम होता है, उसी तरह दण्ड भी अपराधियों को जला देनेवाला प्रतीत होना चाहिए। दण्ड इतना कठोर होना चाहिए कि उसके ध्यानमात्र से लोग काँप उठें और अपराध का विचार आते ही उससे विरत हो जाएँ।

वेदशास्त्रविदर्हति— इसका अभिप्राय यह है कि वेदादि शास्त्रों में पारंगत व्यक्ति ही राज्य का संचालन करने योग्य हो सकता है। राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए भगवान् मनु सप्तम अध्याय के आरम्भ में लिखते हैं—

[राजा, परिषद् और पारिषद की योग्यता]

सैनापत्यं[1] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ॥३॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥४॥

ब्राह्मप्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥

परम विद्वान् ब्राह्मण की भाँति पूर्ण विधि के अनुसार, अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावर्तनकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, सुशिक्षित क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि सम्पूर्ण राज्य की न्यायपूर्वक रक्षा करे । दण्डनेतृत्व के सन्दर्भ में मनु० ७।३१ का पूर्वोद्धृत **'शुचिना सत्यसन्धेन'** इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य है ।

सैनापत्यम्—यहाँ शासनव्यवस्था के चार मुख्य अंगों के सर्वोच्च अधिकारियों—राष्ट्राध्यक्षों (राजा=Head of the State), शासनाध्यक्ष (मुख्य राज्याधिकारी=Head of the Government), मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice or Head of the Judiciary), तथा मुख्य सेनापति (Commander-in-Chief of Defence Forces) का उल्लेख करते हुए यह निर्देश किया गया है कि सब विद्याओं के पूर्ण विद्वान् होने के कारण ये चार शासन-व्यवस्था के मुख्य स्तम्भ हैं । किसी भी महत्वपूर्ण विषय में निर्णय लेते समय इन चारों का परस्पर मिलकर विचार करना और एकमत होना अनिवार्य है ।

दशावरा वा—स्वामी वेदानन्दजी के अनुसार 'दशावरा और त्रयवरा परिषदें उन राजार्यसभा, धर्मार्यसभा तथा विद्यार्यसभा से पृथक् नहीं हैं । ये परिषदें उपसमितियाँ प्रतीत होती हैं । उपर्युक्त तीन सभाओं में से जब किसी कार्यविशेष के लिए उपसमिति बनाने की अपेक्षा हो, तो वह न्यून-से-न्यून दश विद्वानों की बनाई जाए और भी संख्या न्यून करना अभिमत हो तो तीन से न्यून तो किसी भी अवस्था में न होनी चाहिए ।' इस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि उक्त तीन सभाओं का निर्देश ही वर्त्तमान में उपलब्ध किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता ।

संस्कारविधि में गृहस्थाश्रम प्रकरण के अन्तर्गत इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"गृहस्थ लोग राजकार्यों को सिद्ध करने में कम-से-कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अति न्यून हो तो तीन वेदवित् (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करें ।"

---

१. 'संस्कारविधि' संस्करण १,२,३ में भी यही पाठ है । ग्रन्थकार ने ऋग्भाष्य १।१००।६; यजुर्भाष्य ६।२ के भावार्थ; तथा ऋग्भाष्य १।३२।२ के अन्वय में भी 'सैनापत्य' शब्द का प्रयोग किया है ।

[अकेले भी विज्ञ संन्यासी का कथन प्रमाण]

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥५॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥६॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्मतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥७॥ —मनु० १२। १००, ११०-११५ ॥

त्रैविद्य—ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चारों वेदत्रयी विद्यारूप कहाते हैं। इस प्रकार त्रैविद्य अर्थात् तीन वेदों के विद्वान्, (हैतुकः) चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवाँ तर्की अर्थात् न्यायशास्त्रवित्, (नैरुक्त) छठा निरुक्त का जाननेवाला, (धर्मशास्त्रवित्) सातवाँ धर्मशास्त्र का ज्ञाता, (त्रयश्चाश्रमिणः) आठवाँ ब्रह्मचारी, नौवाँ गृहस्थ और दशवाँ वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे (सं०वि०)।

यह मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल की सूची प्रतीत होती है। अन्यत्र (शुक्रनीति २।७२-७३) राजा की आठ प्रकृतियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ।
सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा ॥
अमात्यप्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥

इसके पश्चात् आचार्य कहते हैं—

विना प्रकृतिसन्मन्त्राद्राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम् ।
रोधनं न भवेत्तस्माद्राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥ —२।८०

इन प्रकृतियों के साथ सम्यक् विचार-विमर्श किये बिना राजा यदि कोई कार्य करता है तो निश्चय ही उसके राज्य का नाश हो जाता है। प्रकृति के बिना राजा को कुमार्ग से भी नहीं रोका जा सकता। इसलिए राजा के मन्त्री अवश्य होने चाहिएँ।

ऋग्वेदविद्—यदि किसी कारण इस दशावरा (दस सदस्यीय) परिषद् की मन्त्रणा राजा को उपलब्ध न हो सके तो मनु का निर्देश है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता—कम-से-कम इन तीन सभासदों की त्र्यवरा परिषद् की व्यवस्था तो अवश्य ही प्राप्त कर ले।

वेद का निर्देश है—**'बहुपाय्ये व्याचिष्टे यतेमहि स्वराज्ये'**।

राज्य का कार्य बहुतों के सहारे चलता है, इसलिए बहुतों की सम्मति के बिना राजा को कोई कार्य नहीं करना चाहिए, तथापि मनु का लोकतन्त्र विवेकहीन नहीं है। उसमें हाथों (मतों) की संख्या की तुलना में सिर (मस्तिष्क) का महत्व अधिक है—योग्यता तथा चरित्र सर्वोपरि है। इसलिए वे कहते हैं—

एकोऽपि वेदवित्—द्विजों में उत्तम, अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी यदि अकेला भी कोई बात कहता है तो वह सबके लिए माननीय है। लाखों-करोड़ों मूर्खों की तुलना में एक आप्तपुरुष प्रमाण है। कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और सबके ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में **सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण**[1] पूर्ण विद्यावाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशीलजनों को स्थापित करना चाहिए, अर्थात् **मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान अर्थात् राजा —ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ** ॥१॥

न्यून-से-न्यून दश विद्वानों, अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उस **धर्म** अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥२॥

इस सभा में चारों वेद, [2]हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्रादि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों तब वह सभा होवे कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएँ ॥३॥

और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के जाननेवाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करे, उस सभा की की हुई व्यवस्था को भी कोई उल्लंघन न करे ॥४॥

यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए ॥५॥

'एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्मं निश्चिनुयात् प्रकृष्टो धर्मः स बोद्धव्यो न वेदानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैर प्युक्तः । वेदविच्छब्दोऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच्च श्रेष्ठोपलक्षणम् । स्मृतिपुराणमीमांसान्यायशास्त्रज्ञोऽपि गुरुपरम्परोपदेशविदपि तथा । 'केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः । युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।' तेन बहुस्मृतिज्ञोऽपि यदि सम्यक् प्रायश्चित्तादिधर्मं जानाति तदा तेनाप्येकेन धर्म उक्तः प्रकृष्टो धर्मो विज्ञेयः । अतएव यमः—

'एको द्वौ वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्धर्मपाठकाः । स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ।'

अव्रतानाम्—यहाँ 'जातिमात्र' का अर्थ 'जन्म से' अभिप्रेत है । इससे धर्मपरिषद् की सदस्यता ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रतिषिद्ध है जो मात्र जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते हैं, किन्तु अन्यथा (गुणों के आधार पर) उसके अयोग्य हैं । कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

''सावित्र्यादिब्रह्मचारिव्रतरहितानां, मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां, ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां बहूनामपि मिलितानां परिषत्विं नास्ति, धर्मनिर्णयसामर्थ्याभावात् ।''

यं वदन्ति—वेदादि शास्त्र और प्रमाणादि से अनभिज्ञ मूर्ख व्यक्तियों द्वारा कथित धर्म वास्तव में धर्म नहीं होता, क्योंकि वे धर्म के स्वरूप को यथावत् नहीं जानते । अधर्म को धर्म के रूप में विहित करने से अनेक प्रकार की अविद्याएँ और भ्रान्तियाँ पनपती हैं, फिर उनसे पाप बढ़ता है । इस प्रकार समाज दूषित होता है । फलतः **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** की लोकोक्ति के अनुसार अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धों के समान समाज भ्रमित होकर नष्ट हो जाता है ।

---

१. ऋषियों के उपदेशानुसार कोई राजा, प्रधान-मन्त्री वा राष्ट्रपति वेदविद्या-विहीन न होना चाहिए । भ० द० ॥

२. मनु० के श्लोक मे वर्तमान 'हैतुक' का अर्थ यहाँ छूट गया है । इसे 'संस्कारविधि' के अनुसार पूरा किया है ।

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादिव्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती ॥६॥

जो अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं ॥७॥ इसलिए तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें[1], किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें और सब लोग ऐसे हों—

[राजा और सभासद् जितेन्द्रिय होवें]

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः ॥१॥

त्रैविद्येभ्यः—'त्रैविद्य' शब्द पर पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने त्रैविद्य का अर्थ किय है—**'तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तदधीतिनः ।'** धर्मसूत्रों में प्रयुक्त 'त्रैविद्य' का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने किया है। पर यह व्याकरणशास्त्र से असिद्ध है। महाभाष्य ४।२।६० में उदाहृत 'त्रैविद्य' की व्याख्या में कैयट ने लिखा है—**'त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, तामधीत इति प्रत्ययः कार्यः । तिस्रो विद्या वेद इति तु क्रियमाणे द्विगोर्लुग् (अ० ४।२।१) इति लुक् प्रसंगः ।'** अर्थात् तीन अवयववाली=तीन प्रकार की विद्या ऐसा अर्थ करना उचित है। 'तीन विद्याओं का जाननेवाला' ऐसा अर्थ करने पर तद्धितार्थ में द्विगु होगा और द्विगु से उत्तर प्रत्यय का लुक् हो जाएगा, अर्थात् त्रैविद्य शब्द नहीं बनेगा।

ये तीन प्रकार की विद्याएँ हैं—दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या। वेद में इन तीनों का प्राधान्येन वर्णन होने से चारों वेद त्रिविद्या या त्रयी कहाते हैं। ऋक्, यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति अर्थ करके चारों वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने ऋक्, यजुः, साम के पद्य, गद्य और गीति अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण कर अथर्ववेद को त्रयी से अलग कर दिया है। इसी भाव से आचार्य कौटिल्य ने लिखा है—**'सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी, अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः'** (१।३)। त्रयी के इस अवरकालीन अर्थ को मुख्य मानकर पाश्चात्य विद्वान् ऋक्, यजुः और साम इन तीन को ही प्राचीन वेद मानते हैं और अथर्ववेद को अर्वाचीन कहते हैं। कौटिल्य ने स्वमत में त्रयी को आन्वीक्षिकी और दण्डनीति से पृथक् माना है—आन्वीक्षिकी त्रयी **वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः'** (१।२)। और मानवों के मत में त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ कही हैं—त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः, त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकी'। (१।२) यदि यहाँ कौटिल्य का मानवों से अभिप्राय भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के अनुयायियों से है, तब उसे अशुद्ध कहना होगा, क्योंकि मनु के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म तीनों विद्याओं को या तो त्रयी के अन्तर्गत माना जा सकता है (जैसाकि हमने माना है) या तीनों को त्रयी से पृथक् मानना होगा (जैसा कि मनु के टीकाकार मानते हैं)। यह नहीं हो सकता कि समान कोटि में पढ़ी गई

---

१. मनु के श्लोक से तथा ग्रन्थकार के निर्देश से स्पष्ट है कि राज्यसभाओं आदि के लिए साम्प्रतिक लोकतान्त्रिक मानी जानेवाली चुनाव पद्धति अयुक्त है। इससे अयोग्य व्यक्ति भी राज्य सभाओं में पहुँच जाते हैं।

दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म-विद्याओं में से दण्डनीति को त्रयी से पृथक् माना जाए और आन्वीक्षिकी का त्रयी में अन्तर्भाव माना जाए तथा अध्यात्म की सर्वत्र उपेक्षा की जाए, अतः सम्भव है यहाँ कौटिल्य को मानवों से स्वायम्भुव के अनुयायी अभिप्रेत न हों। पुराकाल में वैवस्वत मनु तथा प्राचेतस मनु के भी धर्मशास्त्र विद्यमान थे। इनके अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

यदि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक माना जाए तो उक्त श्लोक के अर्थ में एक महान् दोष उत्पन्न हो जाता है, वह यह है—त्रिविद्या को **'त्रैविधीं'** (=वेदों के जाननेवालों) से सीखने और वार्तारम्भ को लोक से सीखने का निर्देश तो श्लोक में मिल जाता है, परन्तु दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्याएँ किससे सीखी जाएँ—इसका कोई निर्देश नहीं मिलता, अतः दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक् करना भ्रान्ति है।

इस प्रसंग में कौटिल्य की एक बात विशेषरूप से खटकती है और वह है—विद्या के प्रसंग में आध्यात्मविद्या का उल्लेख न होना। क्या राजाओं के लिए अध्यात्मविद्या आवश्यक नहीं है ? यदि नहीं है तो मनु ने दण्डनीति के समान ही अध्यात्मविद्या सीखने का आदेश राजा के लिए क्यों दिया ?

ग्रन्थकार द्वारा यहाँ उद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है कि मनु की भाँति उनका विश्वास है कि वेदों में संग्राम में सेना का संचालन, राज्य का प्रबन्ध, दण्डव्यवस्था, आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का ज्ञान तथा अध्यात्मविद्या (=शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। मनु के **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**, **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** तथा ग्रन्थकार के 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' के आधार पर वेदों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए कि उससे उनके सर्वज्ञानमयत्व की पुष्टि हो। इस समय संस्कृतवाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ हैं—वे सब अपने विषयों को वेदमूलक मानते हैं

आन्वीक्षिकी के मुख्य ग्रन्थ हैं गौतमीय न्यायशास्त्र तथा कणादीय वैशेषिक। कौटिल्य ने सांख्य और योग को भी आन्वीक्षिकी में गिना है-**'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।'**

वार्तारम्भ का अर्थ प्रायः कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन किया जाता है। इन सब विद्याओं के अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं, परन्तु श्लोक में इसे 'लोकतः' सीखने का निर्देश है। इससे 'वार्ता' का अर्थ लोकाचार उपयुक्त प्रतीत होता है। यह बातचीत के द्वारा ही आता है।

इस विषय में शुक्रनीतिसार में कहा है—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं प्रतिष्ठितम् ।
त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामोऽकामः प्रतिष्ठितः ॥
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ।
वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ॥
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ —शुक्र० १।१५२-१५५

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥२॥

अन्वीक्षिकी=तर्कशास्त्र, न्यायदर्शन, त्रयी=अंगों सहित चारों वेद, वार्ता=व्यवहारशास्त्र और दण्डनीति—ये चारों विद्याएँ सनातन हैं। राजा को सदा इनका अभ्यास करना चाहिए। आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत न्याय और वेदान्त आदि का समावेश है। वेदत्रयी में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। वार्ता में अर्थोपार्जन और अनर्थनिवारण के उपाय हैं। दण्डनीति में नीति-अनीति का वर्णन है। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के धर्म इन विद्याओं में समाविष्ट हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—ये छह वेदाङ्ग, ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र का विस्तार (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र और पुराण (इतिहासग्रन्थ) इन सबको 'त्रयी' कहते हैं।

इन्द्रियाणां जये—मनु ने इन्द्रियजय अर्थात् जितेन्द्रियता को राजकीय व्यवस्था का मूलाधार माना है। राजा की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास आदि सबका उद्देश्य इन्द्रियजय है। तदनुसार कौटिल्य ने भी अपने सूत्रग्रन्थ तथा अर्थशास्त्र में इसका अनेकविध प्रतिपादन किया है। चाणक्यसूत्र में कहा है—

सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यं, राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः । साररूप में उन्होंने कहा —''**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते**''—चा०सू० १०

इस प्रसंग में उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है—

''**विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमदमानहर्षत्यागात् कामः । कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः । शास्त्रानुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः । तद्विरुद्धवृत्तिवश्येन्द्रिश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति ॥**' —कौ० अर्थ०प्र० ३ अ०५

अर्थात्—विद्या और विनय का हेतु=उद्देश्य इन्द्रियजय है, अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में प्रवृत्त न होने देना इन्द्रियजय कहाता है। संक्षेप में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों का पर्यवसान इनद्रियजय में है। इसके विपरीत आचरण करनेवाला इन्द्रियलोलुप राजा शीघ्र नष्ट हो जाता है।

परम प्रमाण श्रुति का उद्घोष है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति**' (अथर्व० ११।५।४) अर्थात् राजा ब्रह्मचर्य के तप (जितेन्द्रियता) से राष्ट्र की रक्षा करता है। चरित्रभ्रष्ट राजा के रहते राष्ट्र कैसे सुरक्षित रह सकता है?

सभासदों एवं राजा के सहायकों के गुणों का वर्णन करते हुए शुक्राचार्य ने कहा है—

कुलगुणशीलवृद्धाञ्छूरान् भक्तान्प्रियंवदान् ।
हितोपदेशकान्क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा ॥
कुमार्गगं नृपमपि बुद्ध्योद्धर्तुं श्रमान् शुचीन् ।
निर्मत्सरान्कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान् ॥ २।८,६

कुल, गुण और शील से महान्, शूरवीर, राजभक्तक मधुरभाषी, हित की बात कहनेवाले, कष्ट सहनेवाले, सदा धर्म का पालन करनेवाले, कुमार्गगामी राजा को बौद्धिक कौशल से कुमार्ग से हटाने में समर्थ, पवित्र आचार-विचारवाले, मात्सर्य (ईर्ष्या=द्वेष), काम, क्रोध, लोभ और आलस्यरहित—इन गुणों से

[१० कामज और ८ क्रोधज दुर्गुण]

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥३॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥५॥

युक्त सहायकों का राजा वरण करे ।

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।
सभ्याः सभासदः कार्या वृद्धाः सर्वासु जातिषु ॥ २।१६०-१६१

जो लोकव्यवहार में कुशल, बुद्धिमान्, सदाचार, शील आदि सद्गुणों से सुभूषित, व्यक्तिगत स्तर पर शत्रु तथा मित्र में समभाव रखनेवाले, राग-द्वेषरहित, निष्पक्ष, धर्मज्ञ, सत्यवादी, आलस्यरहित, काम, क्रोध और लोभ के विजेता, मधुरभाषी, सभा में साधु—सभी जातियों में ऐसे जो वृद्ध लोग (मुखिया=चौधरी) हैं, उन्हें निर्णयकरनेवाली सभा का सभासद् बनाना चाहिए ।

अध्याय ४, श्लोक १७ में इन्हीं गुणों को दुहराया गया है । वहाँ अन्तिम वाक्य के शब्द इस प्रकार हैं—**'राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ।'**

तौर्यत्रिकम्—एक विशेष प्रकार के वाद्य 'तुरही' (तूर्य) को कहते हैं ।

त्रिकम्—नृत्यगीतवादित्राणि तौर्यत्रिकम्' गाना, बजाना और नाचना—इन तीन क्रियाओं के समूह को 'त्रिकम्' कहते हैं । इस प्रकार 'तौर्यत्रिकम्' का अर्थ 'वाद्यों के साथ गाना, बजाना और नाचना होता है । बहुवचनान्त 'स्त्रियः' पद के प्रयोग से मनु इस बात का संकेत कर रहे हैं कि राजा को एकपत्नीव्रत होना चाहिए अर्थात् राजा के लिए भी बहुविवाह प्रतिषिद्ध है ।

मृगया—'मृगं याति अनया सा मृगया, घञर्थे कः'=पशुओं का पीछा करना अर्थात् शिकार में प्रवृत्त होना ।

पैशुन्यमिति—पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः, ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देवानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि एषोऽष्टपरिणामो व्यसनगणः क्रोधाद् भवति । —कुल्लूकभट्ट

द्वयोरपि—इन दोनों (काम और क्रोध) से उत्पन्न अठारह प्रकार के दोषों का मूल लोभ है—**'लोभः पापस्य कारणम्'** । पञ्चतन्त्र के अनुसार **'लोभाच्च नाऽन्योस्ति रिपुः पृथिव्याम्'** —लोभ से बढ़कर कोई मनुष्य का शत्रु नहीं है । भर्तृहरि के शब्दों में **'लोभश्चेदगुणेन किम्'** ? यदि मनुष्य में लोभ है तो उसमें और किसी दुर्गुण की कमी नहीं रहेगी, क्योंकि **'लोभमूलानि पापानि'** ।

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥७॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥८॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥९॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥१०॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥११॥

—मनु० ७।४३-५३

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥

लोभ से बुद्धि विचलित हो जाती है, लोभ से तृष्णा पैदा होती है, तृष्णा बढ़ने से इस लोक में और परलोक में सर्वत्र दुःख उठाता है। संसार में जितने भी पाप होते हैं—चोरी, डकैती, रिश्वत, बेईमानी, चोर-बाज़ारी, तस्करी, मिलावट, ठगी, लूटपाट, मुक़दमेबाजी, हत्या आदि सभी लोभ के कारण होते हैं।

अपि यत्सुकरम्—मनु के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए शुक्रनीति में लिखा है—

यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥
सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥
सभ्याधिकारिप्रकृतिसभासत्सुमते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते ।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ॥

अर्थ—छोटे-से-छोटा कार्य करना अकेले मनुष्य के लिए दुष्कर कार्य होता है, फिर महान् अभ्युदयवाले राज्यकार्य को असहाय, अकेला पुरुष कैसे चला सकता है ? सभी विद्याओं में निपुण और भली-भाँति मन्त्रणा (विचार) करनेवाला भी अकेला राजा मन्त्रियों के बिना कभी किसी व्यवहार के विषय में कोई निर्णय न करे। बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि सदा सभ्याधिकारी पुरुष (अफ़सर), प्रकृति (मन्त्री आदि) और सभासदों की सम्मति से कार्य करे, अपनी मनमानी कभी न करे। स्वेच्छाचारी राजा अनर्थ कर

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना, ज्ञान-विद्याओं के जाननेवालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, **आत्मविद्या** अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जाननेरूप ब्रह्मविद्या, और लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें ॥१॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतके, अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्त्तें और अधर्म से हटे-हटाये रहें। इसलिए रातदिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो **जितेन्द्रिय** कि अपनी इन्द्रियों=जो मन, प्राण और शरीर [रूप] प्रजा है, इसको जीतें, उसके विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को कोई समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥२॥

दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फँसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥३॥

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फँसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य-धनादि और धर्म से रहित हो जाता है और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फँसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥४॥

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं। देखो— मृगया खेलना, अक्ष अर्थात् चौपड़ खेलना, जुवा खेलनादि, दिन में सोना, काम-कथा वा दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अति सङ्ग, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गाँजा, चरस आदि का सेवन, गाना-बजाना, नाचना वा नाच कराना, सुनना और देखना, वृथा इधर-उधर घूमते रहना —ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥५॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं। 'पैशुन्य'=अर्थात् चुगली करना, ['साहस'=] विना विचारे बलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना, ['द्रोह'=] द्रोह रखना, ['ईर्ष्या'] दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना, ['असूया'=] दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना, ['अर्थदूषण'=] अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना, ['वाग्दण्ड'=] कठोर वचन बोलना, और ['पारुष्य'=] विना अपराध कड़ा वचन वा विशेष दण्ड देना। ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥६॥

जिसको सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं, कि जिससे ये सब दुर्गुणो मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े ॥७॥

बैठता है। परिणामतः उसका राज्य शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और प्रकृति (मन्त्री आदि) में फूट पड़ जाती है।

जहाँ एक अकेला राजा स्वेच्छाचारी होकर राज्य को हानि पहुँचाता है, वहाँ अनेकजनों के मिल-बैठकर निर्णय करने से होनेवाले लाभ का उल्लेख करते हुए शुक्राचार्य कहते हैं—

पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥
प्रत्यक्षेण च सादृश्यैः साहसैश्च छलैर्बलैः ।
वैचित्र्यं व्यवहाराणामौन्नत्यं गुरुलाघवैः ॥
न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते ।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्यविवृद्धये ॥ २।५-७

काम के व्यसनों में बड़े दुर्गण। एक—मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन। **दूसरा**—पासों आदि से जुआ खेलना। **तीसरा**—स्त्रियों का विशेष सङ्ग। **चौथा**—मृगया खेलना—ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥८॥

और क्रोधजो में—विना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना, और धनादि का अन्याय में खर्च करना—ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं ॥९॥

जो सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना, और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है ॥१०॥

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फँसने से मर जाना अच्छा है, क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है, [यदि] वह अधिक जिएगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जाएगा, और जो किसी व्यसन में नहीं फँसा, वह मर भी जाएगा तो भी सुख को प्राप्त होता जाएगा, इसलिए विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फँसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें ॥११॥

[मन्त्रिगण कैसे होने चाहिएँ]

राजसभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहिए—

आप्त (यथार्थवक्ताओं के) वाक्यों से, अनुभवों से, आगम (वेदशास्त्रादि के प्रमाणों) से, अनुमान से एवं प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धिवैभव दिखाई पड़ता है और प्रत्यक्ष प्रमाण से, सादृश्य (उपमान) से, साहस, छल और बल से व्यवहारों में जो विचित्रता तथा गुरुता एवं लघुता से जो उन्नति (किसी की अधिक, किसी की कम होने से) पाई जाती है—इन सब बातों का ज्ञान करना अकेले आदमी के लिए सम्भव नहीं है, अतः राज्य की वृद्धि के लिए राजा उत्तम सहायकों का वरण करे।

इसी कारण भारतीय संविधान में राष्ट्रपति द्वारा संसद् में कुछ सदस्यों के मनोनीत किये जाने का प्रावधान किया गया है, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्ति निर्वाचन-प्रक्रिया के माध्यम से न चुने जाकर संसद् में प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं, राष्ट्र को ऐसी प्रतिभाओं के ज्ञान और अनुभव का लाभ मिल सके, इसलिए राष्ट्रपति को कुछ सदस्यों को मनोनीत (Nominate) करने का अधिकार है, जिससे समस्त विद्याओं के विशेषज्ञ राष्ट्र के संचालन में अपना योगदान कर सकें।

शुक्रनीति के द्वितीय अध्याय में अमात्य, मन्त्री, सचिव, सुमन्त्र आदि की योग्यता तथा कर्त्तव्यों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। मन्त्री, अमात्य, सुमन्त्र आदि वर्त्तमानकालिक मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री आदि के पर्याय हो सकते हैं। निदर्शनार्थ यहाँ मन्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया जाता है—

मन्त्री—

> **सामदानञ्च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथम् ।**
> **कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहुमध्यं तथाऽल्पकम् ॥**
> **एतत् संचिन्त्य निश्चित्य मन्त्री सर्वं निवेदयेत् ॥ ९४**

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु राज्यं महोदयम् ॥२॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥४॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥५॥
निवर्त्ततास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥७॥

मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह किन विषयों में कब और किस समय साम, दाम, दण्ड और भेद करना चाहिए, उससे क्या फल होगा, वह उत्तम, मध्यम और अधम कैसा होगा—इन सब बातों पर विचार करके राजा को सलाह दे ।

मौलान्—इस श्लोक की ऐसी ही व्याख्या संस्कारविधि में उपलब्ध है । पूना-प्रवचनों में भी यही बात कही गई है । सर्वत्र मन्त्रियों के स्वदेश में उत्पन्न होने पर बल दिया गया है । किसी भी अवस्था में विदेशी मूल के लोगों को मन्त्रिमण्डल का सदस्य न बनाये, न महत्त्वपूर्ण पदों पर उनकी नियुक्ति करे । इस नियम का उल्लंघन होने के दुष्परिणामों के सन्दर्भ में दिल्ली से प्रकाशित इण्डियन एक्सप्रेस (Indian Express) के ७ जून १६६० के अंक में प्रकाशित यह विवरण द्रष्टव्य है—

"British military commanders who were retained in India after independence, had wrongly advised the Indian Government to refer the Kashmir problem to the United Nations, thereby helping Pakistan to internationalise the issue.

This gave Pakistan the opportunity to demand a plebiscite in Kashmir, which has given rise to the Kashmir crisis as it exists today and has forced three wars on India, according to a book 'Military leadership in India—from Vedic period to Indo-Pak wars' by Major General Rajendra Nath (PVSM).

The British Officers who were retained as commanders of independent India's defence forces tried their best to 'undo things' even after Kashmir's accession to India and had sided with the Pakistan Government during the 1947 Indo-Pak war, according to the book.

The book says that the British Commander-in-Chief in India, General Lockhart till November 27. 1947 and General Roy Boucher after that used to talk regularly with their Pakistani counterparts even while Indian and Pakistan forces were fighting in Jammu and Kashmir. It was really they who had made the bold and ingenious plan to capture Jammu and Kashmir by using Pathan tribals as well as regular Pak forces.

The British commanders were retained in India on the advice of Lord Mountbatten on the plea to train and command the 'inexperienced' Indian army despite opposition by Sardar Patel and Indian military leaders.

The book says that even Lord Mountbatten, who was the Supreme Commander of the Indian defence forces in 1947, had 'sympathies' for Pakistan. It quotes him as having said "I must tell you honestly I wanted Kashmir to join Pakistan." New Delhi, Indian Express, June 7, 1990.

सारांश—देश के स्वतन्त्र हो जाने पर ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने भारत को कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले जाने की सलाह दी। इससे पाकिस्तान को कश्मीर के मामले को अन्तर्राष्ट्रिय विषय बनाने में मदद मिली। इसी से पाकिस्तान को जनमतसंग्रह (plebiscite) की माँग करने का अवसर मिला और इसी के परिणामस्वरूप भारत को कश्मीर पर हुए तीन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। कश्मीर की वर्तमान स्थिति विदेशी सेनाधिकारियों को देश में रखे रहने का परिणाम है। यह रहस्योद्‌घाटन मेजर जनरल राजेन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक 'Military leadership in India—from Vedic period to Indo-Pak wars' में किया है। इन अफ़सरों ने कश्मीर के भारत में मिल जाने पर भी बने-बनाये काम को बिगाड़ने का भरसक प्रयत्न किया और १९४७ में भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान का साथ दिया। पुस्तक के अनुसार २७ नवम्बर १९४७ तक भारत में रहे प्रधान सेनापति जनरल लॉकहार्ट और उसके बाद जनरल राय बुशेर (Ray Boucher) पाकिस्तान के सेनाध्यक्षों को भारत-पाक युद्ध के दिनों में नियमितरूप से परामर्श देते रहे— दोनों का निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उन्होंने ही पठान क़बाइलों और पाकिस्तान की नियमित सेनाओं के द्वारा जम्मू-कश्मीर पर कब्ज़ा करने की योजना बनाई थी। सरदार पटेल और भारतीय सेनाधिकारियों के विरोध के बावजूद लार्ड माउंटबेटन ने भारतीय सेनाधिकारियों को प्रशिक्षित करने के नाम पर ब्रिटिश कमाण्डरों को रोक लिया था। पुस्तक के अनुसार लार्ड माउंटबेटन की पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति थी। इतना ही नहीं, लार्ड माउंटबेटन ने कहा था—'सच तो यह है कि मैं कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के पक्ष में था।'

राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से शासनव्यवस्था से सम्बद्ध लोगों के विदेशियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं हैं।

कुल्लूकभट्ट ने 'मौलान्' का अर्थ **'पितामहक्रमेण सेवकान्'** किया है। जिस पारिवारिक अथवा सामाजिक परिवेश में मनुष्य रहता है, उससे प्रभावित हुए बिना वह नहीं रहता। मन्त्रियों की नियुक्ति तो उनके अपने गुणों के आधार पर ही होगी, परन्तु उसके गुणों का विकास करने में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अर्थात् परम्परा से चले आ रहे पारिवारिक पेशे के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। जिसके बाप-दादा मन्त्री बनते आ रहे हैं, उसके एक सफल मन्त्री बनने की सम्भावना अधिक होती है, परन्तु इसे नियम नहीं बनाया जा सकता।

परीक्षितान्—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की पूरी तरह परीक्षा करनी चाहिए। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो प्रकार की परीक्षाओं का निर्देश किया है—

(१) प्रकटविधि—**"तेषां जनपदमवग्रहं चाप्ततः परीक्षेत। समानविद्येभ्यः शिल्पं, शास्त्रचक्षुष्मत्तां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च, आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च, संव्यवहाराच्छौचं मैत्रतां दृढभक्तित्वं च, संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्वयोगम्—अस्तम्भमचापल्यं च, प्रत्यक्षतः सम्प्रियत्वम्—अवैरित्वं च।"** प्र० ५, अ० ६

अर्थ—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्त पुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान और

[सुयोग्य दूत की नियुक्ति]

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥८॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६॥ —मनु० ७।५४-५७,६०-६४

स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादिशास्त्रों के जाननेवाले शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्'=अर्थात् मन्त्री करे ॥१॥

उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की, नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति और चतुरता की, व्याख्यानों तथा सम्भाषणों द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता तथा प्रतिभा की, आपत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव तथा सहनशक्ति की, व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति की, सहवासियों तथा पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे।

(२) **गुप्तविधि**—"मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वामात्यानुपधाभिः शोधयेत्। .... तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृसन्निधातृनिचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धान्नासन्नकार्येषु राज्ञः। सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्। सर्वत्राशुचीन् खनिजद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत्।'

अर्थात्—(१) धर्मोपधा—गुप्त धार्मिक उपायों से अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करना। (२) अर्थोपधा—गुप्त आर्थिक लोभ की बातों से। (३) कामोपधा—गुप्त कामसम्बन्धी आकर्षणों से। (४) भयोपधा—गुप्त भयादि प्रदर्शित करके अमात्यों के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करे। गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएँ करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य अमात्यकार्य पर नियुक्त करे।

कौटिल्य के मत में धर्मपरीक्षा में पवित्र सिद्ध अमात्यों को न्यायालय में, अर्थपरीक्षा में पवित्र को कर-संग्रह और कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पवित्र को अन्तःपुर और विलासस्थानों में तथा भयपरीक्षा में पवित्र को अङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए। (कौ०अ०, प्र० ५, अध्याय ६)

तैः सार्धं चिन्तयेत्—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय तथा द्वैधीभाव—ये छह मन्त्री के गुण माने गये हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां याति वै रिपुः ।
सा क्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेत्तां तु यत्नतः ॥

जिन क्रियाओं के द्वारा बलवान् शत्रु निश्चितरूप से मित्र बन जाए, उसे 'सन्धि' कहते हैं। राजा को इसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

विकर्षितः सन् वाऽधीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै ।
कर्मणा विग्रहस्तं तु चिन्तयेन्मन्त्रिभिर्नृपः ॥

क्योंकि विशेष सहाय के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है । जब ऐसा है तो महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा, और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥२॥

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से **'सन्धि'**=मित्रता, किसी से **'विग्रह'**=विरोध 'स्थान'=स्थिति=समय को देखके चुपचाप रहना; अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, 'समुदयम्'=जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, 'गुप्तिम्'=मूल, राजसेना, कोश आदि की रक्षा, 'लब्धप्रशमनानि'=जो-जो देश प्राप्त हो उस-उसमें शान्ति-स्थापन=उपद्रवरहित करना —इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥३॥

विचार ऐसे करना कि उन सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करने लगना ॥४॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे ॥५॥

जितने मनुष्यों से राजकार्य्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्यरहित, बलवान्, और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को 'अधिकारी' अर्थात् नौकर करे ॥६॥

इनके अधीन शूरवीर, बलवान्, कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में, और भीरु=डरनेवालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे ॥७॥

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय, और भविष्यत् में होनेवाली बात को जाननेहारा, सब शास्त्रों में विशारद=चतुर है, उस **'दूत'** को भी रक्खे ॥८॥

वह ऐसा हो कि राजकाम में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलनेवाला, देश और कालानुकूल वर्तमान का कर्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो । वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥९॥

जिस क्रिया से शत्रु को पीड़ित किया जाए अथवा अपने अधीन कर लिया जाए, उसे 'विग्रह' कहते हैं । इस विषय में राजा सदा मन्त्रियों के साथ विचार करे ।

शत्रुनाशार्थगमनं यानं स्वाभीष्टसिद्धये ।
स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानात्तदासनम् ॥

अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए किसी शत्रु के नाशार्थ उसपर चढ़ाई करने को 'यान' कहते हैं । जिस स्थान पर बैठे रहने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो, अवसर की प्रतीक्षा में उस स्थान पर बैठे रहने को 'आसन' कहते हैं ।

यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद् दुर्बलोऽपि स आश्रयः ।
द्वैधीभावं स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मयोः ॥ —शुक्र० ४।२२३-२२६

जिसके द्वारा रक्षित होकर दुर्बल भी सबल हो जाए, किसी ऐसे राजा की शरण लेने को 'आश्रय' कहते हैं । अपनी सेना को योजनाबद्ध टुकड़ियों में बाँटकर रखना 'द्वैधीभाव' कहाता है ।

सन्धि की नहीं जाती, करनी पड़ती है इसलिए—

[अमात्य, नृप और दूत के अधिकार]

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥१॥
दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्येव च संहतान् ।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा॥२॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथात्मानं न पीडयेत् ॥३॥

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् ॥ —शुक्र० ४।२२७

जब किसी राजा पर कोई अत्यन्त बलवान् शत्रु आक्रमण कर दे और उस समय प्रतिकार का कोई उपाय न दीख पड़े तब विपत्ति में पड़े हुए राजा को सन्धि कर लेनी चाहिए। परिस्थिति अनुकूल होने पर जैसा उचित हो वैसा करना चाहिए।

इस विषय का विशदीकरण शुक्रनीति के चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

निवर्त्तेत—यहाँ 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है। इसलिए इस श्लोक के अन्तर्गत 'इतिकर्त्तव्यता' से 'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता' अभिप्रेत है। जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्णतया सम्पन्न हो सकें, उतनों की नियुक्ति कर लेनी चाहिएं। अगले **'तेषामर्थे'** इत्यादि श्लोक में उक्त अमात्यों की सहायतार्थ अन्य सहयोगी अधिकारियों (सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव, निदेशक, विभागाध्यक्ष आदि) की नियुक्ति का निर्देश किया गया है।

दूत एव हि—कौटिल्य ने दूत के कार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ —प्र. ११, अ. १५

अर्थात्—राजा का सन्देश दूसरे राजा के पास ले-जाना और उसका अपने राजा के पास लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को बढ़ाना, अधिक-से-अधिक मित्र बनाना, शत्रुपक्ष के लोगों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुप्तचरों अथवा सैनिकों को समय रहते सुरक्षित निकाल लाना, शत्रु के बान्धवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रुदेश में कार्यरत अपने गुप्तचरों के कार्य पर दृष्टि रखना, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रु-बान्धवों को शर्तों के आधार पर छोड़ना, आवश्यकतानुसार दोनों राजाओं की परस्पर भेंट कराना आदि दूत के कार्य हैं।

दूत के लिए नियत अतिरिक्त कर्त्तव्यों का निर्देश मनु ने अगले श्लोक (७।६७) में इस प्रकार किया है—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥

[दुर्गों के भेद और उनका उपयोग]

धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥५॥
तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७॥
तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥८॥

अर्थात् वह दूत शत्रुपक्ष के असन्तुष्ट या विरोधी लोगों में और कर्मचारियों में गुप्त संकेतों एवं चेष्टाओं से शत्रु-राजा के आकार=भाव, संकेत=हाव, चेष्टा=प्रयत्न का तथा उसके अभिलषित कार्य और इच्छाओं को जाने ।

यहाँ 'कृत्य' शब्द राजनैतिक योगरूढि है । 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से अपने पक्ष में किये जा सकते हैं । कौटिल्य अर्थशास्त्र में उनके चार भेद बताये हैं— **'क्रुद्धलुब्धभीतावमानितस्तु परेषां कृत्याः'** (कौ० अर्थ० प्र० ८ अ. १२) । शत्रुराज्य के जो राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रुद्धकृत्य'; जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुब्धकृत्य' ; जो डर के कारण दबे रहते हैं हैं, वे 'भीतकृत्य' और जो राजा से अपमानित हैं, वे ''अपमानितकृत्य' कहाते हैं । दूत का यह कर्त्तव्य है कि उपर्युक्त लुब्ध और क्षुब्ध व्यक्तियों और कर्मचारियों से शत्रुराजा के गुप्त रहस्यों को जाने ।

'इङ्गितमन्यथावृत्तिः, आकृतिग्रहणमाकारः' (कौ०अ०, प्र० १०, अ०१४) । स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएँ 'इङ्गित' कहाती हैं और चेष्टाओं को प्रकट करनेवाले अंगोंकी आकृति 'आकार' कहाती है ।

शुक्रनीति में दूत की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

इङ्गिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥ —२।८६

जो हृदयगत भाव तथा चेष्टा को समझनेवाला, प्रखर स्मरणशक्तिवाला, देशकालानुसार कर्त्तव्य कर्म को जाननेवाला, राजनीति के छह उपायों के विषय में उचित मन्त्र=विचार का जाननेवाला, बोलने में चतुर और निर्भीक होता है, वह 'दूत' कहाता है ।

छह उपाय हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय तथा द्वैधीभाव । 'समाश्रय' का अर्थ है—सबल का आश्रय लेना तथा 'द्वैधीभाव' का तात्पर्य है—ऊपर से शत्रु से मेल रखना, किन्तु भीतर-भीतर शत्रुभाव रखना ।

पुरोहितम्—यहाँ 'वैतानिक' का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलनेवाला यज्ञ है तथा 'गृह्यकर्माणि' से घर के धार्मिक अनुष्ठान तथा दैनिक पंचमहायज्ञ अभिप्रेत हैं । वैतानिक यज्ञों का

[पुरोहित और ऋत्विज् का वरण]

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥६॥

—मनु० ७।६५-६८-७०, ७४-७८॥

अमात्य को दण्ड-अधिकार, दण्ड में विनय-क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे। राजा के अधीन कोश और राजकार्य, तथा सभा के अधीन सब कार्य्य, और दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करने का अधिकार देवे ॥१॥

दूत उसको कहते हैं कि जो फूट में मेल, और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे, जिससे शत्रुओं में फूट पड़े ॥२॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानके वैसा यत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो ॥३॥

इसलिए सुन्दर जंगल, धन-धान्ययुक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन, (महीदुर्गम्) मिट्टी से किया हुआ, (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन् (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे, (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे ॥४॥

और नगर के चारों ओर 'प्राकार'=प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्र-युक्त पुरुष सौ के साथ, और सौ दश हज़ार के साथ युद्ध कर सकते हैं, इसलिए अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥५॥

वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण=जो पढ़ाने, उपदेश करनेहारे हों, शिल्पि=कारीगर, यन्त्र नाना प्रकार की कला, 'यवसेन'=चारा-घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥६॥

उसके मध्य में जल, वृक्ष, पुष्पादि, सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण अपने लिए घर, जिसमें सब राजकार्य्य का निर्वाह हो, वैसा बनवावे ॥७॥

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के, यहाँ तक राजकाम करके, पश्चात् सौन्दर्य-रूप-गुणयुक्त, हृदय को अतिप्रिय, बड़े उत्तमं कुल में उत्पन्न, सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या, जोकि अपने सदृश विद्यादि-गुण-कर्म-स्वभाव में हो, उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥८॥

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिए करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्म किया करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे, अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है, जो रातदिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना ॥९॥

स्पष्टीकरण अगले ही श्लोक में इस प्रकार किया है—

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान्धनानि च ॥ —मनु० ७।७९

अर्थात् राजा बहुत दक्षिणावाले अनेक यज्ञों को किया करे तथा धर्म के लिए विद्वान् ब्राह्मणों को भोग्य वस्तुएँ तथा प्रचुर धन दान किया करे।

[विविध अध्यक्षों की नियुक्ति]

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥१॥
अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्रतत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥२॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥३॥

[संग्राम-सम्बन्धी नियम]

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥४॥
आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्तया स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥५॥
न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥६॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥७॥

सांवत्सरिकम्—'आप्त' और 'बलि' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में प्रयोग के आधार पर इनके अपने विशेष अर्थ रूढ़ हो गये है—

'आप्तः' शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। अपने विषय में पूर्णतः व्याप्त अर्थात् व्यापक और प्रत्यक्ष ज्ञान रखनेवाले धार्मिक व निष्पक्ष व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। राजा को चाहिए कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग में ऐसे आप्तपुरुषों को ही मुख्य अधिकारी के रूप में नियुक्त करे।

अन्न या भोजनादि में से यज्ञार्थ निकाला गया भाग या अंश 'बलि' कहाता है। जैसे—बलिवैश्वदेवयज्ञ में भोजन का कुछ भाग पशु-पक्षियों के लिए निकालकर रक्खा जाता है। यहाँ 'बलि' से प्रजा से कर के रूप में प्राप्त अन्न का छठा भाग अभिप्रेत है।

अध्यक्षान्—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र०२२, अ० ६ में अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन, विभाग और उससे सम्बन्धित कार्यानुसार होना चाहिए। कौटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष हैं—

१. **सेनाध्यक्ष**—सम्पूर्ण सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी, २. **कोषाध्यक्ष**—खजाने का व्यवस्थापक, ३. **आकराध्यक्ष**—खानों का अध्यक्ष, ४. **अक्षपटलाध्यक्ष**—आय-व्यय महानिरीक्षक, ५. **कोष्ठागाराध्यक्ष**—कोठारी, ६. **आयुधागाराध्यक्ष**—युद्धसामग्री का अध्यक्ष, ७. **पण्याध्यक्ष**—बाजार का नियन्त्रक अधिकारी, ८. **कुप्याध्यक्ष**—वन की वस्तुओं का निरीक्षक, ९. **स्वर्णाध्यक्ष**—सोने-चाँदी का अध्यक्ष, १०. **लोहाध्यक्ष**—लौह वस्तुओं का अध्यक्ष, ११. **सीताध्यक्ष**—कृषि विभाग या कर के रूप में प्राप्त एकत्रित धान्य का अध्यक्ष, १२.

नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥८॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्त्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥१०॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥११॥
राजश्च दद्युरुद्धारमित्येषा[1] वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥१२॥

—मनु० ७ । ८०—८२,८७,८६,६१—६७॥

वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं, वे सब और सभा वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्तें ॥१॥

उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही देखना काम है कि जितने-जितने जिस-जिस काम में राजपुरुष हो, वे नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार, और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें ॥२॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय कोष है, इसके प्रचार के लिए जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादिशास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें ॥३॥

शुल्काध्यक्ष—चुंगी का अधिकारी, १३. **पातवाध्यक्ष**—तोल-नाप का नियन्त्रक अधिकारी, १४. **मानाध्यक्ष**—देशकाल के मानों का अध्यक्ष, १५. **सूनाध्यक्ष**—वधस्थान का अधिकारी, १६. **सूत्राध्यक्ष**—वस्त्र या सूत-व्यवसाय का अध्यक्ष, १७. **नगराध्यक्ष**—नगर का प्रमुख अधिकारी, १८. **नावध्यक्ष**—नौका-परिवहन का अधिकारी, १६. **गो-अध्यक्ष**—गौ आदि दुधारु पशुओं का व्यवस्थापक अधिकारी, २०. **अश्वाध्यक्ष**—अश्वशाला का अधिकारी, २१. **हस्ति-अध्यक्ष**—हस्तिशाला का अधिकारी, २२. **रथाध्यक्ष**—रथसेना का अधिकारी, २३. **पदात्यध्यक्ष**—पैदल सेना का अधिकारी, २४. **मुद्राध्यक्ष**—मुद्रा-व्यवस्था का अधिकारी, २५. **विविताध्यक्ष**—चरागाहों का अधिकारी, २६. **लवणाध्यक्ष**—टकसाल का अधिकारी, २७. **धर्माध्यक्ष**—धर्मनिर्णायक अधिकारी।

विपश्चित्—निरुक्त ३।१५ के अनुसार **'विपश्चित् मेधावी-नाम'** अर्थात् प्रतिभाशाली विद्वान् को विपश्चित् कहते हैं। प्रतिभाशाली विद्वानों को ही विभागों का अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए।

नायुधव्यसनम्—**'सतां धर्ममनुस्मरन्'**—ग्रन्थकार का निश्चित मत है कि युद्ध की समाप्ति पर

---

१. मेधातिथि ने मनुस्मृति की अपनी व्याख्या में **'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा .... स (इन्द्रो) महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरत'** (ऐ० ब्रा० ३२१) वैदिक वचन उद्धृत किया है।

इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है।

जब कभी प्रजा का पालन करनेवाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे, तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना ही विजय हो ॥४॥

जो संग्रामों में एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना सामर्थ्य हो विना डर, पीठ न दिखा युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सकें, वैसे काम करें। जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥५॥

युद्ध-समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण हूँ' ऐसे कहनेवाले को ॥६॥

न सोते हुए, न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखनेवालों, न शत्रु के साथी ॥७॥

न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए, और न पलायन करते हुए पुरुष को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें।

किन्तु उनको पकड़के जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रख दे, और भोजन-आच्छादन यथावत् देवे और जो घायल हुए हों, उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इसपर ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के-बालों को अपने सन्तानवत् पाले, और स्त्रियों को भी पाले। उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाए, और जिनमें पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा कारागार में रक्खे ॥८॥

युद्धबन्दियों को मुक्त कर देना चाहिए। संसार के समस्त राष्ट्रों के सम्बन्धों के नियमन के लिए सार्वभौम संगठन द्वारा इस प्रकार का विधान आवश्यक है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत 'आज़ाद हिन्द फ़ौज' के तीन सैनिकों को अंग्रेज सरकार ने बन्दी बनाया था और उन्हें प्राणदण्ड देने का निर्णय किया था। तब दिल्ली के लालकिले में उनपर अभियोग चलाया गया। उनकी मुक्ति के लिए चलाया गया अभियान अन्तर्राष्ट्रिय महत्त्व का विषय बन गया था। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रिय कानून का आश्रय आवश्यक जान पड़ा। अन्ततः ग्रन्थकार द्वारा इस श्लोक की व्याख्या में दी गयी व्यवस्था के अनुसार उन्हें मुक्त कर देना पड़ा।

क्षात्रधर्ममनुस्मरन्—शुक्रनीति के अनुसार—

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वकार्यं साधयेत् प्राज्ञः कार्यध्वंसो हि मूर्खता ॥ —४।३४८

बुद्धिमान् पुरुष मान-अपमान की परवाह न करके, जैसे भी सम्भव हो, अपने कार्य को सिद्ध करे, क्योंकि अपने कार्य को बिगाड़ लेना मूर्खता है।

और जो पलायन अर्थात् भागा और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं से मरा जाए, वह उसके स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे ॥९॥

और जो उसकी प्रतिष्ठा है, जिससे इस लोक और परलोक में सुख होनेवाला था, उसको उसका स्वामी ले लेता है। जो भागा हुआ मारा जाए, उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल सब नष्ट हो जाता है और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥१०॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियाँ, तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य, और घी-तेल आदि के कुप्पे जीतें हों, वही उस-उसका ग्रहण करे ॥११॥

क्षणं युद्धाय सज्जेत क्षणं चापसरेत् पुनः ।
अकस्मान्निपतेद् दूराद् दस्युवत् परितः सदा ॥ —४।३५५

राजा क्षणभर में युद्ध के लिए तैयार हो जाए तथा क्षणभर में युद्ध से पीछे हट जाए और फिर दूर से सहसा डाकुओं की भाँति चारों ओर से धावा बोल दे ।

धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी ।
न युद्धं कूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः ॥ —४।३४४

बालक, वृद्ध, स्त्री तथा शस्त्रहीन आदि के अवध्य होने सम्बन्धी नियम केवल धर्मयुद्ध के लिए कहे गये हैं, कूटयुद्ध के लिए नहीं । बलवान् शत्रु को नष्ट करने के लिए कूट (कपट) युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा युद्ध नहीं है ।

रामकृष्णसुरेन्द्राद्यैः कूटमेवादृतं पुरा ।
कूटेन निहतो बालिर्यवनो नमुचिस्तथा ॥ —४।३४५

प्राचीनकाल में श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा इन्द्रादि ने भी कूटयुद्ध के द्वारा ही बालि, कालयवन और नमुचि दैत्य का संहार किया था ।

इस प्रसंग में महाभारत (आदिपर्व, अ० १४०, श्लोक १०-११) में आता है—

सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ॥

अर्थात्—जब-जब आपत्ति का समय आये तो निःशंक होकर तोड़-फोड़, प्रबल आक्रमण, प्रचण्ड युद्ध करे अथवा सुरक्षापूर्वक भाग जाए ।

रथाश्वं हस्तिनम्—जीती हुई स्त्रियों को विजेता सैनिकों को दे देना समझ में नहीं आता । यह ग्रन्थकार की भावनाओं तथा मान्यताओं और वैदिक (आर्य) परम्परा के विपरीत है । इसी कारण आर्यसंस्कृति के उन्नायक छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप ने सेना द्वारा बन्दीकृत स्त्रियों को ससम्मान उनके अभिभावकों को लौटा दिया था । यहाँ ८वें श्लोक की व्याख्या में स्वयं ग्रन्थकार ने बन्दीकृत स्त्रियों को अपनी बहन और कन्या के समान समझने का निर्देश किया है, अतः यहाँ केवल श्लोकस्थ 'स्त्रियः' पद की व्याख्या में ग्रन्थकार का तात्पर्य जानना चाहिए ।

'कुप्य' शब्द से कुल्लूकभट्ट ने **'सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनम्'** का ग्रहण किया है । कौटिल्य

परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवाँ भाग राजा के देवें और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो सबने मिलके जीता हो, सोलहवाँ भाग देवे ।

और जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे । जब उसके लड़के समर्थ हो जाएँ तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे । जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंगन कभी न करे ॥१२॥

[चार प्रकार का पुरुषार्थ]

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥१॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ॥२॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥३॥

[राजा मायाचारी न होवे]

अमाययैव वर्त्तेत न कथञ्चन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायान्नित्यं स्वसंवृतः ॥४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात् परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥५॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥६॥

[डाकू, लुटेरों को वश में करे]

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥७॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैताँश्छनकैर्वशमानयेत् ॥८॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥९॥

अर्थशास्त्र (२।१७) में अनेक पदार्थ गिनाये हैं । ग्रन्थकार ने लोक में प्रसिद्ध 'कुप्पा' शब्द को 'कुप्य' शब्द का अपभ्रंश मानकर उनमें रखे जानेवाले 'घी, तेल' आदि अर्थ किया है ।

अलब्धमिच्छेत्—'**पात्रेषु निःक्षिपेत्**' = सुपात्रों व हितकर कार्यों में लगाये ।

नास्य छिद्रम्—छिद्र का अर्थ है—त्रुटि, दोष, कमज़ोरी आदि ऐसी कमी जिसके कारण शत्रु लाभ

[प्रजा को कभी पीड़ा न देवे]

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१०॥
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११॥

[सुव्यवस्थित शासन-पद्धति]

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥१२॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥१३॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥१४॥
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥१५॥

उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके—**'छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति ।'** मनु के इस श्लोक को कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र (प्रक० ११, अ० १५) में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है ।

एवं विजयमानस्य—'परिपन्थिनः'—'परिपन्थिन्' शब्द **'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि'** (अष्टा० ५।२।८९) सूत्र के अनुसार वेद में निपातनरूप है । पाणिनि के अनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है । इसके अर्थ शत्रु, डाकू, लुटेरा, कार्य में बाधक आदि हैं । यहाँ तथा आगे **'यथोद्धरति'** इत्यादि श्लोकों में उक्त 'परिपन्थी' शब्द का व्यापक अर्थ है । इससे वहाँ उन असामाजिक तत्त्वों का भी ग्रहण होता है जो प्रजा के अतिरिक्त राज्य के विकास में बाधा डालते हैं, विरोध करके अराजकता फैलाते और राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करते हैं ।

'मोहाद्राजा० तथा **'शरीरकर्षणात्०'** के द्वारा राजा को सावधान किया गया है कि यदि प्रजा क्षीण या निर्बल होगी तो राजा बहुत दिनों तक शासन नहीं कर सकेगा—प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित है । 'राष्ट्रकर्षण' का अभिप्राय यह है कि यदि स्वयं राजा द्वारा, या राजपुरुषों द्वारा प्रजा का शोषण किया जाएगा या वह डाकू-लुटेरों आदि से उत्पीड़ित प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ होगा तो उसका राज्य स्थिर नहीं रह सकेगा ।

सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा—इस या ऐसे ही किसी अन्य नाम से अभिहित किसी अन्तर्राष्ट्रिय (अन्ताराष्ट्रिय) या विश्वस्तरीय संगठन का साक्षात् विवरण न मनुस्मृति में उपलब्ध है, न ब्राह्मणग्रन्थों में और न किन्हीं राजनीतिपरक ग्रन्थों में । प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सन् १९१८ में राष्ट्रसंघ (League of Nations) की तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) की

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥१६॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्-कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१७॥

स्थापना की गई। किन्तु ग्रन्थकार ने इसकी कल्पना सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण में सन् १८७५ में की। निश्चय ही ग्रन्थकार का यह विचार वर्त्तमान राजनीतिक चिन्तन से उधार लिया नहीं माना जा सकता। या तो यह उनकी आर्ष बुद्धि का चमत्कार है अथवा उनके चिन्तन का आधार वेद में उपलब्ध कतिपय संकेत हो सकते हैं। **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** यजुर्वेद १८।२६ का यह वचन इसका प्रेरणास्रोत हो सकता है। इस समुल्लास के अन्त में ग्रन्थकार ने इसका संकेत किया है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद में आये ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—

'विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु।' —अथर्व० ३।४।१

अर्थात्—हे राजन्! तू समस्त प्रजाओं का 'एकराट्'=एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर विराजमान हो। तुझे (सर्वाः प्रदिशः) सम्पूर्ण दिशाओं के निवासी नियुक्त करें। यजुर्वेदभाष्यान्तर्गत एक मन्त्र (१।६) के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**"मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम्। एकमत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्त्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम्, द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति।"** अर्थात् मनुष्य को दो प्रयोजनों से (जीवन में) प्रवृत्त होना चाहिए—एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़के सर्वत्र उनका प्रचार करना।

"आर्याभिविनय" में भी अनेक वेदमन्त्रों की व्याख्या के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने प्रार्थनारूप में 'साम्राज्य' या चक्रवर्त्तिराज्य की कामना का समावेश किया है, जैसे—"हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए" (प्रकाश १ मन्त्र १८); "चक्रवर्त्ती राज्यैश्वर्य से........... परिपूर्ण करो" (१, ३५); "हमारे लिए चक्रवर्त्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुगम-सुख से प्राप्त कर" (१, ४३); "जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें।" (२।१३); "अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिए हम लोगों को सदा पुष्ट कर।" (२, ३१)।

ऐतरेयब्राह्मण में आया है—

'तानहमनुराज्याय साम्राज्याय भोज्याय स्वराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय महाराज्याधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥' ऐत० पं० ८, अ० २, कं० ६६

अर्थ—सब लोग इस प्रकार इच्छा करके पुरुषार्थ करें कि परमेश्वर की कृपा से मैं प्रथम 'अनुराज्य' की प्राप्ति के लिए और तदन्तर माण्डलिक राजाओं के ऊपर सत्ता प्राप्ति के लिए (साम्राज्याय) सार्वभौम राज्य करने के लिए, (भोज्याय) धर्म-न्याय से राज्यपालन करते हुए उत्तम भोग के लिए, (स्वराज्याय) स्वर्ग—ऐन्द्र राज्य की प्राप्ति के लिए, (वैराज्याय) विभिन्न राजाओं के बीच शीर्षस्थ स्थान पाने के लिए, (पारमेष्ठ्याय) स्थिर राज्य के लिए, (महाराज्याय) विस्तृत राज्यसत्ता के लिए तथा (आधिपत्याय) इस प्रकार क्रमशः सबपर पूर्णाधिपत्य प्राप्त करूँ।

'अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्' (शत० ५।१।१।१३)—छोटे-छोटे माण्डलिक राज्य 'अनुराज्य' कहाते हैं और बड़े राज्य 'साम्राज्य'। अथवा **'सम्यग् ये राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानस्तेषां भावः कर्म वा'**।

साम्राज्यवाद का एक क्षीण-सा संकेत महाभारत (सभापर्व अध्याय ३७) में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मिलता है। अग्रपूजा के लिए जब श्रीकृष्ण का वरण किया जा रहा था तो शिशुपाल ने इसका विरोध करते हुए कहा—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥१६॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥२०॥

अर्थात्—हम सब लोग (राजा) इन महात्मा युधिष्ठिर को जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा किसी आश्वासन के कारण नहीं। हमने तो यही समझा था कि यह धर्मात्मा सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहता है। सो अच्छा है, किन्तु श्रीकृष्ण को अर्घ्यदान करके यह हमारा अपमान कर रहा है।

इससे स्पष्ट है कि युधिष्ठिर का साम्राज्य बलपूर्वक छोटे राज्यों को अपने अधीन करके बना साम्राज्य न होकर स्वेच्छापूर्वक एक धर्मात्मा राजा के परस्पर सहयोग की भावना से बना संगठन था, जिसमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था में स्वतन्त्र रहते हुए सर्वहितकारी कार्यों में परस्पर परतन्त्र थे। आजकल की भाषा में इसे Empire न कहकर Confederation या Common-wealth कह सकते हैं।

मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राज्य-संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर एक से लेकर सहस्र ग्रामों तक सभाओं तथा सभागृहों के निर्माण किये जाने का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार ने मनु द्वारा निर्दिष्ट क्रम को आगे बढ़ाते हुए 'महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा' तक पहुँचाया है। इसी सभा को वर्तमान में 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' के नाम से अभिहित किया गया है।

परन्तु इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रसंघ (League of Nations) हिटलर के एक झटके को सहन न कर सका और सन् १९३९ में धराशायी हो गया। व्यावहारिक स्तर पर यही स्थिति वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O) की है। रूस और अमरीका में से कोई अकेला निषेधाधिकार प्राप्त होने के कारण सुरक्षापरिषद (Security Council) के किसी भी निर्णय को निरस्त कर सकता है। साधारण सभा में सर्वसम्मति से भी कोई निर्णय हो जाए तो सदस्य राष्ट्रों को उसे मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। जब विश्वसंगठन पर कुछ विशिष्ट सदस्य राष्ट्रों का वर्चस्व बढ़ जाता है तो विश्वसंगठन व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से ऐतरेय के प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आधिपत्याय' तथा 'स्वावश्याय' ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। स्वायत्तता (Autonomy) के साथ जब तक प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सामंजस्य नहीं होता तब तक दोनों में संघर्ष के अवसर आते रहेंगे। आज भी यह अनुभव किया जा रहा है कि जब तक संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं होगी तब तक वह अपने निर्णयों को लागू नहीं करा सकेगा। इसलिए जब तक सदस्य राष्ट्रों पर विश्वसंघ का आधिपत्य नहीं होगा और वे उसके वश में रहकर उसके निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होंगे तब तक उसका होना न होना बराबर है।

विश्वशासन के कुछ सूत्र ऋग्वेद के सप्तम तथा अष्टम मण्डल में उपलब्ध हैं—

राजा राष्ट्राणां पेशः । ७।३४।११
विश्वस्य दूतं अग्निं आहुवे । ७।१६।१

विश्वभोजसा स द्रुवत् स्याहुतः । ७।१६।२
त्वं पोता विश्ववार । ७।१६।५
अस्य भुवनस्य एकराद् राजसि । ८।३७।३
यस्य ते विश्वमानुषः । ८।४५।४२
विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि । ८।४६।१७

वेदों में अनेकत्र विश्व को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एकसूत्र में बाँधने के सूत्र मिलते हैं, जैसे—**'इषं च विश्वभोजसम् ।'** ऋ० ६।४८।१३ में विश्व खाद्य व कृषि संगठन (World Food and Agricultural Organisation) की स्पष्ट ध्वनि है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट (२४ अक्तूबर १९५५) में लिखा है—

"We know that modern techniques and modern Knowledge coupled with an adequate scheme of distribution can enable us to feed well a far larger population than anyone has heretofore considered possible. The knowledge exists. The machinery—the U.N. Food and Agricultural Organisation—is ready. And yet men starve."

आशय यह है कि संसार में इतनी खाद्यसामग्री उपलब्ध है कि उससे वर्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक लोगों का पेट भरा जा सकता है। इसका वितरण करनेवाली संस्था U.N.F.A.O. भी है। फिर भी लोग भूखे मर रहे हैं।

इससे स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और उससे सम्बन्धित अवर संगठन अपने आपको असहाय एवं असमर्थ अनुभव करते हैं। पूर्वापेक्षया कुछ सुधार होने पर भी न्यूनाधिक स्थिति आज भी वही है। इस स्थिति में किसी भी विश्वसंगठन के सन्दर्भ में 'आधिपत्याय' तथा 'स्वावश्याय' जैसे शब्दों पर बल देना आवश्यक है।

यहाँ "दस-दस हज़ार के दश अधिपति .... प्रतिदिन .... सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजा सभा में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें" से स्पष्ट है कि 'प्रतिदिन सब भूगोल का वर्त्तमान जनाना' तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण विश्व आधुनिक काल की तरह तार, टेलीफोन, टेलेक्स आदि उपकरणों से नीचे से ऊपर तक एक-दूसरे से भली प्रकार जुड़ा हो।

ऋग्वेद के १।१४।६ मन्त्र का भाष्य करते हुए भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**"ताराख्येन यन्त्रेण संचालिता विद्युन्मनोवेगवद्वार्तां देशान्तरं प्रापयति ।"** अर्थात्—ताराख्य यन्त्र से चलाई हुई बिजुली मन के वेग के समान वार्त्ताओं को एक देश से दूसरे देश में पहुँचाती है।

ग्रन्थकार के वेदभाष्य के निम्न स्थलों में भी सूचित होता है कि तारयन्त्र द्वारा समाचारों को भेजने में विद्युत् का उपयोग किया जा सकता है—

"यदि मनुष्या विद्युद्वाय्वादियोगविद्यां जानीयुस्तर्हि ते दूतवदश्ववद्दूरं यानं समाचारं च गमयितुं शक्नुयुः ।" अर्थात् जो मनुष्य बिजुली और वायु आदि के योग की विद्या को जानें तो वे दूत और घोड़े के सदृश दूर वाहन को और समाचार को पहुँचा सकें। (ऋग्भाष्य ४।७।११, भावार्थ)

"यदा मनुष्या अग्नियानेन गमनं तडिता समाचारांश्च गृह्णीयुस्तदेते सद्यः कार्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति।" अर्थात् जब मनुष्य लोग अग्नियान से गमन और विद्युत् से समाचारों को ग्रहण करें तब ये शीघ्र कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं। (ऋग्भाष्य ७।३।२, भावार्थ)

इंग्लैंड में पहली बार सन् १८६२ में तार द्वारा समाचार भेजा गया था। भारत में इसके बहुत देर बाद

नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१८॥
[गुप्तचरों द्वारा सब वृत्तान्त जाने]

स तानुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१९॥

इसका प्रचलन हुआ । उस समय (१८७६) तक ग्रन्थकार को इसकी कोई जानकारी नहीं रही होगी । इसलिए यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा है, साक्षात् वेद के आधार पर ही लिखा है ।

इस विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—

"अनेक लोग शंका करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य विज्ञानोन्नति को देखकर 'प्राचीन भारतीयों को भी ये विद्याएँ ज्ञात थीं' ऐसे मिथ्याग्रह से तार-विद्या का यहाँ (ऋ०भा०भी०) संकेत किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मिथ्याग्रह से ऐसा नहीं किया है । वास्तव में प्राचीन आर्यों को दूरसंवादसंचारप्रणाली ज्ञात थी, इसका स्पष्ट निर्देश शुक्रनीति नामक अति प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध है । उसमें राज्यव्यवस्था के प्रकरण में लिखा है कि राजा को अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि केन्द्र को १०,००० दस सहस्र कोस (=१५००० मील=२५००० किलोमीटर) दूर हुई बात एक दिन में ज्ञात हो जाए । शुक्रनीति १।३६७ में लिखा है—**'अयुतक्रोशजां वार्त्तां हरेदेकदिनेन वै'** । यदि भारत में अतिप्राचीन काल में दूरसंवादसंचार प्रणाली विदित न होती तो शुक्राचार्य ऐसी असम्भव वार्त्ता के लिए प्रयत्न करने का विधान न करते ।"

नगरे-नगरे—'यहाँ बड़े-बड़े नगरों के प्रबन्ध के लिए' जिस व्यवस्था का निर्देश किया है, वर्त्तमान में म्युनिसिपल कमेटी और टाउन-हाल उसी के अन्तर्गत आते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रन्थकार की दृष्टि में सारे भूमण्डल की आदर्श सुख-प्राप्ति के लिए धरती-भर के लोगों का एक सुगठित (well-knit) तथा सशक्त विश्वराज्य=सार्वभौम संगठन होना नितान्त आवश्यक है ।

आचार्य प्रियव्रत ने अपने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' (भाग १, पृष्ठ १३) में अथर्ववेद (८।१०।१२-१३) में आये 'आमन्त्रण' शब्द से इसी प्रकार के संगठन का ग्रहण किया है । उनकी मान्यता के अनुसार "आमन्त्रण एक सार्वभौम राज्यसभा प्रतीत होती है । राष्ट्रों के पारस्परिक विरोधों को सुलझाने के लिए 'आमन्त्रण' की आवश्यकता होती है । 'आमन्त्रण' शब्द का अर्थ है 'निमन्त्रण देकर बुलाना' । इससे विभिन्न देशों को बुलाया जाता है—आमन्त्रित किया जाता है ।" मात्र बुलाये जाने के कारण 'आमन्त्रण' का 'सार्वभौम राज्यसभा' अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । किसी छोटे से छोटे स्थानीय संगठन की बैठक के लिए भी उसमें उपस्थित होने के लिए उसके सदस्यों को बुलाना आवश्यक होता है ।

गुप्तचर—राजा न सर्वव्यापक होता है और न सर्वान्तर्यामी । फलतः उसके सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । परन्तु बिना देखे, सुने, जाने शासन का कार्य नहीं चल सकता, इसलिए उसे सहायकों की आवश्यकता होती है । देश में कहाँ, क्या है रहा है, राजा को इसकी जानकारी गुप्तचरों (C.I.D.) से मिलती रहती है । कहा है—

चारैः पश्यन्ति राजानः वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
गावः घ्राणेन पश्यन्ति चक्षुर्भिरितरे जनाः ॥

[दुष्ट राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड]

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥२०॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥२१॥

—मनु० ७।९९-१०१, १०४-१०८-११०-११७,१२०-१२४

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, और प्राप्त की पयत्न से रक्षा करे। रक्षित को बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावें ॥१॥

इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने। आलस्य छोड़कर इसका भली-भाँति नित्य अनुष्ठान करे ॥२॥

राजा लोग गुप्तचरों (की आँखों) से देखते हैं, ब्राह्मण वेदों (की सहायता) से देखते=ज्ञान प्राप्त करते हैं, गौएँ घ्राण (नासिका) से देखती=सूँघकर जानती-पहचानती हैं और सामान्य जन चर्मचक्षुओं से देखते हैं।

शुक्रनीति में गुप्तचर के लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

शत्रुप्रजाभृत्यवृत्त विज्ञातुं कुशलाश्च ये ।
ते गूढचाराः कर्त्तव्या यथार्थश्रुतबोधकाः ॥ —२।१८२

जो शत्रु, प्रजा और भृत्यों (कर्मचारियों) के चरित्र (व्यवहार) को जानने में कुशल और जो यथार्थ (सत्य) बातों को सुनकर उन्हें ठीक-ठीक निवेदन करनेवाले हों, उन्हीं को गुप्तचर बनाना चाहिए।

राज्ञो हि—क्योंकि प्रजा की रक्षा के लिए राजा द्वारा नियुक्त राजकर्मचारी प्रायः दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतख़ोर और ठग या धोखा करनेवाले हो जाते हैं। राजा इस प्रकार की व्यवस्था करे जिससे वे राजा और प्रजा के साथ इस प्रकार का व्यवहार न कर पाएँ।

ये कार्यिकेभ्यः—यहाँ देश से निष्कासित कर ऐसे स्थान में रखने का आदेश दिया है, जहाँ से वे लौटकर न आ सकें। भारत में अंग्रेजी शासनकाल में ऐसे अपराधियों को काला पानी (अण्डमान) भेजा जाता था। रूस में ऐसे लोगों को सायबेरिया भेजा जाता था।

यहाँ से आगे सेवानिवृत्त कर्मचारियों, अनाथों तथा विधवाओं के जीवनयापन, असहाय वृद्धों की सहायता तथा साधनहीन अन्य लोगों के योगक्षेम का प्रावधान किया गया है, जिससे राज्य में कोई दुःखी या असहाय अनुभव न करे, परन्तु 'वे भली-भाँति धनाढ्य भी हों' इससे ग्रन्थकार का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है।

यथायोग्य व्यवहार—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**' की भाँति परिश्रमी तथा ईमानदार कर्मचारियों को पुरस्कृत तथा इसके विपरीत आचरण करनेवालों को तिरस्कृत नहीं किया जाएगा तो कर्मचारियों की सत्कर्म में प्रवृत्ति और दुष्कर्म से निवृत्ति नहीं होगी। इसलिए सबके साथ समान व्यवहार न होकर यथायोग्य व्यवहार होना चाहिए। प्रकारान्तर से आगे '**तीक्ष्णश्चैव**' इत्यादि श्लोक में भी इस बात

दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् व्याजादि, से बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे ॥३॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्त्तें, किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्ताव रक्खे और नित्य-प्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये हुए छल को जानके निवृत्त करे ॥४॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके, और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है, वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे ॥५॥

जैसा बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार किया करे। द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा[1] के समान दूर भाग जाए, और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥६॥

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू, लुटेरे हों, उनको 'साम'=मिला लेना, 'दान'=कुछ देकर, 'भेद'=फोड़-तोड़ करके वश में करे ॥७॥

और जो इनसे वश में न हों, तो अति कठिन **दण्ड** से धीरे-धीरे वश में करे ॥८॥

जैसे धान्य का निकालनेवाला छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे राजा डाकू-चोरों को मारे और राज्य की रक्षा करे ॥९॥

जो राजा मोह से=अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धु-सहित जीवने[2] से पूर्व ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥१०॥

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट हो जाते हैं ॥११॥

इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता है ॥१२॥

इसलिए दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ।१३॥

एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधानपुरुष को रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवाँ पुरुष रक्खे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, और दो थानों पर एक बड़ा थाना, और उन पाँच थानों पर एक तहसील, और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है ॥१४॥

इसी प्रकार प्रबन्ध करे, और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों, उन-उनको गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे ॥१५॥

और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हज़ार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को

१. अर्थात् खरगोश।

२. सं० २ में यही पाठ है। यह गुजराती एवं मारवाड़ी भाषा का प्रयोग है। भाव है—'जीवन की अवधि'।

प्रतिदिन जनाया करे।[1] और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को, और दश सहस्र के दश अधिपति लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें और वे सब राजसभा[2] महाराजसभा अर्थात् सार्वभौमचक्रवर्ति महाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें ॥१६॥

और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में, और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ॥१७॥

बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करनेवाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसाकि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें ॥१८॥

जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो, उसके अधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे। जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें[3], उनसे सब राज और प्रजा-पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दण्ड, और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे ॥१९॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान्, कुलीन हों। उनके अधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करनेवाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करें[4] ॥२०॥

जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे, उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहाँ से पुनः लौटकर न आ सके, क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाए, तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाए तो बचे रहें[5] ॥

परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली-भाँति हो, और वे भली-भाँति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक बार मिला करे और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे, पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उसकी स्त्री जीती हो, तो उन सबके निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे, परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जाएँ, तो कुछ भी न मिले। ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे ॥२१॥

---

१. यहाँ से आगे का पाठ मनु के किसी श्लोक का अर्थ नहीं है, परन्तु व्याख्यायमान श्लोक के अनुसार दशसहस्राधिपति से आगे की व्यवस्था दर्शानेवाला है।

२. इसका अभिप्राय यह है कि—'लक्ष-लक्ष ग्रामों की वे सब राजसभाएँ' वे संख्या में चाहे कितनी ही होवें।

३. यहाँ 'भिन्न-भिन्न जाति के गुप्तचर रहें' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

४. यह भाषार्थ अपराध करनेवाले लोगों के सुधार की भावना से किया गया है। श्लोक का शब्दार्थ—'राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए रक्खे गये अधिकारी प्रायः करके पर-धन को ग्रहण करनेवाले वञ्चक होते हैं। उनसे प्रजा की रक्षा की जावे' रक्षा का उपाय अगले श्लोक में दर्शाया है।

५. यहाँ से आगे का पाठ किसी श्लोक की व्याख्यारूप नहीं है। अपितु राजकर्मचारियों के वेतन, वार्धक्यवृत्ति (=पैंशन), राजकर्मचारियों के असहाय स्त्री-पुत्रों के भरण-पोषण की व्यवस्था ग्रन्थकार ने दर्शाई है।

[कर-ग्रहण का प्रकार]

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥१॥
यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥२॥
नोच्छिन्द्यात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥४॥

पर बल दिया गया है।

कौटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर (Price Index) के अनुसार राजा और उसके परिजनों से लेकर मन्त्रियों, अमात्यों, अध्यक्षों तथा निम्नस्तरीय कर्मचारियों (class IV) तक की भृति=भरणपोषण या वेतन का निर्धारण किया है। कौटिल्य के अनुसार धन और भूमि दोनों ही रूपों में भृति दी जा सकती है, परन्तु भूमि के सम्बन्ध में यह शर्त रखी है कि उसे न गिरवी रखा जा सकता है और न बेचा जा सकता है। (प्रकरण १७। अ०१)

करव्यवस्था—मनु का संसार का सबसे पहला विधिवेत्ता होना निर्विवाद है। मनु सबसे पहले राजा थे और उन्होंने प्रजा के अनुरोध पर इस शर्त पर राजा बनना स्वीकार किया था कि प्रजा कर देकर उनके तथा शासन के लिए अपेक्षित सेना तथा कर्मचारियों के वेतनादि की व्यवस्था करेगी। एक राजा के रूप में जिस प्रकार की करव्यवस्था का निर्धारण उन्होंने किया था लगभग वैसी ही आज तक चली आ रही है। इसकी पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र से उद्धृत इस वचन से होती है—

''मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः वैवस्वतं मनुं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। तेषां किल्बिषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्।'' (प्रक० ८, अ० १२)

अर्थात्—जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजा ने अपनी सुरक्षा तथा कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। और तभी से प्रजाओं ने अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवाँ तथा कुछ सुवर्ण राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर के बदले में राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा तथा कल्याण का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार निर्धारित कर और दण्ड-व्यवस्था प्रजाओं के कष्टों का निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती है।

नोच्छिन्द्यात्—इस सन्दर्भ में शुक्रनीति का निम्न वाक्य द्रष्टव्य है—

मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत् ॥ ७।१११

अर्थात्—माली जैसे लताओं से खिली-खिली कलियों को चुनता है, वैसे ही राजा भी थोड़ा-थोड़ा कर

[चोर डाकुओं से प्रजा की रक्षा]

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥७॥

—मनु० ७।१२८, १२९, १३९, १४०, १४२-१४४

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवें, वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर-स्थापन करे ॥१॥

जैसे जौंक, बछड़ा और भमरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे ॥२॥

अतिलोभ से अपने वा दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे, क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है, वह अपने को और उनको पीड़ा ही देता है ॥३॥

जो महीपति कार्य को देखके तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अतिमाननीय होता है ॥४॥

ग्रहण करे। जैसे कोयला बनानेवाला सारे वृक्ष को जड़ से जलाकर एकबारगी कोयला बना डालता है, वैसे सबका सब न ले।

कर लेने का सबसे अच्छा प्रकार वह है जिसमें कर लेनेवाला कर लेले, पर कर देनेवाले को इसका पता भी न चले, अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा समुद्र से जल लेता है, वैसे ही राजा कर लेने का उपाय अपनाये।

विक्रोशन्त्यः—'**राष्ट्रात् दस्युभिः ह्रियन्ते**' का अर्थ है सीमान्त में स्थित डाकुओं द्वारा एक देश की प्रजा को बलात् अपने देश में खींच ले-जाना। राजा की आवश्यकता ही रक्षा के लिए होती है। यदि वह इसमें असफल होता है तो उसका होना ही व्यर्थ है।

अपने मन से राजा एक भी काम न करे—शुक्राचार्य कहते हैं—

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥ २।२
सभ्याऽधिकारिप्रकृतिसभासत् सुमते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन् ॥ २।३

सभी विद्याओं में निपुण और भली-भाँति मन्त्रणा=विचार करनेवाला भी अकेला राजा मन्त्रियों के बिना कभी किसी विषय में निर्णय न करे।

बुद्धिमान् राज को सदा सभ्याधिकारी पुरुष प्रकृति (मन्त्री आदि) और सभासदों की सम्मति से ही कार्य करना चाहिए। कभी भी अपनी मनमानी नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमाद-रहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥५॥

जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह राजा जानो भृत्य, अमात्यसहित मृतक है, जीता नहीं और महादुःख का पानेवाला है ॥६॥

इसलिए राजाओं का प्रजापालन ही करना परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है, और जैसा सभा नियत[1] करे उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है। इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है ॥७॥

वर्त्तमान में अधिनायकों (डिक्टेटरों) में यही दोष होता है कि वे किसी की नहीं सुनते। ग्रन्थकार ने महाराणा उदयपुर को अपने पत्र (पूर्ण संख्या ५६८) में लिखा था—राज का कार्य एक पर निर्भर न रक्खे, किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।

सन्धिं तु— इस श्लोक के प्रचलित अर्थ इस प्रकार हैं—'सन्धि के दो भेद हैं—(१) समानयानकर्मा सन्धि और (२) असमनयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर 'यान' चढ़ाई करना 'समानयानकर्मा' सन्धि कहाती है। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइए, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् 'यान' चढ़ाई करना 'असमानयानकर्मा' सन्धि कहाती है। कुल्लकूभट्ट को भी यही अर्थ अभिमत है। परन्तु इस प्रकार के कर्म को 'सन्धि' कैसे कहा जा सकता है, अतः ग्रन्थकार द्वारा किया गया अर्थ ही संगत है। इसकी पुष्टि यहाँ श्लोक संख्या ६ से होती है।

स्वयं कृतश्च—विग्रह दो प्रकार का होता है—चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में अथवा अनिश्चित किसी भी समय में कार्य की सिद्धि के लिए स्वयं किया गया विग्रह और किसी के द्वारा मित्र राजा पर आक्रमण या हानि पहुँचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया-विग्रह।

धार्मिक राजा से विरोध नहीं—'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में ग्रन्थकार ने इस विषय में अपनी सामान्य नीति की घोषणा इन शब्दों में की है—

"अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे, अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस कार्य में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

उत्थाय पश्चिमे—इस श्लोक से लेकर श्लोक २२५ तक मनु ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—

---

१. इससे देशकाल के अनुरूप अधिक कर लगाने का भी सभा को अधिकार है, ऐसा सूचित किया है।

[राजा की दिनचर्या; मन्त्रियों से मन्त्रणा]

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणाँश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥१॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥२॥

मनु-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

	कालविशेष	कालावधि	दिन के कार्य	श्लोक
१	रात्रि का अन्तिम याम (तीन घण्टे का समय) अष्टम याम	प्रातः ४-७ तक	जागरण, नैत्यिक कार्य, संध्या-अग्निहोत्र, भोजन, आचार्य ऋत्विज् आदि विद्वानों की संगीत, उनसे अध्ययन एवं स्वाध्याय ।	७।३७, १४५ ॥
२	दिन का प्रथम याम	७-१०	प्रजासभा (दरबार) का आयोजन, उसमें प्रजा के कष्टों का श्रवण एवं समाधान । धर्मार्थकामों, राज्यमण्डल की प्रकृतियों, पञ्चवर्गों, षड्गुणों, दूतों और गुप्तचरों के करणीय कार्यों, युद्ध-सम्बन्धी योजनाओं पर मन्त्रियों-अमात्यों से गुप्त मन्त्रणा ।	७।१४७-२१५ ॥
३	द्वितीय याम (मध्याह्न)	१०-१	शस्त्रास्त्रों का अभ्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्राम ।	७।२१६-२२१ ॥
४	तृतीय याम	१-४	मुकद्दमों एवं राज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन ।	७।२२१
५	चतुर्थ याम	४-७	सेनाओं, शस्त्रास्त्रों, युद्धवाहनों और तैयारियों का निरीक्षण ।	७।२२२
६	पंचम याम (रात्रि संध्या काल)	७-१०	सायंकालीन नैत्यिक कार्य, संध्योपासना । गुप्तचरों, दूतों आदि के समाचार सुनना और उन्हें अग्रिम कर्त्तव्य समझाना । भोजन ।	७।२२३
७	षष्ठ याम (रात्रि)	१०-१	शयन	७।२२४
८	सप्तमयाम (रात्रि)	१-४	शयन	७।२२५

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥३॥
यत्र मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥४॥ —मनु०७।१४७, १४८॥

कौटिल्य प्रोक्त राजा की दिनचर्या

याम(पहर)	दिन के कार्य और उनकी निश्चित कालावधि
(रात्रि) अष्टम याम	जागरण, नैत्यिक एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक गुप्तचरों को प्रेषित करना ।
प्रथम याम	ऋत्विक्, आचार्य आदि की संगति, वैद्य से भेंट, रक्षाव्यवस्था और आय व्यय-व्यवस्था की जानकारी ।
द्वितीय याम (दिन)	पुरवासियों एवं जनपदवासियों के कार्यों पर विचार (राजदरबार)
तृतीय याम	आय-व्यय की सँभाल, विविध अधिकारियों की नियुक्ति आदि, याम मन्त्रिपरिषद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय ।
चतुर्थ याम	स्वतन्त्रतापूर्वक विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण ।
पंचम याम (संध्या)	सेनापति के साथ युद्धसम्बन्धी मन्त्रणा । संध्योपासना, गुप्तचरों के समाचार जानना, स्नान, भोजन ।
षष्ठ, सप्तम याम (रात्रि)	शयन
	[अर्थशास्त्र, प्रकरण १४ । अ. २८]

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने—

तत्र स्थितः—(तत्र) उस [१४५ में वर्णित] सभा में जाकर (स्थितः) बैठकर या खड़े होकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य) वहाँ आई सब प्रजाओं की समस्याओं, कष्टों का संतुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके (विसर्जयेत्) भेज दे (च) और फिर (सर्वाः प्रजाः विसृज्य) सब प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मन्त्रियों (७।४५) के साथ राजव्यवस्था पर विचार-विमर्श करे ॥२४६॥

'वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे।'' (स.प्र. छठा समु०)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान-

गिरिपृष्ठम्—(ततः) पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाए (गिरिपृष्ठम् वा रहः प्रासादम्) पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर (वा) वा (अरण्ये निःशलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (अविभावितः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विचार करे॥१४७॥ (स.प्र. छठा समु०)

अनुशीलन :

(१) **'निःशलाके अरण्ये' का अभिप्राय**—यहाँ 'निःशलाके अरण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है जिसका अभिप्राय है—'ऐसा स्थान जहाँ तिनके के सदृश छोटे-से-छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणाभेदक वस्तु की उपस्थिति की संभावना न हो।

(२) **मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है—

'तदुद्देशः संवृतः कथनामनिःस्त्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुकसारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।'' (प्र० २०।१४)

अर्थात् मन्त्रणा स्थल अत्यन्त सुरक्षित और गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहाँ पक्षी तक भी न झाँक सके (फिर मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा अन्य पशु-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (पूर्ण संख्या ५६८) के अनुसार राजा की दिनचर्या के नियम

जब राजा न्याय सभा में जावे में तब दक्षिण हाथ उठाकर सब को स्वास्थ्य अभयदान देकर न्यायासन वर बैठ सर्वव्यापक यथावत् न्यायकारी अन्तर्यामी को मन से नेत्रोन्मीलन करके प्रार्थना करे कि— 'हे परमेश्वर आपकी कृपादृष्टि हो जिससे में चाहता हूँ कि कभी काम, क्रोध, मोह, भय, शोकादि के वश हो के अन्याय न करूँ। ऐसा अनुग्रह आप भी कीजिए।' परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रक्खे कि सब कामादि और अन्याय में फँसाने वाला लोभ है। उसको अपने से और आप उससे सदा दूर रहे। उस समय न किसी का शत्रु और न किसी का मित्र तथा उदासीन बने, किन्तु समदृष्टि कि जैसा पक्षपात छोड़ परमेश्वर वा आप्तपुरुष सबके साथ वर्तता है वैसे वर्ते। प्रत्येक सप्ताह में गुरुवार के (दिन) ऋणदानादि में विवाद अर्थात् दिवानी का न्याय करे और रविवार के दिन साहसिकों अर्थात् फहोजदारी का न्याय करे। जब अर्थी व प्रत्यर्थी अथवा साक्षी जो कुछ स्वभाव से बोले उसपर अतीव ध्यान देकर विचार करे। और उनको कठिन से कठिन शपथ करावे। सब साक्षियों को पृथक्-पृथक् रक्खे। सीखावट की साक्षी को न माने और यह भी जना देवे कि मिथ्या बोलने, मानने और करनेवाले को इस जन्म और परजन्म में सुख व प्रतिष्ठा नहीं होती और देखो! थोड़े से जीवन में धर्मात्मा अर्थात् सत्यावादी, सत्यमानी, सत्यकारी मनुष्य धर्मार्थ, काम, मोक्ष फलों को प्राप्त होता और मिथ्यावादी, मिथ्यामानी, अनृतकारी सर्वदा दुःख को प्राप्त

जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ, शौच और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र, धार्मिक विद्वानों का सत्कार, और भोजन करके भीतर सभा में प्रवेश करे ॥१॥

वहाँ खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राजव्यवस्था का विचार करे ॥२॥

पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाए। पर्वत के शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़ मन्त्री के साथ विचार करे ॥३॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते, अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे, वह धनहीन भी राजा सब पृथिवी के राज्य करने में समर्थ होता है, इसलिए अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो[1] ॥४॥

होता है। इसलिए किसी को आत्मा और परमेश्वर का मिथ्याभाषणादि से शत्रु न बनना चाहिए। जैसा कुछ तुम्हारे आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोलो। जब वे कुछ भाषण करें वह सब लिपिबद्ध होवे और उनके नेत्र तथा मुखाकृति की ओर देखकर भीतर के आशय को पहिचाने। यदि कोई बड़ा ढीठ अथवा प्राड्विवाक अर्थात् बारिष्टर व वकील जो कुछ परस्पर प्रश्नोत्तर करें उसपर ध्यान देकर सुने तथा लिखे। यदि जहाँ-जहाँ पूछना उचित हो पूछे। बीच में अन्य-अन्य संवाद करके वक्र (ता) वा सरलता से प्रश्न करे। यदि इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो उनपर विश्वास न करके जहाँ वह विरुद्ध कार्य हुआ हो वहाँ के सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष और स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजनों से पूछकर निश्चय करे परन्तु स्त्रियों से रानी पूछे। अथवा यदि पड़दे में रक्खे तो बड़े प्रबन्ध से रखके पूछे कि कहीं उसके बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे तो न कोई उसपर दृष्टि डाले न हास्य करे और न डरावे। इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो गुप्त में उनको बात करते सुन अथवा धार्मिक आप्तजन दूतों के द्वारा निश्चय करे। पश्चात् जो अपराधी हो उसको यथोयोग्य दण्ड देकर हरावे और अनपराधी का मान्य कर जितावे। जो हारे उसपर ताना न मारे, किन्तु ऐसा कहें कि देखो भाई ! मैं तुमसे ऐसे काम करने की आशा नहीं करता था। तुमने ऐसे कुल वा ऐसे के पुत्र होकर ऐसा अनुचित काम किया। इसपर मुझको बड़ा शोक है। हे भद्र ! यदि तू ऐसा काम न करता तो ऐसे दण्ड को प्राप्त क्यों होता। यदि कोई धूर्त वा आतुर बुरा शब्द बोले वा कुचेष्टा करे, सह लेना। परन्तु अपने शरीर की रक्षा सब प्रकार से करना और सबकी मानसी वा बाह्य चेष्टा को जानते रहना। चाहे कोई कितनी ही प्रार्थना करे वा क्रोड रुपैये भी देकर अन्याय कराया चाहै तो भी कभी अन्याय न करे। यही राजा के प्रताप, कीर्ति, श्री और राज्य बढ़ानेवाला कर्म है। यदि भूमि, धन, धरावट, सीमा आदि जितने विवाद लेख वचन से हों अथवा साहस मार-पीट कुवचन आदि से दूसरे को पीड़ा वा हानि पहुँचावें उनका भी न्याय यथोचित करे। जैसा मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय में न्याय-व्यवस्था १८ प्रकारों में लिखी है यथायोग्य करे। ये सब काम मध्याह्नोत्तर चार बजे तक करके कुछ ४५ पल अर्थात् १५ मिनट तक स्वस्थ होकर जिनके साथ मिलके राजप्रबन्धार्थ विचार करना चाहिए। ५। सवा (पांच) बजे तक प्रजास्थ जनों से बात करे। पश्चात् यदि प्रातः काल १० बजे भोजन किया हो और उष्णकाल हो तो शौच आदि से निवृत्त होकर ६ बजे तक भोजनादि से निवृत्त होकर

---

१. वर्तमान अधिनायको=डिक्टेटरों का यही सबसे बड़ा दोष है।

जहाँ का शुद्ध वायु, शद्ध देश, एकान्त हो, पैदल घूमने को जाए। यदि चलने में असमर्थ हो तो सवारी पर बैठकर घूमे, परन्तु यदि शीतकाल हो तो परमेश्वर की उपासना के पश्चात् भोजन करे। अर्थात् उष्णकाल में आठ बजे पर्यन्त भोजन के पश्चात् घूमना उपासना करनी उचित है। और शीतकाल में भी ५ बजे से ७ बजे तक भ्रमण उपासना से निवृत्त होकर साढ़े सात बजे तक भोजन कर ले। पश्चात् ४५ पल अर्थात् १५ मिनट पर्यन्त किसी से न बोले, किन्तु हस्त मुख प्रक्षालन कर लघुशंका से निवृत्त हो ताम्बूल भक्षण कर सतपद घूमके किंचित् उत्तान, दक्षिण और वामपार्श्व से लोटकर उठ-बैठे। तत्पश्चात् अर्थात् पौने आठ बजे तक दूत द्वारा स्वदेश, स्वनगर, परदेश, परराज्य के समाचार जोकि अपने और दूसरे के सम्बन्ध में हो, सुने और उसे स्वकार्यसिद्धि के लिए आज्ञा भी देवे। नौ से दश बजे तक आय व्यय आदि का वृत्तान्त सुनकर अगले दिन के लिए यथोचित प्रबन्ध करे। पश्चात् आध घण्टे में इष्ट-मित्र वा मन्त्री आदि को जोकि उस समय उपस्थित हों प्रसन्नता पूर्वक विदा करके साढ़े दश बजे शयन करे। यदि उष्णकाल हो तो १० बजे तक इन सब कामों से निवृत्त हो शयन करे। शयन एकान्त में करे और उसी समय परमेश्वर को इस लिए धन्यावाद देना कि 'हे परमेश्वर आपकी कृपा से गत अहोरात्र जैसा आनन्दपूर्वक बीता वैसे ही अग्रस्थ अहोरात्र भी आनन्दपूर्वक व्यतीत होवें। दो दिन[1] में पूर्वोक्त दो काम करने[2]। मंगल के दिन किसी राजपुरुष से वा अन्य राज्य से प्रजास्थ वा राजजन पीड़ित हुए हों उनकी बातें और तीन दिन अर्थात् बुध, शुक्र और शनैश्चर में सब राज्य की उन्नति और स्वास्थ्य के लिए प्रबन्धार्थ अकेले वा मुख्य धार्मिक स्वराज्य भक्त मंत्रियों के साथ विचार करना चाहिए।

विशेष नियम

१. जब पति और पत्नी समक्ष हों प्रसन्नतापूर्वक नमस्ते कर जिस-जिस प्रकार दोनों में प्रेम बढ़े वैसा व्यवहार करे, विरुद्ध कभी नहीं।

२. ऋतुदान के पश्चात् किंचित् ठहर स्नान कर शालव[3] मश्री, केशर आदि सुगन्धियुक्त परिपक्व दुग्ध शीतल यथारूचि पीके ताम्बूल भक्षण कर मुख प्रक्षालन करके पृथक्-पृथक् शयन करें।

३. दोनों सदा विद्या, धर्म, प्रजासुख के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न किया करें।

४. किसी वेदविद्या-युक्ति-विरुद्ध मतमतान्तर के झगड़े में दोनों कभी न फँसे, किन्तु पक्षपात रहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म ही का आचरण करे और करावे।

५. अपने वा पराये राज्य में जहाँ तक शक्य हो किसी मत वाले की बहकावट से विद्या-युक्ति-विरुद्ध मत में किसी को न फँसने देवे। यदि कोई समझाने पर न माने, जो कूप में गिरना ही चाहे तो उसका अभाग्य समझना चाहिए।

६. जब बुरे बुराई नहीं छोड़ते तो भले भलाई क्यों छोड़ें?

७. सदा सनातन वेदशास्त्र आर्य-राज, राजपुरुषों की नीति पर निश्चित रहकर इनकी उन्नति तन, मन, धन से सदा किया करे। इनसे विरुद्ध भाषाओं की प्रवृत्ति वा उन्नति न करे वा करावे, किन्तु जितना दूसरे राज्य कते सम्बन्ध में यदि वे इस भाषा को न समझ सकें उतने ही के लिए उन भाषाओं का यत्न

---

१. अर्थात् गुरुवार, रविवार।

२. सोमवार का निर्देश छूट गया है।

३. अर्थात् सालम मिश्री।

[सन्धि-विग्रहादि ६ उपायों का प्रयोग]

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१॥
सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥२॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तथा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥३॥
स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥४॥

रक्खे, जो वह प्रबल राज्य हो तो ।

८. कभी बिना विचारे, लिखे, नियत काल के आज्ञा न देवे। पश्चात् जैसी, जितने समय में कार्यसिद्धि करने की आज्ञा दी हो वह यथावत् नियमित समय में पूरी हुई वा नहीं उसपर ध्यान सदा रक्खे।

९. जो यथोक्त समय में आज्ञा को यथावत् प्रीति से पूरी करे उसका सत्कार करना पारितोषिक देना और उसकी उन्नति करना अति योग्य है और जो यथोचित न करे उसका अपमान दण्ड और ह्रास किये बिना कभी न छोड़े ।

१०. बिना योग्यता वा परीक्षा के किसी को बड़ा वा छोटा अधिकार न देवे, किन्तु जो धर्मात्मता से उस कार्य के करने में समर्थ हो उसी के अधीन वह कार्य सिद्ध करे वा करावे। दरिद्र वा लोभी को प्रारम्भ में बड़ा अधिकार भी न देवे और कुटुम्ब सम्बन्धी परस्पर मित्रों को भी एक अधिकार में न रक्खे ।

११. सदा वेदोक्त धर्मावलम्बी अधिकारियों पर अन्य मतावलम्बियों को अधिकार न देवे, किन्तु जिस-जिस कार्य में न्याय वा (उपदा) अर्थात् रिश्वत खाने का सम्बन्ध हो उनको छोड़ अन्य गौणाधिकारों में वैदिक धर्मावलम्बियों से कार्य सिद्ध न हो सके, रक्खे ।

१२. जो प्रीतिपूर्वक धर्मात्मता से ३० वर्ष तक राजकार्य करे उनको आधी नौकरी जब तक वे जीवें देवे। यदि संग्रामादि में जिसका मृत्यु हुआ हो उसकी स्त्री-पुत्रों को भी उसी प्रकार देवे। यावत् उनके पुत्र समर्थ न हों। जब समर्थ हों तब उनके पुत्रों को यथायोग्य अधिकार देवे, परन्तु उसकी स्त्री को योग क्षेमार्थ यथोचित जब तक वह जिये सदा दिया करे। यदि वह पांच रुपये मासिक पाता हो पूरे देवे। पुत्रों के समर्थ हुए पर स्त्री को आधा देवे ।

१३. सबके लड़के-लड़कियों को ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या-दान दिलावे ।

१४. न्यून-से-न्यून सोलहवें वर्ष कन्या और २५वें वर्ष लड़के का स्वयम्बर विवाह होने देवे, पूर्व नहीं।

१५. अपनी सत्ता शक्ति को यथासम्भव बढ़ाता जावे, न्यून न होने देवे ।

१६. अपने अंश को न छोड़े और पराये अंश का स्वीकार कभी न करे ।

१७. संग्राम में जो सेनास्थ पुरुष जीत में शत्रुओं के पदार्थ पावें उनमें से १६वाँ भाग आप लेवे और समुदाय के जीते हुए पदार्थ में से १६वाँ भाग चाहे कितने ही क्रोड़ों रु० क्यों न हों सेना को अवश्य देवे। १५वाँ भाग आप रक्खे ।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥५॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥७॥
अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥८॥
यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥९॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१०॥

---

१८. युद्ध में जो शत्रु घायल हो उसकी रक्षा, ओषधि अवश्य करे। स्त्री बालक, वृद्ध, आतुर, भीरु, शरणागत पर शस्त्र कभी न चलावे ।

१९. हारे हुए शत्रु की अप्रतिष्ठा कभी न करे, किन्तु उसका यथायोग्य मान्य रक्खे, परन्तु उसको छोड़कर स्वतन्त्रता कदाचित् न देवे ।

२०. सदा प्रयत्न से अलब्ध के लाभ की इच्छा, लब्ध की सँहाल से रक्षा, रक्षित की व्याजादि से वृद्धि और बढ़े हुए पदार्थों का व्यय विद्या, धर्म, राज्य की वृद्धि इनके प्रचार और अनाथों के पालनादि शुभ व्यवहारों में करे ।

२१. सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करे, किन्तु विवाह, मृत्यु आदि में न करे ।

२२. सदा दासी, वेश्यागमन, हास्य, नृत्य, भाँड चारण आदि से मिथ्या स्तुति कराने आदि व्यवहार से पृथक् रहे और अन्य को भी ऐसे प्रसंगों से सदा बचाया करे ।

२३. सदा पूर्ण युवाऽवस्था में अर्थात् २५ वर्ष के उपरान्त हृद्य स्व (स) दृश्य एक स्त्री से विवाह करे और उसी से सदा ऋतुगामी रहे । यदि प्रमाद से अनेक स्त्री हों तो भी उनके साथ पक्षपात छोड़ नियमित समय में एक-सा वर्त्ते ।

२४. उनमें परस्पर द्वेष उत्पन्न न होने दे, किन्तु सबको तुल्य अन्न, वस्त्राभूषण, सम्भाषणादि प्रेम व्यवहार तुल्य रक्खे और प्रेम रखवावे ।

२५. उन स्त्रियों को योग्य है कि एक के पुत्र होने में सब अपने को पुत्रवती समझें तथा सब भाई भी एक के पुत्र होने में अपने को पुत्रवन्त मानें ।

२६. राजा और राज्ञी का जिस-जिस कर्म से पति-पत्नी में और प्रजा में परस्पर प्रेम बढ़े उस-उस का सेवन और विपरीत का सर्वथा त्याग करे ।

२७. सुपरीक्षित दूत द्वारा राज्य और राजपुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा से अपने को अभिज्ञ रक्खे । जिस-जिस यत्न से उनकी कुचेष्टा छूटें और सुचेष्टा बढ़े, वैसा यत्न सदा करे ।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥११॥
यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥१२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्य्यमात्मनः ॥१३॥
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१५॥
यदि तत्रापि संपश्येद् दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१६॥ —मनु० ७।१६१-१७६ ॥

२८. अपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड होना चाहिए, क्योंकि बकरी के प्रमाद रोकने से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक प्रयत्न होना उचित है ।

२९. जैसे राजा और कृषीवलादि प्रजा सुखी रहे वैसा कर-प्रबन्ध प्रजा में करे और उन्हीं कृषीवलादि को सब राज्य के सुख का मूलकारण समझ उनसे पितावत् वर्ते ।

३०. जहाँ (साम) मेल (दाम)[1] कुछ दे (भेद) तोड़-फोड़ से शत्रु वश में न आवें, वहीं दण्ड प्रचरित करना चाहिए ।

३१. किसी धर्मात्मा से विरोध वा लड़ाई करना न चाहे और दुष्ट से विरोध वा लड़ाई निःशंक करे ।

३२. सब काम धार्मिक सभ्यों के बहुपक्षानुसार नियत करे और वह आज्ञा जोकि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सबमें प्रजा की संमति लेवे और सर्वत्र प्रसिद्ध करके गुण-दोष समझे । पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोषयुक्तों का त्याग करे ।

३३. अपना वा अपने कुटुम्ब का नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करे ।

३४. जिस किसी को मासिक धन वा भूमि धर्मार्थ अथवा गुणानुसार कुछ भी देवे वह यावत् माननीय जीवे वा अन्यथा न वर्ते तावत् वह दान रहे पश्चात् नहीं ।

३५. यदि पूर्वजों ने इससे विपरीताशय लेखपूर्वक किया हो और उसके कुलोत्पन्न वैसे न वर्तते हों तो भी वह दिया न दिया हो जावे, क्योंकि वह जिस समय दिया जाता है वह उत्तम काम के लिए होता है ।

१. द्र० स० प्रकाश, समु० ६, पृष्ठ २४१, पं० १६-१८ (आ० स० शताब्दी संस्करण २) । संस्कृत का शुद्ध शब्द दान है । राजधर्म प्रकरण में साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायों का उल्लेख सर्वत्र मिलता है । (द्र० मनु० ७।१६८; कौ० अर्थशास्त्र अधि० ६, अ० ५, शुक्र नीति ४।२७) हिन्दी भाषा में साम के साहचर्य से दान का दाम बन गया है ।

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है— जो **'आसन'**=स्थिरता, **'यान'**=शत्रु इने के लिए जाना, **'सन्धि'**=उनसे मेल कर लेना, **'विग्रह'**=दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, **'द्वैध'**=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, **'संश्रय'**=और निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये **छः प्रकार के कर्म** यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए ॥१॥

राजा जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको यथावत् जाने ॥२॥

'सन्धि'=शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाए। यह दो प्रकार का **'मेल'** कहाता है ॥३॥

'विग्रह'=कार्यसिद्धि के लिए उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया, वा मित्र के अपराध करनेवाले शत्रु के साथ **'विरोध'** दो प्रकार से करना चाहिए ॥४॥

---

३६. परन्तु धर्मार्थादि के लिए जो दिया हो उसके भोक्ता अन्याय से वर्तते हों तो भी उस अंश को राजांश में न मिलावे, किन्तु कुकर्मी से छुड़ा योग्य धर्मात्मा को उसका अधिकारी करे। यदि वह भी प्रमादी हो तो पूर्वोक्त प्रकार उससे भी लेके अन्य योग्य को, यदि उसी के कुल में योग्य न हो तो देवे।

३७. यदि उनके सन्तान पितरों से अधिक योग्य हों ते उनको अयोग्य के अंश में से अधिकांश देवे और अधिक प्रतिष्ठा करे।

३८. यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय किया चाहे तो उनको राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझावें कि आप अन्याय मत कीजिए। यदि न मानें तो उसको पदच्युत करके जो उसी के कुल में निकट सम्बन्ध से न्यायास्पद के योग्य पुरुष हो उसको न्यायाधिकारी करें। परन्तु यह काम पक्षपात रहितता से होना उचित है, क्योंकि राज्य और विद्या तथा धर्म की वृद्धि के लिए और अधर्म की हानि के लिए सब प्रतिष्ठा है प्रमाद के अर्थ नहीं।

३९. सब राज्य के आय में से दशांश धर्मादि के लिए नियत रक्खे। उससे वेदविद्या, धर्म, सुशिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक प्रचरित करें। आपत्काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करे।

४०. और राज्य से आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर कोश, दो अंश राजकुल, तीन अंश सेना विभाग, एक अंश स्थानविशेष और एक अंश शिल्पविद्या की उन्नति के में लगावे।

४१. राज का कार्य एक पर निर्भर न रक्खे, किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।

४२. जो राजासन पर नियत हो उसका किंचित भी अपमान कोई मन, कर्म, वचन से न करे। किन्तु जो जिस पर प्रधान हो चाहे उससे अप्रधान किसी गुण में अधिक भी क्यों न हो तथापि परमेश्वर से द्वितीय स्थान माननीय राजा और स्वामीवत् माननीय अपने-अपने प्रधान को मानें।

४३. अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें, चाहे कोई कैसा ही सम्बन्धी वा मित्र क्यों न हो, परन्तु जब राजाज्ञा भंग वा उसमें आलस्य करे तब यह शत्रुवत् दण्डनीय हो जावे।

४४. प्रथम सब प्रयत्न से विचार कर सर्वहित समझके आज्ञा देनी चाहिए। पश्चात् उसको पूरी करने में पूरा ध्यान और पुरुषार्थ रक्खे।

'यान'=अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिलके शत्रु की ओर जाना, यह दो प्रकार का **'गमन'** कहाता है ॥५॥

[**'आसन'**=] स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाए अर्थात् निर्बल हो जाए, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना, यह दो प्रकार का **'आसन'** कहाता है ॥६॥

[**'द्वैध'**=] कार्यसिद्धि के लिए सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना। दो प्रकार का **'द्वैध'** कहाता है ॥७॥

[**'संश्रय'**=] एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा का शरण लेना जिससे शत्रु से पीड़ित न हो। दो प्रकार का **'आश्रय'** लेना कहाता है ॥८॥

जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी, और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगा, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे ॥६॥

जब अपनी सब प्रजा वा सेना अत्यन्त प्रसन्न, उन्नतिशील और श्रेष्ठ जाने, [और] वैसे अपने को भी समझे, तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥१०॥

---

४५. अपने आत्मा वा शरीर को राजा वा अधिकारी न समझें, किन्तु राजनीति ही को राजा और राज्याधिकारिणी मानें।

४६. इसको निर्दोष और चलाने के लिए एक राजसमाज, दूसरा विद्यासमाज और तीसरी धर्मसमाज नियत करे।

४७. इन समाजों में राजपुरुष नियत रहें। राजपुरुष राजोन्नति और प्रजापुरुष प्रजा की वृद्धि में प्रयत्न किया करें। और तीनों समाजों के विचारानुकूल नये नियम प्रचरित किये जावें।

४८. जो-जो आज्ञा इन समाजों से निश्चित होकर प्रचरित की जाएँ उनका उलंघन कोई भी न करे। यदि करे तो वह सबका अमाननीय और दण्डनीय हो।

४६. सदा वेदादिशास्त्र, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय, महाभारत के राजधर्म, आपत् धर्म और विदुरप्रजागर —विदुरनीति के शब्दार्थ सम्बन्ध और कर्त्तव्य को सब राजपुरुष जानके तदनुकूल वर्तें और इनके प्रचार में सदा प्रयत्न किया करें।

५०. जो-जो सामयिक नियम और उपनियम नियत करना होवे तो पूर्वोक्त समाज और वेदादिशास्त्रों के अनुसार निश्चित करें और करावें।

५१. यह निश्चय है कि जैसा शील, आचरण, उत्साह और पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है वैसा ही इतरजन वर्तते हैं। इसलिए प्रधान पुरुषों को अत्यावश्यक है कि सदा अधर्मयुक्त कर्मों को छोड़कर न्याय-रूप धर्मकृत्यों में वर्ता करें, क्योंकि जो-जो धर्म वा अधर्म प्रधानपुरुष दृष्टान्त से इतर जनों में प्रबर्तमान होता है उसका मुख्य निमित्त प्रधान होकर फल-भागी होता है। इसलिए मुख्य पुरुषों को बहुत विचार से वर्तना चाहिए।

दिनचर्या का उपदेश

ग्रन्थकार के पं० लेखराम के संकलित जीवन चरित के अनुसार मौलवी अब्दुल रहमान साहब, सुपरिन्टैन्डैन्ट-पुलिस-उदयपुर ने वर्णन किया कि स्वामीजी महाराज ने महाराजा सज्जनसिंहजी को एक

जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्नभाव से जाने, और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे ॥११॥

जब सेना बल-वाहन से क्षीण हो जाए, तब शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान में बैठा रहे ॥१२॥

जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने, तब द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे ॥१३॥

जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र [बलवान्] शत्रुओं की चढ़ाई मुझपर होगी, तभी किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥१४॥

जो प्रजा और अपनी सेना और शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके, उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य किया करे ॥१५॥

बार चित्रसाल महल में छह घड़ी रात गये इस दिनचर्या का उपदेश किया था—

'दरबार तीन घड़ी रात रहे उठिए, प्रथम शौच जाकर मुँह-हाथ धो एक प्याला ठंडे पानी का पीजिए या उसके बदले तीन माशे चोब चित्रक रात को भिगोकर, प्रातः उसे नितारकर पीजिए और कहा कि इसके प्रयोग से मेरी यह अवस्था है, इसका पीना, पानी की अपेक्षा अच्छा है। फिर उस समय पासवालों को अलग करके एक घड़ी के अनुमान परमेश्वर की उपासना कीजिए और कुछ मन्त्र बतलाये परन्तु मुझे स्मरण नहीं।'

'इसके पश्चात्, प्रथम तो पैदल ही, अन्यथा घोड़े या बग्घी पर, वायुसेवनार्थ जाइए। युक्तियाँ देकर सिद्ध किया कि पेदल यात्रा बहुत लाभकारी है शेष दोनों दूसरी और तीसरी कोटि की हैं। पूरा एक घंटा तक सैर करके, मकान पर वापस आवें, परन्तु भ्रमण करते हुए मार्ग में प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखते जाएँ। यह स्वभाव अर्थात प्रत्येक वस्तु को ध्यान से देखना, जीवन भर रखें। जब दरबार भ्रमण को जाएँ तो वापस आकर जिस महल में सारा दिन रहें—वहाँ घृत का हवन करावें। उसकी विधि बतलायी और लोहे का हवनकुंड बनवा दिया। उसके उन्होंने तीन लाभ बतलाये। प्रथम वायु की शुद्धि, दूसरा लाभ बतलाने के लिए एक श्लोक सुनाया जिसका अभिप्राय यह था कि हवन से केवल वायु ही शुद्ध नहीं होती प्रत्युत वर्षा आदि सब शुद्ध होते हैं। इससे महा उपकार होता है। ऐसी श्रेष्ठता से कहा कि दरबार थरथराने लगे। (किसी ने मकान पर आनकर शंका की कि दरबार जब महलों में न हों और समूर बाग में हों तो यहाँ हवन से क्या लाभ होगा ; (बाग में तो) वायु बिखर जाएगी। दरबार ने कहा कि हम स्वामीजी से पूछेंगे, तदनुसार हमारे सामने पूछा गया। इस आक्षेप के उत्तर में स्वामीजी ने युक्तिपूर्वक सिद्ध किया कि एक बाग क्या, प्रत्युत समस्त नगर को लाभ पहुँच सकता है।)

रियासत के काम में हस्तक्षेप नहीं—फिर आकर ६ बजे से पहले तक रियासत का आवश्यक काम करें। दरबार ने कहा कि मुझे विधि बतलाओ। कहा कि यह हम नहीं बतलावेंगे (हाथ के संकेत से कहा)।

फिर खाना खाएँ और खाना खाकर महल में टहलें और ११ बजे तक मनोरंजन करें। फिर एक घंटा अर्थात् १२ बजे तक यदि मन करे तो, विश्राम करें। दरबार ने कहा कि मन करने का प्रतिबन्ध क्यों लगाया? स्वामीजी ने कहा कि गर्मियों में मन करेगा और सर्दियों में नहीं।

जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे, तो वहाँ भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्का होकर करे ॥१६॥

जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतने के लिए ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।

[मित्र उदासीन तथा शत्रुओं को बढ़ने न दे]

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१॥

दोपहर के पश्चात् ४ बजे तक न्यायलेखन आदि राज्यकार्य को करें। ४ बजे शौच (से निवृत होकर) और वस्त्र आदि बदलने के पश्चात् दरबार सवार हो जावें (व्यवस्था के निरीक्षण के लिए) और सेना, मकान, बाग, महल, नगर और सड़क आदि का निरीक्षण करें। साराँश यह है कि सवारी करते हुए महलों के अतिरिक्त, जितने कामों का करना रुचिकर हो-करें।

दिन छुपने पर अपने महलों में आवें और उस समय उपासना के विषय में कुछ पढ़ें और विद्या की बात करें बुद्धिमानों से संगति करें और उनके वार्तालाप से लाभ उठावें, इतिहास भी सुनें। यह सब काम दो घंटे तक करें।

इसके पश्चात् खाना खावें और खाना खाने के पश्चात् आध घंटे तक टहलें फिर रागियों की ओर संकेत करके कहा कि स्वयं टहलते जावें और उस समय ये यदि कुछ गाते हों तो सुनें परन्तु अधिक आसक्त न हो जावें।

उस समय एक चारण अर्थात् हिन्दी कवि ने कहा कि कविता का गायन भी सुनना चाहिये या नहीं? स्वामीजी ने कहा कि हाँ; उसका सुनना और विशेषतया बहुत ही सूक्ष्म विचारोंवाले गायन सुनना आवश्यक है, परन्तु ऐसे गाने न सुनें जिनमें नायिका-भेद आदि स्त्रियों की बातें हों और हमको तो इसकी चर्चा से भी घृणा है। तत्पश्चात् सेज पर जाकर सो रहो ताकि तुमको पूर्ण नींद आवे। जहाँ तक हो सके निश्चिन्त होकर सो रहो अर्थात् चिन्ता से छूटकर, न कि उसमें डूब कर। विश्राम में बाधा न हो, पूरे ६ घण्टे तक विश्राम करो। स्त्रियों के साथ मत सोओ। नियत समय पर सप्ताह या पन्द्रह दिन में एक बार स्त्री-प्रसंग करो। जिसपर दरबार मौन रहे। यह बात दरबार ने हमारे द्वारा पूछी थी। इसके पश्चात् यह कहा कि हम तुमको बतलाएँगे। तुम्हारे यहाँ तीन ऋतु आती हैं, प्रत्येक ऋतु में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। रईस लोग रस लेते हैं, वह हम सायंकाल कहेंगे, परन्तु मैं सायंकाल नहीं गया! इसलिए ज्ञात नहीं।'

'जाते समय स्वामीजी ने पूछा कि क्या दरबार इसपर आचरण करेंगे? दरबार ने सिर हिलाकर कहा कि 'हाँ, कल से ही आरम्भ करूँगा।' स्वामीजी ने कहा कि 'जितना दरबार आचरण करें मुझसे प्रतिदिन कहे दें। दरबार ने प्रतिज्ञा की।''

फलतः उपदेश के पश्चात् दूसरे दिन से दरबार ने आचरण किया। तीन घड़ी रात रहे उठे। एक रियासत का इञ्जीनियर, एक मैं और एक ठाकुर मनोहरसिंह जी साथ गये। वहाँ से लौटकर प्रातः दिन निकलने के समय स्वामी के पास आये। वहाँ से स्वामीजी को लेकर महलों में आये।

सर्वोपायैः-राजाओं को स्वाभाविक शत्रु, उदासीन व मित्र राजाओं के लक्षण शुक्रनीति में इस प्रकार बताये हैं—

आयतिं सर्वकार्यणां तदात्वं च विचारयेत्। अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्वतः ॥२॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः। अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥३॥

आसमन्ताच्चतुर्दिक्षु सन्निकृष्टाश्च ये नृपाः। तत्परास्तत्परा ये ऽ न्ये क्रमाद्धीनबलाख्यः ॥
शत्रूदासीनमित्राणि क्रमात्ते स्युस्तु प्राकृताः। अरिमित्रमुदासिनो ऽ नन्तरस्तत्परः परः ॥
क्रमशो वा नृपा ज्ञेयाश्चतुर्दिक्षु तथा ऽ रयः। स्वसमीपतरा भृत्या ह्यमात्याद्यश्च कर्षिताः ॥ ४।१।२०-२२

राजा के राज्य के चारों ओर जो समीपवर्ती, उनसे दूर और उनसे भी परे विद्यमान राजा होते हैं वे क्रमशः स्वाभाविक शत्रु, उदासीन और मित्र होते हैं, अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती शत्रु, उससे दूर का उदासीन और उससे दूर का मित्र का मित्र होता है। हीन बलवाले शत्रु भी निकट के, दूर के और सबसे परेवाले इसी क्रम से शत्रु, उदासीन और मित्र होते हैं। शत्रु, मित्र और उदासीन राजाओं के भी चारों दिशाओं में समीपवर्ती, उनसे दूर और उनसे भी परेवाले—इस क्रम से उनके भी शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। इसी प्रकार चारों दिशाओं के हीन बलवाले शत्रु भी, उनके शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। अपने अत्यन्त समीपवर्ती भृत्य तथा अमात्य (मन्त्री) आदि भी राजा के द्वारा कष्ट दिये जाने पर शत्रु हो जाते हैं।

'अनन्तरप्रकृतिशत्रुः' (चाणक्यसूत्र)—पड़ौसी राज्य को शत्रु समझना चाहिए।

मित्रं शत्रुं यथायोग्यैः कुर्यात् स्ववशवर्तिनम् ॥२५॥
उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहो ऽ पि साध्यते। भूमिष्ठाः स्वर्गमायान्ति वज्रं भिन्दत्युपायतः ॥ २६॥

मित्र हो या शत्रु—उन्हें यथोयोग्य उपायों से अपने वश में करना चाहिए। उपाय से क्या नहीं हो सकता ? उपाय से सर्प, हाथी और सिंह को भी वश में कर लिया जाता है। उपाय से धरती पर रहनेवाले मनुष्य स्वर्ग में पहुँच जाते हैं और उपाय से वज्र को भी विदीर्ण कर दिया जाता है।

सामैव प्रथमं श्रेष्ठं दानं तु तदनन्तरम्। सर्वदा भेदनं शत्रोर्दण्डनं प्राणसंशये ॥३८॥

शत्रु के लिए सर्वप्रथम सामनीति का व्यवहार करना ही श्रेष्ठ होता है। इससे कार्य सिद्ध न होने पर दान नीति का प्रयोग उचित होता है। दान से कार्य न बनने पर भेदनीति बर्तनी चाहिए। भेद के विफल होने और प्राण संकट उपस्थित होने पर दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए।

प्रबले ऽ रौ सामदाने सामभेदै ऽ धिके स्मृतौ। भेददण्डौ समेकार्यौ दण्डः पूज्यः प्रहीनके ॥३९॥

अत्यन्त प्रबल शत्रु के साथ साम और दान का, अपने से अधिक प्रबल शत्रु के साथ साम और भेद

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥४॥ —मनु० ७ । १७७-१८०॥

नीति का जाननेवाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र, उदासीन (=मध्यस्थ) और शत्रु अधिक न हों ऐसे सब उपायों से वर्ते ॥१॥

सब कार्यों का वर्त्तमान में कर्त्तव्य, और भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए, और जो-जो काम कर चुके, उन सबके यथार्थता से गुण-दोषों को विचारे ॥२॥

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे । जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करनेवाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और किये हुए कार्य्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥३॥

सब प्रकार से राजपुरुष, विशेष सभापति=राजा ऐसा प्रयत्न करे कि जिस प्रकार उन राजादिजनों के मित्र, उदासीन और शत्रु उनको वश में करके अन्यथा न करावें । ऐसे मोह[1] में कभी न फँसें । यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है ॥४॥

का, अपने बराबरवाले के साथ भेद और दण्ड का तथा अपने से हीन शत्रु के साथ केवल दण्ड का प्रयोग करना श्रेष्ठ होता है ।

मित्रे च सामदाने स्तो न कदा भेददण्डने ।
रिपोः प्रजानां सम्भेदपीडनं स्वजयाय वै ॥४०॥
रिपुप्रपीडितानां च साम्ना दानेन संग्रहः ।
गुणवतां च दुष्टानां हितं निर्वासनं सदा ॥४१॥

मित्र के लिए साम तथा दान का प्रयोग ही उचित है, उसके साथ भेद तथा दण्ड का व्यवहार कभी नहीं करना चाहिए । शत्रु की प्रजाओं के साथ मेल करके शत्रु को पीड़ा पहुँचाना अपनी विजय का कारण होता है । शत्रु से पीड़ित राजाओं को साम और दान से अपने पक्ष में मिलना चाहिए । जो दुष्ट हों उन्हें गुणवान् होने पर भी अपने देश से निष्कासित कर देना चाहिए ।

स्वप्रजानां न दण्डेन नैव भेदेन पालनम् ।
कुर्वीत सामदानाभ्यां सर्वदा यत्नमास्थितः ॥४२॥
स्वप्रजादण्डभेदैश्च भवेद्राज्यविनाशनम् ।
हीनाधिका यथा न स्युः रक्ष्यास्तथा प्रजाः ॥४३॥

राजा को अपनी प्रजाओं का भेद और दण्ड से नहीं, अपितु प्रयत्नपूर्वक सदा साम और दान से ही पालन करना चाहिए । अपनी प्रजाओं का दण्ड और भेद से पालन करने से राज्य का नाश हो जाता है । जिस प्रकार प्रजा निर्बल और प्रबल न हो, अपितु समबल में रहे, उसी प्रकार से उसका पालन करना चाहिए ।

आयतिम्—सम्पूर्ण भावी गुणदोष और वर्तमान समय के कर्त्तव्यों तथा अतीत में घटे हुए पर भी विचार करे कि क्या-क्या या कैसे-कैसे करने में क्या गुण-दोष निकले थे ।

---

१. अर्थात् मित्र आदि के मोह में इस प्रकार न फँसें, कि जिससे मित्रादि उनको अपनी इच्छानुसार चला सकें ।

[युद्धार्थ प्रस्थान से पूर्व के कार्य]

कृत्या विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च ॥१॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥२॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥३॥

आयत्याम्—जो भविष्य में संभावित कार्यों के गुण-दोष को जाननेवाला (अच्छे को प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है) और उस समय के गुण-दोषों को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और अतीत के कार्यों के शेष कर्त्तव्य को जानता है, उसे शत्रु नहीं दबा सकता।

अन्यथा न करा पावें—दृढ़तापूर्वक सुविचारित कार्य करे। किसी के लिहाज में या दबाव में आकर अपना निश्चय न बदले।

संशोध्य त्रिविधं मार्गम्— यहाँ स्थल सेना के साथ-साथ नौसेना (Navy) तथा वायुसेना (Air Force) का भी उल्लेख हुआ है। ग्रन्थकार ने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अनतर्गत 'नौविमानादिविद्याविषय' में इसपर विस्तारपूर्वक लिखा है। 'नौ' से पानी की सतह पर चलनेवाले या पानी में डूबकर चलनेवाला जलपोत, पनडुब्बी आदि अभिप्रेत हैं, 'विमान' से तरह-तरह के व्योमयान या हवाई जहाज़ अभीष्ट हैं और 'आदि' से भूमि पर चलनेवाले रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, बैलगाड़ी, ट्रक आदि विविध यान गृहीत होते हैं जो यात्रा, कृषि, युद्ध आदि में काम आते हैं। इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने वहाँ ऋग्वेद से ११ मन्त्र उद्‌धृत किये हैं। उनसे यानों के विषय में निम्न बाते स्पष्ट होती हैं—

१. वेद में त्रिविध यानों का वर्णन है—भूयान, जलयान तथा वायुयान। इनसे भूमि पर, जल में डूबकर या जल की सतह पर और आकाश में यात्रा की जा सकती है। आवश्यकतानुसार युद्ध में भी उनका प्रयोग किया जा सकता है।

२. ये यान लोहा, तांबा, चाँदी आदि धातुओं से तथा इनके उपयुक्त मिश्रण द्वारा बनी धातु से बनते हैं। आवश्यकतानुसार लकड़ी भी लगाई जाती है। वे अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि के प्रयोग से चलाये जाते हैं।

३. जलयान ऐसे होते हैं कि उनपर पानी का कुछ प्रभाव नहीं होता। पानी से उनपर जंग आदि नहीं लगता। उनमें पानी का प्रवेश भी नहीं होता।

४. तीनों प्रकार के यान बड़े सुदृढ़ होते हैं। वायु, लहर, ताप आदि के आघात से वे ग्रस्त नहीं होते।

५. उनमें जलवाष्प, वायु (गैस) विद्युत् आदि का अक्षय प्रबन्ध होता है।

६. उनमें सौ से अधिक अरित्र, चक्र, स्तम्भ, तीन सौ तक पेच, साठ कलायन्त्र आदि उपकरणों का उपयोग किया जाता है।

[विविध प्रकार के व्यूहों की रचना]

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥४॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद् बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥५॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाणङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥६॥
गुल्माँश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥७॥

इस विषय की समाप्ति पर ग्रन्थकार ने सूचना दी है कि 'इस विषय में वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहाँ थोड़ा ही लिखने से बुद्धिमान् समझ लेंगे ।'' 'भूमिकाभास्कर' में सात अतिरिक्त मन्त्र दिये गये हैं। उनपर ग्रन्थकार का ही भाष्य दिया गया है । उनसे इतनी बातें और सामने आती हैं—

१. राष्ट्र में शिल्पविद्या की उन्नति द्वारा विमान बनाकर आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ा जा सकता है ।

२. विमान की गति मन से भी अधिक वेगवाली (मनसो जवीयान्—ऋ० १।१८३।१) की जा सकती है ।

३. तीन बन्धन, तीन चक्र और तीन धातुओं का प्रयोग कर विमान बनाये जाएँ । उनमें कलायन्त्रों को घुमाने के लिए ऋष्टियाँ भी लगी हों ।

४. विमान आदि यान चलाने के लिए उनमें यथायोग्य अग्नि विद्युत्तारयन्त्र आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

५. यान इतने बड़े हों कि उनमें प्रचुर अन्न आदि सामान भरा जा सके तथा पर्याप्त संख्या में यात्री उसमें बैठ सकें ।

६. विमानों के आघात से मेघों को प्रकम्पित करके वर्षा की जा सकती है ।

७. यानों में ऐसा प्रबन्ध हो कि विमान का विशेष स्विच दबाने से प्रकाश होते ही चालकयन्त्र काम करने लगें तथा विमान आदि यान चल पड़ें ।

इन मन्त्रों के अतिरिक्त भी ग्रन्थकार के ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में अन्य भी बहुत से मन्त्र नौ विमानादि विद्या विषय में व्याख्यात हुए हैं । प्रायः वेदों में जहाँ-जहाँ रथ शब्द आया है, वहाँ-वहाँ अपने भाष्य में ग्रन्थकार न रथ से विमान आदि यान ही गृहीत किये हैं ।

संस्कृत में 'वी' पक्षी को कहते हैं और 'यान' का अर्थ अनुरूप या सादृश है । इसलिए विमान का अर्थ हुआ-पक्षी के सदृश । इस प्रकार जो आकाश में पक्षी के उड़ने की स्थिति को जानता है, वह विमान बना सकता है । ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः । १।२५।७

अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'जे ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष,

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य ताँश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१२॥

भू और समुद्र में आने-जानेवाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उसको सिद्ध करने के लिए पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाओं के कला-कौशल में कुशल मनुष्य इच्छा करता है, वही उसको बनाने में समर्थ है।

भागवत में शाल्व राजा के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है जो आवश्यकतानुसार जल, थल, आकाश और पर्वत पर भी चल सकता था—

स लब्ध्वा कामगं यानं तपोधामं दुरासदम् । ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् । क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित् ॥

यह निर्विवाद है कि ग्रन्थकार के समय तक आधुनिक विज्ञान जहाज़ का आविष्कार नहीं कर पाया था। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन क्रमशः सन् १८७५ तथा १८७६ (संवत् १९३२-३३) में किया था, परन्तु हवाई जहाज़ की पहली उड़ान उसके २७-२८ वर्ष बाद १७ दिसम्बर सन् १९०३ को आरविल राइट ने की थी और वह भी केवल १२ सैकेण्ड की थी। फिर उसी दिन उसके भाई विल्वर राइट ने ५९ सेकेण्ड की उड़ान की थी। पहला सफल हैलीकाप्टर अमरीका के ही आइगर सिकोरस्की ने सन् १९३७ में बनाया था। आजकल के समान सुविधाजनक हवाई यात्रा तो उसके बहुत समय बाद संभव हो सकी, अतः इस प्रकरण में जो कुछ कहा गया है वह विशुद्धरूप से वेदों के आधार पर ही कहा गया है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित विमान को आकाश में उड़ता देखकर ग्रन्थकार ने वेदों से बलात् सिद्ध करने का प्रयास किया।

पूना नगर में १३ जुलाई १८७५ को अपने एक व्याख्यान में कहा था—'पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्याएँ भारतखण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं, जैसे विमानविद्या, अस्त्रविद्या आदि। जो लोग लड़ाई लड़ते थे उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी विमानरचना का एक पुस्तक देखा था।''

यह कौन-सा पुस्तक था, इसपर कहीं से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। रामायण, महाभारत में तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के 'समराङ्गणसूत्रधार' (११वीं शती) में विमान बनाने का संक्षेप में विवरण मिलता है। अभी कुछ वर्ष हुए, स्वामी ब्रह्ममुनिजी की खोज से एक अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भारद्वाजकृत विमानशास्त्र प्रकाश में आया है।

'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक का उल्लेख किया है। भरद्वाज ऋषि की बनाई हुई इस पुस्तक का नाम

है-'अंशुबोधिनी' । इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है । प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण है । इन अधिकरणों में एक विमान अधिकरण भी है । इस अधिकरण में आये 'शक्त्युदगमोद्यष्टौ' सूत्र पर बौद्धायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

'शक्त्यद्‌गमो भूतवाहो धूमयनश्शिशोद्‌गमः । अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखा । इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्वतः' ॥

यहाँ विमान की रचना और उनकी आकाश संचारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं— 'शक्त्युद्‌गम'=बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह'=अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान'=वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्‌गम'=पंचशिखी. के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह'= सूर्य की किरणों से चलनेवाला, 'मणिवाह'=सूर्यकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा'=केवल वायु से चलनेवाला ।

वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध 'पुष्पक विमान' के वर्णन से कौन परिचित नहीं । युद्धोपरान्त मर्यादापुरुषोत्तम राम अपने दलबल सहित इसी से अयोध्या लौटे थे—

ब्रह्माणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा ।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥ —सुन्दरकाण्ड, सर्ग ६ श्लोक ११

साम्परायिककल्पेन-यह युद्धशास्त्रसम्मत विधान है । महाभारत कहता है—

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ।
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतत् युधिष्ठिर ॥ —शाल्यपर्व ३१।६

हे युधिष्ठिर ! इस मायावी दुर्योधन की माया को अपनी माया से नष्ट करो; मायावी मनुष्य माया से ही वश में आता है, यह सत्य है । इसलिए **'मायाविनं तु राजानं माययैव निकृतन्तु'** (५८।८) मायावी राजा की माया को उखाड़ फैंको । **'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाण परमं श्रुतिः'** । धर्म के रहस्य को जाननेवालों के लिए परम प्रमाण वेद है । महाभारत (आदिपर्व ६२।१६) में कहा है—'इदं (महाभारतम्) हि वेदसम्मतं पवित्रमपि चोत्तमम्''—महाभारत में जो कुछ कहा है, वह वेदसम्मत है । इसकी पुष्टि ऋग्वेद (१।८०।७) के इस मन्त्र से होती है—**''यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्''**—मायावी का माया के द्वारा बध करके अपने राज्य की स्थापना करो, अर्चना करो ।

व्रजन्ति ते मूढाधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ॥ —किरातार्जुनीयम्

राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रसिद्ध हैं । राम द्वारा मारे जाने पर जब बालि ने राम के उसको छुपकर मारने के कारण उनकी भर्त्सना की तो राम ने यह कहकर समाधान किया—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तत्तथा चरितं मया ॥ —कि.का. १८।३०

सदाचार की मर्यादा के विषय में मनु ने दो श्लोकों में इसका वर्णन किया है । मैने तदनुसार ही आचरण किया है । मनु के उन दो श्लोकों में कहा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ —८।३५०

[पराजित शत्रु के साथ यथायोग्य व्यवहार करे]

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥१३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥१४॥

—मनु० ७।१८४-१९२, १९४-१९६, २०३, २०४ ॥

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे, तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध, और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देनेवाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ॥१॥

तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक **स्थल**=भूमि में, दूसरा **जल**=समुद्र वा नदियों में, तीसरे **आकाश-मार्गों** को शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका, और आकाश में विमानादि यानों से जावे और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र-अस्त्र, और खान-पानादि सामग्री को यथावत् साथ ले, बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे ॥२॥

जो भीतर से शत्रु से मिला हो, और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे, क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिए ॥३॥

सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे, और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे । जो पूर्व-शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा[1] जानते हैं । जब शिक्षा करे, तब **'दण्डव्यूह'**= दण्ड के समान सेना को चलावे **'शकट'**=जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, **'वराह'**=जैसे सूअर एक-दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं, और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे, **'मकर'**=जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे । **'सूचीव्यूह'**=जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे । और जैसे **'गरुड़'**=नीलकण्ठ ऊपर-नीचे झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे ॥४॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वा ऽ प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ८।३५१

सारांश यह है कि क्रोधी को क्रोध से मारना क्रोध से क्रोध की लड़ाई है । इसलिए छिपकर मारने में कोई दोष नहीं है । तात्पर्य यह है कि दुष्ट राजा पर किसी भी उपाय से विजय प्राप्त करना राजा का धर्म है ।

प्रमाणानि च—रघुकुल में इसी नीति का अनुसरण किया जाता था । श्रीराम ने भी रावण को पराजित कर उसी के भाई विभीषण को लंका का राज्य लौटा दिया था । रघुकुल की ऐसी परम्परा से प्रभावित होकर 'रघुवंश' में लिखा है—'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' जैसे बादल पृथिवी से जल लेकर वर्षा के द्वारा उसी को लौटा देते हैं, वैसे ही सज्जनों का लेना भी देने के लिए होता है ।

१. अर्थात् लड़ना-लड़ाना ।

जिधर से भय विदित हो, उसी ओर सेना को फैलावे। सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके **'पद्मव्यूह'** अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहे ॥५॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा के देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ानेवाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे। जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे, परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है ॥६॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित, और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको सेना के चारों ओर रक्खे ॥७॥

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे। जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो, तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह'=जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है, वैसे युद्ध करते जाएँ, और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे[1] ॥

जो सामने शतघ्नी=तोप वा भुशुण्डी=बन्दूक छूट रही हो, तो 'सर्पव्यूह'=अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जाएँ। जब तोपों के पास पहुँचें, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें[2]। बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें ॥८॥

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ-घोड़े और पदातियों से, और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका, और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण, तथा स्थल-बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥९॥

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़नेवालों को उत्साहित और हर्षित करें। जब युद्ध बन्द हो जाए, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र सहाय और औषधादि से प्रसन्न रक्खे। व्यूह के विना लड़ाई न करे न करावे। लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥१०॥

किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीड़ित कर, शत्रु के चारा, अन्न, जल और ईंधन को नष्ट वा दूषित कर दे[3] ॥११॥

शुक्राचार्य ने इस विचार को बढ़ाकर एक अन्य सुझाव दिया है—

> **तूर्यमङ्गलघोषेण स्वकीयं परमाविशेत्** ।
> **तत्प्रजाः पुत्रवत् सर्वाः पालनीयात्मसात्कृताः** ।
> **नियोजयेन्मन्त्रिगणमपरे मन्त्रचिन्तने** ॥ —४।३५८

---

१. यहाँ से आगे का लेख मनु के अभिप्राय को विस्तार से दर्शाने के लिए है।

२. स्वदेश की रक्षा के लिए अति बलिदान की आवश्यकता हो, तो उस अवस्था में यह भी कर्त्तव्य है।

३. इस और अगले श्लोक में विहित कार्य अधार्मिकों के साथ युद्ध में अपेक्षित है —**'शठे शाठ्यं समाचरेत्'**, धर्म-युद्ध में कर्तव्य नहीं है।

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे। रात्रि में उसको त्रास=भय देवे, और उसके जीतने का उपाय करे ॥१२॥

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे, और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे, और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा। ऐसे उपदेश करे, और ऐसे पुरुष उसके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो, और जो हार जाए उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे ॥१३॥

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति, और देना प्रीति का कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है। और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हँसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहे, किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे ॥१४॥

[लाभदायक मित्र]

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥१॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥२॥

[कष्टदायक शत्रु]

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥३॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥४॥ —मनु० ७।२०८-२११

मित्र का लक्षण यह है—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल-प्रेमयुक्त, भविष्यत् की बातों को सोचने, और कार्य सिद्ध करनेवाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है ॥१॥

धर्म को जानने, और '**कृतज्ञ**' अर्थात् किये हुए उपकार को सदा माननेवाले, प्रसन्न-स्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी, लघु=छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है ॥२॥

सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि कभी बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारे, और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु न बनावे, क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा, वह दुःख पावेगा ॥३॥

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्तता, अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी हो, 'स्थूललक्ष्य' अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे, वह '**उदासीन**' कहाता है ॥४॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ —मनु० ७।२१६

पूर्वोक्त प्रातःकाल के समय उठ, शौचादि सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े-हाथी-गाय आदि के स्थान, शस्त्र और अस्त्र का कोश, तथा वैद्यालय और धन के कोशों को देख, सबपर दृष्टि नित्यप्रति देकर, जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, मध्याह्न समय भोजन के लिए 'अन्तःपुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे, और भोजन सुपरीक्षित बुद्धि-बल-पराक्रम-वर्द्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन-पान आदि, सुगन्धित, मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे कि जिससे सदा सुखी रहे। इस प्रकार सब राज्य के कार्य्यों की उन्नति किया करे।

प्रजा से कर लेने का प्रकार

पञ्चाशद् भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ —मनु० ७।१३०॥

जो व्यापार करनेवाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चाँदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवाँ भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवाँ वा बारहवाँ भाग लिया करे और जो धन[1] लेवे, तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।

गुणीसुनीतिर्नव्योऽपि परिपाल्यस्तु पूर्ववत्।
प्राचीनैः सह तं कार्ये ह्यनूभूय नियोजयेत् ॥ —५।२२

अर्थात्—जीते हुए राज्य में मन्त्रचिन्तन (सलाह देने के लिए) के लिए पुराने मन्त्रिमण्डल को हटाकर नया मन्त्रिमण्डल नियुक्त कर दे। अथवा-यदि नवीन अधिकारी गुणवान् और नीतिमान् हो तो उसका भी प्राचीन अधिकारियों की भाँति ही आदर-सम्मान करना चाहिए। नवीन अधिकारी की भली-भाँति परीक्षा करने के पश्चात् उसे प्राचीनों के साथ राजकार्य में नियुक्त करना चाहिए।

अथवा वर्त्तमान में प्रचलित पद्धति का अनुसरण करते हुए कुछ पर्यवेक्षक (Observers) छोड़ देने चाहिएँ जो सामान्य स्थिति होने तक वहाँ ठहरें और राजकार्य पर दृष्टि रक्खें और समय-समय पर राजा को वस्तुस्थिति से अवगत करते रहें।

राजाओं के राजा किसान आदि— कुछ लोगों का विचार हो सकता है कि ग्रन्थकार ने यह विचार कार्ल मार्कस से लिया है, किन्तु उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। कार्ल मार्कस के ग्रन्थ 'कैपिटल' (Das Capital) का अंग्रेजी में अनुवाद पहली बार सन् १८८७ ईसवी में, अर्थात् ग्रन्थकार की मृत्यु के चार वर्ष बाद हुआ था, जबकि सत्यार्थप्रकाश की रचना सन् १८७५ में हो चुकी थी। ग्रन्थकार के समय तो भारत में मार्क्स के विचारों की लेशमात्र भी चर्चा नहीं थी। इसलिए उनके विचारों का मार्क्स से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अथर्ववेद में कई स्थानों में (३।४।२ तथा ३।५।६-७) राजा के निर्वाचित किये जाने का उल्लेख है। राजा की शक्ति का स्रोत प्रजा है। यजुर्वेद (१०।२८) में कहा है—**'इन्द्रो ऽसि विशौजाः'** अर्थात् हे राजन्! तेरा बल तेरी प्रजा है।

---

१. अर्थात् अन्न न लेकर कर-रूप में रुपया लेवे।

[राजा और प्रजा का सम्बन्ध]

क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे, और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि **राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं, और राजा उनका रक्षक है।** जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र, और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले। यह राजा का राजकीय निज काम, अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप से कह दिया। अब जो विशेष देखना चाहे, वह **चारों वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारतादि** में देखकर निश्चय करे।

[विवाद के १८ स्थान और उनका निर्णय]

और जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार 'मनुस्मृति' के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिए, परन्तु यहाँ भी संक्षेप में लिखते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥१॥

प्रत्यहम्—यहाँ 'पृथक्' पदों से तात्पर्य है कि राजा-अठारह प्रकार के विवादों में, अनेक प्रकार के विवाद से सम्बन्धित विशिष्ट विद्वानों (Experts) के साथ पृथक्-पृथक् बैठकर विचारोपरान्त निर्णय करे। इन विशिष्ट विद्वानों से निर्मित आयोगों या समितियों को आवश्यकतानुसार नियम बनाने का अधिकार दिया गया है जिससे न्याय-प्रक्रिया में बाधा न पड़े।

(तेषाम्) उन (१८ मार्गों) में १. (ऋणादानम्) किसी से ऋण लेने-देने के विवाद—४।१७-१७८; २. (निक्षेप) धरोहर अर्थात् किसी के पास पदार्थ धरा है, पर माँगने पर वापस न मिले—८।१७६-१९६; ३. (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बैच दे—८।१९७-२०५; ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाकर किसी पर अत्याचार करना—८।१०६-२१३; ५. (दत्तस्य अनयकर्म) दिये हुये पदार्थ को न देना—८।२१२-२१३; ६. (वेतनस्य च अदानम्) वेतन में से लेना या कम देना; ७. (संविदः च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण—८।२१८-२२१; ८. (क्रय-विक्रय-अनुशयः) लेन-देन में झगड़ा—८।२२६-२४४; १०. (सीमाविवादधर्मः) सीमा का विवाद—८।२४५-२६५; ११-१२. (पारुष्ये दण्डवाचिके) कठोर दण्ड देना—८।२७८-३००, कठोर वचन बोलना—८।२६६-२७७; १३. (स्तेयम्) चोरी-डाका—८।३०१-३४३; १४. (साहसमेव) किसी काम को बलात् करना—८।३४४-३५१; १५. (स्त्रीसंग्रहणम्) किसी की स्त्री या पुरुष का व्यभिचार का होना—८।३५२-३५७; १६. (स्त्रीपुम् धर्मः) स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना—६।१-१०२; १७. (विभागः) दायभाग सम्बन्धी विवाद—६।१०३-२१६; १८. (द्यूतम्-आह्वय एव च) द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और (आह्व्य)समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव पर धरकर जुआ खेलना—६।२२०-२५० अष्टादश एतानि—ये अठारह प्रकार के (व्यवहारस्थितौ पादानि) परस्पर विरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं। ४ से ७

इन विवादों का निर्णय करना राजा का काम है, परन्तु—

यदा स्वयं न कुर्यात् नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ८।६

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥२॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च ॥४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥५॥
ऐषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥६॥

[कभी भी धर्म का हनन न होने पावे]

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७॥
[1]सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥८॥

यदि किसी कारण या कार्य की अधिकता से राजा स्वयं निर्णय करने की स्थिति में न हो तो किसी अन्य धार्मिक विद्वान् को इस कार्य के लिए नियुक्त कर दे।

सभां वा न—श्लोकान्तर्गत 'किल्बिषम्', 'दुष्कृतम्', 'एनः', 'पापम्', 'अधर्म' आदि शब्द मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर आते हैं। प्रायः इनका अर्थ निन्दा, दोष या बुराई होता है। 'राजा स्तेनस्य किल्बिषम्' का अर्थ यह नहीं करना चाहिए कि चोर का पाप राजा को लग जाता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि राजा अपराधी को समुचित दण्ड देने में असमर्थ रहता है तो राजा का अपयश होता है। निरुक्तकार ने इसी अर्थ को अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा पुष्ट किया है—'किल्बिषम्'=किलभिदम्, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति अर्थात् जो मनुष्य की कीर्त्ति का नाश करे वह किल्बिष कहाता है। प्रस्तुत श्लोक में उन लोगों की बात कही गई है जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। पापी होने से यहाँ अभिप्राय दोषभागी होता है। अंग्रेजी के यशस्वी लेखक जी. के. चेस्टरटन ने अपने एक निबन्ध 'A piece of chalk' में लिखा है—'As white is not the absence of black, virtue is not the absence of white'. अर्थात् जैसे कोई वस्तु काली न होने से सफेद नहीं कहला सकती, वैसे ही कोई व्यक्ति बुरा नहीं है, इतने मात्र से वह भला नहीं बन जाता। ट्रक से चोट खाकर सड़क पर घायल पड़े व्यक्ति का अपराधी तो ट्रकवाला है, किन्तु जो लोग उसे उस अवस्था में पड़ा

---

१. यही पाठ संस्कार विधि में उद्धृत है। मेधातिथि ने उक्त पाठ की जो व्याख्या की है उसका भाव इस प्रकार है—'राजसभा के व्यवहार देखने का अधिकार किसी को नहीं देना चाहिए। यदि किसी को अधिकार मिल गया हो, तो यथार्थ कहना चाहिए, अर्थात् भाषण में अनधिकृत को भी अयुक्त विचार प्रकट करनेवाले सभ्यों के मध्य मौन नहीं रहना चाहिए।' यह आदेश नारदीय मनुस्मृति (३।२) में दिया है—'नियुक्तोऽनियोक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति।'

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥९॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१०॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समन्नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१२॥
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥१४॥

—मनु० ८।३-८, १२-१६॥

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्र-व्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें, और उनके होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बाँधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥१॥

अठारह मार्ग ये हैं—उनमें से १. (ऋणादान) किसी से ऋण लेने-देने का विवाद । २. (निक्षेप) धरावट, अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और माँगने पर न देना । ३. (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे । ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना । ५. (दत्तस्यानपकर्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना ॥२॥

६. (वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले-लेना वा कम कर देना अथवा न देना । ७. (संविदश्च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना । ८. (क्रयविक्रयानुशयः) अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना । ९. (विवादः स्वामि०) पशु के स्वामी और पालनेवाले का झगड़ा ॥३॥

१०. सीमा का विवाद । ११. किसी को कठोर दण्ड देना १२. कठोर वाणी का बोलना । १३. चोरी-डाका मारना । १४. किसी काम को बलात्कार से करना । १५. किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना ॥४॥

१६. स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना । १७. **विभाग** अर्थात् दायभाग में वाद उठना । १८. द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जुआ खेलना —ये अठारह प्रकार के परस्पर **विरुद्ध व्यवहार के स्थान** हैं ॥५॥

देखकर भी अनदेखा कर जाते हैं, वे भी एक हद तक दोषी माने जाएँगे । दण्डनीय न होने पर भी वे अपयश के भागी तो होंगे ही । यशस्वी वह होगा जो उसे कन्धे पर डालकर हस्पताल पहुँचाएगा । इसी प्रकार जो व्यक्ति अन्याय व अत्याचार को होता देखकर भी मौन धारण किये रहते हैं वे भी पापी होते हैं, क्योंकि वे अपने धर्म का पालन नहीं करते ।

पादोऽधर्मस्य—जिस प्रकार मांसभक्षण के प्रसंग में अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी,

इन व्यवहारों में बहुत-से विवाद करनेवाले पुरुषों के न्याय को सनातनधर्म का आश्रय करके किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलङ्क को निकालना, और अधर्म का छेदन नहीं करते, अर्थात् धर्मी को मान और अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं ॥७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए देखकर मौन रहे, अथवा सत्य-न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है ॥८॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं, जानो उनमें कोई भी नहीं जीता ॥६॥

मरा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है, इसलिए धर्म का हनन कभी न करना। इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले ॥१०॥

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करनेवाला धर्म है, जो उसका लोप करता है, उसी को विद्वान् लोग '**वृषल**' अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं, इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥११॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है, और सब पदार्थ वा सङ्गी शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सबका सङ्ग छूट जाता है, परन्तु धर्म का सङ्ग कभी नहीं छूटता ॥१२॥

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों, और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति=राजा को प्राप्त होता है ॥१३॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड, और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहाँ राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं। पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥१४॥

[साक्षी कैसे व्यक्ति होने चाहिएँ]

अब साक्षी कैसे करने चाहिएँ—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीताँस्तु वर्जयेत् ॥१॥

संस्कर्त्ता, उपहर्त्ता तथा खादक सभी पापी होते हैं, उसी प्रकार राजसभा में पक्षपात से होनेवाले अन्याय में अधर्म का कर्त्ता, साक्षी और राजा न्यूनाधिक सभी पाप के भागी होते हैं।

इसके विपरीत जिस सभा में सबके साथ यथायोग्य व्यवहार होता है वहाँ राजा और सभासद सभी निष्पाप या निर्दोष हो जाते हैं, केवल अपराध करनेवाला ही पाप का भागी होता है।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥२॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥३॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराऽधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥४॥

[दो प्रकार के साक्षी]

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥५॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्य्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥६॥
स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७॥

साक्षी शब्द का अर्थ—'सहपूर्वक' 'अक्षि' से 'इनिः' प्रत्यय अथवा साक्षात् अव्यय से 'साक्षाद्द्रष्टरिसंज्ञाम्' (अष्टा० ५।२।६१) से 'इनिः' प्रत्यय होकर 'सक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है। 'साक्षिन्यः साक्षात् कर्त्ता=साक्षाद् द्रष्टा यः सः साक्षी'। इस प्रकार साक्षी शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस बात या घटना का प्रत्यक्ष द्रष्टा होता है। श्लोक में 'आप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की पुष्टि होती है।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्री—इस श्लोक में वर्णानुक्रम से साक्षियों का प्रावधान किया है। यही नियम स्त्रियों की साक्षी में—स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्री—में अपनाया गया है। यदि साक्षी के लिए उसका प्रत्यक्षद्रष्टा होना आवश्यक है तो घटना के समय वहाँ जो भी उपस्थित होगा उसी की साक्ष्य का प्रमाण्य होगा। एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय इन दोनों में विवाद होने पर वैश्य की साक्षी का कोई अर्थ नहीं होगा, यद्यपि वह घटना का साक्षात् द्रष्टा होगा। बलात्कार के समय चीख़ती-चिल्लाती स्त्री के अतिरिक्त कोई अन्य स्त्री वहाँ नहीं रही होगी। ऐसी अवस्था में स्त्री साक्षी कहाँ से आये ? साक्षी के लिए वर्णभेद या लिङ्ग भेद का रहस्य अन्वेषणीय है। कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक के भाष्य में अपनी ओर से इतना लिख दिया है—'उक्तलक्षणसजातीयसाक्ष्यसंभवे विजाजातीया अपि साक्षिणो भवन्ति'। अतएव याज्ञवल्क्यः 'यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः'।

शुक्रनीति (४।५।६) के अमुसार-

नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ।
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ॥

बुद्धिमान् राजा अकेला एकान्त में वादी-प्रतिवादी के कार्यों (मुकदमों) को कभी न देखे और न उनकी बातों को सुने। इसी प्रकार शासनाधिकारी भी चुपचाप अकेला अभियोगों का निर्णय न करे।

[न्यायाधीश और वकील द्वारा साक्षी से पूछताछ]

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥८॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥९॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥१०॥

[साक्षी सदा सत्य ही बोलें]

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥११॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥१२॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥१३॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
मुनिः नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता ॥१४॥

—मनु० ८।६३,६८,७२-७५,७८-८१,८३, ८४,६६, ६१॥

निर्णायक समिति (जूरी) के गुण-

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ —शुक्र० ४।५।१६-१७

व्यवहारकुशल, विद्वान्, चरित्रवान्, शील और गुणों से युक्त शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करनेवाले, धर्म के मर्म को जाननेवाले, सत्यवादी, आलस्यरहित, काम, क्रोध और लोभ को जाननेवाले तथा मधुरभाषी इन गुणों से युक्त सभी वर्णों के लोगों में से निर्णायक=जूरी का सदस्य नियुक्त किया जाए।

प्राड्विवाक का अर्थ—वादी-प्रतिवादी से पूछने के कारण वह 'प्राड्' कहाता है और उसपर गम्भीरता से विचार करने के कारण 'विवाक' कहाता है। वही 'प्राड्विवाक' सभ्यों के साथ मिलकर धर्माधर्म विचार करता है—

प्रत्यक्षं वादयेत् साक्ष्यं न परोक्षं कदाचन ।
नाङ्गीकरोति यः साक्ष्यं दण्ड्यः स्याद् देशितो यदि ॥ ४।५।१८६

वादी और प्रतिवादी के समक्ष में ही साक्षी की गवाही लेनी चाहिए, परोक्ष में कभी नहीं।

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कटी, सब प्रकार धर्म को जाननेवाले, लोभरहित, सत्यवादी को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे, इससे विपरीतों को कभी न करे ॥१॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र, और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ॥२॥

जितने बलात्कार काम=चोरी, व्यभिचार, कठोरवचन, दण्डनिपातनरूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझे, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥३॥

प्राड्विवाक का कार्य—शुक्रनीति (२।६५-६७) के अनुसार प्राड्विवाक का कर्त्तव्य है कि—

साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलैर्भूतैश्च मानुषान् ।
स्वानुत्पादितसंप्राप्तव्यवहारान्विचिन्त्य च ॥
दिव्यसंसाधनाद्वापि केषु किं साधनं परम् ।
युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥
बहुसम्मतसंसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः ।
ससभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं सम्बोधयेत्सदा ॥

वह सभा में स्थित हो सभ्यों (जूरी के सदस्यों) के साथ मिलकर साक्षियों द्वारा प्रस्तुत सत्य या छल से युक्त मनुष्यों को तथा अपनी इच्छा से पैदा किये हुए अथवा यथार्थरूप से स्थापित किये गये (मिथ्या और सत्य) विवादों को विचारकर उनमें से किसी की साक्षी या लेख के अभाव में दिव्य साधनों (मेधाबुद्धि आदि) से एवं किसी का बहुत लोगों की सम्मति से और किसमें कौन-सा प्रमाण ठीक होगा। इसका प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा लोकशास्त्र से विचारकर जो निर्णय हो, उसे राजा से निवेदन करे।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी—ग्रन्थकार ने आगे सातवें समुल्लास में लिखा है—'जब आत्मा मन तथा मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि की अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरा काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। इसी प्रकार आत्मा का साक्षी आत्मा होता है। इसलिए गीता में कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ —गीता ६।५

अर्थात अपनी आत्मा का अवमूल्यन न करे—उसको पतित ने करे, क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु है और पतित होने पर आत्मा ही अपना शत्रु है।

एको ऽ हमास्मि-न्याधीश के सामने साक्षी देनेवाले व्यक्ति को सत्य बोलने की प्रेरणा करते हुए कहा है कि 'हे भलेमानस ! यदि तू यह समझता है कि यहाँ तू अकेला है और इसलिए तुझे देखने-सुननेवाला कोई नहीं है तो तू भूल कर रहा है। तेरे भले-बुरे को देखनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। वह तेरे समस्त मनोभावों को जानता है। इसलिए तू उसके विपरीत कुछ मत करना।' अथर्ववेद में यही बात इन शब्दों में कही है—

यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥—अथर्ववेद ४।१६।२

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तमगुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल और जो दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥४॥

दो प्रकार के साक्षी होना सिद्ध होता है। **एक**—साक्षात् देखने, और **दूसरा**—सुनने से। जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें, वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥५॥

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले, तो वह **'अवाङ्नरक'** अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाए ॥६॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोले और [1]इससे भिन्न सिखाये हुए जो-जो वचन बोले, उस-उसको न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥७॥

जब 'अर्थी'=वादी और 'प्रत्यर्थी'=प्रतिवादी के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को न्यायाधीश और प्राड्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर शान्तिपूर्वक इस प्रकार से पूछें—॥८॥

हे साक्षिलोगो ! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो, उसको सत्य के साथ बोलो, क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है ॥९॥

जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है। इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है, वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥१०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है ॥११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा, और आत्मा की गति आत्मा है। इसको जानके हे पुरुष ! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जोकि तेरे आत्मा-मन-वाणी में है वह **'सत्य'** और जो इससे विपरीत है, वह **'मिथ्याभाषण'** है ॥१२॥

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् **'क्षेत्रज्ञ'** अर्थात् शरीर का जाननेहारा आत्मा भीतर शङ्का को प्राप्त नहीं होता, उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥१३॥

हे कल्याण की इच्छा करनेहारे पुरुष ! जो 'तू मैं अकेला हूँ' ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है, सो ठीक नहीं है, किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामिरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखनेवाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥१४॥

अर्थात् जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन सब बातों को तीसरी परमात्मा जानता है।

---

१. सं० २ में 'सिखाये हुए इससे भिन्न जो-जो' यह पाठ व्यतिक्रम से है।

[लोभादिवश झूठे साक्ष्य पर विविध दण्ड]

लोभान्मोहाद् भयान्मैत्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥१॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषाँस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥२॥
लोभात् सहस्रदण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वन्तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम् ॥३॥
कामाद् दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥४॥

[दण्ड के दश स्थान]

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥६॥

लोभात्सहस्रम् इत्यादि श्लोक से 'उपस्थमुदरम्' इत्यादि पाँचवें श्लोक तक में वर्णित दण्डमात्रा का आधार मनु ८।१३३८ है, तदनुसार—

पणानां द्वेशते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥

अर्थात्—ढाई सौ पैसे प्रथम साहस का दण्ड है। पाँच सौ मध्यम और हज़ार पैसे उत्तम। इस न्याय से लोभ से झूठी साक्ष्य देनेवाले से पन्द्रह रुपये दस आने, मोह से झूठी साक्ष्य देनेवाले से पहला साहस अर्थात् ढाई सौ पैसे=तीन रुपये साढ़े चौदह आने, भय के कारण मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से दो मध्यम अर्थात् सहस्र पैसे=पन्द्रह रुपये दस आने, कामना से मिथ्या साक्षी देनेवाले से पूर्व साहस का दस गुणा अर्थात् २५०० पैसे=उनतालीस रुपये एक आना, क्रोध से मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से तीन हजार पैसे=छयालीस रुपये चौदह आने, अज्ञान से साक्ष्य देनेवाले से दो सौ पैसे अर्थात् तीन रुपये, आठ आने, बालपन के कारण मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से एक सौ पैसे अर्थात् एक रुपया नौ आने दण्ड लेवे।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के पास मनुस्मृति का ऐसा संस्करण या हस्तलेख रहा होगा जिसमें किसी अन्य प्रकार का पाठ था। वर्तमान में उपलभ्यमान पाठ के अनुसार दण्डमात्रा का लेखा वही बनता है जो हमने यहाँ दिया है।

कौटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, अपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस संख्या में परिगणित मानी गयी है। उनके मतानुसार—२५० पण का पूर्व साहस, २५१ से ५०० तक का मध्यम साहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जाएगा। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'४८ से २०० पण तक प्रथम

[अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर कभी न करे]

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८॥

[दण्डदान का क्रम]

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥९॥

—मनु० ८।११८-१२१, १२५-१२६॥

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे, वह मिथ्या समझी जावे ॥१॥

इनमें से किसी स्थान में साक्षी झूठ बोले, उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड किया करे ॥२॥

जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५॥=)पन्द्रह रुपये दश आने[1] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) तीन रुपये दो आने[2] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे ६।) सवा छः रुपये[3] दण्ड लेवे और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे, उससे १२॥) साढ़े बारह रुपये[4] दण्ड लेवे ॥४॥

जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) पच्चीस रुपये[5] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६।॥=) छयालीस रुपये चौदह आने[6] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ६) छह रुपये[7] दण्ड लेवे और जो बालकपन में मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १॥—) एक रुपया नौ आने

---

१. यह धन का निर्देश श्लोक मे पठित 'सहस्र' पद का अर्थ १००० पैसे, और एक रुपये में ६४ पैसे (पुराने व्यवहारानुसार) की गणना से दिया है। आगे भी ऐसा ही जानें।

२. मनु के '**पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः**' (८।१३८) श्लोक के अनुसार २५० पैसे अर्थात् ३।॥=)॥ तीन रुपये साढ़े चौदह आने दण्ड देना चाहिए। प्रतीत होता है यहाँ उक्त श्लोक में पठित '**सार्धे**' का अभिप्राय गणना में छूट गया है। केवल २०० पैसे अर्थात् ३=) लिखा गया।

३. यहाँ भी पूर्व भूल के कारण अशुद्धि हुई है। मनु० के '**मध्यमः' पञ्च विज्ञेयः**' (८।१३८) के अनुसार ५०० पैसे मध्यम अर्थात् ७॥—) सात रुपये तेरह आने दण्ड होता है। **द्वौ मध्यमौ** का अर्थ होगा १००० पैसे, अर्थात् १५॥=) पन्द्रह रुपये दस आने। यही संख्या यहाँ होनी चाहिए।

४. यहाँ भी पूर्व भूल के कारण ३=) का चतुर्गुण १२॥) साढ़े बारह रुपया लिखा गया है, जबकि २५० का चतुर्गुण १००० पैसे, अर्थात् १५॥=) पन्द्रह रुपये दश आने होना चाहिए।

५. यहाँ पूर्व दण्ड को दुगुना कर देने से भूल हुई है। मनु० के श्लोकानुसार प्रथम साहस दण्ड २५० पैसे का दस गुणा २५०० पैसे, अर्थात् ३९—) उन्तालीस रुपया एक आना दण्ड होना चाहिए।

६. 'परं' का अर्थ उत्तम साहस दण्ड १००० पैसे के अनुसार यह ठीक है। मेधातिथि ने पक्षान्तर में 'परं' का अर्थ प्रकृत प्रथम साहस दण्ड से उत्तर अर्थात् मध्यम साहस दण्ड दर्शाया है। तदनुसार ५००×३=१५०० पैसा अर्थात्२३।≡) तेईस रुपये सात आने होता है।

७. यहाँ भी '**द्वे शते पूर्णे** के अनुसार २०० पैसे अर्थात ३=) तीन रुपये दो आने दण्ड होना चाहिए। यहाँ भी सं० ३४ में 'छः रुपये' के स्थान में '३=)' (तीन रुपये दो आने) पाठ संशोधक ने बनाया है।

दण्ड लेवे ॥४॥

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आँख, नाक कान, धन और देह ये **दश स्थान** हैं कि जिनपर दण्ड दिया जाता है ॥५॥

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है, परन्तु जो अन्त्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे, अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे ॥६॥

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा, वर्तमान और भविष्यत् में होनेवाली कीर्ति का नाश करनेहारा है, और परजन्म में भी दुःखदायक होता है, इसलिए अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥७॥

जो राजा दण्डनीयों को तो न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है, अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उसको दण्ड देता है, वह जीता हुआ बड़ी निंदा को, और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए जो अपराध करे उसको सजा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे ॥८॥

प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', **दूसरा** 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया ? **तीसरा** उससे 'धन लेना' और **चौथा** 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बैंत से मारना वा शिर काट देना ॥९॥

[प्रत्येक अपराधी को दण्ड मिले]

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥१॥
पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२॥

[अधिकारीभेद से दण्डभेद]

कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३॥

साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहाता है'' (प्रक. ७४, अ. १७)।

शुक्रनीति ४।५३ में कहा है—

दण्ड्यस्यादण्डनान्नित्यमदण्ड्यस्य च दण्डनात् ।
अतिदण्डाच्च गुणिभिस्त्यज्यते पातकी भवेत् ॥

दण्ड देने योग्य व्यक्ति को दण्ड न देने से, अदण्डनीय को दण्ड देने से और आवश्यकता से अधिक दण्ड देने से गुणीजन राजा का परित्याग कर देते हैं और इस प्रकार करने से राजा स्वयं भी पापी हो जाता है।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यः—उदयपुरनरेश महाराजा सज्जनसिंह को दिनचर्यासम्बन्धी उपदेश करते हुए

अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥४॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥५॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥६॥

[बलात् प्रजापीडक को कठोरतम दण्ड]

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥७॥
साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥८॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१०॥
आततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥११॥

[अतीव श्रेष्ठ शासक]

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥१२॥

—मनु० ८।३३४-३३८, ३४४-३४७, ३५०,३५१,३८६॥

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उस-उस अङ्ग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए, राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥१॥

ग्रन्थकार ने निर्देश किया था—'अपराध में प्रजा से राजा को अधिक दण्ड देना चाहिए। बकरी का प्रमाद रोकने से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक यत्न होना चाहिए। यह निश्चय है कि जैसा शील, आचरण, उत्साह और पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है वैसा ही इतर जन वर्त्तते हैं'' (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन-पूर्ण संख्या ५६८)। इसलिए जैसे-जैसे राजपुरुषों का पद बड़ा हो वैसे-वैसे उसके दण्ड का माप बड़ा होना चाहिए। ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण सबसे अधिक दण्ड का भागी है।

यस्य स्तेनः—इस प्रकार के एक राजा अश्वपति का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है। अश्वपति की घोषणा प्रसिद्ध है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र, और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता, अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे, तब किसी का पक्षपात न करे, किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥२॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध से राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे, अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए[1]।

मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छह सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर, अर्थात् जो एक छोटे-से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए, क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए ॥३॥

वैसे **ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे,** उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ॥४॥

ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौगुणा, अथवा एक सौ अट्ठाइस गुणा दण्ड होना चाहिए, अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए ॥५॥

राज्य के अधिकारी, धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला राजा बलात्कार के काम करनेवाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥६॥

साहसिक पुरुष का लक्षण—जो दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराध के दण्ड देनेवाले से भी [अधिक] बलात्कार के काम करनेवाला है, वह अतीव पापी, दुष्ट है ॥७॥

जो राजा साहस में वर्त्तमान पुरुष को दण्ड न देकर सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है, और राज्य में द्वेष भी उठता है ॥८॥

न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी राजा सब प्राणियों को दुःख देनेवाले साहसिक मनुष्य को बन्धन-छेदन किये विना कभी छोड़े ॥९॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण, और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो, जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्त्तमान, दूसरे को विना अपराध मारनेवाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना, अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥१०॥

दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता, चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥११॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न पर-स्त्री-गामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करनेवाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ॥१२॥

यह व्यवहारसिद्ध है कि कठोर दण्ड के बिना प्रजा को अनुशासित करना दुष्कर है। भ्रष्टाचार के द्वारा एक लाख रुपया कमानेवाले को जब तक दस लाख रुपये दण्ड नहीं दिया जाएगा तब तक वह बेईमानी से कमाना नहीं छोड़ेगा।

---

१. यहाँ से आगे का लेख ग्रन्थकार ने मनुस्मृति के भाव को स्पष्ट करने के लिए लिखा है।

[व्यभिचारियों को कठोर दण्ड]

भर्तारं लंघयेद् या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥१॥
पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥२॥

[जलीय मार्गों पर कराधान]

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो[1] भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥३॥

[राजा के दैनिक काम]

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोषमेव च ॥४॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥५॥

—मनु० ८।३७१, ३७२, ४०६, ४१९, ४२०॥

जो स्त्री अपनी जातिगुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई को कुत्तों से राजा कटवाकर मरवा डाले ॥१॥

उसी प्रकार जो अपनी स्त्री को छोड़के पर-स्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलङ्ग को अग्नि से तपाके, लाल कर, उसपर सुलाके जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ॥२॥

[कामी राजा तथा न्यायाधीश भी दण्डित हों]

प्रश्न—जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा । और उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिए ।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा, भाग्यशाली मनुष्य है । जब उसी को दण्ड न दिया जाए, और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें, तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो, तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबोके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाएँ, अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि, 'न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है । जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?'

प्रश्न—यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा वा मरे हुए को जिलानेवाला नहीं है, इसलिए ऐसा दण्ड न देना चाहिए ।

१. तरः=तरकरः (=नौका-सम्बन्धी कर) ।

उत्तर—जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई-भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा और जो सुगम दण्ड दिया जाए, तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो, वह करोड़ों गुणा अधिक होने से करोड़ों गुणा कठिन होता है, क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे, तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी दिया तो बहुत देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड और दूसरे को पावभर, तो पावभर अधिक एक मन दण्ड होता है। तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा। तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो सवा छः मन मनुष्य जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा, तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

जो लम्बे मार्ग में, समुद्र की खाड़ियों वा नदी तथा बड़े नदों में, जितना लम्बा देश [और जैसा काल=ग्रीष्म, वर्षा आदि] हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता, किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलानेवाले दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे।

परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज़ नहीं चलते थे, वे झूठे हैं और देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तरों में नौका से जानेवाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दुःख न होने देवे ॥३॥

राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी, घोड़े आदि वाहनों को, नियत लाभ और खरच, 'आकर'=रत्नादिकों की खानें और 'कोष'=खजाने को देखा करे ॥४॥

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को यथावत् समाप्त करता-कराता हुआ सब पापों को छुड़ाके परमगति=मोक्षसुख को प्राप्त होता है ॥५॥

[अनुक्त विषयों में राजसभा नियम बनावे]

प्रश्न—संस्कृतविद्या में पूरी-पूरी राजनीति है, वा अधूरी?

उत्तर—पूरी है, क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी, वह सब संस्कृतविद्या से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिए—**'प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः'** मनु० ८।३। जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राजसभा बाँधा करे।

[बाल तथा बहुविवाह सर्वथा बन्द हों]

परन्तु इसपर नित्य ध्यान रक्खें कि जहाँ तक बन सके, वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना-कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना-कराना। व्यभिचार और बहु-विवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे, क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या-ज्ञान बढ़ाते जाएँ और शरीर का बल न बढ़ावें, तो एक ही बलवान् पुरुष सैकड़ों ज्ञानी और विद्वानों को जीत सकता है और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाए आत्मा का नहीं, तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट-टूट, विरोध, लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ, इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए।

[व्यभिचार और विषयासक्ति का त्याग]

जैसा बल और बुद्धि का नाशक-व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढ़ाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिए, क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे, तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जाएगा।

[जैसा राजा वैसी उसकी प्रजा]

और इसपर भी ध्यान रखना चाहिए कि **'यथा राजा तथा प्रजा'**[1] जैसे राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है, इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहाँ किया है। विशेष **वेद**, **मनुस्मृति** के सप्तम-अष्टम-नवम अध्याय में, और **शुक्रनीति** तथा **विदुरप्रजागर** और **महाभारत शान्तिपर्व** के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके **माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें** और यही समझें कि— **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** यह यजुर्वेद[2] का वचन है। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा, और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर=भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे, और हमारे हाथ से अपने सत्य-न्याय की प्रवृत्ति करावे।

अब आगे ईश्वर और वेद-विषय में लिखा जाएगा ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते राजधर्मविषये षष्ठः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥६॥

वयं प्रजापतेः— यह यजुर्वेद (१८।२६) का वचन है जिसमें 'वयम्' पद अध्याहृत है। साम्राज्यवाद के नाम से ही लोगों को घृणा है। वास्तव में उसका वर्त्तमान रूप इतना घिनौना है कि उससे घृणा हो जाना स्वाभाविक है। उसका काम निर्बल राष्ट्रों का शोषण और उत्पीड़न है, किन्तु ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी है। ऐसे साम्राज्य का सम्राट् अपने-आपको परमेश्वर का प्रतिनिधि न मानकर उसका 'किंकर या भृत्य' मानता है। गुरुगोविन्दसिंह के **'हम हैं परम पुरुष के दासा'** इन शब्दों में वही पवित्र भावना है। अपने को सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमेश्वर का नौकर माननेवाला क्या कभी अन्याय, अत्याचार, शोषण अथवा दमन करने का साहस कर सकता है ? वह तो अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए सदा उसकी सन्तान=प्रजा को सुखी करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। वास्तविक अर्थों को भूल जाने पर भी रुढ़ि के रूप में यह भावना हिन्दू राज्यों में 'राज्य के देवता' (जैसे उदयपुर में एकलिंग महादेव) के रूप में आज भी विद्यमान है।

---

१. चाणक्य नीतिदर्पण १३।८॥ (भार्गव पुस्तकालय, काशी)।

२. यजुः० १८।२६॥ 'वयं' पद अध्याहृत है।

अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

[अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः]

[ईश्वर के गुणों का वर्णन]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१॥

—ऋ० मं० १। सूक्त १६४ । मं० ३९ ॥

ऋचो अक्षरे—इस मन्त्र पर ग्रन्थकार का भाष्य—

(ऋचः) ऋग्वेदादेः (अक्षरे) नाशरहिते (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि व्यापके परमेश्वरे (यस्मिन्) (देवाः) पृथिवीसूर्यलोकादयः (अधि) (विश्वे) सर्वे (निषीदन्ति) (यः) (तत्) ब्रह्म (न वेद) न जानाति (किम्) ऋचा (वेदचतुष्टयेन) (करिष्यति) (ये) (इत्) एव (तत्) (विदुः) जानन्ति (ते) (इमे) (समासते) सम्यगासते ।

यह ऋचा अक्षर-ब्रह्म की है । यास्काचार्य ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

(ऋचः यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे) ऋग्वेदादि से प्रतिपादित जिस सर्वोत्कृष्ट ओम्-वाच्य ब्रह्म में **(विश्वे देवा अधिनिषेदुः)** सूर्य, चन्द्र आदि सब देव आधेयरूप से स्थित हैं, **(यः तत् न वेद)** जो उसे नहीं जानता **(ऋचा किं करिष्यति)** वह ऋग्वेदादि से क्या करेगा ? अर्थात् उसको वेदाध्ययन से क्या लाभ होगा ? **(ये तत् विदुः)** परन्तु जो उस अक्षर को जानते हैं **(ते इमे इत् समासते)** वे विद्वान् ऋग्वेदादि के द्वारा ओम् पदवाच्य ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

विद्वानों ने अक्षर के भिन्न-भिन्न तीन अर्थ माने हैं—

(१) शाकपूणि कहता है कि ओम् पदवाच्य ब्रह्म 'अक्षर' है । ऋग्वेदादि सब इसी सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक अक्षर में स्थित हैं और इसीलिए नाना देवतावाले सब मन्त्रों का वर्ण्य विषय यही 'अक्षर' है, अर्थात् ओम् पदवाच्य ब्रह्म ही चारों वेदों का प्रतिपाद्य है । अतएव अग्नि, वायु, आदित्य, अश्विनौ आदि सब देवताओं से एक वही अभिप्रेत है । ब्राह्मण में कहा है कि यह ओम् पदवाच्य ब्रह्म ही वह अक्षर है जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या का प्रतिनिधिरूप है ।

इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा है—**"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति.......................... तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्", एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।** —कठ० १५-१६

एवं अक्षर को ओम् पदवाच्य मानकर मन्त्रार्थ कर दिया गया ॥१०॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः । एषर्ग् भवति, यदेनमर्चन्ति । तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति । रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते, य एतस्मिन्नधिनिषण्णाः—इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते, यदनेनार्चन्ति । तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवति । इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते, यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानि—इत्यात्मप्रवादाः ॥११॥

(२) शाकपूणि का पुत्र 'अक्षर' का अर्थ आदित्य करता है । यह आदित्य ही ऋक् है, यतः इसकी पूजा करते हैं । इसी तरह 'ऋच्' धातु से आदित्यवाची 'अर्क' शब्द सिद्ध होता है । उस आदित्य का जो अवयवों से भिन्न सम्पूर्ण रूप है, वह 'अक्षर' है । एवं इससे विदित होता है कि प्रस्तुत मन्त्र में आदित्यावयव 'ऋक' हैं, और आदित्य 'अक्षर' है । इस पक्ष में 'देव' रश्मियाँ है । एवं मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

(**यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे**) जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक आदित्य में (**ऋचः विश्वे देवाः उपनिषेदुः**) सम्पूर्ण आदित्यावयव और सब रश्मियाँ अधिनिहित हैं, अर्थात् जिस आदित्य का प्रकाश तथा ताप आदि अपना है, और जिसमें चन्द्रादि लोकों की प्रकाशक किरणें विद्यमान हैं, (**यः तत् न वेद**) जो उस आदित्य के विज्ञान को नहीं जानता (**ऋचा किं करिष्यति**) वह आदित्यावयव से क्या करेगा ? अर्थात् वह सूर्य के प्रकाश और ताप आदि से कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता । (**ये तत् विदुः**) अपितु जो विद्वान् उस आदित्य को जानते हैं, (**ते इमे समासते**) वे रोग आदिकों से रहित होकर सम्यक्तया चिरकाल तक जीवित रहते हैं । यह मन्त्र का अधिदैवत अर्थ है ।

(३) अध्यात्म में अर्थ इस प्रकार होगा—जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक जीवात्मा में सब मनुष्य—शरीर और सब इन्द्रियाँ अधिनिहित हैं, जो उस आत्मा को नहीं जानता, वह इस शरीर को धारण करके क्या करेगा ? अर्थात्—ऐसे मूढ मनुष्य का शरीरधारण करना नितान्त निष्फल है, परन्तु जो इस आत्मा को जानते हैं वे जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र से छूटकर मोक्षलाभ करते हैं ।

इस पक्ष में मनुष्य शरीर 'ऋक्' कहलाता है, क्योंकि इसी के द्वारा परमेश्वर की उपासना की जा सकती है, अन्य किसी प्राणिशरीर से नहीं । उस शरीर का सम्बन्धी जो अविनाशी धर्मवाला है, वह 'अक्षर' है और इन्द्रियाँ 'देव' कहलाती हैं । यह पक्ष आत्मवादियों का है ॥११॥ **'अक्षरं न क्षरति क्षीयते वाऽक्षरं भवति ।'**

अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

"जो सब वेदों का परम प्रमेय पदार्थरूप और वेदों से प्रतिपाद्य ब्रह्म और जीव तथा कार्यकारणरूप जगत् है, इन सबका आधार अर्थात् ठहरने का स्थान आकाशवत् व्यापक परमात्मा और जीव तथा कार्यकारणरूप जगत् व्याप्य है, इसी से सब जीव आदि पदार्थ परमेश्वर में निवास करते हैं और जो वेदों को पढ़के इस प्रमेय को नहीं जानते वे वेदों से कुछ भी फल नहीं पाते और जो वेदों को पढ़के, जीव, कार्यकारणरूप जगत् और ब्रह्म को गुण-कर्म-स्वभाव से जानते हैं, वे सब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर आनन्द प्राप्त करते हैं ।"

प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु वेदप्रतिपाद्य ये सब देवता एक महादेव की ओर संकेत करती हैं । निरुक्तकार कहते हैं—

"**महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते**" (७।४)—अर्थात् देवता के अत्यन्त भाग्यशाली होने

से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है ? इसका उत्तर देते हुए निरुक्त के परिशिष्ट में कहा है—**"अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः तत्परं तद् ब्रह्म"**—अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। **'अग्निमीळे'** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख हुआ है। वेदाध्ययन का मुख्य प्रयोजन तो अन्ततः ईश्वर-प्राप्ति है। समस्त ऋचाएँ उसी परम सत्ता का अवबोध कराने के लिए हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भू० के 'प्रतिज्ञाविषय' में कहा है—**'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तत्यागो भवति'** —अर्थात् वेद के एक भी मन्त्र में उसके ईश्वरपरक अर्थ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। हमें वेदमन्त्रों के पास इस पवित्र भाव के साथ जाना चाहिए कि वे हमें उस 'अक्षर' ब्रह्म के पवित्र चरणों में पहुँचाने में सहायक होंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो वेद का पढ़ना व्यर्थ है। **'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** का यही अभिप्राय है।

एकेश्वरवाद—ईश्वर एक है—वह अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है। अथर्ववेद (१३।४) में इसकी स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव ॥ (१६-२०)

अर्थात्—न वह दूसरा है,न तीसरा, न चौथा, न पाँचवाँ, न छठा, न सातवाँ, न आठवाँ, न नवाँ और न दसवाँ—वह तो एक ही है, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य वह एक ही है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में उसके एक—अद्वितीय होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—**'न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते'** (ऋक्० ७।३२-३३) अर्थात् हे भगवन्! तुम जैसा न कोई दिव्य है और न पार्थिव है, न कोई हुआ है और न होगा।

परन्तु एक होने पर भी प्रकरणान्तर्गत उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसमें ऋग्वेद (१।१६४।४६) की साक्षी है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

एक अग्निरूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

यजुर्वेद ३२।१ भी इसमें प्रमाण है। वहाँ कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

वह पूर्णपुरुष ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।

ऐतरेयब्राह्मण (२।४१) के अनुसार भी **'चन्द्रमा वै ब्रह्म'** ब्रह्म का ही नाम चन्द्रमा है। मैत्रायण्युपनिषद् (६।८) में कहा है—

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

वह परमात्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त,

विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और इन्दु है।

'सूर्यशतनाम' में भी **'इन्द्रो विवस्वान्, दीप्तांशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः'** कहकर इन्द्र, विवस्वान् आदि पदों से एक परमात्मा का उल्लेख किया है।

कठोपनिषद् (५।८) के अनुसार **'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'** वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत कहाता है।

कैवल्योपनिषद् में भी आया है—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः (५।८)। वही ब्रह्मा है, वही विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, परम और स्वराट् है।

जैसे ऋग्वेद ने कहा —**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** वैसे ही विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१२३।१३) ने अन्त में कह दिया—**'सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः'** अर्थात्—ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

देव—ऋ०भा०भू० में 'वेदविषयविचार' के अन्तर्गत 'देव' शब्द का व्याख्यान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' (निरुक्त ७।१५)। दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामिपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामिपन को उत्पन्न करना। दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देनेवाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम देव है। (द्योतन) अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालन, *विद्या और* सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं। इसमें कठोपनिषद् का प्रमाण है कि—

'सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि ये सब परमेश्वर का प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु इन सबका प्रकाश करनेवाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है।' इसमें यह जानना चाहिए कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है।

यास्क के अनुसार **'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'**—ये सब देव उस एक परम सत्ता या तत्त्व के विविध अङ्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए अन्ततः एक ही परम सत्य का अवबोध कराते हैं। जिसमें जितना गुण है उसमें उतना ही देवत्व है। उन गुणों का उपयोग कर उनसे लाभ उठाना उनकी पूजा है, क्योंकि ये सब व्यवहारोपयोगी देवता हैं। उपास्यदेव तो केवल एक महादेव ही है जो अनेक शक्तियों के माध्यम से विविध रूप में इस लोक में व्याप्त है।

बहुदेवतावाद के सन्दर्भ में बृहदारण्यकोपनिषद् (३।६) के अन्तर्गत विदग्ध और याज्ञवल्क्य का संवाद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! संसार में देवता कितने मानने चाहिए ? याज्ञवल्क्य ने पहले तो कहा ३, फिर कहा ३०० और फिर कहा—३३०३। इसपर असन्तुष्ट होकर विदग्ध ने फिर पूछा। याज्ञवल्क्य ने कहा ३३। एक बार फिर पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने पहले कहा ६, फिर कहा ३, फिर कहा २। विदग्ध ने

अन्तिम बार प्रश्न किया तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—एक। तब विदग्ध ने सबके नाम पूछे। याज्ञवल्क्य ने बताया कि ३३०३ की बड़ी संख्या तो देवों की और महादेव की संख्या बढ़ाने के लिए कही जाती है—'महिमान एव एषाम्'। वास्तव में ईश्वर एक ही है। तब विदग्ध ने पूछा—'**कतम एको देवः**'? वह एक देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'**स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते**' वह ब्रह्म है और 'वह' कहकर उसका बोध होता है। उसी एक महादेव के लिए यास्काचार्य ने लिखा है—'**महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते**' और उसी के लिए वेद ने कहा—'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।**'

त्रयस्त्रिंशता०—तेंतीस देवताओं का संकेत करनेवाला यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्। —यजुः० १४।३१

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—(प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (परमेष्ठी) सर्वव्यापक परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) है। उसी के प्रभाव से (भूतानि) प्रकृति के परिणाम महत्तत्त्व के उपद्रव (अशाम्यन्) शान्त होते हैं। उस ईश्वर की महाभूतों के (त्रयस्त्रिंशता) तेंतीस गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो।

एतद्विषयक कुछ अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं—

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥ —ऋ० ८।२८।१

अर्थ—(त्रिंशति) तीस और उससे (परः) अधिक (त्रयः) तीन अर्थात् तेंतीस (ये देवासः) जो देव हैं वे (बर्हिः) मेरे अन्तःकरण में (आसदन्) आसीन हों। वे (द्विता) सत् और असत् दोनों प्रकार का ज्ञान (विदन्) प्राप्त करें और (अह) निश्चितरूप से (असनन्) सुख देनेवाले हों।

इस मन्त्र का सायणाचार्यकृत अर्थ कि—'ये तेंतीस देवता हमारे यज्ञ में आकर कुशासनों पर बैठ हमारी हवि स्वीकार करें आदि' सर्वथा असंगत तथा हास्यास्पद है। पृथिवी आदि जड़ देवता न हमारे दिये आसनों पर समा सकते हैं और न भोजन कर सकते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ —अथर्व० १०।७।२३,२७

अर्थ—(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) तेंतीस देवता (यस्य निधिम्) जिसकी निधि की (सर्वदा रक्षन्ति) सदा रक्षा करते हैं, (तम् निधिम्) उस निधि को (अद्य) आज तक (कः वेद) कोई नहीं जान सका (यम्) जिस निधि की (देवाः) हे देवो (अभिरक्षथ) तुम रक्षा करते हो।

[निधि=जगत्। इस जगत् के रहस्य को कोई नहीं जानता। अथवा निधि=वेद। इसके रहस्य को भी आज तक किसी ने नहीं जाना। यथा—'**निधिपाः**' वेदविद्या का रक्षक ब्रह्मचारी (निरुक्त २।२।३,४) ॥२३॥]

(यस्य अङ्गे) जिसके शरीर में (त्रयस्त्रिंशद् देवाः) तेंतीस देवता (गात्रा=गात्राणि) अवयव के समान (विभेजिरे) बँटे हुए हैं (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशद् देवान्) तेंतीस देवताओं को (एके) कोई-कोई (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी ही (विदुः) जानते हैं।

वेदों में अनेकत्र देवताओं की तेंतीस संख्या उपलब्ध है, परन्तु इनके नामों का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ और पं० आर्यमुनि ने अपने ऋग्वेदभाष्य में ऋग्वेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र

(८।२८।१) का अर्थ करते हुए लिखा है कि ''ये तेंतीस देव इन्द्रिय हैं—हस्त, पाद, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय और मुख ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और मन एकादश इन्द्रिय कहलाती है। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से ये तीन प्रकार के देव ही तेंतीस प्रकार के हैं। इनको वश में रखने व उचित कर्म में लगाने से ही मानव योगी, ऋषि, मुनि, कवि और विद्वान् होता है।''

यजुर्वेद के मन्त्र का व्याख्यान शतपथब्राह्मण (८।४।३।१६) में उपलब्ध है। वहाँ इन तेंतीस की गणना इस प्रकार की गयी है—**'त्रयस्त्रिंशतास्तुवत दशहस्त्यांगुलयो दशपाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशः'**। हाथ-पैरों की बीस अंगुलियों, दश प्राणों, दो प्रतिष्ठा (चरणों) और एक आत्मा से स्तुति करो। यही शरीर के मुख्य घटक हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के भी ३३ घटक कहे जाते हैं। शतपथ के इस भाष्य से यजुर्भाष्य में ग्रन्थकर्त्ता का अर्थ भिन्न होते हुए भी उनमें परस्पर विरोध नहीं है। **'अनेकार्थका हि मन्त्राः'**—एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ हो सकते हैं। किसी विषय में अनेकविध व्याख्यान विरोध नहीं कहलाता। आगे शतपथ में (१४।६।६) नामोल्लेखपूर्वक ३३ देवताओं की गिनती की है, जो ग्रन्थकार को सर्वथा मान्य है।

३३ देवताओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक बृहदारण्यकोपनिषद् का वह सन्दर्भ यह है—

''महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति ? अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, त एकत्रिंशत्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत् इति॥ कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च, एते वसवः। एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति, तस्माद् वसव इति॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति, अथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ कतम आदित्या इति ? द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, एते आदित्याः, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति। ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, यज्ञः प्रजापतिरिति॥''
अर्थात्—ये उनकी महत्ताप्रदर्शक हैं। देव तो तेंतीस ही हैं। (प्रश्न) वे तेंतीस कौन-से हैं ? (उत्तर) आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य— ये इकतीस, प्रजापति और इन्द्र मिलकर तेंतीस। (प्रश्न) वसु कौन से हैं ? (उत्तर) अग्नि, पृथिवी (पृथिवी का अर्थ जलसहित पृथिवी है, अतः 'पृथिवी' के आगे 'जल' न होकर 'द्यौ' होना चाहिए। इसी प्रकार 'आकाश' के स्थान में 'अन्तरिक्ष' होना चाहिए। हमने ऊपर मूल पाठ में वैसा ही कर दिया है। ऐसा बृहदारण्यक के उद्धृत सन्दर्भ के अनुकूल है, उसमें 'जल' और 'आकाश' नहीं हैं।] वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। यतः इनमें सब वसु, धन और वास रक्खा है, अतः ये वसु हैं। (प्रश्न)—रुद्र कौन हैं ? (उत्तर) —देह में ये दस प्राण और ग्याहरवाँ आत्मा। ये जब मरणधर्मा शरीर से निकलते हैं तो ये रुलाते हैं, यतः ये रुलाते हैं, अतः रुद्र कहाते हैं। (प्रश्न) —आदित्य कौन हैं ? (उत्तर) —संवत्सर के जो १२ मास हैं, वही आदित्य हैं। ये ही सबको ले-जाते हैं, यतः ये सबको ले-जाते हैं, अतः आदित्य कहाते हैं। (प्रश्न) —इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? (उत्तर)— बिजली इन्द्र है, प्रजापति यज्ञ है। यहाँ पृथिवी की भाँति अन्य लोक-लोकान्तरों में भी प्राणियों के बसने की बात कही गयी है, इसका विस्तृत विवेचन अष्टम समुल्लास के अन्त में किया गया है।

रुद्र=प्राण—शरीरगत प्राण बाह्य वायु के आहार से पुष्ट होकर ही जीवन का पोषक है। यदि इसे अपने उत्पादनकारणरूप बाह्य वायु का आहार न मिले तो यह अपने उपादान से मिलने के लिए बाहर

निकलने के लिए छटपटाने लगता है। प्राण जीवन का मूल आधार है और शरीर में इसके रहते ही भोग और अपवर्ग का सम्पादन सम्भव है। शरीर की सब चेष्टाएँ प्राण पर अवलम्बित हैं। सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों के सब व्यापार बन्द हो जाने पर भी प्राण अपना कार्य करता रहता है। सबके सो जाने पर भी वह जागता रहता है—**'ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार'** (अथर्व० ११।४।२५)। वायु की परिणत होती हुई एक अवस्था का नाम प्राण है। मानवशरीर में स्थानभेद से प्राण की दस विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है और स्थानभेदानुकूल ही वह कार्य करता है। प्राण की अपनी ये अवस्थाएँ ही **'पञ्चप्राण'** और उनकी भी परिणत अवस्थाएँ **'उपप्राण'** हैं। प्राण और उपप्राण ये सब मिलकर शरीर में जीवन का प्रसार करते रहते हैं। शरीरगत प्राण का उपादानकारण वायु महाभूत है। उसी के शरीर में प्राणभाव को प्राप्त होने पर शेषभूत उपादान के रूप में सहकारी बनते हैं। पञ्चप्राण के स्थानभेद के सम्बन्ध में कहा है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥

प्राण-अपान का वर्णन करते हुए वेद में लिखा है—

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ —अथर्व० ११।४।१३

प्राण और अपान इन दोनों को वेद में 'व्रीहि' और 'यव' नाम से पुकारा है और जीवनप्रद होने से प्राण की 'अनड्वान्' संज्ञा है। यव में प्राण स्थित हैं और अपान व्रीहि कहाता है। यवरूप प्राणशक्ति शरीर को बनाये रखती है और व्रीहिरूप अपान शक्ति उसे बढ़ाती व पुष्ट करती है।

शरीर में हृदयस्थ प्राण सर्वोपरि हैं। इसी के नेतृत्व में फुफ्फुस और हृदय ठीक-ठीक कार्य करते हैं कारणशरीर और आत्मा की संयुक्त शक्ति का यही मुख्य आधार है। इसके अभाव में स्थूल शरीर का अस्तित्व नहीं रह सकता, अतः इस देहरूपी नगरी में हृदयस्थ प्राणों का सबसे अधिक महत्त्व है।

प्राण द्वारा सम्पादित श्वसन क्रिया ही बालक को जीवित रखती है। इसी से शरीर में चेतना बनी रहती है। वही शरीर के अंग-प्रत्यंग की पूर्ण वृद्धि का कारण बनता है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंगों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों यह प्राण समस्त शरीर में विभिन्न कार्यों के अनुकूल विभक्त होता जाता है। शरीर में कार्यभेद से मुख्य प्राण ही दस प्रकार का हो जाता है। स्थानभेद और कार्यभेद से अपेक्षित क्रियाओं को करते हुए इसकी दस संज्ञाएँ हो जाती हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक इसमें जीवन बना रहता है। इसकी उपस्थिति में ही मांसल शरीर को जीवित माना जाता है। प्राण के अभाव में शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। साधारणतया बाहर से भीतर वायु लेने को प्राण तथा भीतर से वायु को बाहर निकालने को अपान समझा जाता है। इसके वितरीत ग्रन्थकार ने भीतर से वायु को बाहर निकालने को प्राण और बाहर से वायु को भीतर लेने को अपान माना है (देखें यजुर्भाष्य २२।२।२३; रा०ला०क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ०भा०भू० पृष्ठ ११७ तथा पत्रव्यवहार (द्वि०सं० पृष्ठ ६६)। प्राचीन शास्त्रों से अपिरिचित जन ग्रन्थकार के इन अर्थों को अशुद्ध मानते हैं। मैत्रायणी आरण्यक में स्पष्ट लिखा है—

'योऽयमूर्ध्वमाक्रामत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः' (२।६)। इसी अर्थ को सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेद (१८।२।४६) के भाष्य में माना है—**'मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः**

प्राणः अन्तर्गच्छन्नपानः' । यही प्राचीन वाङ्मयसम्मत है ।

अपानः—मानवशरीर में अपानवायु का स्थान नाभि से लेकर गुदापर्यन्त है । इसके सब कार्य प्रधानरूप से गुदापर्यन्त और गौणरूप से पादपर्यन्त होते हैं । उपस्थ और गुदा इन्द्रियाँ इसी अपान के आश्रित रहकर अपना कार्य करती हैं । गर्भस्थ बालक का पोषण भी इसी अपान प्राण के द्वारा होता है । गुर्दे भी इसी अपान के द्वारा अपना कार्य करते हैं । मल-मूत्र और रज-वीर्य का विसर्जन भी इसी के द्वारा होता है । कुण्डिलिनी शक्ति का निवास भी इसी अपान प्राण में है । अपान में पृथिवी तत्त्व मिला रहने से इसमें गुरुत्व धर्म आ जाता है । इसी कारण मल-मूत्र, रज-वीर्य तथा गर्भस्थ बालक का विसर्जन नीचे की ओर होता है ।

समान—नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचानेवाला समान प्राण है । इसका स्थान नाभिस्थ गर्त है । पाचनशक्ति के लिए यह परमावश्यक है । सभी खाद्य-पेय पदार्थों के सार को समान प्राण ही सब ग्रन्थियों में विभक्त करता है । ऊपर व नीचे के समान प्राण मिलकर सब प्रकार के जीवन का निर्माण व रक्षण करते हैं । इन्हीं के द्वारा सर्वत्र आहार पहुँचाया जाता है । समान प्राण अपने आश्रित ग्रन्थियों की सहायता से कई प्रकार के रसों का निर्माण कर शरीर को प्रदान करता है । अग्नि, जल, वायु आदि जिनका सेवन हम मुख, नासिका आदि से करते हैं, उन्हें ग्रहण करके सम्बन्धित ग्रन्थियों द्वारा उनका सारतत्त्व लेकर सम्पूर्ण शरीर में विभक्त कर देता है । यह यकृत् में क्षार का निर्माण करता है, आमाशय में खाद्य तथा पेय पदार्थों को मिलाकर पीसता और तरल बनाकर पक्वाशय में उनका परिपाक करता है और अन्ततः रस और मल के रूप में परिणत करके छोटी और बड़ी आँतों में बाँट देता है । यदि समान प्राण ठीक-ठीक कार्य न करे और आवश्यक आहार न मिले तो थोड़ी देर में मृत्यु हो जाना अवश्यम्भावी है ।

उदान—कण्ठ से आविर्भूत होकर सिर में प्रविष्ट होनेवाले प्राण का नाम उदान है । ग्रन्थकार के मत में कण्ठस्थ अन्न-पान इसी के द्वारा खींचा जाकर बल-पराक्रम बढ़ाने में सहायक होता है ।

स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः ॥

कण्ठ के माध्यम से जो कार्य होते हैं वे सब उदान के द्वारा ही होते हैं । सिर और वक्षस्थल से उदान का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि यह उनके कार्यों में सहायक रहता है । यह प्राण का उत्कर्षण करके श्वसन क्रिया कराता है । उदान के गमनागमन के अभाव में चेतन आत्मा भी निष्क्रिय हो जाता है । चेतना की अनुभूति इसी के द्वारा होती है । हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध भी यही बनाये रखता है । उपप्राणों को बल और नीचे के प्राणों को शक्ति भी यही प्रदान करता है । बाहर के पदार्थों को निगलने और अन्दर से धकेलकर बाहर फैंकने की शक्ति भी इसी में है । थूक को अन्दर ले जाना, बाहर दूर फैंकना, वमन करना, आमाशय से वमन को ऊपर ले जाना, प्राण को हृदय तक आकर्षित करना, हृदय से मस्तिष्क तक प्राण को ले-जाना, हृदय की ज्योति को मस्तिष्क में और मस्तिष्क की ज्योति को हृदय में ले-जाना—ये सब इसी के कार्य हैं । पाँचों उपप्राण इसी शक्ति से कार्य करते हैं । इसी के द्वारा शरीर में ज्योति का संचार होता है । इसपर अधिकार हो जाने से योगी को भूख, प्यास, निद्रा आदि नहीं सतातीं । स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरों का पारस्परिक सम्बन्ध यही स्थापित किये रहता है ।

व्यान—शरीर की रचना में सर्वप्रथम आकाश भूत सहकारी बनता है । आकाश से व्याप्त शरीर के सभी भागों में व्यानरूप प्राण समा जाता है और शरीरभर में सर्वत्र अपना कार्य सम्पादन करता है । समस्त

शरीर में व्याप्त होने से ही उसकी 'व्यान' संज्ञा है। शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव इसी के द्वारा करता है। यह ज्ञानवाहक, कर्म या गतिवाहक सूक्ष्म तन्तुओं या नाड़ियों को गति प्रदान करता है। प्राण के साथ मिलकर यह नाड़ियों में कम्पन, धड़कन, प्राण और रक्त का संचार करता रहता है। यह समस्त प्राणों-उपप्राणों के कार्यों में सहायक रहकर कार्य करता है। जब सूक्ष्म शरीर आकाश में गमन करता है तो व्यान ही उसे गति प्रदान करता है।

नाग—नाग उपप्राण का निवास मुख में है। उद्‌गार (डकार) और हिचकी पैदा करना इसका काम है। प्राण का मुख द्वारा निकलना ही उद्‌गार है। जब खान-पान ठीक रहता है और पाचनशक्ति सामान्य रहती है तब नाग प्राण की प्रधानता नहीं रहती। उस समय यह शान्त रहता है। आमाशय में खराबी हो जाने पर जब वायु या प्राण को वहाँ भ्रमण हेतु अपेक्षित स्थान नहीं मिलता तो वह बाहर निकलना चाहता है। उसके निकलने के दो ही द्वार हैं—मुख और गुदा। जो वायु मुख से निकलता है वह डकार और जो गुदा से निकलता है वह अपानवायु कहाता है। इस प्रकार उदरदोष के कारण यह विकराल रूप धारण करके उद्‌गार और हिचकी को उत्पन्न करता है। उदान प्राण के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। उद्‌गार और हिचकी के समय यह प्राण को कम्पायमान कर देता है। जब यह अधिक कुपित हो जाता है तब इसका विशेष प्रभाव हृदय से मस्तिष्क तक पड़ता है। उद्‌गार के समय यह नीचे से उदान को भी खींच लाता है और हिचकी के समय यह मनुष्य को परेशान कर देता है।

कूर्म—इस प्राण का निवास नेत्र में है। यह पलकों को खोलने और बन्द करने का कार्य करता है। इसके धर्म संकोच और विकास हैं। निमेषोन्मेष-काल में यह नेत्रों में संकोच और विकास करता रहता है। इसके ये स्वाभाविक धर्म नाग प्राण में देखने में आते हैं। अन्य प्राणों और उपप्राणों से यह निमेषोन्मेष का कर्म भिन्न प्रकार का है और विशेष भी है। त्राटक काल में ये धर्म विशेष प्रयत्न द्वारा प्रसुप्त-से हो जाते हैं और निद्रा, स्वप्न या समाधि की अवस्था में स्थगित रहते हैं। जाग्रदावस्था में ये अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं।

कृकल—कृकल उपप्राण का निवास कण्ठ में है। इसका मुख्य कार्य जम्भाई लाना है। यह आलस्य और प्रमाद को दूर करती है। कण्ठ और मुख का विस्तार करती है। कभी-कभी स्मरणमात्र से जम्भाई आने लगती है। कभी-कभी दूसरों को जम्भाई लेते देखकर भी। आलस्य और प्रमाद के समय विशेषरूप से जम्भाई आती है। कण्ठकूप में विशेष संयम द्वारा यथोचित अभ्यास करने से भूख-प्यास की निवृत्ति होती है। कृकल प्राण के प्रदेश में उदान प्राण का स्थान है। समाधि की अवस्था में जम्भाई का क्षोभ नहीं रहता। उदान के सहयोग से यह शान्त रहता है।

देवदत्त—यह नासिकास्थानीय है। इसका कार्य मुख्यतया छींक लाना है। छींक आने से मस्तिष्क हल्का हो जाता है। कण्ठ और मस्तिष्क का रेशा निकल जाता है और सुख अनुभव होता है, किन्तु इसकी अति परेशानी का कारण बन जाती है। देवदत्त प्राण श्वास-प्रश्वास की गति में सहायक होता है। धारणा, ध्यान और समाधि में विक्षेप नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को शुद्ध, पवित्र और हल्का बनाए रखता है।

धनञ्जय—यह सर्वदेहव्यापी है और क्षोभ पैदा करनेवाला है। चोट लगने पर सूजन हो जाना धनञ्जय उपप्राण का ही कार्य है। सर्वव्यापी होने से धनञ्जय त्वचा के साथ संयुक्त रहता है। शरीर के भीतर की मांसपेशियों की तथा नस-नाड़ियों में भी यह रहता है, क्योंकि इन सबपर स्पर्श की प्रतीति होती है और आधि-व्याधि या आघात से इनमें शोथ भी हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि धनञ्जय प्राण समूचे शरीर में व्याप्त

है। धनञ्जय के कारण शरीर में क्षोभ जीवनकाल में ही होता है। मृत्यु होते ही धनञ्जय समस्त प्राणों-उपप्राणों के साथ शरीर से निकल जाता है, अतः मृत शरीर में शोथ होना या उसका फूल जाना बाह्य वायु अथवा गर्मी के कारण हो सकता है। कौषीतकि उपनिषद् में स्पष्ट कहा है—**'सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः'** (कौ० ब्रा० उप० ३।४)। आत्मा और प्राणसमूह शरीर में साथ रहते और साथ ही उत्क्रमण करते हैं।

जब आत्मा शरीर से विदा होता है तो प्राण शरीर से उत्क्रमण करते हैं। हमारे शरीर में ७२ करोड़ ७२ लाख नाड़ियां हैं—**'हृदि ह्येषात्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रति शाखानाडीसहस्राणि भवन्ति'** (प्रश्न उप० ३।६) अर्थात् १०१X१००X७२०००=७२७२००००० । इन्हीं नाड़ियों से प्राण संचरण करते हैं। मरणवेला में जब प्राण इन नाड़ियों में से एक साथ निकलते हैं तो समूचे शरीर में एक विचित्र प्रकार का तनाव पैदा होता है। शरीर का एक-एक अंग-प्रत्यंग टूटने लगता है। ऐसे समय में असह्य वेदना का अनुभव होना अवश्यम्भावी है—मानों सहस्रों बिच्छू एकसाथ काट रहे हों। उस समय प्राणी भीतर-ही-भीतर रोता है। कभी-कभी आँसुओं की एक-दो बूँदें आँखों से निकलती भी देखी जाती हैं। जब मृत्यु के कारण घर-द्वार, धन-सम्पत्ति, बाल-बच्चे, सगे-सम्बन्धी यहाँ तक कि जन्म के साथी शरीर आदि सभी को एक साथ छोड़ना पड़ रहा हो तो मरणोन्मुख प्राणी के कष्ट की सहज ही कल्पना की जा सकती है। उस अवस्था में मनुष्य चिल्ला उठता है—**'प्राण ! मा मत् पर्यावृतः'** (अथर्व० ११।४।२६)—हे प्राण ! मुझसे दूर मत हो। जब किसी के घनिष्ठ मित्र, सम्बन्धी या सन्तान की मृत्यु होती है तो उसपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। तब सभी बुरी तरह रोते-बिलखते रह जाते हैं। जब एक के वियोग में सबकी यह हालत होती है तो सबके वियोग में एक की क्या हालत होती होगी ? यह मृत्यु-भय का क्लेश, न केवल मानव में अपितु कृमि-कीट-पतंग आदि क्षुद्र जन्तुओं तक में समानरूप से विद्यमान रहता है। जैसे ही किसी के सामने मृत्यु का संकट आता है, वैसे ही वह उससे बचने की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाता है। अतएव प्राणों तथा जीव की 'रुद्र' संज्ञा है—**'रुदिर् अश्रुविमोचने'** (धातुपाठ) **'रोदेर्णि लुक् च** (उणादि० २।२२) —**रुद्राश्च एकादश स्मृताः। पापिनो रोदयतीति ईश्वरः** (उणादि० २।२२ ग्रन्थकार)। ग्यारहवें रुद्र जीवात्मा पर इसी समुल्लास में आगे विचार किया है।

'आङ्' पूर्वक **'दा'** धातु से **'यक्'** प्रत्ययान्त **'आदित्य'** शब्द सिद्ध होता है। पाणिनि सूत्र ७।४।४६ से **'दद्'** आदेश होता है। निरुक्त २।१३ में आदित्य शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भवति।'** **'सूर्य अदितेः पुत्रः'**अदिति अर्थात् अविनाशी प्रकृति या ईश्वर का पुत्र कहाता है। सूर्योदय होने पर अन्य नक्षत्रों की ज्योतियाँ हरण कर ली जाती हैं। पृथिवी पर के रस आग्नेय प्रभाव से सूक्ष्म होकर रश्मियों के साथ रश्मिसंहार के समय आदित्यमण्डल में पहुँचते हैं। रश्मिसमूह ही **'हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति'** (ऋक् ० १।१६४।४७)—विशेष ऋतु में रश्मिविशेष द्यौः की ओर आपः के वसन पहने उड़ते हैं। सौराग्नि अपां गर्भ है। ग्रहों आदि के अपने-अपने रश्मि हैं। उन रश्मियों को दिन के समय आदित्य ले-जाता है। यह आदित्य चारों ओर से दीप्त है। आपः कण इसमें ताप और ज्योति की माया रचते रहते हैं। रश्मिचक्र में विभिन्न स्थितियों के कारण मास और ऋतु बनते हैं, जो क्रमशः स्थावर-जङ्गम सबकी आयु का ग्रहण करते जाते हैं।

शतपथ में प्रश्न है कि इन्द्र कौन है, प्रजापति कौन है—**'कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति'** ? उत्तर है—स्तनयित्नु ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है—**'स्तनयित्नुरेव इन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति'** । फिर प्रश्न हुआ—स्तनयित्नु कौन है—**'कतमः स्तनयित्नुः'** ? उत्तर मिला—बिजली—**'अशनिरिति'** । पुनः प्रश्न

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥२॥
—यजुः० अ० ४० । मं० १ ॥

हुआ-यज्ञ कौन है—**'कतमो यज्ञः'** ? उत्तर मिला—पशु यज्ञ है—**'पशव इति'** । इस प्रश्नोत्तर को ग्रन्थकार ने सरलरूप में लिया है । यज्ञ और पशु के प्रजापति होने में यह हेतु है कि ये प्रजा का पालन-पोषण करते हुए उसके योग-क्षेम में सहायक हैं । इस प्रकार गौणवृत्या (परम्परा से) पशुओं का भी प्रजापतित्व उपपन्न है, क्योंकि प्रजापति और पशु दोनों को यज्ञरूप माना है । **'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः'** में अवधारणार्थक 'एव' पद का पाठ होने से स्पष्ट है कि उसका अर्थ बिजली ही है ।

ऋ०भा०भू० में इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने लिखा है—"ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की 'यज्ञ' संज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है । ये सब मिलके अपने-अपने दिव्य गुणों से तेंतीस देव कहाते हैं ।"

स्वर्गस्थ किसी शरीरधारी देवता का यहाँ कोई प्रकरण नहीं है । वस्तुतः ग्रन्थकार ने देवता शब्द को केवल परमेश्वरवाचक नहीं माना है । इन्द्र शब्द का लगभग ७८ बार अर्थ किया है, किन्तु परमेश्वरपरक बहुत कम बार । अग्नि का अर्थ २५० बार किया है, जिसमें दो तिहाई अर्थ विज्ञानपरक हैं । इसी प्रकार वरुण के ३८ अर्थों में ईश्वरपरक अर्थ ५-७ बार से अधिक नहीं है । निःश्रेयस के साथ-साथ अभ्युदय का हेतु होने से वेद के आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ होना स्वाभाविक है ।

महाभारत (अनुशासनपर्व अध्याय १५०) में रुद्रों, आदित्यों एवं वसुओं के नाम इस प्रकार दिये हैं—**'अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः । ऋतश्च पितृरूपश्च त्रयम्बकश्च महेश्वरः ॥१२॥ वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा । एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥१३॥ अंशोभगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः । तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा ॥१४॥ त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥१५ पू०॥ धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोऽथानिलोऽनलः ॥१६ उ०॥ प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥१७ पू०॥** अर्थात्—एकपाद, अज, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, ऋत, पितृरूप, त्रयम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हवन और ईश्वर ये ग्यारह संसार में लोकेश्वर प्रसिद्ध हैं । अंश, भग, मित्र, जलेश्वर, वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवाँ विष्णु आदित्य है । धर, ध्रुव, सोम, सावित्री, वायु, अग्नि, प्रत्यूष तथा प्रभास ये आठ वसु कहे जाते हैं । वसु आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना बहुत पीछे की है । प्रमाणरूप में प्रायः बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन ही मान्य है ।

ईशावास्यम्—(जगत्याम्) नित्य परिवर्त्तनशील जगत् में (यत्किञ्च) जो कुछ भी (जगत्) चराचर वस्तु है (इदं सर्वम्) प्रकृति से पृथिवीपर्यन्त सब (ईशा) सर्वशक्तिमान् ईश्वर से (वास्यम्) अच्छादित एवं व्याप्त है । (तेन) इसलिए (त्यक्तेन) त्यागभाव से (भुञ्जीथाः) पदार्थों का उपभोग करो । (मा गृधः) लोभ मत करो । (धनं) धन, (कस्यस्वित्) सोचो, किसका है ? अथवा किसी (कस्य=कस्यापि) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लोभ मत करो ।

अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र (४०।१) का भाष्य करते हुए उसके भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥३॥
—ऋ० मं० १०। सू० ४८ । मं० १ ॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥४॥
—ऋ० मं० १० । सू० ४८ । मं० ५ ॥

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥५॥
—ऋ० मं० १०। सू० ४९। मं० १॥

(ऋचो अक्षरे०) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं, अर्थात् जो सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-विद्यायुक्त और जिसमें पृथिवी, सूर्य्यादि लोक स्थित हैं, और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और उसका ध्यान नहीं करते, वे नास्तिक, मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं, इसलिए सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं ।

जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हमको सदा सब ओर से देखता है, यह जगत् ईश्वर से व्याप्त और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है, इस प्रकार व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके अन्याय के आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं किया चाहते वे धर्मात्मा होकर इस लोक में सुख और परलोक में मुक्तिरूपी सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें ।

अहं भुवम्—(अहम्) मैं परमात्मा (वसुनः) मुक्तों के नितान्त वासस्थान मोक्ष का (पूर्व्यः) पुरातन (पतिः) स्वामी हूँ (अहम्) मैं ही (धनानि) लौकिक धनों को (शाश्वतः) बहुतेरे जीवगणों को उनकी तृप्ति के लिए (संजयामि) संरक्षित रखता हूँ । (जन्तवः) मनुष्यादि प्राणी [जीवाः=मनुष्याः (**मनुष्या वै जन्तवः**—शत० ६।३।१।३२)] (माम्) मुझको (पितरं न) पिता के समान (हवन्ते) पुकारते हैं—आमन्त्रित करते हैं (अहम्) मैं (दाशुषे) दानशील=अन्यों को देनेवाले के लिए अथवा आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए (भोजनं विभजामि) समस्त ऐश्वर्य व मोक्षसुख प्रदान करता हूँ ।

अहमिन्द्रः—(अहम्) मैं (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् हूँ (न पराजिग्ये) कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता (इद्धनं न) मेरे पास अध्यात्मधन की कभी कमी नहीं होती (न कदाचन मृत्यवे अवतस्थे) मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता । (सुन्वन्तः) धनादि लौकिक ऐश्वर्य सुख तथा उपासनारस का निष्पादन करते हुए तुम (वसु) विज्ञानादि धन को (मा सोममित्) मुझसे माँगो । (पूरवः) हे मनुष्यो—**'पूरवः मनुष्यनाम** (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मित्रता में तुम कभी हिंसित नहीं हो सकते—दुःखी नहीं हो सकते ।

ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—

ऐश्वर्यवान् परमात्मा के यहाँ अध्यात्मधन की कमी नहीं होती, क्योंकि वह अमर है, इसलिए उसका अध्यात्म ऐश्वर्य भी अमर है । उपासनारस समर्पित करनेवाले उस धन की याचना करें और उसकी मित्रता के लिए यत्न करें तो कभी निराश नहीं होंगे ।

अहं दां गृणते—(अहम्) मैं (गृणते) स्तुति करनेवाले को (पूर्व्यं वसुं दाम्) सनातन ऐश्वर्य और निवास

[क्या वेद में अनेक ईश्वर कहे हैं ?]

प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो वा नहीं ?

उत्तर—नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है ।

['देवता' का अभिप्राय, और ३३ देवों की गणना]

प्रश्न—वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—**'देवता'** दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं, जैसीकि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है । देखो इसी मन्त्र में कि—'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है ।' यह उनकी भूल है जो 'देवता' शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं । परमेश्वर देवों का देव होने से **'महादेव'** इसीलिए कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है ।

जो **'त्रयस्त्रिंशता'** इत्यादि वेदों में प्रमाण हैं, इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि—**'तेंतीस देव'** अर्थात् पृथिवी, द्यौ, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से ये **आठ वसु** । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये **'ग्यारह रुद्र'** इसलिए कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं, तब रोदन करानेवाले होते हैं । संवत्सर के बारह महीने **'बारह आदित्य'** इसलिए हैं कि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं । बिजली का नाम **'इन्द्र'** इस हेतु से है कि [वह] परम ऐश्वर्य का हेतु है । यज्ञ को **'प्रजापति'** कहने का कारण यह है कि जिससे वायु, वृष्टि, जल, ओषधी[1] की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है ।

ये तेंतीस पदार्थ पूर्वोक्त गुणों के योग से **'देव'** कहाते हैं । इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवाँ उपास्य देव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है । जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते ?॥१॥

हे मनुष्य! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सबमें व्याप्त होकर जो उसका नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है । उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर । उस अन्याय के त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग ॥२॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि—हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति

के योग्य लोक, मोक्ष या ज्ञान प्रदान करता हूँ । (अहं ब्रह्म कृणवम्) मैं परम ब्रह्मज्ञान, वेद और इस महान् जगत् को उत्पन्न करता हूँ । (मह्यं वर्धनम्) यह समस्त वेद मेरी ही महिमा वा वृद्धि करनेवाला है । (अहं यजमानस्य चोदिता) मैं ही यज्ञ, दान और सत्संग करनेवाले को सन्मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला हूँ । मैं (विश्वस्मिन् भरे) समस्त युद्ध में (अयज्वनः) न देनेवाले अयज्ञशील जनों को (साक्षि) अभिभूत-दण्डित करता हूँ ।

---

१. 'कृदिकारादक्तिनः' इस गणसूत्र (द्र०—४।१।४५) से ङीष् प्रत्यय भी होता है ।

हूँ। मैं सनातन, जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूँ। मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सबको सुख देनेहारे जगत् के लिए नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिए करता हूँ ॥३॥

मैं परमैश्वर्य्यवान्, सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूँ। कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता, और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूँ। मैं ही जगद्-रूप धन का निर्माता हूँ। जब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले मुझ ही को जानो। हे जीवो! ऐश्वर्यप्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझसे माँगो, और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ ॥४॥

हे मनुष्यो! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूँ। मैं 'ब्रह्म' अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा, और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे मैं सबके ज्ञान को बढ़ाता, मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता, और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य का बनाने और धारण करनेवाला हूँ, इसलिए तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो ॥५॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

—यह यजुर्वेद (१३।४) का मन्त्र है।

हे मनुष्यो! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान, आधार, और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा उसका स्वामी था, है और होगा, वह पृथ्वी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सृष्टि को बनाके धारण कर रहा है। उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति करनेवाला शाश्वत सुख=मोक्ष को प्राप्त करता है। वेद परमात्मा के गुणों का वर्णन करता है। नास्तिक जन जीवन में सुख से वंचित रहते हैं।

हिरण्यगर्भ—इस मन्त्र में आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—'प्रकृति को अपने गर्भ में धारण करनेवाला। प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है। व्यवहार में न होने के कारण सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्त दशा में अदृश्य रहती है। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म अकेला नहीं, प्रकृति के साथ रहता है, किन्तु उसे अपने भीतर समेटे हुए। यदि उस समय प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में कहाँ से आजाती? उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में पृथिवी, द्यौ आदि को धारण कर रक्खा है। प्रलयकाल में जो अव्यक्त रहता है, सर्गकाल में वह नामरूपात्मक होकर व्यक्त हो जाता है—'**नासतो विद्यते भावः**'—अभाव से भावरूप नहीं होता। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सृष्टि का उत्पत्तिकर्त्ता परमेश्वर एक ही है—'**पतिरेक आसीत्**।'

ईश्वरसिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण—

प्रत्यक्ष का स्वरूप—सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है। परमेश्वर इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। तब उसे प्रत्यक्षप्रमाण से कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अनुमान के दो प्रसिद्ध भेद हैं—

१. **पूर्ववत्**—जब कार्योन्मुख कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है तो वह पूर्ववत् अनुमान

[ईश्वर-सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण]

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ।

उत्तर —**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥**

—यह गौतममहर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र (१।१।४) है ।

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो ।

होता है । जैसे बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान । कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए उसे पूर्ववत् कहते हैं । यहाँ 'बादल' (कारण) पहले और 'वर्षा' (कार्य) बाद में है ।

२. **शेषवत् अनुमान**—कार्य को देखकर कारण का अनुमान होना 'शेषवत्' अनुमान होता है, जैसे वर्षा को देखकर बादलों का, पुत्र को देखकर पिता का, धुएँ को देखकर अग्नि का और इसी प्रकार वाटिका को देखकर माली का अनुमान । पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है । ईश्वरसिद्धि में शेषवत् अनुमान का प्रयोग होता है ।

न्यादर्शन के अगले (१।१।५) सूत्र में कहा है—**'अथ तत् (प्रत्यक्ष) पूर्वकमनुमानम्'** अर्थात्—प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है । इससे स्पष्ट है कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसका न अनुमान हो सकता है और न उपमान ।

अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । यहाँ सबसे पहले 'प्रत्यक्ष' (Perception) के स्वरूप को ठीक-ठीक जानना आवश्यक है । जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को उसका प्रत्यक्ष होना माना जाता है । वस्तुतः इन्द्रियों द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं । इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ (Sensations) होती हैं, जैसे जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियाँ होती हैं । अलग-अलग होनेवाली अनुभूतियाँ केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की सूचनामात्र हैं । मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जानेपर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है । इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं । इससे स्पष्ट है कि किसी विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उसके गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं । गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध या अविनाभाव होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है । मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

'अनुमान' का शब्दार्थ है—**'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'** । अर्थात्—जिसका कोई एक देश अथवा 'सम्पूर्ण द्रव्य किसी काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, कालान्तर में उसके एक देश या अवयव का प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी या अवयवी का ज्ञान होजाने को अनुमान कहते हैं । **'क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वात् घटादिवत्'** । हमने कुम्भकार द्वारा घड़ा बनाया जाता देखा है । हमने यह भी देखा है कि मिट्टी के होते हुए भी कुम्भकार के बिना घड़ा नहीं बनता । कालान्तर में जब भी हम घड़ा

अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं[1]। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा-ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा, तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।

देखते हैं तो उसके बनानेवाले किसी-न-किसी कुम्भकार का अनुमान कर लेते हैं और क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान सम्भव नहीं, इसलिए घड़े को देखने से कुम्भकार का प्रत्यक्ष हो जाता है।

जिस प्रकार भौतिक जगत् में गुणों को देखकर गुणी का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार ईश्वर के लिंगों को देखकर लिंगी का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि की विशालता, सुव्यवस्था, कार्य-कारण-शृंखला, नियमबद्धता, प्रयोजनवत्ता आदि को प्रत्यक्ष देखकर उसके रचयिता या नियामक परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि के रचयिता तथा व्यवस्था की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बग़ीचे की शोभा तथा उसके सौन्दर्य की सराहना करना, परन्तु माली की सत्ता को स्वीकार न करना। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से किसी नियम का ज्यों ही वैज्ञानिकों को पता चलता है, त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—'मैं तो पहले से विद्यमान था, मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो मुझे बस खोज निकाला है। इससे तुम्हें अपनी अज्ञता या अल्पज्ञता का एक और प्रमाण मिल गया है।''

उपमान—**'उपमीयते येन तदुपमानम्'**। प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने के साधन को 'उपमान' कहते हैं। साधर्म्य=सादृश्य के बिना उपमान नहीं हो सकता। ईश्वर अद्वितीय है—उसके सदृश अन्य कोई नहीं, अतः ईश्वर की सिद्धि में उपमान प्रमाण नहीं घटता। प्रथम संस्करण में लिखा है—'उपमान प्रमाण तो परमेश्वर में नहीं हो सकता, क्योंकि परमेश्वर के सदृश कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा परमेश्वर में हो सके, परन्तु परमेश्वर की उपमा परमेश्वर में ही हो सकती है। ऐसा जगत् में व्यवहार देखने में आता है कि आपके तुल्य आप ही हैं। वैसे हम लोग भी कह सकते हैं कि परमेश्वर के तुल्य परमेश्वर ही है, और कोई नहीं।''

सृष्टि के रहस्यों को जानने में मनुष्य की असमर्थता का उल्लेख करते हुए आधुनिक युग के सबसे बड़े वैज्ञानिक प्रो० आइंस्टीन ने अपने समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक (Max Plank) की पुस्तक 'Where is Science going?' की भूमिका में लिखा है—

"The supreme task of the physicist is the discovery of the most general elementary laws from which the world picture can be logically deduced. But there is no logical way to the discovery of these elementary laws. There is only the way of intuition."

अर्थात्—'भौतिकविज्ञानी का मुख्य कार्य उन मूलभूत सिद्धान्तों की खोज करना है जिनसे सृष्टिरचना

---

१. नैयायिकों में दो मत हैं। एक केवल गुण का प्रत्यक्ष मानते हैं, और दूसरे गुण-गुणी दोनों का। ग्रन्थकार ने प्रथम पक्ष का आश्रयण किया है।

का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके, किन्तु उन नियमों को जानने के लिए कोई तर्कशास्त्रीय उपाय नहीं है, अन्तःप्रेरणा (intuition) के द्वारा ही उन्हें जाना जा सकता है।' भारत के मनीषियों ने यह ज्ञान अन्तःप्रेरणा (आत्मसाक्षात्कार) के द्वारा ही जाना था।

ईश्वरसिद्धि में ग्रन्थकार ने यहाँ दूसरी युक्ति दी है—ज्ञानादि गुणों का प्रत्यक्ष होना। मानवबुद्धि जड़ होने से किसी अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आरम्भ में गुरु से ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है। समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज (जिसमें उसके माता-पिता आदि भी सम्मिलित हैं) से ज्ञान ग्रहण करता है। यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चलता है कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानवसमाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। प्रकृति के सिवा उस मानवशिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता ने अपने माता-पिता से और उन्होंने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदि में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों के द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार आज संसार में जितना भी ज्ञान है, उस सबका आदिमूल परमेश्वर है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में उसे **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहा है।

ईश्वरीय प्रेरणा—ईश्वरसिद्धि में तीसरी युक्ति धर्माधर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति की प्रेरणा है। जो आचरण किया जा रहा है, वह अच्छा है या बुरा, कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य—ऐसे विवेचनापूर्ण तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई ऐसा मार्गदर्शक बैठा है जो भले-बुरे का ज्ञान कराता रहता है। यह मार्गदर्शक हृदयस्थ परमात्मा है—**'एष प्रजापतिर्यद् ब्रह्म'** (बृहद० ५।३।१)। यह दूसरी बात है कि हम अपने मार्गदर्शक के संकेत को समझें या न समझें और समझकर भी उसे मानें या न मानें। घड़ी तो टिक-टिक करती रहती है। यह हो सकता है कि उसके आस-पास शोर होने पर वह हमें सुनाई न दे। तब भी, यदि पास आकर और कान लगाकर सुनने का प्रयत्न किया जाए तो वह सुनाई दे जाती है। विषय-वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में 'हृदय की पुकार' या 'अन्तरात्मा की आवाज़' कहानेवाली हृदयस्थित आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम सुन नहीं पाते, पर इसमें सन्देह नहीं कि बुरी-से-बुरी अवस्था में भी और कभी उसपर ध्यान न देनेवाला व्यक्ति भी यदि चाहे तो अपने भीतर कान लगाकर उस आवाज़ को सुन सकता है। बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी दुष्कर्म करते समय भय, शंका और लज्जा का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। डॉ० राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में कहा है—

The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts. —Hindu View of Life.

अर्थात्—बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है, जिसकी वह उपेक्षा भले ही करदे, किन्तु उसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें सँभालता है और हमारे अँधेरे तथा विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता।

मनुष्य का मन तो पानी की तरह सदा नीचे की ओर, पतन की ओर जाने के लिए तैयार रहता है। जीवात्मा तो इस विषय में तटस्थ रहता है, प्रायः मन के पीछे-पीछे चलता है। तब यह उत्थान की ओर बढ़ने की प्रेरणा उसमें कहाँ से आती है? निश्चय ही यह ईश्वरीय प्रेरणा से होता है। परम दार्शनिक,वैयाकरण, साहित्यकार तथा योगी भर्तृहरि ने ईश्वरसिद्धि में जिसे अकाट्य प्रमाण माना है वह है—**'स्वानुभूत्येकमानाय'**—अर्थात् ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपनी अनुभूति है। यही अनुभूति महापुरुषों को विपरीत परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती है।

धर्माधर्म को परखने की इस कसौटी का प्रयोग अपने समय में हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यास 'काजर की कोठरी' में एक संवाद के माध्यम से इस प्रकार किया है—

सरला—'अगर मैं कोई शास्त्र नहीं भी पढ़ी तो भी शास्त्र के असल मर्म को अपनी माता की कृपा से अच्छी तरह समझती हूँ। उसने मुझे एक ऐसा लटका बता दिया है जिससे धर्मशास्त्र का रहस्य मालूम हो गया है। उसने मुझे कहा था कि बेटी! जो बात चित्त को बुरी मालूम हो या जिस बात के ध्यान से दिल में ज़रा भी झटका हो अथवा जिस बात से लज्जा का कुछ भी सम्बन्ध हो अर्थात् जिसके कहने में लज्जित होना पड़े, उसके विषय में समझ रक्खो कि शास्त्र में कहीं-न-कहीं उसकी मनाही ज़रूर लिखी होगी।'

परमात्मा की सिद्धि में एक अतिरिक्त हेतु है—कर्मफलभोग। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग प्रत्यक्ष है। जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। कर्म तो यह भी नहीं पहचानते कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध होजाने से कर्मसंकर हो जाएगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। अराजकता की ऐसी स्थिति में **'कृतहानि'** (करनेवालों को फल न मिलना) और **'अकृताभ्यागम'** (न करनेवाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी।

अल्पज्ञ होने से जीव अपने कर्मों को यथावत् नहीं जान सकता और अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना भी उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो फलोपभोग के लिए अपेक्षित है। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है, जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तथा विभिन्न योनियों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है, न जगत् का विषयनिष्ठ पक्ष है और न कर्म के विधान की क्रिया है। जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथिवी अनेक प्रकार के कर्मों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है और किस तरह यह शरीर कार्य करता है, जिसमें अन्दर-बाहर भिन्न-भिन्न भागों की उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है और जिसका निर्माण

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य्य को देखके कारण का अनुमान होता है।

[ईश्वर का व्यापकत्व]

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है, वा किसी देश-विशेष में रहता है ?

उत्तर—व्यापक है, क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता सबका स्रष्टा सबका धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का होना असम्भव है।

भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है, जिससे यह विविध कर्मों के फलोपभोग का उचित साधन बन सके, तो यह कैसे माना जा सकता है कि यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना सम्भव है ?

यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीरधारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में और मनुष्ययोनि में भी किसी दरिद्र के यहाँ जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई भी नहीं भोगना चाहता, यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी। जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योगसूत्र) कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप इस सृष्टि की रचना ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीव-विशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं—जन्म-मरण, वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं जा बैठेगा—**'न कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति'** (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।२१)।

Cp. Descartes :—"If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea." —Meditation, p. 3.

'दोनों का प्रत्यक्ष'—यहाँ दोनों से 'स्व-आत्मा' और 'परम-आत्मा' अभिप्रेत हैं। कार्य को देखकर कारण का शेषवत् अनुमान होता है।

ईश्वर सर्वव्यापक है—परब्रह्म परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। उसके लिए अनेक स्थलों पर **'सर्वव्यापी'** तथा **'सर्वगत'** पदों का प्रयोग हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१६) में कहा गया है कि **'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्'** परमात्मा दूध में घी की भाँति अदृष्टरूप में सृष्टि में समाया है। यजुर्वेद (३२।८) में बताया है—**'स ओतःप्रोतश्च विभूः प्रजासु'** वह परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब प्रजाओं में ओत-प्रोत है। ऋग्वेद (१०।६०।१) के अनुसार **'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्'** वह पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को सब ओर से घेरे हुए है। **'वस्'** धातु का **'वसने'** तथा **'आच्छादने'** दो अर्थों में प्रयोग होता है। इन दोनें अर्थों को व्यक्त करते हुए यजुर्वेद (४०।५) में कहा है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** वह परमात्मा सब पदार्थों के भीतर भी विद्यमान है और बाहर भी। गीता में भी उसे **'बहिरन्तश्च भूतानाम्'** बताया है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।६) में **'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्'** अत्यन्त सूक्ष्म, विभु और नित्य कहा है।

सर फ्रांसिस यंग हसबैण्ड (Sir Francis Young Husband) **के अनुसार—**

'The Universe is a living universe, dominated by the power of the holy spirit whose body is the universe we see with our eyes.' अर्थात् यह सृष्टि एक पवित्र आत्मा की शक्ति द्वारा नियन्त्रित जीती-जागती सृष्टि है। यह जगत् परमेश्वर का शरीर है, जिसे हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।

यत्किञ्च जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखाई या सुनाई दे रहा है, वह सभी परमात्मा से व्याप्त है। वस्तुतः जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु में आकाश है, उसी प्रकार ईश्वर वस्तुमात्र में व्याप्त है। मुण्डक २।२।११ में कहा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

अर्थात्—यह सब ब्रह्म ही है—आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दायें, बायें, नीचे, ऊपर सर्वत्र ब्रह्म ही फैला हुआ है। ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है—**'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है'**।

यजुर्वेद ४०।८ में परमेश्वर को सब ओर गया हुआ—पहुँचा हुआ कहा है। **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'**—उस परमेश्वर के सहस्रों (सहस्रमसंख्यानि) सिर, सहस्रों आँखें और सहस्रों पैर हैं। (ऋक्० १०।९०।१; यजुः० ३१।१; साम० ६१७; अथर्व० १९।६।१; श्वेत० ३।१४; तै०आ० ३।१२।१) एतदनुसार ही श्वेत० ३।३ में कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥

अर्थात् सब ओर उसकी आँखें हैं, सब ओर मुख हैं और सब ओर बाहु हैं। वह एक ईश्वर अपनी बाहुओं और पंखों से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को सँभाले हुए है।

'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (कठ० २।२।८) सब लोक-लोकान्तर उसी में प्रतिष्ठित हैं—आश्रित हैं, कोई भी उसे लाँघकर बाहर नहीं जा सकता।

इन और ऐसे ही अन्य अनेक प्रमाणों से ईश्वर की सर्वव्यापकता सिद्ध है। यजुर्वेद ४०।४ में काव्यात्मकरूप में परमात्मा की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा है—**'अनेजत्'** परमात्मा हिलता नहीं, गति नहीं करता। गति का अर्थ है देश, काल अथवा कारणत्व में परिवर्तन। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा देश, काल व कारणत्व के बन्धन से परे सर्वथा निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है, अतः उसमें गति सम्भव नहीं। गति का सिद्धान्त है—'A thing does not move where it is; it cannot move where it is not; it moves from where it is to where it is not. अर्थात्—कोई वस्तु न वहाँ गति करती है जहाँ वह होती है और न वहाँ जहाँ वह नहीं होती। जहाँ कोई वस्तु होती है वहाँ से जहाँ वह नहीं होती वहाँ को गति करती है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—**'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्'** (७।२५।१)। अर्थात् वह परमात्मा नीचे है, ऊपर है, आगे है, पीछे है, दक्षिण में है, उत्तर में है—वही सर्वत्र है। परमात्मा गति इसलिए नहीं करता कि कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। दूसरे शब्दों में, कोई स्थान उससे ख़ाली नहीं, इसलिए उसके हिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। **'अधजल गगरी छलकत जाय'**

इस लोकोक्ति में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। बोरी में अनाज भरते समय उसे बार-बार हिलाकर भरते हैं। जब हिलाने पर भीतर से नहीं हिलती तो समझ लिया जाता है कि वह पूरी तरह भर गयी है, अब उसमें ख़ाली जगह न रहने से और अनाज नहीं डाला जा सकता।

परमेश्वर अनादिकाल से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य करता आ रहा है। यह सब उसकी सर्वव्यापकता के कारण है। एकदेश में अवस्थित होनेपर उसका सम्बन्ध समस्त संसार के साथ न रह सकेगा। विश्व के संचालन और नियन्त्रण के लिए उसका सर्वदेशी होना आवश्यक है। उसके बिना वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को ठीक-ठीक करने में असमर्थ हो जाएगा, क्योंकि जहाँ कर्त्ता स्वयं विद्यमान नहीं होता वहाँ उसकी क्रिया नहीं होती। एकदेशी होने पर सारे ब्रह्माण्ड की रचना तो क्या, उसका ज्ञान भी असम्भव हो जाएगा। ईश्वर को एकदेशी माननेवालों को क्षीरसागर में वास करनेवाले भगवान् विष्णु के सहायक के रूप में चतुर्मुख ब्रह्मा और कैलासवासी शिव की कल्पना करनी पड़ी। जब इतने से काम न चला तो छोटे-बड़े अनेक सहायकों (मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री, आयुक्त, निदेशक आदि) को नियुक्त करना पड़ा। विशेषसंवाददाता, जनसम्पर्क अधिकारी अथवा सूचना एवं प्रसारणमन्त्री के रूप में नारद, शिक्षामन्त्री के रूप में सरस्वती, प्रधान न्यायाधीश के रूप में यमराज, सिंचाई व बिजली आदि के लिए इन्द्र, गुप्तचर विभाग के निदेशक के रूप में वरुण, जेलविभाग के प्रमुख के रूप में रुद्र, वित्तमन्त्री के रूप में कुबेर और कोषाध्यक्ष के रूप में लक्ष्मी, प्रधान सेनापति के पद पर कार्त्तिकेय आदि को भिन्न-भिन्न कार्य सौंपने पड़े। इसी प्रकार ख़ुदा को चौथे और सातवें आसमान पर माननेवाले मुसलमानों और ईसाइयों को फ़रिश्तों की सृष्टि करनी पड़ी। जो सर्वव्यापी नहीं, वह न सर्वज्ञ हो सकता है और न सर्वशक्तिमान् और जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् नहीं, वह स्वतः सृष्टिसम्बन्धी कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। दूसरों की सहायता से होनेवाले कार्य पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकते।

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि जब परमात्मा भीतर-बाहर (**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**) और दूर-पास (**तद्दूरे तद्वन्तिके**) सर्वत्र विद्यमान है तो कोई उसे जहाँ चाहे मिल सकता है। सर्वत्र व्याप्त होने से परमेश्वर मूर्त्ति में भी तो है फिर मूर्त्तिपूजा में विद्यमान परमेश्वर की पूजा में क्या आपत्ति है ? आपाततः ठीक प्रतीत होनेपर भी यह बात वैसी नहीं है। दो सत्ताओं का मेल वहीं सम्भव है जहाँ दोनों विद्यमान हों। सैकड़ों मील दौड़नेवाली रेलगाड़ी में जहाँ चाहे नहीं बैठा जा सकता। गाड़ी में बैठने के लिए स्टेशन पर जाना पड़ता है, क्योंकि वही ऐसा स्थान है जहाँ गाड़ी भी खड़ी होती है और सवारियाँ भी। सर्वव्यापक होने से परमात्मा तो सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु एकदेशी होने से जीवात्मा सर्वत्र विद्यमान नहीं है। जहाँ परमात्मा और जीवात्मा दोनों विद्यमान हों ऐसा एकमात्र स्थान मनुष्य का हृदय है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** तथा **'हृदि ह्येष आत्मा'**, अतः परमात्मा के सर्वव्यापक होनेपर भी जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार वहीं हो सकता है।

जिस प्रकार अपना काम करने के लिए परमेश्वर के लिए उसका सर्वव्यापक होना अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवात्मा के लिए भी उसका सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी होना उपयोगी है। पाप से डरनेवाले मनुष्य विरले ही होते हैं। आमतौर पर लोग पाप से नहीं, पापी समझे जाने से डरते हैं। वस्तुतः पाप से नहीं अपराध (शासकीय व्यवस्था के अधीन दण्डनीय कर्म) से डरते हैं। जहाँ देखनेवाला कोई न हो वहाँ अपने कर्त्तव्य से विचलित होकर कोई पाप कर बैठना साधारण बात है। अपराध से नहीं, अपराध करते हुए पकड़े जाने से बचने की कोशिश की जाती है। यही कारण है कि मनुष्य पापाचरण के लिए एकान्त की खोज

[ईश्वर दयालु और न्यायकारी है]

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं ?

उत्तर— है ।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं । जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाए, क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुँचाना और 'दया' उसको कहते हैं कि जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना ॥

[न्याय और दया शब्दों पर विचार]

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से । दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो । वही **'दया'** कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना, वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम **'न्याय'** है ।

और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए, तो दया का नाश हो जाए, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है । जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, तब वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया वही है कि उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है ।

करता है । यदि उसे अपने मन में यह दृढ़ विश्वास हो जाए कि सृष्टि का संचालक व व्यवस्थापक परमात्मा सर्वव्यापक—सर्वान्तर्यामी होने से सर्वद्रष्टा और सर्वशक्तिमान् है तो वह पाप से डरने लगे ।

दयालु व न्यायकारी—मन में सबको सुखी करने की इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ प्रयत्न करना 'दया' है और बाह्य चेष्टा अर्थात् दण्डव्यवस्था करना **'न्याय'** है । जीवों के कल्याणार्थ संसार में नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करना; दूसरे शब्दों में, जीवों के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति में साधनभूत सृष्टि की उत्पत्ति (**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**—योगसूत्र) करना और यथावत् उसका संचालन करना परमेश्वर की 'दया' है और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार संसारस्थ प्राणियों के सुख-दुःख के तारतम्य की व्यवस्था करना उसका 'न्याय' है ।

परमेश्वर का एक नाम **'यम'** है । **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमात्मा की 'यम' संज्ञा है । सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होकर समस्त चराचर जगत् का नियमन करने में सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही समर्थ है । विश्व में सजीव-निर्जीव, दृश्य-अदृश्य, गोचर-अगोचर जो कुछ है, सब उसके नियमों में आबद्ध है । सृष्टि का निर्माण, विकास और विनाश—सब-कुछ ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत आबाध गति से चल रहा है । इस प्रकार समस्त कार्य-कारण के नियमन करने से वह 'यम' कहाता है । यह केवल मृत्यु के देवता का नाम नहीं है । हाँ, मृत्यु भी उसके नियमों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—नियमन करनेवालों में मैं यम हूँ—**'यमः संयतामहम्'** (गीता १०।२९) । संसार में नियमों की और नियमों से भी अधिक नियामकों की भरमार है, फिर भी सर्वत्र नियमों

प्रश्न—फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है, तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, इसलिए एक शब्द का रहना तो अच्छा था । इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है ।

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम[1], और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न—होते हैं ।

उत्तर—तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई ?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिए ।

उत्तर—संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है । देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं । इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन-सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है[2]। **इन दोनों का इतना ही भेद है** कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह **'दया'** और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना **'न्याय'** कहाता है । दोनों का एक ही प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना ।

[ईश्वर निराकार है, साकार नहीं]

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

उत्तर—निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता । जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादिगुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं, तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता । इससे यही निश्चित

का उल्लंघन होता है । जिनके लिए नियम बनते हैं वे तो उल्लंघन करते ही हैं, जो नियम बनाते हैं वे भी उनसे पीछे नहीं रहते । मनुष्यकृत नियमों की यही गति है । जो निर्बल होता है, वह दण्डित होता है; जो बलवान् होता है वह न केवल बच निकलता है, अपितु नियमों की व्याख्या भी अपने अनुकूल करा लेता है । ऐसी अवस्था में न्याय के अभाव में समाज कैसे सुखी रह सकता है । व्यक्तिशः भले ही किसी पर दया हो जाए, समष्टिरूप में समाज अपने आपको पीड़ित तथा दलित अनुभव करता है । ईश्वर के बनाये नियम सार्वभौम तथा सार्वकालिक होते हैं । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा की व्यवस्था में वे निष्पक्षभाव से सबपर समानरूप से लागू होते हैं । स्वयं परमात्मा भी उन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता । इस दया और न्याय की व्यवस्था में परस्पर विरोध नहीं हो सकता ।

निराकार—वेदादि समस्त आर्षग्रन्थों में ईश्वर को निराकार माना गया है । यजुर्वेद ४०।८ में उसे

---

१. यह लौकिक भाषा की दृष्टि से कहा है । वैदिकभाषा में एकार्थक प्रतीत होनेवाले शब्द भी स्वगत वैशिष्ट्य को लेकर विशिष्टार्थ के वाचक होते हैं ।

२. इसका अभिप्राय यह है कि —अधिकता और न्यूनता से होनेवाली सुख-दुःख की व्यवस्था ईश्वरीय न्याय के फल को प्रकाशित कर रही है, अर्थात् संसारस्थ प्राणियों में जो सुख-दुःख का तारतम्य है, वह उनके पूर्वकृत कर्मों का फल है । इसे ईश्वर ने अपने न्यायानुसार दिया है ।

है कि ईश्वर निराकार है । जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिए, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करनेवाला-निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए ।

जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर बना लिया, तो भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था, इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है ।

स्पष्टरूप से **'अकाय'** अथवा शरीररहित कहा गया है । **'अकाय'** कह देने के बाद **'अव्रणमस्नाविरम्'** (व्रण तथा नस-नाड़ियों से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी—इसका स्पष्टीकरण करते हुए उव्वट ने अपने भाष्य में लिखा है—**'अव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः'** अर्थात् बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गयी पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं है । महीधर ने भी यास्काचार्य के **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरुक्त १०।४२) को उद्धृत करके **'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशय-द्योतनाय'** अर्थातिशय व्यक्त करने के उद्देश्य से की गयी पुनरुक्ति को निर्दोष माना है । दोनों भाष्यकारों ने **'अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्वरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्'** अकायम् होने के कारण ही परमेश्वर को शुद्ध अर्थात्—सत्वरजस्तम के भाव से असम्पृक्त तथा योगदर्शन (स०पा० २४) के अनुसार अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है । महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए कहा है—**'अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणोऽस्नाविर इति विशेणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः'** अर्थात् 'अकाय' के साथ 'अव्रण' और **'अस्नाविर'** इन दो विशेषण पदों के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है । कठोपनिषद् (१।२।२२) में परमेश्वर को **'अशरीरं शरीरेषु'** लोगों के शरीरों में रहते हुए भी शरीररहित कहा है । मुण्डक (१।१।६) में अक्षर ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा है कि वह 'अदृश्य है, इन्द्रियों से अग्राह्य है, उसका न कोई गोत्र है, न वर्ण है, न उसके हाथ पाँव या आँख-कान हैं, अर्थात् वह सर्वथा निरवयव है, वह नित्य और सर्वत्र व्याप्त है, सबमें अन्तर्निविष्ट है, अतिसूक्ष्म है, अव्यय है और समस्त भूतों—चराचर जगत् का कारण है । उसे धीर पुरुष देखते व जानते हैं ।'

गीता में कहा है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है । इसी प्रकार उपनिषद् में उसे **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'** (श्वेत० ६।११) बताया है । हाड़-मांस से बने पुतले का सर्वव्यापी होना असम्भव है और सर्वव्यापी न होने पर वह सर्वज्ञ या सर्वनियन्ता नहीं रह सकता । देहधारी मनुष्यों का शासनक्षेत्र सीमित होता है । समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो बड़े-से-बड़ा साम्राज्य भी एक अणु से अधिक नहीं होगा । फिर भी देहधारी मनुष्य की शासनव्यवस्था न पूर्ण होती है और न निर्दोष । देहधारी कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो, उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं-न-कहीं अवश्य होगी । यह निर्विवाद है कि शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने और उसकी व्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है । विश्व की विशालता को देखते हुए किसी शरीरधारी एकदेशी द्वारा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होने की कल्पना नहीं की जा सकती ।

यदि परमात्मा को शरीरी माना जाएगा तो उसे एकदेशी भी मानना होगा । एकदेश में अवस्थित

होनेपर सारे संसार से उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। उस अवस्था में वह अनन्त विश्व का न संचालन कर सकेगा और न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल की व्यवस्था कर सकेगा। अथर्ववेद में कहा है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ —४।१६।२

अर्थात्—जो मनुष्य खड़ा है या चलता है या जो दूसरों को ठगता है, जो छिपकर कुछ करता है या किसी पर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक-साथ बैठकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उसे भी तीसरे वरुण भगवान् जानते हैं।

मनुस्मृति (८।९१) में न्यायाधीश के सम्मुख साक्षी देनेवाले व्यक्ति के लिए कहा गया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

साक्षी के प्रति सच बोलने की प्रेरणा देते हुए कहा जा रहा है—हे भलेमानस ! जो तू अपने आपको यह समझता है कि यहाँ अकेला मैं ही हूँ, मेरे किये को कोई नहीं देखता या जानता, ऐसा तू मत समझ। बुराई-भलाई का समझनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। तेरे समस्त मनोभावों को वह जानता है, उसके विपरीत कुछ मत कहना।

न्यायाधीश के सम्मुख साक्षी देनेवाला देहधारी जीवात्मा है और जीवात्मसम्बन्धी हृदयदेश में पुण्य-पाप का द्रष्टा सर्वज्ञ (मुनि) परमात्मा है। शरीरी, एकदेशी ईश्वर यह सब कैसे कर सकता है ?

शरीरी होने पर ईश्वर इन्द्रियों से युक्त होगा। इन्द्रियों से युक्त शरीर भोगादि के लिए होता है। पञ्चभूतों से निर्मित शरीर सब प्रकार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। जिस प्रकार शरीरधारी जीव आचरण करता है, वैसे ही ईश्वर को भी करना होगा। इससे ब्रह्म विकारी होकर अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप को खो बैठेगा।

ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है; किन्तु जब वह स्वयं अपने अस्तित्व=शरीर के लिए उसपर अवलम्बित और उसके विकारों से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा कैसे कर सकेगा ? सावयव ईश्वर नित्य नहीं हो सकता।

यह कहा जा सकता है कि शास्त्रों में ईश्वर के देहांगों का वर्णन पाये जाने से ईश्वर का सावयव शरीर होना सिद्ध होता है। तद्यथा—**'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** (ऋ० १०।९०।१); **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** (अथर्व० १३।२।२६); **'सर्वतो मुखः'** (यजुः० ३२।४); **'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेता० ३।१६) इत्यादि वाक्यों में अनेकशः ईश्वर के शरीरांगों का वर्णन उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद (१०।७।३२-३४) में ब्रह्म के विराट् रूप का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

['सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—ईश्वर 'सर्वशक्तिमान्' है, वा नहीं ?

उत्तर—है, परन्तु जैसा तुम 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं, किन्तु **'सर्वशक्तिमान्' शब्द** का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि, और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर—वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब-कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् होकर चोरी, व्यभिचारादि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि 'वह सब-कुछ कर सकता है' यह कभी नहीं घट सकता, इसलिए 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुनः पुनः नवीन होता हुआ चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान हैं और आकाश जिसके चक्षु हैं, दिशाओं को जिसने व्यवहारसाधन बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् में पाया जाता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ १।१।४

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र, और वेद वाणी हैं, वायु प्राण एवं विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर है—वह समस्त जगत् का आत्मा है।

परन्तु इस समूचे वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने के बाद कौन कह सकता है कि यहाँ ब्रह्म के प्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आँख आदि का उल्लेख है। वेदादि शास्त्रों में जहाँ कहीं भी इस प्रकार का कथन है वह परमात्मा के काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है, जिसका अभिप्राय औपचारिक अथवा आलंकारिक रूप में उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता एवं सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट करनामात्र है। 'सहस्र' पद यहाँ अनेक अथवा असंख्य का वाचक है। उसके सहस्र सिर, पैर, आँख आदि का कथन उसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृतिक जगत् की उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक है। इससे परमात्मा का शरीरी होना सिद्ध नहीं होता।

सर्वशक्तिमान् का अर्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, पर **'सर्वशक्तिमान्'** का यह अर्थ नहीं कि वह जो चाहे कर सकता है। यह ठीक है कि उसके ऊपर कोई नहीं है, तथापि यह समझ लेना कि वह जो करे सो न्याय है, भूल होगी। वह वैधानिक सम्राट् (Constitutional Head) है, जो संविधान के अन्दर रहते हुए शासन करता है। उसे अपने पूर्वघोषित नियमों का उल्लंघन करने अथवा यदृच्छया उनमें संशोधन-

[ईश्वर अनादि है]

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि ?

उत्तर—अनादि, अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको **'अनादि'** कहते हैं। इत्यादि सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, देख लीजिए।

परिवर्धन करने का अधिकार नहीं है। अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में बलेदवाचार्य ने **'सर्वधर्मोपपत्तेश्च'** (२।१।३७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमात्मा पूर्ण न्यायकारी होते हुए भी 'अपने भक्तों पर विशेष अनुग्रह कर सकता है' (राधाकृष्णन्—ब्रह्मसूत्र)। ऐसे परमात्मा को लौकिक प्रशासकों से अच्छा नहीं माना जा सकता। जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य को छीनकर उसे अपनी इच्छानुसार कर्म करने, कृतहानि या अकृताभ्यागम का विचार किये बिना कर्मफल देने जैसे मनमाने कार्य करने की उसे छूट नहीं है।

वस्तुतः अपने गुण-कर्म-स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति आदि ऐसे अनेक कार्य हैं जिन्हें वह नहीं कर सकता। असम्भव को सम्भव करना उसकी शक्ति से बाहर है। ईसाई सन्त और विचारक सेंट थामस ने लिखा है—

He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist.

—Burtrand Russel : History of Western Philosophy, p.480.

अर्थात्—परमेश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता। न वह स्वयं पाप में प्रवृत्त हो सकता है, न पाप कर सकता है और न अपने आप को मारकर दूसरा ईश्वर बना सकता है।

प्लेटो का कथन है—

Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in words or deeds or to put forth a phantom of himself ?

—See Plato : Republic in Five Great Dialogues, translated by B. Jowett p. 285.

अर्थात्—परमात्मा मिथ्याचरण नहीं कर सकता—न कथन में, न व्यवहार में। न वह अपनी जगह कोई नकली भगवान् (अपनी छायारूप) बना सकता है।

सोलहवीं शताब्दी में ईसाइयत के सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक मार्टन लूथर के शिष्य इंग्लैण्ड के पादरी एंसलम ने पूछा था—'Can God restore virginity to a prostitute?' क्या परमात्मा एक वेश्या को कुँआरी बना सकता है ? अन्य अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो इसी प्रकार पूछे जा सकते हैं और जिनका उत्तर 'हाँ' में कभी नहीं हो सकता—

'Can God produce a stone which be cannot lift or can he construct a triangle whose any two sides together should be shorter than the third ?'

अर्थात्—क्या परमात्मा ऐसा पत्थर बना सकता है जिसे वह उठा न सके अथवा क्या वह ऐसा त्रिभुज बना सकता है जिसकी कोई दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से छोटी हों ?

परमात्मा अलादीन के लैम्प की तरह सब-कुछ नहीं कर सकता। न वह जादूगर बनकर सूर्य को जहाँ चाहे रोक सकता है और न बन्दूक की गोली को चलने के बाद बीच में रोक देने जैसे तमाशे कर सकता है। परमात्मा के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ है कि जो उसके स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर—सबकी भलाई, और सबके लिए सुख चाहता है, परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता ।

[ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना का फल]

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए, वा नहीं ?

उत्तर—करनी चाहिए ।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा ?

उत्तर—नहीं ।

प्रश्न— तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करना ?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है ।

प्रश्न—क्या है ?

उत्तर—**स्तुति** से—ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना । **प्रार्थना** से—निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना । **उपासना** से—परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना ।

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना या जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करना—उनके करने में उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है, इन्हें वह अपने स्वभावगत सामर्थ्य से कर सकता है ।

अनादि-अनन्त—परमेश्वर अनादि-अनुत्पन्न है, क्योंकि वह नित्य है । जो अनादि है, वह अनिवार्यतः अनन्त है और जो अनादि-अनन्त है वही नित्य है । नित्य होने से वह अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता—'**सदकारणवन्नित्यम्**' (वैशेषिक ४।१।१) ।

परमेश्वर की चाह—'**स नः पितेव सूनवे**' (ऋ० १।१।९) वह परमात्मा हमारे लिए वैसा है जैसा पुत्र के लिए पिता । इसलिए जैसे पिता सदा पुत्र की भलाई और सुख चाहता है, वैसे ही परमात्मा स्वसन्तानसदृश मनुष्यमात्र की भलाई और सुख चाहता है । अतएव वह **(नः स्वस्तये)** हमारे कल्याण के लिए **(सूपायनो भव)** उत्तम पदार्थ और सुख का साधनरूप ज्ञान प्रदान करता है । इस प्रकार वह मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के द्वारा शुभ गुणों से युक्त करके उन्हें श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है । इन श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य सुख पाने योग्य हो जाता है । परमेश्वर हमारे पिता के समान है, यह बात सदा स्मरण रखने की है । बच्चे के रोगी होने पर माँ-बाप उसके हाथ पकड़कर उसके मुँह में जबर्दस्ती दवाई डालते हैं, या डॉक्टर इंजेक्शन लगाता है अथवा अपराधी को दण्डित करके शासन उसे वैसा न करने की शिक्षा देता है तो आपाततः शत्रु प्रतीत होनेवाले ये लोग हित की दृष्टि से ऐसा करते हैं, परन्तु नासमझी के कारण बालक इस भावना का विपरीत अर्थ लगाता है । इसी प्रकार जब मनुष्य दुःख या कष्ट से पीड़ित होता है तो आसानी से यह नहीं समझ पाता कि यह सब अन्ततः उसके सुख के लिए किया जा रहा है—'Affliction is not sent in vain by the merciful Father who loves us all.'

स्तुति-प्रार्थनोपासना—भक्ति शब्द '**भज् सेवायाम्**' धातु से निष्पन्न होता है । सेवा के लिए दो तत्त्वों का

[स्तुति के दो भेद=सगुण और निर्गुण स्तुति]

प्रश्न—इसको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर—जैसे **ईश्वर की स्तुति**—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥

—यजुः० अ० ४० । मं० ८ ॥

होना अनिवार्य है—एक सेवक और दूसरा सेव्य। भक्ति के लिए भक्त और भगवान् की, उपासना के लिए उपासक और उपास्य की, प्रार्थना के लिए प्रार्थयिता और प्रार्थना की और स्तुति के लिए स्तोता और स्तुत्य की आवश्यकता है। अद्वैतवाद में एक ही तत्व माना जाता है—**'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'**। वेद की दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् दो तत्त्व हैं। जीवात्मा सेवक है तो परमात्मा सेव्य, जीवात्मा भक्त और उपासक है तो परमात्मा भगवान् और उपास्य है। जीवात्मा प्रार्थयिता है तो परमात्मा प्रार्थनीय। इसी प्रकार जीवात्मा स्तोता है तो परमात्मा स्तुत्य। इसलिए अद्वैतवादी भक्तों को भी विवश होकर स्वीकार करना पड़ा—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

इस प्रकार भक्ति के तीन मुख्य अंग हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में ग्रन्थकार ने 'याचना' और 'समर्पण' ये दो और माने हैं। सामान्यतः 'याचना' का 'प्रार्थना' में और 'समर्पण' का 'उपासना' में अन्तर्भाव है, तथापि इनपर यथास्थान विस्तार से विचार किया जाएगा। वेदमन्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रायः मन्त्रों में स्तुति और प्रार्थना का युगपत् समावेश है। ऐसे मन्त्र बहुत थोड़े हैं जिनमें केवल स्तुति है, प्रार्थना नहीं या जिनमें केवल प्रार्थना है, स्तुति नहीं। यास्क ने निरुक्त में इस भावना को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति यथैतस्मिन्सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्' इति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु। —७।१।३

अर्थात्—किन्हीं मन्त्रों में केवल स्तुति है, आशीर्वाद (प्रार्थना) नहीं **(आङ् शासु इच्छायाम्)** जैसेकि ऋग्वेद १।३२ में। यह सूक्त १५ ऋचाओं का है। उन सबमें इन्द्र की स्तुति ही वर्णित है, किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं की गयी है और कई स्थानों में आशीर्वाद (प्रार्थना) ही है, स्तुति नहीं, परन्तु मन्त्रों की सामान्य स्थिति यही है कि उनमें स्तुति और प्रार्थना का एकत्र वर्णन है।

सायणाचार्य तथा तदनुयायी विद्वान् वेदों का प्रायः यज्ञपरक अर्थ करते हैं, परन्तु यज्ञ में स्तुति आदि सबका समावेश है। यज्ञपरक अर्थों में भाव्यमान देव की पूजा की जाती है अर्थात् उसके गुणों का वर्णन किया जाता है, उसकी स्तुति की जाती है तथा उससे अभीष्ट पदार्थों की प्रार्थना और याचना की जाती है। यज्ञ में उस भाव्यमान देव का आह्वान किया जाता है, उसका सान्निध्य प्राप्त किया जाता है। यही उपासना है। उपासना का अर्थ है अपने अभीष्ट देवता के समीप बैठना। समीप बैठने को ही संगति या सत्संग कहते हैं **(यज् संगतिकरणे)**। इसी प्रकार यज्ञ में समर्पण भी किया जाता है। यह समर्पण है भगवान् के प्रति अपनी वस्तुओं

वह परमात्मा सबमें व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन, अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है, यह **'सगुण-स्तुति'** अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण। और **'अकाय'**=अर्थात् वह कभी शरीर-धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह **'निर्गुण-स्तुति'** है।

का समर्पण, अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों का और अन्त में आत्मा का समर्पण। इस प्रकार वेदों के याज्ञिक अर्थों में भी स्तुति आदि भक्ति के सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

स्तुति—शास्त्र में 'स्तुति' का अर्थ लोक में प्रचलित अर्थ (प्रशंसा, सराहना, गुणगान आदि) से भिन्न है। वस्तुतः **'दोषेषु गुणारोपणमसूया'** दोषों में गुणों को आरोपित करना 'असूया' है। इसी प्रकार **'गुणेषु दोषारोपणमप्यसूया'** गुणों में दोषों को आरोपित करना भी 'असूया' है। **'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'**—गुणों-में-गुणों का और दोषों-में-दोषों का आरोपण करना अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही कहना स्तुति है। 'परमेश्वर जो चाहे कर सकता है' अथवा 'वह सब-कुछ कर सकता है' कहना परमेश्वर की स्तुति करना नहीं है। अपितु 'परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने सब काम बिना किसी की सहायता के कर सकता है' कहना ही उसकी स्तुति करना है। इस प्रकार परमेश्वर के गुणों का चिन्तन व स्तवन करना स्तुति है। स्तुति तीन प्रकार से की जाती है—मानसिक ध्यान व जप द्वारा, मौखिक उच्चारण द्वारा तथा संगीत द्वारा। उत्तम स्तुति वह है जो उपासक को अमरता के पथ का पथिक बना दे।

सगुण-निर्गुण भेद से स्तुति दो प्रकार की है। जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त मानकर उसकी स्तुति करना **'सगुण'** स्तुति है। जैसे—**'एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः'** निश्चय ही वह परमात्मा सब दिशाओं में व्याप्त और प्रसिद्ध है, वही **'हिरण्यगर्भ'** है। **'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**—उसी ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक आदि को धारण किया हुआ है। **'धामानि वेद भुवनानि विश्वा'** वह सब लोक-लोकान्तारों को जाननेवाला है। इसी प्रकार **'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'** (माण्डूक्य ६)—वह परमात्मा सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है। वह सबका ठिकाना और सब भूतों की उत्पत्ति एवं लय का आधार है। जो गुण ईश्वर में नहीं हैं, उनसे पृथक् मानकर उसकी स्तुति करना **'निर्गुण'** स्तुति है। जैसे— **'तदक्षरमकायमव्रणमस्नाविरमस्थूलमह्रस्वमलौहित-मगन्धमरसमचक्षुकमश्रोत्रममुखमच्छायमनाकाशम्'**, अर्थात् वह ब्रह्म अविनाशी, अकाय, अव्रण, अस्नाविर, अस्थूल, न ह्रस्व, न दीर्घ, न रंगवाला, गन्ध-रस-चक्षु-श्रोत्र-मुख से रहित, छाया के बिना और आकाश से भिन्न है।

स पर्यगा०—(सः) वह परमात्मा (परि-अगात्) चारों ओर पहुँचा हुआ अर्थात् सर्वव्यापक (शुक्रम्) अत्यन्त उज्ज्वल (अकायम्) शरीररहित (अव्रणम्) व्रण या क्षत से रहित (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों से रहित (शुद्धम्) निर्मल (अपापविद्धम्) सर्वथा निष्पाप (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषी) पूर्णज्ञानी (परिभूः) दुष्टों का पराभव करनेवाला (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध, अजन्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन=नित्य (समाभ्यः) प्रजाओं के लिए (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) **कर्त्तव्य पदार्थों** का (व्यदधात्) विधान करता है।

किसी व्यक्ति या पदार्थ के गुणों को जानकर उसका सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छा उभरती है। स्तुति करने से ईश्वर में प्रीति होकर स्वयं को वैसा बनाने— उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म, स्वभाव को प्रभावित करने=सुधारने की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य के किसी भी कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—का संस्कार उसके आत्मा पर पड़े बिना नहीं रहता। शास्त्रों में जहाँ **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिः'** कानों से भद्र सुनने और आँखों से भद्र देखने का आदेश है, वहाँ **'वाचं वदत भद्रया'** वाणी से भद्र बोलने की प्रेरणा की गयी है। अर्थ की भावना करते हुए बार-बार परमेश्वर को दयालु, न्यायकारी, निष्पाप कहते रहने से मनुष्य को स्वयं भी वैसा बनने की प्रेरणा मिलती है—**'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान'**।

परन्तु ईश्वर की स्तुति करने का पूर्ण लाभ तभी है जब स्तुति करनेवाला ईश्वर के गुणों को अपनाने—यथासम्भव उन्हें अपने अन्दर धारण करने का प्रयास करे। **'अपापविद्धम्'** कहते हुए पापों से बचने का यत्न करे। **'सर्वाधार'** कहते हुए असहायों की सहायता किया करे। **'न्यायकारी'** कहते हुए जहाँ भी और जिस-किसी भी स्थिति में हो, सदा, सर्वत्र सबके साथ न्याययुक्त व्यवहार करे। **'दयालु'** कहते हुए यदि वह किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाता है तो वह उस मुसलमान से अच्छा नहीं जो 'बिस्मिल्ला-अर्रहमानर्रहीम' का पाठ करते हुए खुदा को 'रहमान' और 'रहीम' भी कहता जाता है और बकरे की गर्दन पर छुरी भी चलाता जाता है। चरित्र में सुधार लाये बिना भाण्ड के समान परमात्मा का गुण-कीर्तन करना टेपरिकार्डर की ध्वनिमात्र है।

स्तुति आदि करने से किसी के पाप क्षमा नहीं होते। प्रारब्ध कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**। अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करनेवाले अपने भक्त के लिए शिथिल नहीं कर सकता। खुशामदियों से घिरे हुए शासकों के समान यदि परमेश्वर अपनी स्तुति सुनकर अपराधियों के पाप क्षमा करने लगे तो उसकी न्याय-व्यवस्था चौपट हो जाए। वस्तुतः परमेश्वर तटस्थ भाव से जीवों का साक्षी रहते हुए सर्वथा न्याय-परायण है।

वेद का आदेश है—**'तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य। युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्'** (अथर्ववेद ६।१।२)। अर्थात्—हे उपासक! तू उसी की स्तुति किया कर जो तेरे हृदय-सागर के अन्दर विद्यमान है, जो सत्य का प्रेरक है, सदा सशक्त है, जिसकी वेदवाणी द्वेषादि दुर्भावनाओं के परित्याग का उपदेश देती है और जो सदा उत्तम गुणों का प्रदाता है।

ईश्वर से अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति-निषेध करते हुए वेद में कहा है—

'मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥' (अथर्व० २०।८५।१)। अर्थात् हे उपासक मित्रो! किसी अन्य की विविध स्तुतियाँ मत किया करो। परमेश्वर से अतिरिक्त किसी की स्तुति करके विनाश को प्राप्त मत होओ। भक्तिरस के पैदा हो जानेपर, मिलकर, सुखों की वर्षा करनेवाले परमेश्वर की ही स्तुति सदा किया करो और वैदिक सूक्तों का बार-बार उच्चारण किया करो।

प्रार्थना से निरभिमानता आती है और परमेश्वर से उत्साह और साहाय्य की प्राप्ति होती है। माँगा उससे जाता है जिसके पास कोई वस्तु होती है और माँगता वह है जिसके पास उसका अभाव होता है। उस स्थिति में माँगनेवाले में हीनता का भाव उदय होता है, इससे उसका अहंकार नष्ट हो जाता है। किसी के आगे हाथ पसारते ही आँखें नीची हो जाती हैं। सब-कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी जब मनुष्य अहोरात्र

इससे अपने गुण-कर्म-स्वभाव भी तद्वत् करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता, और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना—

[कैसी प्रार्थना करनी चाहिए]

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥

—यजुः० ३२।१४॥

के आरम्भ में अर्थात् सायं-प्रातः **'हिरण्यगर्भ'** के सामने नतमस्तक होकर **'धियो यो नः प्रचोदयात्'**, **'स नो वसून्याभर'**, **'बलं मे धेहि'**—कभी बुद्धि की माँग करता है, कभी धन की और कभी बल की, तो अभिमान कहाँ ठहर सकता है ? इसके साथ ही जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि आवश्यकता होनेपर उसे कहीं से सहायता मिल सकती है तो वह द्विगुणित उत्साह के साथ आगे बढ़ता है। गिरने लगूँगा तो पुकार करनेपर कोई मुझे सँभाल लेगा, यह विचार ही उसे बड़े-से-बड़े काम में हाथ डालने का साहस प्रदान करेगा। **'यस्ते वष्टि ववक्षि तत्'** (ऋ० ८।४५।६)—प्रार्थी तुझसे जो चाहता है, पा लेता है, इत्यादि वचनों से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार प्रार्थना से अभिमान का नाश होता है, आत्मा में आर्द्रता आती है, गुण ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है और आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

यां मेधाम्—इस मन्त्र में मेधा नाम से अभिहित धारणावती बुद्धि के लिए प्रार्थना की गयी है। **'मेधृ संगमे'** धातु से मेधा शब्द निष्पन्न होता है। **'मेधा आशुग्रहणे'** के रूप में भी यह परिभाषित है। निरुक्त (३।१६) में कहा है—**'मेधाबुद्धिः मतौ धीयते'**। आप्त पुरुष, निष्णात विद्वान् तथा अनुभवी वृद्धजन इसी के द्वारा सदसत् का विवेचन करने में समर्थ होते हैं। इसलिए वे अहर्निश इसी का सेवन करते हैं। इस मन्त्र के द्वारा उपासक प्रकाशस्वरूप परमात्मा से उसी बुद्धि को पाने की प्रार्थना करता है। प्रकारान्तर से वह अपने प्रभु से देवगण और पितरों को भी ऐसी प्रेरणा करने की प्रार्थना करता है कि वे उसे भी अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा अपने समान मेधावी बनने में उसकी सहायता करें। देव (विद्वान्) तथा महादेव (परमेश्वर) प्रत्यक्षरूप में न किसी की रक्षा करते हैं और न किसी को दण्ड देते हैं—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥ —महाभारत

मेधा का एक अपर अर्थ है—धन (**मेधा धननाम** निरुक्त २।१०)। यजुर्वेद (३२।१३) में कहा है **'सनिं मेधामयासिषम्'**। **'सनि'** शब्द **'षणु दाने'** **'षण् संभक्तौ'** से निष्पन्न है। धन का 'सनि' विशेषण दान की योग्यता का संकेत करता है। ग्रन्थकार ने अपने वेदभाष्य में इस मन्त्र के माध्यम से दोनों की प्रार्थना करते हुए मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—

'मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनं च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः'—मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे परमेश्वर की उपासना और विद्वानों की संगति द्वारा पवित्र ज्ञान और धर्माचरण करते हुए धन की इच्छा करें और फिर दूसरों को भी दोनों चीजें प्राप्त कराएँ। धन बुरा नहीं, उपादेय होने से उसे प्राप्त करना आवश्यक है, किन्तु अपवित्र धन अग्राह्य एवं त्याज्य है। **'श्रेष्ठं नो**

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योज
स्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२॥

—यजु० अ० १६ । मं० ६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

द्रविणम्' तथा **'अग्ने नय सुपथा राये'** इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं। इस मन्त्र की व्याख्या में **'स्वाहा'** शब्द के निरुक्तकार द्वारा किये गये अर्थों को देखकर ग्रन्थकार द्वारा किया गया विशदीकरण मननयोग्य है और **'स्वाहा'** शब्द का उच्चारण करते समय उसे सदा ध्यान में रखना चाहिए।

बुद्धि की याचना करते हुए इस मन्त्र में परमेश्वर को **'अग्नि'** नाम से सम्बोधित किया है। शतपथ (१।६।२।१०) में अग्नि को देवों का 'सुहृदयतमः'—विद्वानों में सबसे उत्तम हृदयवाला कहा है। वहीं अन्यत्र (१।१।१।२) **'अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः'** कहा है और उसे देवों का रक्षक बताया है। शाकपूणि आचार्य ने **'णीञ्'**—नी प्रापणे शब्द से इसकी निष्पत्ति की है। इस प्रकार अग्नि शब्द परमात्मा के विशेष गुणों का द्योतक है। उन गुणों से युक्त परमात्मा से बुद्धि की याचना करना सर्वथा उपयुक्त है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सद्बुद्धि और शुद्ध साधनों से प्राप्त धन परमात्मा की कृपा के बिना नहीं मिलते।

तेजोऽसि—इस मन्त्र की देवता सोम है। परमात्मा का सोमरूप आनन्द, अमृत और उत्पादन का देवता है। उसमें तेज आदि गुण अनन्तरूप में विद्यमान हैं। उन्हीं गुणों की प्राप्त्यर्थ यहाँ प्रार्थना की गयी है। सहनशक्ति बढ़ने से शारीरिक बल में वृद्धि होती है तथा द्वन्द्वों को सहन करने का सामर्थ्य बढ़ता है। मनन द्वारा क्रोध को मन्यु में रूपान्तरित करने से मानसिक वीर्य बढ़ता है। वैयक्तिक क्षति से उत्पन्न क्रोध में से स्वार्थ के अंश को निकालकर केवल दुष्टता के प्रति रोष का नाम मन्यु है। अभ्यास द्वारा वीर्य के बाह्य प्रस्रवण को अन्तःस्रवित करने से अथवा ऊर्ध्वरेता होने से ओज उत्पन्न होता है। यह ओज ही आत्मा में तेजस्विता उत्पन्न करता है।

आत्मा में ऋजुता धारण करने से सत्य का तेज=श्रद्धा (तेज एव श्रद्धा—शत० ११।३।१।१) बढ़ता है। मन में विवेक को स्फूर्त करने से क्रोध, मन्यु में रूपान्तरित होता है। शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों को सहन करने से शरीर तथा आत्मा में जीवन में आनेवाली बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों का सामना करने की शक्ति बनी रहती है। तेज, वीर्य [**वि+ईर प्रेरणे**] 'वीर्यप्रभावे शुक्रे च तेजः सामर्थ्योऽपि' (मेदिनी), **'वीर विक्रान्तौ, वीरयति स्वधारकम्'** (अमर), सर्वाङ्गस्फूर्ति (ग्रन्थकार)] और बल (**बल संवरणे सञ्चरणे च**) कारण हैं और तेज, मन्यु तथा सह परिणाम हैं। तेजस्वी व्यक्ति ही ओजस्वी, वीर्यवान् तथा मनस्वी बनता है और बलवान् ही सहनशील (षह मर्षणे। 'क्षमू सहने' से क्षमा शब्द बनता है—जो सह सकता है वही क्षमा कर सकता है) होता है। 'अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण' (यजु:० ३।१७) में की गयी अव्यक्त प्रार्थना को इस मन्त्र में व्यक्त रूप दिया गया है। मनुष्य को जिस तत्त्व, गुण या पदार्थ की कामना हो प्रभु को उसी तत्त्वरूप में या पदार्थ के स्वामी के रूप में सम्बोधित करके प्रार्थना करनी चाहिए। आनन्दस्वरूप कहकर उससे बल की अथवा मेधावी नाम से स्मरण करके उससे अन्न की प्रार्थना करना असंगत होने से व्यर्थ होगी।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

ग्रन्थकारकृत यजुर्वेदभाष्य में इन मन्त्रों का पदार्थ तथा भावार्थ इस प्रकर उपलब्ध है—

यज्जाग्रत् इति—पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने व जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर-दूर तक ले-जाने व अनेक पदार्थों का ग्रहण करनेवाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करनेहारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जाग्रदवस्था में (दूरम्) दूर-दूर (उत्-एति) भागता है (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा, एव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा मन संकल्प-विकल्पात्मक मन (शिवसंकल्पमस्तु) कल्याणकारक धर्मविषयक इच्छावाला हो ।

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वान् का संग करके अनेकविध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं, जो जाग्रदवस्था में विस्तृत व्यवहारवाला है वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है । जो वेगवाले पदार्थों में अतिवेगवान् ज्ञान का साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्तक मन को वश में करते हैं, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सकते हैं ।

येन कर्माणीति—पदार्थः—हे परमेश्वर ! जब आपके संग से (येन) जिस (अपसः) सदा कर्म-धर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करनेवाले (धीराः) ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि वा धर्मसंयुक्त व्यवहार वा योगयज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञानसम्बन्धी और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्टकर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुण-कर्मस्वभाववाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) पूजनीय वा संगत एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन—मनन से विचार करना रूप मन (शिवसंकल्पमस्तु) धर्मेष्ठ होवे ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर की उपासना, सुन्दर विचार, विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें ।

यत्प्रज्ञानमिति—पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपके जताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेषकर ज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप (उत) और भी (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (यत् च) और जो लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाशरूप (यस्माद् ऋते) जिसके बिना (किम्-चन) कोई भी (कर्म) काम (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत् मे) वह मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधनरूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखनेवाला (अस्तु) हो ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप वृत्तिवाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करनेवाला, प्राणियों के सब कर्मों का साधक अविनाशी मन है, उसको न्याय और सत्याचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो ।

यस्मिन्नृचः साम यजू ँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंङ्कपल्पमस्तु ॥७॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥८॥

—यजुः० अ० ३४ । मं० १,२,३,४,५,६

येनेदमिति—पदार्थः—हे मनुष्यो ! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होनेवाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्त्तमानकालसम्बन्धी और (भविष्यत्) होनेवाला (सर्वम् इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता अर्थात् जाना जाता है (येन) जिससे (सप्तहोता) (ग्रन्थकार ने 'सप्तहोता' से यहाँ (स०प्र० में) 'पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त मन' का ग्रहण किया है, जबकि यजुर्वेदभाष्य में 'सात मनुष्य होता वा पाँच प्राण, छठा जीवात्मा और सातवाँ अव्यक्त' को माना है। स्वामी आत्मानन्दजी ने 'मन, प्राण और ज्ञानेन्द्रियों' का ग्रहण किया है। सात मनुष्य होता वा पाँच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवाँ ये सात जिसमें लेने-देनेवाले हों वह (यज्ञः) अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार (तायते) विस्तार किया जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा योगयुक्त चित्त (शिवसङ्कल्पम्) मोक्षरूप संकल्पवाला (अस्तु) होवे।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ, भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता सब सृष्टि का जाननेवाला कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है, उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो।

यस्मिन्निति—पदार्थः—(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभाविव अराः) जैसे रथ के पहिए के बीच के काष्ठ में अरे लगे होते हैं वैसे (ऋचः साम यजूंषि) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (प्रतिष्ठिताः) सब ओर से स्थित और (यस्मिन्) जिसमें अथर्ववेद स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सर्वपदार्थसम्बन्धी ज्ञान (ओतम्) सूत में मणियों के समान संयुक्त है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रचाररूप संकल्पवाला हो।

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिए कि जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिसमें सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो।

सुषारथिरिति—पदार्थः—(यत्) जो मन (सुषारथिः) जैसे सुन्दर चतुर सारथि (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र-शीघ्र इधर-उधर घुमाता है और (अभीषुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिन इव) वेगवाले घोड़ों को सारथि वश में करता है वैसे नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धावस्थारहित और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत्) वह (मे मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पम्) मंगलमय नियम में इष्ट (अस्तु) होवे।

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं। जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है, वही बल से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले-जाता और लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे वश में रखता, सब मूर्खजन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध

हे अग्ने अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आपकी कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिए ॥१॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश-स्थापन कीजिए । आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, इसलिए मुझमें भी अपने कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिए । आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, इसलिए मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिए । आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिए । आप निन्दा-स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करनेवाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिए ॥२॥

हे दयानिधे ! आपकी कृपा से [जो] मेरा मन [जागते हुए] जगत् में दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता, वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक, वह मेरा मन शिवसङ्कल्प, अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे । किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥३॥

हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त , पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥४॥

हुआ दुःखदायी, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिए ।

इन मन्त्रों में निहित गूढार्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ स्वामी आत्मानन्दजी महाराज का किया अर्थ भी प्रस्तुत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो—(यत्) जो (जाग्रतः) जागते हुए का (दूरम्) दूर—बाह्य विषय में (उदैति) उदय होता है (तत्-उ) और वही (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथैव) उसी प्रकार (दूरङ्गमम्) दूर-संस्कार देश में गया हुआ (उत्-एति) उदित होता है (तत् मे) वह मेरा (ज्योतिषाम् एकं ज्योतिः) इन्द्रियरूपी प्रकाशों का एक प्रकाश (दैवं मनः) दैव मन (शिवसंकल्पम्) शुभ विचारोंवाला (अस्तु) हो ।

येन कर्माण्यपसो—(मनीषिणः) बुद्धिमान् और (अपसः) कर्मनिष्ठ, धीर विद्वान् (येन) जिसके द्वारा (यज्ञे विदथेषु) यज्ञ और ज्ञानयज्ञों में (कर्माणि) कर्म (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो (अन्तः प्रजानाम्) अन्दर पैदा होनेवाले तत्त्वों में (अपूर्वम्) विचित्र तत्त्व है, (तत् मे) वह मेरा (यक्षम् मनः) यक्ष मन (शिवसंल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो ।

यत्प्रज्ञानम्—(यत्) जो (अन्तः ज्योतिः) अन्दर प्रकाशरूप है (तत्) वह (प्रज्ञानं मनः) मेरा बुद्धिरूप मन (यत्-प्रजासु) जो उत्पन्न होनेवालों में (अमृतम्) अमर है, अर्थात् जिसपर अंकित होनेवाले चित्र अमिट हैं (तत् मे चेतः मनः) वह मेरा चित्तरूपी मन (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किञ्चन कर्म) कोई भी काम (न क्रियते) नहीं होता (तत् मे) वह मेरा (धृतिः मनः) धृति मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला होवे ।

येनेदं भूतम्—(इदम्) यह (भूतम्) भूत (भुवनम्) वर्तमान (भविष्यत्) भावी (येन अमृतेन) जिस अमृत ने (परिगृहीतम्) चारों ओर से गृहीत किया है, (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता) सात ऋत्विजों से संचालित (यज्ञः) ज्ञानयज्ञ (तायते) रचाया जा रहा है (तत् मे) वह मेरा (अमृतं मनः) अमर प्रत्यग्भान मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो ।

विशेष—यह मन धृति का ही अवान्तर भेद है, अतः इसे विशेष नाम नहीं दिया गया । अमृत पद भी

जो उत्कृष्ट-ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा, निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥५॥

हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥६॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर ! आपकी कृपा से [जिस] मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त-चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥७॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है, वह [मेरा मन] सब इन्द्रयों को अधर्माचरण से रोकके धर्मपथ में सदा चलाया करे। ऐसी कृपा मुझपर कीजिए ॥८॥

इसके विशेषणरूप में आया है। मन का यह भेद आत्मा के ज्ञान का धृति मन में विकास होने से बना है। आत्मा का ज्ञान अमर है, अतः अमृत विशेषण आया है। यह मन ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है, अतः इसका नाम प्रत्यग्भान किया गया है। (यस्मिन्नृचः—(यस्मिन्) जिसमें (ऋचः साम यजूंषि) ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञान (रथनाभौ) रथ की नाभि में (अराः इव) अरों की तरह (प्रतिष्ठिताः) स्थिर हैं, (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्रजाओं का (सर्वचित्तम्) सारा चित्तमण्डल (ओतम्) ओत-प्रोत है (तत् मे मनः) वह मेरा विश्वभान मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो।

विशेष—यह मन भी धृति मन का ही अवान्तर भेद है, अतः इसका नाम मन्त्र में नहीं आया। मन का यह भेद धृति में भगवान् के ज्ञान के विकास से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि इसमें सब वेदों के ज्ञान के विकास की प्रतिष्ठा बताई है। पहले मन्त्र में आत्मा के ज्ञान के विकास की प्रतिष्ठा बतलाई थी, अतः वहाँ सब चित्तों के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट नहीं किया था, क्योंकि अपनी आत्मा केवल अपने ही चित्त के साथ सम्बद्ध है, परन्तु इस मन्त्र में मन में भगवान् के ज्ञान की प्रतिष्ठा का वर्णन है और भगवान् का ज्ञान सर्वत्र विद्यमान है, अतः इसके साथ सब चित्तों का सम्बन्ध प्रकट किया गया है। इसीलिए धृति मन के इस भेद का नामकरण विश्वभान किया है।

सुषारथिः—(सुषारथिः) जैसे अच्छा सारथि (अश्वान्) घोड़ों को (इव) उसी प्रकार (यत्) जो वशीकरण मन (मनुष्यान्) मनुष्यों को (नेनीयते) भली प्रकार आगे ले-जाता है (यत्) और जो (अजिरम्) जीर्ण न होनेवाला (जविष्ठम्) और अत्यन्त वेगवाला (अभीषुभिः) रस्सियों से (वाजिन इव) जैसे घोड़े ठहर जाते हैं वैसे ही (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में ठहरा हुआ है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो।

विशेष—जो मनुष्य भगवान के ज्ञान और उसकी उपासना में बहुत आगे बढ़ जाता है, उसके मन में ज्ञान के साथ-साथ दूसरों को अपने पीछे चलाने की भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। स्वयं किसी को अपने

पीछे चलने की प्रेरणा नहीं करता, प्रत्युत लोग अपने-आप उसके विचारों के अनुरूप चलने लगते हैं। यह आकर्षण की शक्ति उसमें शुद्ध विचारों के विकास का परिणाम होती है, इसीलिए इस चित्त का नाम वशीकरण रक्खा गया है।

मन्त्रों के ऋषि का नाम शिवसंकल्प है। **'ऋषिर्दर्शनात्'**—निरुक्तकार के इस वचन के अनुसार मन्त्रार्थ का दर्शन करके मन्त्र में निहित भावना को अपने जीवन में चरितार्थ करनेवाले व्यक्ति को उस मन्त्र का ऋषि माना जाता है। कालान्तर में उस ऋषि का सांस्कारिक नाम लुप्त हो जाता है और मन्त्र की भावना के अनुसार प्रचलित नाम से ही वह जाना जाने लगता है। ऋग्वेद का सूक्त १०।१६० अपने ऋषि अघमर्षण के नाम से विख्यात है। उन मन्त्रों की भावना से प्रेरणा लेकर बुद्धिपूर्वक व्यवहार को अपने जीवन में चरितार्थ कर दूसरों को भी उसका उपदेश देनेवाले ऋषि का नाम मेधातिथि प्रसिद्ध हो गया। कण्वगोत्र में उत्पन्न होने अथवा इस नाम के गुरु का शिष्य होने के कारण वह मेधातिथि काण्व कहलाने लगा। कालान्तर में उसका सांस्कृतिक नाम विस्मृत हो गया और उपाधिधारी नाम शेष रह गया।

चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुई मानी जाती है—**'चन्द्रमा मनसो जातः'** ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—**'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्'** (२।४) अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। इससे स्पष्ट है कि मन और चन्द्रमा का उपादान एक ही है। यह भी स्पष्ट है कि जिस महत्तत्त्व से इन दोनों की रचना हुई है, वह चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान् तत्त्व है। इसीलिए मन को **'ज्योतिषां ज्योतिः'** कहा है। जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहनेवाला मन शरीर और आत्मा दोनों से भिन्न है। **'संकल्प-विकल्पात्मकं मनः'**—मन का काम संकल्प-विकल्प करना है। यदि मनुष्य संकल्प-विकल्प की प्रक्रिया को देख सकता है तो देखनेवाला आत्मा इससे भिन्न है। इन्द्रियाँ, मस्तिष्क और मन आदि सभी आत्मा के साधन हैं। इनमें कोई भी ऐसा नहीं जो चेतनावान् हो और पदार्थों का अनुभव कर सकता हो। अतः आत्मा और इन सब साधनों का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का अथवा साधक और साधन का है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोगसामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दुःख होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है, बाहर उसकी गति नहीं। इसलिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए उसे किसी सम्पर्क अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए ऐसे सहायक की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों, अर्थात् आत्मा की तरह अभौतिक हो और शरीर की भाँति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ या सम्पर्क-अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता, इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है, परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार वह अभौतिक होने से आत्मा के निकट है और भौतिक होने से इन्द्रियों के निकट है, अतः वह आत्मा व शरीर दोनों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी का नाम 'मन' है, परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य-सम्पादन के लिए उसे सहायकों की आवश्यकता होती है—ऐसे सहायकों की जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित कर दूर-दूर जाकर वहाँ से जानकारी प्राप्त करके मन तक पहुँचा सकें। इन्हीं का नाम इन्द्रिय है। प्रकाशमान और विषयों के प्रकाश का साधन होने से इन्द्रियों को 'देव' कहते हैं, इन देवों का नियामक होने से मन

को 'दैव' कहते हैं। प्रकाश का अपर नाम ज्ञान है, अतः ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य शक्ति से युक्त करणों को भी इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि ऐश्वर्यवाले की संज्ञा 'इन्द्र' (इदि परमैश्वर्ये) है। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा का भी एक नाम इन्द्र है। समस्त इन्द्रियाँ आत्मा अर्थात् इन्द्र का ही काम करती हैं, इसलिए भी इनका नाम इन्द्रिय है।

ज्ञान, चेतना और स्मृति सब इसी मन के आश्रित हैं। तीनों कार्यों का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। ऋचाएँ, साम और यजूंषि सब इसी में समाहित हैं। इसलिए इसके बिना कुछ भी करना सम्भव नहीं। इस प्रकार अनन्त दिव्यशक्तियों से सम्पन्न होने के कारण भी इसे 'दैव' कहते हैं।

शरीरयुक्त आत्मा की साधारणतया तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जिस अवस्था में मन तथा इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का विषयों से सम्पर्क रहता है उसे 'जाग्रत्' अवस्था कहते हैं। स्वप्न में आत्मा का मन से सम्पर्क रहता है। जो संस्कार जाग्रत् दशा में मन पर पड़ते हैं, वही निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं। इसी का नाम 'स्वप्न' है। स्वप्न तथा जाग्रत् का द्रष्टा तो एक ही आत्मा है। जाग्रत् अवस्था में ज्ञान प्राप्त करनेवाली समूची यन्त्रयोजना काम करती रहती है और हम मन तथा इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। स्वप्न अवस्था में समस्त इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं और केवल मन सक्रिय रहता है। जाग्रत् में उपलब्ध ज्ञान का विषय—प्रमेय पदार्थ सम्मुख उपस्थित रहता है, इसलिए वह अनुभवरूप है। स्वप्न में विषय—पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती, इसलिए वह स्मृतिरूप है।

जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाएँ अपने-अपने स्थान पर दोनों यथार्थ हैं, परन्तु जहाँ जाग्रत् अवस्था के अनुभूत पदार्थ सबके एक-जैसे होते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था के अनुभव सबके भिन्न-भिन्न होते हैं। दो व्यक्ति एक समय में एक घटना को देखते हैं। यदि यही घटना स्मृतिरूप में स्वप्न में दीख पड़े तो यह आवश्यक नहीं कि दोनों के स्वप्नावस्था के अनुभव एक-जैसे हों। यदि स्वप्न में मुझे साँप उड़ते दिखाई पड़ें तो यह आवश्यक नहीं कि मेरे आस-पास सो रहे लोगों को भी वैसी ही प्रतीति हो। इसलिए कहा गया है—

The objects of working experiences are common to us all , but those of dreaming are the private property of the dreamer.

आशय यह है कि जहाँ जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थ सबके एक समान होते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था में जाने गये पदार्थ स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति होते हैं—उनपर किसी अन्य का अधिकार नहीं होता। दिन में तो मन बाह्येन्द्रियों की सहायता से दर्शन आदि का ज्ञान कराता है, किन्तु रात्रि में उनके बिना ही देश-काल का अतिक्रमण करके दूर-दूर तक जाता और वहाँ का ज्ञान कराता है। स्वप्न में पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व न होकर केवल प्रतीतिमात्र इसलिए माना जाता है कि वहाँ अर्थ का अभिव्यञ्जन पूर्णरूप (कात्स्न्र्यरूप) से नहीं हो पाता। पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश व काल में उचित निमित्तों से न होना।

संकल्प-विकल्प से तो मन को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए उसे शिवसंकल्प करने की प्रार्थना इन मन्त्रों में की गयी है। 'संकल्पमयः पुरुषः'—मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा ही मन बन जाता है। कल्पवृक्ष के विषय में कहा जाता है कि उसके नीचे बैठकर मनचाही वस्तु मिल जाती है। वस्तुतः यह मन ही वह तत्त्व है जिसकी कल्पवृक्ष के रूप में कल्पना की गयी है।

बाह्यान्तर इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनों के साथ

उसका सम्बन्ध है। मन के सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। जब आत्मा को बाह्य जगत् के जानने की इच्छा होती है तो वह अपनी शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहनेवाली विचारतरंग को उत्पन्न करता है। ये विचारतरंग संवेदनतन्त्रिकाओं=ज्ञानतन्तुओं (Sensory nerves) में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्रबिन्दु से जा टकराती है, जिसका वह विषय होता है। इस प्रकार बाहर के विषय से सम्पर्क होते ही उपलब्ध सामग्री लिये वह तरंग उन्हें संवेदनतन्त्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौटकर मन को सौंप देती है और इस प्रकार मन को अपने इच्छित विषय का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान प्राप्त करनेपर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरक तन्त्रिकाओं=क्रियातन्तुओं (Motor nerves) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर यदि मन संकल्प-विकल्प में फँस जाता है तो कर्मेन्द्रियों को आदेश देने से पहले बुद्धि से परामर्श कर लेता है। दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है, अतः वह उभयात्मक कहाता है।

मन हृदय में रहकर काम करता है। सूक्तान्तर्गत मन्त्रों में उसके दो भाग किये गये हैं—दैव तथा यक्ष। दैव मन का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार है, अतः सब ज्ञानेन्द्रियाँ उसी के नियन्त्रण में रहकर कार्य करती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसका उसी से सन्निकर्ष होता है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से इनकी यथावत् उत्पत्ति होती है, जैसे—पृथिवी से घ्राण का, अग्नि से चक्षु का .... । अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने आधारभूत तत्त्व के अर्थ को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। इसी कारण चक्षु का शब्द से अथवा नासिका का रूप से सम्पर्क होना असम्भव है। मन के संयोग के बिना कोई इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती, पर कभी-कभी किसी विषय का अपनी इन्द्रिय पर प्रबल आघात मन की प्रेरणा न होनेपर भी विषय से सम्पर्क कर उसे जानने के लिए इन्द्रिय को विवश कर देता है। जैसे—सुषुप्तावस्था में किसी मनुष्य को मेघगर्जन सुनने की कोई इच्छा नहीं हो रही। न उस अवस्था में मन कोई कार्य कर रहा है, परन्तु अचानक ही मेघ के भयानक गर्जन, और बिजली की कड़क की ध्वनि उसके कान से टकरा कर उसे सुनने के लिए विवश कर देती है। ऐसी अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन के संयोग के बिना इन्द्रिय अपने कर्म में प्रवृत्त हो गयी। वस्तुतः यह संयोग और इसकी प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म तथा त्वरित होती है कि हम उसे अनुभव नहीं कर पाते। बाह्याभ्यान्तर विषयों का प्रत्यक्ष करने के लिए दैव मन जैसे जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों की सहायता से कार्य करता है, वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था में भी आन्तर इन्द्रिय के रूप में संस्काररूपी चित्रों का प्रत्यक्ष करता है।

कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से उनके द्वारा होनेवाले सारे कार्य यक्ष मन के नियन्त्रण में होते हैं। दैव मन तथा उसके अधीनस्थ इन्द्रियाँ सत्त्वगुणप्रधान तत्त्वों से बनी हैं। यक्ष मन में रजोगुणप्रधान है और उसके अधीनस्थ कर्मेन्द्रियों का निर्माण भी रजोगुण प्रधान भूतों से हुआ है। अपनी इच्छाशक्ति के बलपर ही यक्ष मन कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों की तुलना में मन कहीं अधिक सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है। वह आत्मा के निकट भी है, अतः स्वयं जड़ होते हुए भी आत्मा के चैतन्य प्रभाव को ग्रहण कर चेतन की भाँति कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। इन्द्रियों तक उसकी पहुँच है, अतः उन्हें प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। मन की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्थूल हैं, अतः आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, परन्तु प्राणतन्तुओं के द्वारा मन की दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मा की इच्छा होने पर मन के आदेश से पैर चलने लगते हैं, वाणी

बोलने लगती है, आँखों से आँसू बहने लगते हैं, पायु तथा उपस्थ मल बाहर फेंकने लगते हैं।

जिस प्रकार दैव मन को भीतर के अनुभवों और कार्यों में बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार भीतर की क्रियाओं के करने में यक्ष मन को भी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए विचारार्थ भीतर प्रश्नोत्तर करते हुए वह वाणी के बिना ही बोलता रहता है और बिना पैरों के चलकर कहीं पहुँच जाता है।

सामान्य कार्यों के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में यज्ञादि के जितने अनुष्ठान करता है उनमें उनका यही मन यक्ष अथवा यजमान बनता है। **'येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति'**—बुद्धिमान् कर्मनिष्ठ विद्वान् जिसके द्वारा कर्मयज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वह यक्ष मन ही है। जिस कर्मयज्ञ का यजमान मन है उसका द्रष्टव्य ब्रह्मा आत्मा और ऋत्विक् इन्द्रियाँ हैं। इस सन्दर्भ में गीता (३।७) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

अर्थात्—जो इन्द्रियों को मन के वशीभूत कर और आसक्ति का परित्याग कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार आत्मा के एक लिङ्ग ज्ञान का साधन दैव मन है तो उसके दूसरे लिङ्ग प्रयत्न का साधन यक्ष मन है।

सुषुप्ति की अवस्था में मन कार्य करना बन्द कर देता है और मन के बिना कुछ हो नहीं सकता। तब फिर उस अवस्था में हो रहे कार्य कैसे होते हैं? यह ठीक है कि सुषुप्ति में अपनी सहायक इन्द्रियोंसहित मन, बुद्धि, चित्त आदि सभी तमोगुण से अभिभूत हो अपना-अपना काम बन्द कर देते हैं, सब शिथिल होकर—थककर सो जाते हैं, चित्त के संस्कारों का व्यापार भी स्वप्नावस्था तक बन्द रहता है, गाढ़निद्रा में पहुँचने पर शान्त हो जाता है, किन्तु उस अवस्था में भी रक्तसंचार, हृदय का स्पन्दन, प्राणों का संचालन, नियत समयपर आँख खुल जाना आदि बहुत-सी क्रियाएँ अव्यक्तरूप में होती रहती हैं। कभी-कभी जब हम बुद्धि से किसी विषय में निर्णय नहीं कर पाते तो थककर या तंग आकर विचार करना छोड़ देते हैं, परन्तु प्रातःकाल होते ही हम देखते हैं कि जिस विषय में हम जाग्रत् अवस्था में भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कोई निश्चय नहीं कर पाये थे वह हमें हस्तामलकवत् प्राप्त हो गया। कभी-कभी जाग्रत् अवस्था में भी ऐसा होता है कि जब हम किसी विषय का परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने पर भी याद न आनेवाली बात बैठे-बिठाये अपने-आप याद आ जाती है, बिना बुलाये आ टपकती है। हम प्रातः ४ बजे उठना चाहते हैं। संकल्प करके सो जाते हैं। ठीक ४ बजे बिना घड़ी का अलार्म बजे हमारी आँख खुल जाती है—मानो हमें किसी ने हाथ पकड़कर उठा दिया हो। तो क्या यह सब किसी के बिना किये हो जाता है। नहीं, यह ऐसी सत्ता है जिसके बिना कुछ नहीं हो सकता। जब गाढ़ निद्रा में तमोगुण की वृत्ति बुद्धि और चित्तसहित दैव तथा यक्ष मन को हाथ-पैर बाँधकर सुला देती है, तब आवश्यक कार्यों में मन का 'धृति' नामक विभाग प्रवृत्त होता है। रात्रिसेवा (Night service) के लिए यह स्थायीरूप से नियुक्त है। जब निद्रा के कारण व्यापृत मन की शक्तियाँ शिथिल होकर शान्त हो जाती हैं और विघ्नडालने-वाला कोई नहीं रहता तो धृति मन को एकान्त में एकाग्र होकर चिन्तन-मनन करने का अवसर मिल जाता है और इस कारण तत्काल समस्या का समाधान हो जाता है। जड़ होते हुए भी अलार्म घड़ी की भाँति धृति मन अपने भीतर प्रवाहित तरंग के कारण नियत समय पर अपना कार्य करने का अभ्यस्त है।

धृति मन का यह सब कार्य आत्मा के नियन्त्रण में हुआ करता है, परन्तु स्वयं आत्मा को इसका पता नहीं रहता। पता रहता तो निश्चिन्त होकर सो न सकता और प्रातः काल उठने पर 'आज तो सोने में बड़ा आनन्द आया' न कह सकता। जैसे किसी मनुष्य को पैर हिलाते रहने या कागज लपेटते रहने की आदत पड़ जाती है। वह यह क्रिया करता रहता है, किन्तु उसे इसका अनुभव नहीं होता। ठीक उसी प्रकार आत्मा के धृति मन से अपने नियन्त्रण में कार्य करते हुए भी उसे यह पता नहीं रहता कि ये क्रियाएँ मैं ही करा रहा हूँ। उसके ये कार्य चिरकाल अभ्यास के कारण स्वाभाविकरूप से होते रहते हैं। कम्प्यूटर की भाँति धृति मन को आत्मा ने कुछ स्थायी निर्देश दे रक्खे हैं और वह तदनुसार कार्य करता रहता है। उसे हर समय आदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सारथि मन—अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है, चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और बलिष्ठ होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक पैर सारथि की इच्छानुसार पड़े। घोड़ों को नियन्त्रण में रखने के लिए सारथि को रस्सी की आवश्यकता पड़ती है। वेद में ऐसी रस्सी को **'अभीषु'** नाम से पुकारा गया है। **'अभीषु'** का पदार्थ है—अभि=सम्मुख—इशु=ऐश्वर्यवाला अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना। मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ में 'अभीषु' का अर्थ होगा—संचालन तथा नियन्त्रण में समर्थ। समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी इच्छानुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग करने का साहस होगा। जाग्रत् तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगानेवाले मन को यदि आत्मा अपने वश में नहीं रख सकता और मन इन्द्रियों के कान नहीं ऐंठ सकता तो मोक्षमार्ग की यात्रा सुखद नहीं हो सकती, अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुँचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न यथास्थान पहुँचानेवाला ही **'सुषारथि'** पद का अधिकारी होगा।

जविष्ठ मन—भौतिक जगत् में प्रकाश की गति सबसे अधिक मानी जाती है। एक सैकेण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील, किन्तु मन की गति का गणित की भाषा में निश्चय करना असम्भव है। इसीलिए उसके लिए आतिशय्यबोधक **'जविष्ठ'** पद का प्रयोग हुआ है। जविष्ठ मन बड़ी-से-बड़ी बाधा आनेपर भी कार्यसिद्धि से पहले नहीं रुकेगा। मनस्वी व्यक्ति ही **'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'** जैसी घोषणा करने का साहस कर सकेगा। यही जविष्ठ मन स्वेच्छाचारी हो जानेपर मनुष्य को क्षणभर में मृत्यु के मुख में धकेल देगा। यम-नियमादि के द्वारा इसकी वृत्तियों को वश में करके इसे शिवसंकल्प बना देना ही योग है।

इन्द्रियों के शिथिल, निष्क्रिय अथवा नष्ट हो जानेपर भी मन की सत्ता यथायथ बनी रहती है। शरीर के बूढ़ा हो जानेपर भी मन जवान बना रहता है। **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'** भर्तृहरि के इस कथन में प्रकारान्तर से मन के **'अजिर'** होने की व्याख्या है।

मन की त्रिकालज्ञता—उपर्युक्त चतुर्थ मन्त्र में मन को भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब पदार्थों को ग्रहण करनेवाला बताया है। यह ठीक है कि जड़ होने के कारण मन में ज्ञान नहीं है और अल्पज्ञ होने के कारण आत्मा भी त्रिकालज्ञ नहीं है, किन्तु आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो अल्पज्ञ होते हुए भी अपने भीतर ज्ञान के विशाल भण्डार का संग्रह करने का सामर्थ्य रखता है और उसके संसर्ग से अथवा उसका साधन होने के कारण मन को उस ज्ञान से सम्बद्ध माना जा सकता है। जो आज क-ख-ग भी नहीं पहचानता, एक दिन आता है जब वह पूछे जानेपर यह बता देता है कि आज से दस वर्ष पूर्व सूर्यग्रहण कब हुआ था और यह भी कि आज से दस वर्ष बाद कब होगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की गति और उनके उदयास्त

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥६॥

—यजुः० अ० ४० । मं० १६ ॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइए और जो हममें कुटिल पापाचरण-रूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिए इसीलिए हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत-सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें ॥६॥

की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी यथार्थ उत्तर दे सकता है । इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर वह भविष्यत् की योजनाएँ बनाता है । स्वाध्याय, अनुभव, परीक्षण तथा ज्ञानियों के संसर्ग से आत्मा का ज्ञान बढ़ता हुआ नित्यप्रति देखा जाता है । ज्ञानी आत्माओं की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनन्त है । सत्त्वगुण प्रधान होनेपर जब जीवात्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपने ज्ञान को न जाने कितना बढ़ा लेता है । उस अवस्था में त्रिकालज्ञ, त्रिकालदर्शी परम पुरुष का ज्ञान जीवात्मा को अपनी शक्ति से सम्पन्न करने लगता है । जब साधारण मनुष्य स्वामी के निकट होने पर उसके ऐश्वर्य को अपना कहने लगता है तो मुक्तिपर्यन्त आत्मा का साथ देनेवाले मन को तादात्म्यभाव से त्रिकालज्ञ कह दिया जाए तो विशेष आपत्ति की बात नहीं ।

परन्तु उस अवस्था में भी जीवात्मा परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता । परमात्मा के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने की न उसे आवश्यकता है और न उसे ग्रहण करने की क्षमता, अतः जीवात्मा को उतना ही ज्ञान प्राप्त होता है जितने की उसके जीवन में उपयोगिता सम्भव है । मन्त्र में **'भूतं भुवनं भविष्यत्'** से **'इदम्'** पद जोड़े जाने से वे ही पदार्थ अभिप्रेत हैं जो जीवात्मा के सन्निहित हैं । यजुर्वेद (३८।२६) का यह मन्त्र इस बात को स्पष्ट कर देता है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥

इस मन्त्र में प्रयुक्त दो शब्द—ऊर्जा तथा तावन्तम्—बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । 'ऊर्जा' पद से दो भाव झलकते हैं—एक तो यह कि जीवात्मा कह रहा है कि मेरी शक्ति इतने ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने तक सीमित है और दूसरा यह कि मैंने अपने सत्त्वगुणप्रधान मन की ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति को जाग्रत् कर लिया है । **'तावन्तम्'** भी पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में भूलोक और द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की उसे अपेक्षा है ।

अग्ने नयेति—(अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमेश्वर (राये) धन तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (अस्मान्) हमें (सुपथा) सन्मार्ग से (नय) ले-चलिए । (देव) हे दिव्य गुणों के स्वामी परमेश्वर ! आप (वयुनानि) हमारे समस्त कर्मों को (विद्वान्) जानते हैं । (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलता को तथा (एनः) पापों को (युयोधि) दूर भगा दीजिए । हम आपके प्रति (भूयिष्ठाम्) अत्यधिक (नम उक्तिम्) नमन के वचन (विधेम) कहते हैं ।

अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—'जो सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते, यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं, उनको दयालु ईश्वर पापाचरण-मार्ग से पृथक् कर धर्मयुक्त मार्ग में चलाके, विज्ञान देकर धर्म,

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा नं उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥१०॥

—यजुः० अ० १६ । मं० १५

हे 'रुद्र'=दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर ! आप हमारे छोटे-बड़े जन, गर्भ, माता-पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा उनके शरीरों का हनन करने के लिए प्रेरित मत कीजिए । ऐसे मार्ग से हमको चलाइए जिससे हम आपके दण्डनीय न हों ॥१०॥

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥११॥

—शतपथ ब्रा० १४।३।१।३०

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिए । अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिए और मृत्यु-रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिए ॥११॥

अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिए समर्थ करता है। इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना न करें।'

मन्त्र में धन के लिए **'रयि'** शब्द का प्रयोग हुआ है जो **'रा दाने'** से निष्पन्न है। जो धन अपने पास रखने के लिए नहीं, अपितु देने के लिए कमाया जाता है वही **'रयि'** कहाता है। ऐसे धन के साथ **'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'** (रघुवंश) की भावना जुड़ी होती है और इस भावना के रहते कोई कुपथ से धन कमाने की नहीं सोचेगा। पापाचरण से हटाने का अर्थ पाप के प्रति मन में भय, शंका और लज्जा की भावना पैदा कर जीवात्मा को सावधान करना है, बलात् हटाना नहीं, क्योंकि वैसा करना उसके कर्म स्वातन्त्र्य में बाधा डालना होगा।

मा नो महान्तमिति—यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का पदार्थ इस प्रकार किया है—

हे (रुद्र) युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वान् पुरुष ! आप (नः) हमारे (महान्तम्) उत्तम गुणों से युक्त पूज्य पुरुष को (मा) मत (उत) और (अर्भकम्) छोटे, क्षुद्र पुरुष को (मा) मत (नः) हमारे (उक्षन्तम्) गर्भाधान करनेहारे को (मा) मत (उत) और (नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भ को (मा) मत (नः) हमारे (पितरम्) पालन करनेहारे पिता को (मा) मत (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) मान्य करनेहारी माता को भी (मा) मत (वधीः) मारिए और (नः) हमारे (प्रियाः) स्त्री आदि के प्यारे (तन्वः) शरीरों को (मा) मत (रीरिषः) मारिए।

इसके भावार्थ में वे लिखते हैं—योद्धा लोगों को चाहिए कि युद्ध के समय वृद्धों, बालकों, युद्ध से हटनेवालों, गर्भों, योद्धाओं के माता-पिताओं, सब स्त्रियों, युद्ध देखने वा प्रबन्ध करनेवालों और दूतों को न मारें, किन्तु शत्रुओं के सम्बन्धी मनुष्यों को सदा वश में रक्खें।

यहाँ स०प्र० में रुद्ररूप परमेश्वर को सम्बोधन किया है और वेदभाष्य के अन्तर्गत रुद्ररूप सेनापति को सम्बोधन किया गया है। तात्पर्य उभयत्र समान है।

असतो मेति—बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।२८) में एक आख्यायिका के माध्यम से इन वाक्यों का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

"यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा

अर्थात् जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिए और जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से **'सगुण-निर्गुण-प्रार्थना'** कहाती है।

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिए, अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

[ऐसी प्रार्थना कभी न करे]

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिए और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे—'हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे अधीन सब हो जाएँ' इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे ? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे। तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिए। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइए। मेरे मकान में झाड़ू लगाइए, वस्त्र धो दीजिए और खेती-बाड़ी भी कीजिए।

[पुरुषार्थी की ही प्रार्थना सफल होती है]

इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं, वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे—

ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति''।

अर्थात्—जब कोई **'असतो मा सद्गमय'** कहता है तो वह वास्तव में **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** ही कहता है, क्योंकि 'असत्' मृत्यु है और 'सत्' अमृत है। इस प्रकार उसके कहने का अभिप्राय यही होता कि मुझे अमृत प्रदान करो। जब वह **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** कहता है तब भी वास्तव में वह **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** ही कहता है, क्योंकि 'तम' मृत्यु है और 'ज्योति' अमृत है। उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले-चलो।

जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उसके गुणों को अपने में धारण कराने के लिए प्रार्थना की जाती है, वह विधिमुख होने से सगुण प्रार्थना कहाती है। इसी प्रकार जिस-जिस दोष अथवा दुर्गुण से ईश्वर को पृथक् मानकर अपने को भी उनसे दूर रखने की प्रार्थना की जाती है, वह निषेधमुख होने से निर्गुण प्रार्थना कहाती है। इस प्रकार शुभ गुणों को ग्रहण करने की प्रार्थना **'सगुण'** और दोषों से छुड़ाने के लिए ईश्वर की सहायता चाहना निर्गुण प्रार्थना कहाती है। **'दुरितानि परासुव'** तथा **'भद्रमासुव'** एक ही मन्त्र में क्रमशः निर्गुण तथा सगुण प्रार्थना के उदाहरण हैं।

पानी तैरने में उसी की सहायता करता है जो स्वयं हाथ-पैर मारता है। इसी प्रकार पुरुषार्थपूर्वक की गयी प्रार्थना ही सफल होती है। जो प्रार्थनाभर करके आलसियों की तरह **'होई है वही जो राम रचि राखा।**

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ॥

—यजुः० अ० ४० । मं० २

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो ।

देखो, सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं । जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते, और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं । वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है । जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है ।

जैसे काम करनेवाले पुरुष को भृत्य करते हैं, और अन्य आलसी को नहीं । देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं । इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं । जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता ही है, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है ।

को करि जतन बढ़ावै साखा' इस विश्वास के साथ परमेश्वर के सहारे बैठा रहता है, वह बैठा ही रह जाता है और जो साथ-साथ प्रयत्न भी करता है, वह देर-सवेर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

कुर्वन्नेवेह—यह संसार है—**संसरति**, निरन्तर चलता रहता है । जगत् है—गति करता रहता है । कार्लाइल के शब्दों में—'What is this universe, but an infinite conjugation of the verb 'to do'. अर्थात् यह संसार **'कृ'** (करना) धातु से निष्पन्न विविध क्रिया पदों का प्रदर्शन है । मनुष्य इसी संसार का अंग है । जब सारी मशीन चल रही हो तो ऐसा कौन-सा पुर्ज़ा है जो न चले । सतत गतिशील संसार में किसी के निष्क्रिय या अकर्मण्य रहने की कल्पना ही नहीं की जा सकती । स्वयं परमेश्वर की क्रियाशीलता का चित्रण करते हुए किसी ने लिखा है—

"God is eternally busy. He is not loafing on his throne till the day of judgement. He is pumping at your heart, operating in the laboratory of your stomach, directing infinite atoms of matter, painting the lilies, whirling the stars, pushing up the seeds. My father worketh hitherto and I work.

—Great Thoughts, April, 1933.

अर्थात्—परमात्मा हर समय काम में लगा रहता है । वह न्याय के दिन तक खाली बैठा रहनेवाला नहीं है । वह तुम्हारे हृदय में रक्तसंचालन में प्रवृत्त रहता है, तुम्हारे पेट की रसायनशाला में काम करता है, प्रकृति के परमाणुओं का संयोजन करता है, फूलों में रंग भरता है, बीजों को अंकुरित करता है, नक्षत्रों का संचालन करता है । मेरा पिता काम में लगा रहता है तो मैं काम क्यों न करूँ ?

मनुष्य स्वयं कुछ न करे और दूसरे से—परमेश्वर से आशा करे कि वह उसकी इच्छानुसार कार्य करता रहे—यह व्यवहार्य नहीं है ।

परन्तु पुरुषार्थी को भी सत्कर्म में ही ईश्वर की सहायता मिलती है । वह सबकी भलाई चाहता है, इसलिए किसी दुष्कर्म में सफल होने की इच्छा से की गयी प्रार्थना में ईश्वरीय सहायता पाने की आशा नहीं करनी चाहिए । परस्पर विरोधी दो व्यक्ति यदि एक-दूसरे के अहित की कामना से प्रार्थना करें तो दोनों की प्रार्थना सुनने का अर्थ होगा—दोनों का अहित । ऐसी अवांछनीय प्रार्थनाएँ परमेश्वर कभी नहीं

अब तीसरी **उपासना**—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

—यह उपनिषद् का वचन है[1] ॥

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है ।

[उपासना का अर्थ और उसके अङ्ग]

'उपासना' शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिए । अर्थात्—

सुनता । पुरुषार्थपूर्वक, शुभकर्मों में सफलता के लिए की गयी प्रार्थना स्वीकार हो सकती है ।

उपासना—'उपासना' शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है, परन्तु बहुत कम । **'य आत्मदा बलदा'** इत्यादि (यजुर्वेद २५।१३) प्रार्थना के इस प्रसिद्ध मन्त्र में **'उपासते'** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अभिप्राय 'उपासना' पद के अभिप्राय से मिलता है । सामवेद तथा ऋग्वेद में भी **'उपासते'** शब्द इसी उपासना के अर्थ के साथ समानता रखता प्रतीत होता है । यथा **'इन्द्रं जातमुपासते'** (साम० पू० प्र० २, द० २। मं० १ तथा ऋग्वेद १०।१५३।१) अथर्ववेद में भी **'उपासते'** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका उपासना शब्द के साथ अतिशय साम्य है, जैसे—**'यो देवमुत्तरावन्तमुपासाते सनातनम्'**—१०।८।२२ ।

परन्तु वेदों में 'उपासना' के अभिप्राय के साथ सर्वाधिक समता रखनेवाला शब्द **'उपस्थान'** है । 'उपस्थान' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है । यजुर्वेद के **'उपस्थाय........अभिसंविवेश'** (३२।११) का अर्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म का उपस्थान कर अपने आत्मस्वरूप द्वारा ब्रह्मात्मा में सम्पूर्णरूप से प्रवेश पा जाता है । **'अभिसंविवेश'** पद अत्यन्त समीपस्थ स्थिति का उत्कर्ष प्रतीत होता है—मानो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की गोद में ही छिपा है । **'उपसद्', 'आसद्', 'निसद्'** आदि शब्दों को लेकर भी वेद में **'उपासना'** की खोज करना आवश्यक है

उपासना का अभिप्राय है—समीप स्थिति (उप=समीप; आसना=**आस उपवेशने**), अर्थात् उपासक उपासनाकाल में ब्रह्म को अपने समीप और अपने को ब्रह्म के समीप स्थित हुआ जाने । ऐसी भावना बनाकर परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए । उपासनाकाल में उपासक अपने मन को परमेश्वर में स्थित रक्खे । उस अवस्था में उसपर बहुत कुछ परमात्मा के गुण कर्म-स्वभाव का प्रभाव हो जाता है । उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है और परमेश्वर के सान्निध्य से नित्यप्रति ज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है ।

परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, जीव केवल सच्चित् है । **'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी**

---

१. मैत्रायण्यु० प्र० ४ । खं० ४ । वचन ६॥ तथा मैत्रायणीय आरण्यक ६।३४॥ वहाँ प्रथम पाद में 'समाधिनिर्धौतमलस्य' पाठ है ।

भवति'—परमेश्वर आनन्दस्वरूप है,उसके सान्निध्य से जीवात्मा को भी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

उपासना—**'उपास्यतेऽनया इत्युपासना'** अर्थात् जिससे परमात्मा के समीप ठहरा जाए उसे उपासना कहते हैं। तो क्या परमात्मा जीवात्मा से दूर है? वेद में जिसे सबके बाहर-भीतर व्याप्त बताया है (**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**) ;उपनिषदों में जिसे **'सर्वभूतान्तरमात्मा'** और गीता में सबके हृदय में वास करनेवाला (**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**) कहा है। वह कब किसी से दूर हो सकता है, जो उसके पास जाने का प्रश्न उठे? इस सन्दर्भ में यजुर्वेद (४०।५) में आये **'तद्दूरे तद्वन्तिके'** शब्द विचारणीय हैं। तदनुसार ईश्वर दूर भी है और पास भी है। एक-साथ किसी वस्तु के दूर और पास कहने में परस्पर विरोध का आभास है। वस्तुतः अज्ञान के कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है। यही कारण है कि परमेश्वर को सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी माननेवाले भी उसे अपने भीतर न पाकर दूरस्थ नगरों, पहाड़ों और जंगलों में ढूँढते फिरते हैं। जो परमात्मा हरिद्वार में रहनेवालों को हरिद्वार में न मिलकर काशी में मिलता है, वही परमात्मा काशीवालों को काशी में न मिलकर हरिद्वार में मिलता है। वहाँ पहुँचकर भी वे उससे (अपने पिता से) सीधा सम्पर्क नहीं कर पाते, अपितु बिचौलिए पुजारियों के अनुग्रह से उनकी पेट-पूजा कर और मुँहमाँगी दक्षिणा (रिश्वत) देकर नियत समय में ही अपने इष्टदेव का सामीप्यलाभ करने में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार परमात्मा अज्ञानियों से दूर और ज्ञानियों के समीप रहता है। इतना ही नहीं, सदोष अन्तःकरण के कारण उसमें व्याप्त परमेश्वर की प्रतीति नहीं होती। उपनिषद् के अनुसार तो **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**—परमेश्वर उसी को मिलता है जिसे वह वरण करता है। परमेश्वर उसी का वरण करता है जो उसका समानधर्म होता है—**'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'**, अतः जिस अंश में उपासक के गुण-कर्म-स्वभाव परमेश्वर के अनुरूप होते हैं, उसी अंश में उसे परमेश्वर का सामीप्य-लाभ होता है।

अष्टाङ्गयोग—**'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'** ।—योगसूत्र२।२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि —ये आठ योग के अङ्ग हैं। इनमें सभी भाव वा साधनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इनका अनुष्ठान करने से चित्त के अविद्यादि क्लेशरूप सभी मलों का नाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर उपासक का आचरण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त के दोष क्षीण होते जाते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित व स्पष्ट होती जाती है। अन्त में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च प्रकर्ष को प्राप्त कर लेती है। यह प्रकर्ष है—विवेकख्याति। प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान—प्रकृति जड़ तत्त्व है; आत्मतत्त्व चेतन अपरिणामी है—यह साक्षात् बोध आत्मा को हो जाता है। इस प्रकार योग के अङ्गों का अनुष्ठान जहाँ दोषों के वियोग का कारण है, वहाँ विवेकख्याति की प्राप्ति का भी साधन है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तत्सिद्धिः—चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं। इनका अनुष्ठान यम-नियमादि के पालन से सम्भव है। **'यम'** पद **'यम उपरमे'** धातु से निष्पन्न है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है—बाह्य विषयों की ओर से अपने आपको निवृत्त करना, अर्थात् अपने आपको संयत और नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति के लिए जिन निर्देशक सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है, वे **'यम'** के अन्तर्गत हैं। जिन भावनाओं व कार्यों को केवल व्यक्तिगत जीवन में निभाना होता है वे **'नियमों'** में परिगणित हैं। आत्मा में बीज बोने के लिए यम-नियमों के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। इनका पूर्णतया पालन किये बिना चरित्र-निर्माण

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

इत्यादि[1] सूत्र पातञ्जल योगशास्त्र के हैं।

जो उपासना का आरम्भ करना चाहे, उसके लिए यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे। सत्य बोले मिथ्या कभी न बोले। चोरी न करे, सत्य-व्यवहार करे। जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। ये पाँच प्रकार के **'यम'** मिलके **'उपासनायोग का प्रथम अङ्ग'** है।

असम्भव है और चरित्र-निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन में यम-नियमों का व्यवहार नहीं वे तथाकथित योगी केवल आत्मवंचक वा जगवंचक हैं।

यम— **तत्र-अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ।** —योगसूत्र साधनपाद ३०।

अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर का त्याग करके प्रीतिपूर्वक वर्त्तना 'अहिंसा' है। मनसा-वाचा-कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना तक का मन में न आने देना 'अहिंसा' है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना को चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। सत्य आदि सभी यम-नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसासिद्धि के लिए ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने में ही उनका साफल्य है। यम-नियमों में अहिंसा के प्राधान्य का उल्लेख करने के लिए आचार्य पञ्चशिख ने कहा—**'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनि दानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।'** अर्थात् ब्रह्मवित् जैसे-जैसे व्रतों का अनुष्ठान करते हैं वैसे-वैसे (उन व्रतों द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्मों से हटते हुए अहिंसा को निर्मल कर देते हैं, अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल कर देते हैं।

अहिंसाव्रत में पूर्ण परिपाक होनेपर उसके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जिस प्रकार मैस्मेरिज़म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को वश में करके अपना अनुयायी बना लिया जाता है, उसी प्रकार जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो चुकी होती है कि वे उनके द्वारा स्वप्रकृति में हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते हैं, उनकी सन्निधि में वन्य प्राणी उनके मनोभावों से भावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। जब उपासक अहिंसाधर्म में दृढ़ हो जाता है तो मन-वचन-कर्म द्वारा किसी भी रूप में उसके चित्त में हिंसा की भावना नहीं उभरती। उस अवस्था में उसकी संगति में, सामान्य विरोधी की तो बात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी वैरभाव छोड़ देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्धि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक साथ रहते, खाते-पीते और साँप-नेवला साथ-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

सत्य—जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही मानना, कहना और करना **'सत्य'** कहाता है। छल, प्रपंच या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य **(नरो वा कुंजरो वा)** भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के भी अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियों के लिए हितकारक हो। सत्यसाधन में मितभाषी होना सहायक होता है। रघुवंशियों के गुणों की चर्चा करते हुए कालिदास ने

---

१. अर्थात् यह तथा अगला दोनों सूत्र साधनपाद के ३०,३२ सूत्र हैं। सूत्र ३० में पठित तत्र' पद को कई विद्वान् व्यासभाष्य का पाठ मानते हैं।

रघुवंश में लिखा है—**'सत्याय मितभाषिणाम्'** अर्थात् सत्यनिष्ठ होने के लिए वे मितभाषी होते थे। अधिक बोलनेवाले की वाणी से अनजाने ही अनेक असत्य वाक्य निकल जाते हैं। इसलिए मन को सत्यप्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि कल्पनाप्रधान विषयों से विरक्त रहना अभीष्ट है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके वाक्य तथा मन यथार्थविषयक होते हैं। उसकी वाक्यवाहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नाटिज़्म (कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न हो, सरल सत्यवाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के मन पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार यदि योगी किसी पापी को कह दे—**'तू धार्मिक हो जा'** तो निश्चय ही वह धार्मिक हो जाएगा, अर्थात् अधर्म के मार्ग को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त हो जाएगा। ऋषि दयानन्द ने महात्मा अमीचन्द जैसे अत्यन्त निकृष्ट, भ्रष्ट और पतित व्यक्ति को इतना ही कहा था—'अमीचन्द हो तो तुम हीरे, पर कीचड़ में पड़े हो'। योगी के मुँह से निकले इस एक वाक्य से रातभर में अमीचन्द की काया पलट हो गयी और वह **'भक्त अमीचन्द'** हो गया। वस्तुतः सत्यनिष्ठ योगी उसी बात को कहता है जो हो सकती है। सदा सत्यभाषण की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नहीं, इसलिए उनका कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्यनिष्ठ योगी अपनी क्षमता के बहिर्भूत अथवा असम्भव संकल्प कभी नहीं करता।

वाणी के प्रयोग का अर्थ यह है कि जो अपने मन में हो, वह श्रोता के मन में संक्रमित होकर उसे मालूम हो जाए, अतः वाणी को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—

(१) **'न वञ्चिता'**—वाणी ऐसी हो कि उसके प्रयोग से किसी को धोखा न हो। **'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'** अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया (मनुष्य या हाथी)। युधिष्ठिर की इस वाणी से आचार्य द्रोण को अपने पुत्र के मारे जाने का धोखा हुआ, अतः यह असत्य भाषण है।

(२) **'न भ्रान्ता'**—ऐसी वाणी न बोले जिसके विषय में अभी स्वयं वक्ता ही भ्रम में हो। स्वयं भ्रान्ति-विषयक वाणी का प्रयोग करने से अपना विचार दूसरे को यथार्थरूप में नहीं समझाया जा सकता, अतः यह भी असत्यरूप है।

(३) **'न प्रतिपत्तिबन्ध्या'**—अपनी बात को ऐसी भाषा में न कहे जिसे दूसरा अच्छी तरह न समझता हो, क्योंकि इस प्रकार भी अपनी बात दूसरे में संक्रान्त नहीं की जा सकती, अतः ऐसी वाणी का प्रयोग भी असत्य की परिभाषा के अन्तर्गत आता है।

(४) **'न द्व्यर्थका'**—ऐसा वाक्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिनके दो अर्थ निकाले जा सकते हों। यह प्रच्छन्न असत्य है।

(५) सत्य ऐसा बोलना चाहिए जिससे प्राणिमात्र का कल्याण हो। ऐसा सत्य जिसके बोलने से सबकी या बहुतों की हानि होती हो, आपाततः सत्य दीखने पर भी पाप हो जाता है, जिसका फल दुःख होता है।

अस्तेय—जो अदत्त है या धर्मतः अप्राप्य है उसका ग्रहण या जो निज स्व नहीं है, उसका उसके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना **'स्तेय'** है। ऐसे पदार्थ के विषय में जो निःस्पृह होने का भावविशेष है, वही **'अस्तेय'** है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह पदार्थ ग्राह्य नहीं हो जाता, क्योंकि वह निजस्व न होकर परस्व है। जिस पदार्थ पर दूसरे का अधिकार है उसे

ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की लालसा भी नहीं करनी चाहिए—**'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** । लालसा ही आगे चलकर स्तेय का रूप धारण कर लेती है । इस सबका पूर्ण त्याग ही अस्तेय है ।

चोरी की भावना का त्याग हो जानेपर वस्तुओं के लोभ और संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है । ऐसी अवस्था में योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है । तब जिस वस्तु को भी वह चाहता है, संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है । कहीं भी चला जाए, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होता । इस प्रकार दूसरों का स्वत्वाधिकार होनेपर भी सब प्रकार की सम्पदाओं का उपयोगाधिकार मिल जाने से सब-कुछ उसी का हो जाता है । यही सिद्धास्तेय योगी के पास सब रत्नों का उपस्थित होना है । यही उसकी सिद्धि का चिह्न है ।

ब्रह्मचर्य—मात्र उपस्थसंयम ब्रह्मचर्य नहीं कहाता । पूर्णरूप से वीर्यरक्षा के साथ अन्य समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों में निर्बाधरूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है । यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाए तो वे सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं, अतः किसी भी इन्द्रिय की उसके विषय में प्रवृत्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्यपालन के लिए आवश्यक है । मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) में कहा है—**'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले को आत्मसाक्षात्कार कभी नहीं हो पाता । यह पथ अत्यन्त दुर्गम है । पूर्णसंयमी पुरुष ही इसे पार कर पाता है । इस साधना में लगे उपासक को सावधान करने के लिए मनुस्मृति (२।६३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयः ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

इन्द्रियों के वश में होकर जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब वह इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त होता है । इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥

ब्रह्मचर्य में अवस्थित व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचना चाहिए । स्त्री (पुरुष) का परस्पर एकान्तदर्शन, स्पर्शन, विषयकथा, संभाषण, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग —यह आठ प्रकार का मैथुन है । इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक (६।१७) द्रष्टव्य है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थात् जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसी के लिए यह योगाभ्यास दुःखनाशक और सुखावह होता है ।

ब्रह्मचर्य के दुर्दान्त शत्रु—काम का समूल उन्मूलन ब्रह्मचर्यपालन से ही सम्भव है । इतिहास साक्षी है कि साधकों को योगभ्रष्ट करने में सबसे बड़ा हाथ इसी का रहा है, अतः योगमार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए ब्रह्मचर्यपालन सर्वोत्तम उपाय है ।

अपरिग्रह—देहरक्षा के निमित्त अपेक्षित भोग्य पदार्थों से अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह न करना

अपरिग्रह है । प्राणधारण के लिए भोजन, तन ढाँपने के लिए वस्त्र तथा सर्दी-गर्मी-बरसात से बचने के लिए मकान आदि आवश्यक हैं, परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढंग से बने छोटे-से मकान से भी हो सकती है । असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और आलीशान बंगले 'परिग्रह' की कोटि में आजाते हैं । योगी के लिए अपरिग्रह पर इतना बल इसलिए दिया गया है कि यदि वह अनावश्यक संग्रह में लगा रहा तो उसकी वृत्तियाँ तो बहिर्मुखी होंगी ही, उसका सारा जीवन इसी में पूरा हो जाएगा । योगसाधना के लिए अवसर कहाँ रहेगा ।

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है । इस दृष्टि से अपरिग्रह का आंशिक पालन सद्गृहस्थियों द्वारा किया जाना भी वांछनीय है । इसके न होनेपर भोग्य सामग्री का कुछ एक स्थानों पर आवश्यकता से अधिक जमा हो जाना सम्भव है । परिमाणतः साधारण जनता के लिए उसमें कमी आ जाना अवश्यम्भावी है । इससे समाज में विषमता और तज्जन्य असन्तोष का फैलना स्वाभाविक है । सामाजिक हित की दृष्टि से तो—

यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति ॥ —भागवत०

A wise man will desire no more than what he can get justly, use soberly, distribute cheerfully and leave contentedly.—Anon.

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय और इसलिए दण्डनीय अपराध है । ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है । आवश्यकता से अधिक द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ में न लगाना स्वार्थपरता है जो पशुवृत्ति का परिचायक है । **'त्यागाय संभृतार्थानाम्'** (रघुवंश) रघुवंशी त्याग—दान के लिए संग्रह करते थे । **'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'**—बादलों की भाँति उनका लेना देने के लिए होता है । इन गुणों के कारण वे योगावस्था में ही प्राणों का विसर्जन करते थे—**'योगेनान्ते तनूत्यजाम्'** योगी का लक्ष्य निःस्वार्थता की चरम सीमा है, अतः जीवनयापन के लिए नितान्त आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं के अतिरिक्त परिग्रह (परि=परितः—चारों ओर से ग्रहण करने की भावना) उनकी योगसिद्धि में बाधक है ।

अपरिग्रह के अभाव से भोग्य विषयों में तुच्छता का ज्ञान होनेपर, 'शरीर भी परिग्रहस्वरूप है' ऐसा जान पड़ता है । देह को स्वच्छ, स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए अपेक्षित दिनचर्या की उपेक्षा करके जब मनुष्य उसके बाह्य रूप को सजाने-संवारने में लग जाता है तब वह देहविषयक परिग्रह का दोषी होता है । जब विषय और शरीर से मन का अलगाव होता है और मनुष्य विषयासक्ति को छोड़कर जितेन्द्रिय होता है, तब उसे जन्मकथन्तासम्बोध अर्थात् जन्मजन्मान्तरविषयक ज्ञान होता है । विषय तथा शरीर का घनिष्ठताजनित मोह ही पूर्वापर ज्ञान का प्रतिबन्धक है । शरीर को सम्यक् स्थिर तथा निश्चेष्ट रखने पर जिस प्रकार दूरदर्शनादि ज्ञान होते हैं, उसी प्रकार भोग्यविषय के साथ शरीर परिग्रह है—ऐसी ख्याति होने पर आत्मा के पृथक्त्व का बोध होने तथा शरीर मोह से ऊपर उठ जाने के कारण मनुष्य सोचने लगता है—'जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? क्यों आया हूँ ? पूर्वजन्म में क्या था ? आगे क्या होगा ? क्या करने से मेरा कल्याण होगा ?' इत्यादि । इसी को योगदर्शन में जन्मकथन्तासम्बोध' कहा है । इस प्रकार भौतिक पदार्थों के 'श्वोभाव' होने से परिग्रह से निवृत्ति होकर अपरिग्रह के स्थिर होनेपर जन्मविषयक समस्याओं तथा उनके समाधान का साक्षात्कार हो जाता है ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ —योग सू०

राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहे। धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे। प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे। सदा दुःख-सुखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं। सर्वदा सत्यशास्त्रों को पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषों का सङ्ग करे। और **'ओ३म्'** इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ-विचार करे। नित्यप्रति जप किया करे। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पाँच प्रकार के **'नियमों'** को मिलाके **'उपासनायोग का दूसरा अङ्ग'** कहाता है, इसके आगे छह अङ्ग **योगशास्त्र वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**+में देख लेवें [1]।

ये यम जाति, देश, काल और सीमा से रहित सार्वभौम महाव्रत हैं। अहिंसा आदि यमों का सदा सर्वत्र यावज्जीवन पालन करना चाहिए। किसी भी अवस्था में अपवादरूप इनके अनुष्ठान में शैथिल्य अथवा स्थगन वांछनीय नहीं है, परन्तु सामान्य जन समाज, वातावरण तथा अन्य बाधाओं से अभिभूत होकर उन्हें जाति, देश, काल, शपथ व प्रतिज्ञा तथा सुनिर्धारित नियम आदि से सीमित कर लेते हैं मछियारे द्वारा मछली मारने तक अपनी हिंसा को सीमित कर अन्य जाति (प्राणी) की हिंसा न करना **'जात्यवच्छिन्न'** अहिंसा है। तीर्थस्थान में हिंसा न करना 'देशावच्छिन्न' (देशविशेष में सीमित) अहिंसा है। पूर्णमासी या एकादशी के दिन हिंसा न करना **'कालावच्छिन्न'** अहिंसा है। किसी प्रयोजनविशेषविषयक प्रतिज्ञा या शपथ को छोड़कर अन्यत्र अहिंसक रहना **'समयावच्छिन्न'** अहिंसा है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी भी कारण से किसी की भी हिंसा न करना **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न'** अहिंसा है। इसी प्रकार केवल गौ-ब्राह्मण की रक्षार्थ असत्य भाषण को छोड़ अन्यथा असत्य भाषण न करना **'जात्यवच्छिन्न'** सत्य; अन्यत्र असत्य भाषण करते रहने पर भी धर्मस्थान में असत्य न बोलना **'देशावच्छिन्न'** सत्य है। चतुर्दशी आदि के दिन असत्य न बोलना **'कालावच्छिन्न'** सत्य तथा प्रयोजनविशेष के कारण असत्याचरण करना, अन्यथा नहीं, **'समयावच्छिन्न'** सत्य है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी कारण, किसी के भी निमित्त असत्याचरण न करना **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न'** सत्य है। इसी प्रकार शेष यमों के विषय में भी अवच्छेद तथा अनवच्छेद का भेद जानना चाहिए।

यमों का पालन करना यद्यपि मनुष्यमात्र के लिए श्रेयस्कर है, योगमार्ग पर चलनेवाले के लिए तो उनका अनुष्ठान अनिवार्य है। साधारण गृहस्थों के लिए विशेष परिस्थितियों में आंशिक छूट मिल भी जाए तो भी संन्यासी, यति अथवा योगमार्ग के पथिक के लिए तो ये सार्वभौम महाव्रत हैं, अतः उनके लिए इनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य है।

नियम—शौच—'शौच' पद का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर अथवा शारीरिक तथा मानसिक। इसमें मनुस्मृति (५।१०६) का प्रमाण है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

+ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इसका वर्णन है।

---

१. योगविद्या के लिए ऋषि दयानन्द के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्दकृत ध्यानयोगप्रकाश' ग्रन्थ विशेषरूप से पठनीय है। यह ग्रन्थ रालाकट्रस्ट ने प्रकाशित किया है।

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मानुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है ।

जलादि से शरीर, वस्त्र तथा आवास आदि को शुद्ध रखना बाह्य शौच है । मद, मात्सर्य, असूया, राग-द्वेष आदि मलों का प्रक्षालन कर मन को स्वच्छ रखना आभ्यन्तर शौच है । अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगाभ्यास में अपेक्षित कर्मण्यता से शून्य रहता है, अतः दोनों प्रकार का शौच समानरूप से आवश्यक है । शरीर और मन दोनों की शुद्धि में आहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अमेध्य आहार द्वारा शरीर में **अशुचि** जाने से शरीर ही दूषित नहीं होता, मन में भी मलिन भाव उभरते हैं । गले-सड़े, दुर्गन्धित, मादक तथा अस्वाभाविकरूप से शरीरयन्त्र के लिए उत्तेजक पदार्थ अमेध्य कहे जाते हैं । मादक द्रव्य के सेवन से चित्त में स्थिरता तथा हिंसा से प्राप्त पदार्थों के सेवन से शान्ति कभी नहीं आ सकती । अंग्रेजी के एक कवि एडविन अर्नल्ड (Edwin Arnold) ने 'The light of Asia' नाम से काव्यरूप में महात्मा बुद्ध की जीवनी लिखी है । एक स्थान पर उसने लिखा है—

"To live on death and seek peace of mind,

What a folly I find in mankind."

मनुष्य हिंसा (से प्राप्त मांस) पर जिये और मानसिक शान्ति पाने की आशा करे, इससे बड़ी मूर्खता की बात क्या होगी ? ऐसे अमेध्य पदार्थों का सेवन उसके वशीकरण में बाधक होने से उसके योग के शत्रु हैं । चरकसंहिता (चिकित्सास्थान २४।५२-५४) में ठीक कहा है—

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम् ।
मनः समाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥
मद्येन मनसश्चायं संक्षोभः क्रियते महान् ।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धाः मद्यलालसाः ॥

अर्थात्—परलोक में और इहलोक में जो हितकर और परम श्रेय है वह सब मनुष्य को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है, परन्तु मद्य से मन में अत्यन्त क्षोभ हो जाता है, अतः मद्य से जो अन्धा है तथा मद्य में जिसकी लालसा है उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता ।

जल, मिट्टी तथा विशिष्ट यौगिक क्रियाओं द्वारा निरन्तर शरीर की शुद्धि करते रहनेपर भी जब योगाभ्यासी शरीर को अशुद्ध ही पाता है तो स्वभावतः उसमें अनासक्ति तथा उपेक्षा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसे कामदोषदर्शी की शरीरमात्र में प्रीति न रहने से अन्य व्यक्तियों के साथ संसर्ग की भी इच्छा नहीं रहती । जब वह शरीर और उसके अंगों की रचना के विषय में चिन्तन करता है तो वह शंकराचार्य के शब्दों में **'त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलं'** तथा **'मूत्रपुरीषाभ्याम्'** पूर्ण पाता है और अन्त में निश्चय कर डालता है—**'रजस्वलमनित्यं च भूतवासमिमं त्यजेत्'** ।

कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है । अन्यों के साथ संसर्ग न रहने से संसर्गजनित अनेक दोष दूर हो जाते हैं । तब चित्त की शुद्धि की ओर अग्रसर होनेपर राग, द्वेष, क्रोध, असूया आदि मलों के प्रक्षालन से **सत्त्वबुद्धि** अर्थात् मन की निर्मलता होती है । अन्तःकरण की निर्मलता से सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति का लाभ होता है । सौमनस्य से प्रणवादि के जप तथा ध्यान में एकाग्रता आती है । एकाग्रता से विषयों

में इतस्ततः विचरण करनेवाली इन्द्रियाँ बँध-सी जाती हैं। इन्द्रियों के विषयों से उपरत हो जानेपर आत्मदर्शन सुलभ हो जाता है।

सन्तोष—सन्निहित साधन से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छा न होना अथवा जीवननिर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हों उनमें प्रसन्न रहना सन्तोष कहाता है। **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम'**। ऐसा सोचकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने का नाम सन्तोष नहीं, अकर्मण्यता है। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थसंचय में प्रवृत्त रहना योगाभ्यास में बाधक है। तृष्णा के जाल में फँसा व्यक्ति फिर उससे निकल नहीं सकता। भर्तृहरि के शब्दों में **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'**।

समस्त दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं। अपनी अपेक्षित और मर्यादित उपलब्धि में सन्तुष्ट रहनेवाले व्यक्ति को तृष्णाजन्य दुःख पीड़ित नहीं करते। ऐसे ही प्रसंग में ययाति ने अपने पुत्र पुरु से कहा था—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥

दुर्मति व्यक्तियों के द्वारा जो छोड़ी नहीं जाती, व्यक्ति के बूढ़ा होनेपर भी जिसे बुढ़ापा नहीं आता, प्रत्युत अग्नि में घी डालनेपर अग्नि की भाँति बढ़ती ही जाती है—ऐसी तृष्णा को छोड़ता हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अनुपम सुख से भर जाता है। अन्यत्र कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

जो सुख सन्तोषरूपी अमृत का पान करनेवाले शान्तचित्त मनुष्यों को प्राप्त है, वह धन के लिए इधर-उधर भटकनेवालों को कैसे मिल सकता है? वस्तुतः **'सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥'** जैसे पैर में जूता पहन लेनेवाले के लिए मानो सारी धरती चमड़े से ढक जाती है, वैसे ही सन्तुष्टमन व्यक्ति के लिए सब कहीं की सम्पदा मानो उसकी अपनी ही हो जाती है। शंकराचार्य का कथन है—**'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'**? अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग—सुखों का घर मिल गया। महाभारत (शान्ति० १७४।४६) में तो यहाँ तक कहा है—

यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

इहलोक में काम्यवस्तु का जो उपभोगजनित सुख है, अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है। 'सन्तोष' नियम की स्थिरता होने पर योगाभ्यासी आत्मज्ञान के लिए निर्बाध प्रयत्नशील बना रहता है।

तप—अल्पमात्र दुःख से जो घबराते हैं उनके द्वारा योगसिद्धि की आशा नहीं। शरीर के कष्टसहिष्णु होने एवं शारीरिक सुख एवं भौतिक सुविधाओं के अभाव में मन विकृत न होने पर ही योगसिद्धि सम्भव है। योगानुष्ठान के लिए स्वस्थ, नीरोग तथा स्वच्छ शरीर का होना आवश्यक है। कायिक, वाचिक तथा मनसिक भेद से तीन प्रकार का तप होता है। भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के चौदहवें से उन्नीसवें श्लोक तक में शरीर तथा इन्द्रियों के तप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। यहाँ संकेतरूप में वह प्रस्तुत है—

कायिक—देवता, ब्राह्मण=वेदज्ञाता, गुरु एवं माता-पिता आदि मान्य वृद्धजनों तथा विद्वानों की पूजा करना, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का एकनिष्ठा से पालन करना—यह सब कायिक अथवा शारीरिक तप है।

वाचिक—किसी के मन में उद्वेग पैदा न करनेवाला, सत्य, प्रिय व हितकारी भाषण, आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा कर्त्तव्य कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान वाचिक तप है।

मानसिक—मन को प्रसन्न रखना, कैसी भी परिस्थिति होने पर अन्तःकरण में क्षोभ या विषाद को न आने देना, सौम्य, शान्त तथा सरल भाव से सद्व्यवहार करना, मुनियों के समान मन को संयत रखते हुए कार्य करना आदि मानस तप कहाता है।

योगाभ्यासी तथा साधारण जन भी परमश्रद्धा के साथ निष्कामभाव से ऐसा अनुष्ठान करता है तब वह तप सात्त्विक होता है। ऐसा तप शरीर, वाणी और मन की दिव्य शक्तियों को उद्दीप्त करता है। शरीर के सर्वथा स्वस्थ हो जाने का नाम **'कायसिद्धि'** और दूरवर्ती तथा निकटवर्ती शब्दादि विषयों के यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति का नाम **'इन्द्रियसिद्धि'** है। तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होनेपर शरीर और इन्द्रिय इस प्रकार सध जाते हैं कि उनके द्वारा योगाभ्यास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने की आशंका नहीं रहती। तपोऽनुष्ठान से शरीर हल्का, स्फूर्तिमान् तथा निरालस बना रहने से योगाभ्यास में अधिक समय तक आसीन रहने के लिए अनुकूल रहता है। अपने विषयों की ओर आकृष्ट न रहना इन्द्रियों की अशुद्धि के क्षय का सूचक है। विषयों से निरस्त होनेपर इन्द्रियों की शक्ति उभरने लगती है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति मिलती है।

स्वाध्याय—मोक्षविधायक वेदादि शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकार का जप **'स्वाध्याय'** कहाता है—

स्वाध्यायाद् योगमासीद् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिए प्रेरणा मिलती है और योग से स्वाध्याय को। फिर दोनों के संयोग से योगी के हृदय में परमात्मा का प्रकाश होता है। इसलिए परमात्मा में मन का स्थित होना स्वाध्यायसिद्धि का चिह्न है। स्वाध्यायस्थैर्य होनेपर बहुत समय तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है। परिणामतः अनेक बार स्वाध्यायी के मस्तिष्क में अभिलषित अर्थ आकस्मिकरूप से अवतरित हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई दिव्यात्मा आकर उस अर्थ को बता गया हो। स्वाध्यायशील व्यक्ति का दिव्य पुरुष=परमात्मा से सम्बन्ध होने से ही ऐसा होता है। ऐसे स्वाध्यायशील योगी के मस्तिष्क (भावनाओं) में देव, ऋषि एवं सिद्ध आत्मा दर्शन देते जाने जाते हैं। किसी भी ग्रन्थ में पढ़ते समय उसके रचयिता ऋषि के सदाचरण एवं गुणों पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः यह उनका दर्शन है। इस प्रकार परमेश्वर के अनुग्रह से ऋषि-मुनियों के मार्गदर्शन में अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ, और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्तिलाभ करता है।

ईश्वरप्रणिधान—अपने आप को और अपने द्वारा किये जानेवाले कार्यों को सर्वात्मना ईश्वरार्पण कर देना **'ईश्वरप्रणिधान'** है। ऐसा करने से योगी अपने-आपको महत्त्व न देकर समर्पण की भावना से परिनिष्ठित रहते हुए अतिशय निःशंक एवं सब प्रकार की बाधाओं से सुरक्षित अनुभव करता है। उसका चित्त पूर्णरूप से समाहित तथा प्रसादयुक्त बना रहता है। यह स्थिति परम-लक्ष्य आत्मसाक्षात्काररूप समाधि

को प्राप्त करने के लिए अनुकूल रहती है। वस्तुतः जब उपासक सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर सब भावनाओं को भगवान् में निहित कर देता है, तब व्युत्थानभूमि की चित्तवृत्तियों के उद्भव की सम्भावना नहीं रहती। इसी को प्रभु का प्रसाद कहा गया है—भक्त की भावनाओं को जाननेवाला भगवान् उसका अभिलषित उसे प्रदान कर देता है।

अन्यान्य यम—नियम दूसरे प्रकार से समाधिसिद्धि में सहायक होते हैं, पर ईश्वरप्रणिधान समाधि में साक्षात् सहायक है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावनास्वरूप है। यही भावना शरीर को निश्चल (आसनस्थ) करती है और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है। तत्पश्चात् क्रमागत धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्ततः समाधि में परिणत हो जाती है, परन्तु यदि ईश्वरप्रणिधान ही समाधिसिद्धि का सरलतम और श्रेष्ठतम हेतु है तो अन्यान्य योगाङ्गों की क्या आवश्यकता है ? वस्तुतः असंयम अनियमित दौड़ने-फिरने से या विषयजनित विक्षेपकाल में समाधि नहीं लग सकती। समाधि का अर्थ ही ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था है और ध्यान में धारणा की एकतानता, अतः समाधिसिद्धि कहने से समस्त योगाङ्ग स्वतः कथित हो जाते हैं।

सभी यम-नियमों का पालन करना चाहिए, इस विषय में मनु का प्रमाण है—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ —मनु० ४।२०४

यमों की उपेक्षा करके केवल नियमों का सेवन न करे। जो ऐसा करता है, वह अधोगति को प्राप्त होता है। वस्तुतः यम-नियमों में से एक की भी उपेक्षा या अवहेलना योगी को हानि पहुँचा सकती है—उसके किये-कराये पर पानी फेर सकती है।

योग के अवशिष्ट अंग—(३) आसन—पूर्ण आस्था के साथ यम-नियमों का पालन करनेपर भी जबतक आसन सिद्ध नहीं होता तबतक योगक्रियाओं व साधनों का सुविधापूर्वक अनुष्ठान नहीं हो पाता। जिसके स्थिर होनेपर सुख का अनुभव हो, कहीं कोई व्यथा न हो, शरीर के अधिक समय तक निश्चल बने रहने में अनुकूलता बनी रहे, वही **'आसन'** कहाता है—**'स्थिरसुखमासनम्'** (योग २।४६)। **'स्थिरता'** का अर्थ है—देह में कहीं चंचलता का न उभरना और 'सुख' का तात्पर्य है—अभिमत आसन पर पर्याप्त समय तक बैठे रहने में किसी अंग में पीड़ा का अनुभव न होना। जिसमें किसी प्रकार की व्यथा या कष्ट अनुभव हो या शरीर में अस्थैर्य की सम्भावना रहे वह योगाङ्गभूत आसन नहीं है। आसन से बैठने का स्थान भी ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ न होकर समतल होना चाहिए। बिछाने का आसन भी उपयुक्त होना चाहिए न इतना गदीला कि आलस्य बढ़कर निद्रा चित्त को अभिभूत कर ले और न इतना खुरदरा कि उसके स्पर्श से अंगों में चुभन या दुखन हो। आसनों की संख्या पर्याप्त है, जिनका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में तथा आसनसम्बन्धी पुस्तकों में उपलब्ध है। व्यासभाष्य में जिन पद्मासनादि का उल्लेख हुआ है उनकी व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने इन आसनों का विवरण प्रस्तुत किया है—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदासन, हस्तिनिषदासन, उष्ट्रनिषदासन तथा समसंस्थासन। जिस व्यक्ति को जो आसन अनुकूल हो उसी का निरन्तर अभ्यास करते हुए स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु प्रत्येक स्थिति में **'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समे शरीरम्'** (श्वेत० २।८) वक्ष, ग्रीवा और सिर को उन्नत करते हुए मेरुदण्ड या रीढ़ को सीधा रखना चाहिए। आसन की स्थिरतासिद्धि के लिए युक्ताहार-विहार अत्यन्त आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति के लिए आसनसिद्धि अत्यन्त दुष्कर है।

आसन, यम-नियमों की भाँति, योग का स्वतन्त्र अंग नहीं है। यम-नियमों का अनुष्ठान तो सदा—हर समय किया जाता है, परन्तु आसनों का अनुष्ठान प्राणायामादि के समय किया जाता है। प्राणायामादि में सहायक होने के कारण ही आसन भी योग का अंग है। आसनसिद्धि किये बिना प्राणायाम का सुविधापूर्वक किया जाना सम्भव नहीं है।

सुख-दुःख, भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कारण मनुष्य को पीड़ा होती है। पीड़ा एक प्रकार की चंचलता है। स्थिरता द्वारा चंचलता अभिभूत होती है। आसनस्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने से उसकी सहिष्णुता बढ़ती है। सहनशक्ति का विकास होनेपर सुख-दुःख आदि द्वन्द्व योगी को पीड़ित नहीं कर सकते। आसनजयी की यह स्थिति योगाभ्यास के नैरन्तर्य में बड़ी सहायक होती है।

(४) **प्राणायाम**—क्रियाओं के यथार्थ अनुष्ठान के लिए प्राण का परिष्कार आवश्यक है, जो प्राणायाम के द्वारा होता है। **'बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः'** बाह्य वायु का आचमन करना अर्थात् भीतर लेना **'श्वास'** तथा **'कौष्ठ्यस्य वायोः निःस्सारणं प्रश्वासः'** कोठे की वायु को बाहर निकालना **'प्रश्वास'** है। इन दोनों की स्वाभाविक गति में विच्छेद—रुकावट डाल देना **'प्राणायाम'** है। श्वास-प्रश्वास नियमितरूप में बिना व्यवधान के चलते रहते हैं। प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया की समाप्ति तो जीवन की समाप्ति है, अतः श्वास-प्रश्वास की गति को सर्वथा नहीं रोका जा सकता, उसमें अन्तर डाला जा सकता है। इस प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वासरूप प्राण बन्द न होकर उसका आयाम—विस्तार होता है। उसमें श्वास-प्रश्वास की अवधि बढ़ जाती है। अनेक श्वास-प्रश्वास का एक बन जाता है। अभ्यास करते-करते सौ साँसों की जगह एक ही साँस लेकर काम चल जाता है। गीता में योग की एक परिभाषा **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कही है। एकाग्रता के बिना कुशलता नहीं आ सकती—यह हमारे दैनिक व्यवहार में प्रत्यक्ष है। जब हम किसी गहन चिन्तन में निमग्न होते हैं अथवा किसी विषय में तन्मय होकर देखना-सुनना चाहते हैं तो हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया अनायास निरुद्ध हो जाती है। यही चित्त की एकाग्रता है, जिसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय प्राणायाम है। योग के आठ अंगों में पहले पाँच बहिरंग तथा अन्तिम तीन अन्तरंग बताये गये हैं। प्राणायाम को उन तीन अन्तरंग अंगों के अनुष्ठान की एक प्रकार की आधारशिला समझना चाहिए, अतः जिस प्राणरोध के साथ चित्त को रुद्ध या एकाग्र किया जाता है, वास्तव में वही योगाङ्ग प्राणायाम है, तुलना करें—

"Ethical preparation (यम-नियम), bodily posture (आसन), breath control (प्राणायाम) and abstraction of the senses from their natural function (प्रत्याहार) are accessaries to the yoga, and elements in it. These represent the stage of purgation, while Dharna and Dhyan illumination and Samadhi union."

—*Radha krishnan : Indian Philosophy, P. 357.*

प्राणायामगत चित्तस्थैर्य ही धारावाही क्रम से परिवर्धित होकर समाधि के रूप में परिणत होता है। चित्तबन्धन की चेष्टा न करके केवल श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करने से चित्तस्थैर्य प्राप्त नहीं होता। फलतः चित्त की स्थिरता तथा निर्विषयता का उत्कर्ष न होनेपर वह योगाङ्गभूत प्राणायाम न होकर केवल तमाशा है। मृत्तिका (गढ़े) के भीतर प्रोथित होकर और इस प्रकार लोगों को तमाशा दिखाकर पैसा कमानेवाले योगी नहीं होते, न उनकी तथाकथित समाधि ही योगसमाधि होती है। प्राणरोध समाधि का योग से कुछ लेना-देना नहीं है। वह केवल प्रदर्शन है, योग के नाम पर लूट से अधिक कुछ नहीं।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से प्रकाश—आत्मसाक्षाद्रूप विवेकज्ञान का आवरण शिथिल हो जाता

है । जबतक चित्त अज्ञान-व्यामोह से अभिभूत रहता है तबतक वह आत्मा व अनात्मा के भेद को प्रकाशित करने मे असमर्थ रहता है । वह आत्मगत व्यामोह उसे विवेकज्ञान के विरोधी वैषयिक कर्मों में लगाये रहता है । प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करते हुए योगी के वे कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

(५) **प्रत्याहार**—अपने विषयों से सम्बन्ध न रखनेपर इन्द्रियों का चित्त की स्थिति के अनुरूप होजाना **'प्रत्याहार'** है । इन्द्रियों का नेता मन या चित्त है । इसके सहयोग या आदेश के बिना बाह्य इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क रहनेपर भी उन विषयों का ज्ञान नहीं होता । जब यम-नियमादि के अनुष्ठान से संस्कृत हुआ चित्त ही उनसे विमुख हो जाता है तो इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल हो जाती हैं । प्रत्याहार में चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है । जैसे समस्त मधुमक्खियाँ अपनी रानी मधुमक्खी का अनुगमन करती हैं—उसके साथ उड़ती और बैठती हैं, उसी प्रकार प्रत्याहार में इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी बनी रहती हैं । चित्त के विषयलोलुप होनेपर उनमें प्रवृत्ति होती और चित्त के निरुद्ध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं । इस प्रकार देह और प्राण दोनों के परिष्कृत हो जानेपर बाह्य इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों से असम्पृक्त रहकर चित्त के अनुरूप-जैसी हो जाती हैं । प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय से आहरण हो जाने से ही योग का यह स्तर प्रत्याहार कहाता है । यह स्थिति आ जानेपर इन्द्रियों के जय अथवा उनको अपने वश में करने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रह जाती । **'प्रत्याहार'** योग के बहिरंग भाग का अन्तिम स्तर है । द्रष्टव्य—

"The Chinese philosopher, Lao Tze' asked—'Who is there who can make the muddy water clear?' and himself answered—'If you leave it alone, it will become clear of itself.' Pratyahara (प्रत्याहार) or withdrawl of the senses from their outward function, answers to the process of introversion in modern psychology. The mind must be shut against all impressions from outside."

—*Radhakrishanan: Indian philosoply, p. 357.*

'प्रत्याहार' के विषय में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—"'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने-आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलानेवाला है । तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है । फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति होती है, असत्य में कभी नहीं ।" प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं । प्रत्याहार की सिद्धि हो जानेपर इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं रह जाती जिससे वे आत्मा को बलात् विषयों की ओर खींचकर ले-जा सकें । उस अवस्था में वे **'प्रमाथीनि'** नहीं रहतीं और **'हरन्ति प्रसभं मनः'** बीते काल की बात हो जाती है ।

कतिपय विद्वानों का मत है कि शब्दादि विषयों में आसक्ति का अभाव ही इन्द्रियजय है । कुछ लोग वेदनिर्दिष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा निषिद्ध से निवृत्ति को इन्द्रियजय मानते हैं । ऐसे लोग भी हैं जो पराधीन न होकर स्वेच्छा से विषयों में प्रवृत्ति को इन्द्रियजय कहते हैं । कुछ आचार्यों के मत में राग-द्वेष के भाव में सुख-दुःख का अनुभव न करते हुए तटस्थ भाव से विषयभोग करना इन्द्रिजय है । वस्तुतः यह सब इन्द्रियलौल्य है और परमार्थ के लिए विघ्नरूप है । इन्द्रियों की परमावश्यता (ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्—योग० २।५५) यही है कि वे किसी भी अवस्था में विषयों में प्रवृत्त न हों । जिसने अग्निदाह को जान लिया वह भूलकर भी अग्नि में हाथ डालने की इच्छा नहीं करेगा—न आसक्ति से और न अनासक्तभाव से, न स्वतन्त्रभाव से स्वामी बनकर और न परतन्त्रभाव से दास बनकर । विषयों के साथ भोगभावना से सम्बन्ध

चाहे वह किसी भी रुप में हो, मनुष्य को कभी भी पतित कर सकता है। उसकी आशंका बराबर बनी रहती है। प्रत्याहारजनित इन्द्रियजय ही योगियों के लिए उपादेय है। चित्त के एकाग्र होने पर इन्द्रिय द्वारा विषय का बोध नहीं हो पाता—यही स्थिति इन्द्रियों की परमावश्यता है।

(६) **धारणा**—देह के किसी अंगविशेष अथवा किसी लक्ष्यविशेष में चित्त को बाँध देना अर्थात् केन्द्रित कर देना **'धारणा'** है। प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता का आरम्भ हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में उसमें अभिवृद्धि तथा पूर्णता प्राप्त होती है। प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास होता है, परन्तु वहाँ धारणा की मुख्यता न होकर मात्र भावना होती है। धारणा और ध्यान के रूप में इस भावना का विकास होता है। जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त को बद्ध किया गया है) ज्ञान रहता है और जब प्रत्याहृत इन्द्रियसमूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करते तब प्रत्याहारमूलक वैसी धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है। अल्प समय तक चित्त का एकाग्र होना प्रत्याहार में भी है, परन्तु वहाँ मुख्यतः इसी बात पर बल होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी हों। धारणा के निमित्त नियत लक्ष्यविशेष को एकाग्र भाव से देखते हुए अधिकाधिक काल तक उसी की चित्तवृत्ति को प्रवाहित करते हुए चित्त को वहीं बाँधे रखना चाहिए। देखते-देखते कुछ समय बाद आँखें स्वतः बन्द हो जाती हैं, किन्तु चित्त में उसी की वृत्ति प्रवाहित रहती है। इसमें जल्दी या न्यूनाधिक समय के अन्तर से विषयान्तर वृत्ति उभरती रहती है। उसको हटाने और चित्त को लक्ष्य पर बाँधे रहने के लिए निरन्तर अभ्यास—साधना आवश्यक है।

(७) **ध्यान**—उस लक्ष्यप्रदेश में प्रत्यय (ज्ञानवृत्ति) की एकाग्रता **'ध्यान'** कहाती है। चित्तवृत्ति का नाम **'प्रत्यय'** तथा प्रयत्नों के एकरस प्रवाह का नाम **'एकतानता'** है। योगी के चित्त में ध्येयमात्र को विषय करनेवाली विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित जो सजातीय वृत्तियों की एकतानता उदय होती है, उसी का नाम ध्यान है। धारणा में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति खण्डित धारा के रूप में प्रवाहित रहती है। अभ्यासबल से जब वह अखण्डधारा का रूप धारण कर लेती है तब उसे ध्यान कहते हैं। यह चित्तस्थैर्य की अवस्था-विशेष है। ध्यानशक्ति उत्पन्न होनेपर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान कर सकते हैं, परन्तु योगानुष्ठान के सन्दर्भ में विषयान्तर से सर्वथा असम्पृक्त एकमात्र ध्येय परमेश्वर है। जहाँ धारणा में चित्त की एकाग्रता के लिए कोई भी लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है, वहाँ ध्यान में चित्त की अशेष वृत्तियाँ आत्मचिन्तन—केवल आत्मचिन्तन में प्रवृत्त रहती हैं। आत्मचिन्तन की इस निर्बाध स्थिति में साधक अपने आपको भूल जाता है और ईश्वर को छोड़ अन्य किसी भी पदार्थ—न बाह्य न आन्तर, का स्मरण न करते हुए तादात्म्यभाव से उसी अन्तर्यामी के स्वरूप में मग्न हो जाता है। इसी का नाम ध्यान है।

(८) **समाधि**—अपनी ध्यानात्मक स्थिति से रहित, केवल ध्येयरूप से प्रतीत होनेवाले उक्त ध्यान का ही नाम समाधि है। वस्तुतः ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है, जो चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। चित्त की जिस एकाग्र अवस्था में ध्याता-ध्येय-ध्यान तीनों की प्रतीति होती है उसे ध्यान कहते हैं। उस स्थिति में ध्याता अनुभव करता है कि मैं अमुक का ध्यान कर रहा हूँ। ध्यान जब **'अर्थमात्रनिर्भास'** होता है, अर्थात् ध्याता ध्यान में इतना लीन हो जाता है, अथवा ध्यान जब इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उसमें केवल ध्येय की ही ख्याति होती रहती है तब वह समाधिरूप हो जाता है। यद्यपि ध्यान उस समय विद्यमान रहता है (क्योंकि ध्यान ही में तो ध्येय भासता है) तथापि ध्याता को उसकी प्रतीति नहीं होती। ध्यान के होते हुए भी उसकी प्रतीति न होना स्वरूपशून्य के समान है। तात्पर्य यह है कि जब साधक को अपनी

जब उपासना करना चाहे, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में, वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान[1] पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे ।

सत्ता विस्मृत हो जाती है और केवल ध्येय-विषयक सत्ता—आत्मतत्त्व ही की उपलब्धि होती है, अर्थात् जब ध्येय से अपना पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता, ध्येय विषय पर ऐसा चित्तस्थैर्य समाधि कहाता है । समाधि-दशा में ध्याता और ध्येय, उपासक और उपास्य अथवा भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं रहता । तात्स्थ्योपाधि से वे एक हो जाते हैं । सांख्यदर्शन में समाधि-अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'**—अर्थात् मोक्ष के समान समाधि में भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । वस्तुतः समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार तथा परमार्थ प्राप्ति-सिद्धि सम्भव है ।

उपासना का स्थान—उपासना के लिए उपयुक्त स्थान के विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ —२।१०

समतल, शुद्ध-पवित्र भूमि हो, पत्थर, रोड़े, अग्नि, रेत आदि से रहित हो, शोर न हो, जलाश्रय आदि हो । आँखों को चुभनेवाला स्थान न हो । वायु, शब्दादिशून्य गुफ़ा में आसन जमाए । इस विषय में गीता के छठे अध्याय में ११ से १७ तक के श्लोक द्रष्टव्य हैं । श्लोक ११-१२ से यह स्पष्ट है कि योगाभ्यास के लिए स्वस्तिक आदि आसनों से बैठते समय नीचे बिछानेवाले आसन की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए । ऐसा न होनेपर आसन लगाने का स्थान भी कष्टप्रद हो सकता है । स्थान ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़ नहीं होना चाहिए । बिछाने का आसन मृदु हो, जिसके स्पर्श से अंग में चुभन या दुःखन न हो ऐसा आसन अधिक गदीला भी न हो; अन्यथा आलस्य बढ़कर तन्द्रा चित्त को अभिभूत कर सकती है । चौदहवें श्लोक में **'युक्त आसीत मत्परः'** पद योगसूत्र २।४७ के **'अनन्तसमापत्ति'** साधन का संकेत करते प्रतीत होते हैं । संयत होकर अनन्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ आसन लगाकर बैठे । इस प्रकार अनन्त के ध्यान से अनन्त की स्थिरता से योगी का तादात्म्य अनुभूत होनेपर वह स्थिरता उपासना में प्रतिघटित होने लगती है ।

ध्यान की स्थिति—इस विषय में योगदर्शन (३।१) के भाष्य में लिखा है—**'नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि-ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु'** अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धज्योति, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग इत्यादि स्थानों में ध्यान लगाना चाहिए । ये सब स्थान तो शरीर में ही है इसलिए उपासक को ध्यान लगाने के लिए शरीर से बाहर किसी स्थानविशेष की सर्वथैव आवश्यकता नहीं है । महाभारत (शान्ति० ३००) में लिखा है—

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः ।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥

---

१. **नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः । दर्शने श्रवणे चाऽपि घ्राणे चामितविक्रम ॥**
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः ।आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशाम्पते ॥महा० शान्ति० ३००।३६, ४०
इसपर व्यासभाष्य ३।१ भी दृष्टव्य है ।

[उपासना के दो भेद और उसका फल]

जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ीभर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

वहाँ सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी **'सगुण'** और राग, द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना **'निर्गुणोपासना'** कहाती है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष-दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए।

[ईश्वर का गुण भूल जाना कृतघ्नता है]

इससे इसका फल पृथक् होगा[1], परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है ? और जो परमेश्वर

स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः ।
आत्मना सूक्ष्मात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशांपते ॥

अर्थात्—हे अमितविक्रम ! हे राजन् ! योगी महाव्रत में सावधान होकर नाभि, कण्ठ, सिर, हृदय, छाती, दो पहलुओं, नेत्र, श्रोत्र, नासिका—इन स्थानों में अपने आत्मा के साथ सूक्ष्मात्मा=परमात्मा को युक्त करता है।

ज्ञान से मुक्ति—संसार में प्राकृत कारणों से आवेष्टित रहता हुआ आत्मा सदा साँसारिक भोगों में आसक्त रहता है, पर जब कभी किन्हीं कारणों से उसकी अध्यात्मभावना जाग्रत् होती है—उसकी वृत्ति बाह्य विषयों से हटकर अन्तर की ओर झुक जाती है तब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए व्याकुल हो जाता है और इन्द्रियसंयमपूर्वक समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, तब दृढ़ एवं निरन्तर अभ्यास से समाधिलाभ के अनन्तर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को साक्षात् अनुभव करता है। यही आत्मा के अपवर्ग की स्थिति है।

उपासना से बल—जैसे खूँटे के बलपर बछड़ा कूदता है, वैसे ही बड़े आदमी के पास उठने-बैठनेवाला साधारण मनुष्य भी किसी की परवाह नहीं करता। ऐसे ही पुलिस का सिपाही सरकार के बल पर बड़े-से-बड़े आदमी को पकड़कर ले-जाता है। समय पर जान-पहचान काम देती है, तो नित्यप्रति परमेश्वर की उपासना करनेवाला व्यक्ति कष्ट से क्यों घबरायेगा ? उसे बड़े साहब का आश्रय जो मिला हुआ है।

कृतघ्नता—कृतघ्नता इतना बड़ा पाप है के उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार—

---

१. अर्थात् उपासना का फल स्तुति-प्रार्थना के फल से पृथक् होगा।

की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

[हस्तादि से रहित ईश्वर काम कैसे करता है ?]

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर —

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥१॥

—यह श्वेता० उपनिषद् ३।१६ का वचन है।

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन-ग्रहण करता; पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सबको यथावत् देखता; श्रोत्र नहीं, तथापि सबकी बातें सुनता; अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से **'पुरुष'** कहते हैं, । वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होनेवाले सब काम अपने सामर्थ्य से करता है ॥१॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥

मांसाहारी पशु-पक्षी भी कृतघ्न मनुष्य के शव को नहीं खाते।

सेन्द्रिय कर्तृत्ववाद—हाथ-पैर, श्रोत्रादि तो उपलक्षणमात्र हैं। प्रश्नकर्त्ता के अनुसार कर्त्ता का शरीरी होना आवश्यक है, क्योंकि **'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'**, अर्थात् हाथ, पैर आदि अवयवों और इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही शरीर है।

प्रश्नकर्त्ता का कहना है कि यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाएगा तो उसमें शरीर का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्त्ता के साथ शरीर की व्याप्ति है—

'यद्यत्कार्यं तत्तत्शरीरमत्कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटादिवत् ।'

अर्थात्—जितने कार्य हैं वे सब शरीरी कर्त्ता से ही होते हैं, कार्य होने से, जैसे घड़ा। कुम्हार शरीर के द्वारा ही घड़े को बनाता है, बिना शरीर के नहीं। इसी प्रकार यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाए तो वह हाथ-पैर आदि अवयवों और श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियों से युक्त शरीरधारी होना चाहिए।

वस्तुतस्तु चेतन ब्रह्म को अपने कार्य-सम्पादन के लिए करणों की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्रियों की साधनरूप में आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए होती है। दूसरों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए वाणी की आवश्यकता होती है, किन्तु अपने-आपसे बात करने के लिए नहीं। कोई जहाँ नहीं होता, वहाँ पहुँचने के लिए उसे पैरों की अपेक्षा होती है। अपने से बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिए हाथ चाहिएँ, स्वयं हाथ को उठाने के लिए नहीं। परमेश्वर तो सर्वव्यापक होने से सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। सम्पूर्ण जगत् उसके अन्तर्गत है, इसलिए अपने से बाहर उसे कुछ नहीं करना पड़ता। फिर उसे शरीर या शरीराङ्गों की आवश्यकता क्यों होगी ? श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१७) तथा गीता (१३।१४) में

उसे **'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** कहा है। पुनः श्वेत० ३।१६ में उसका विशदीकरण करते हुए लिखा है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।' अर्थात् उसके हाथ-पैर न होनेपर भी वह सर्वत्र प्राप्त है, आँखें न होनेपर भी सब-कुछ देखता है और कान न होनेपर भी सब-कुछ सुनता है।

इसी भाव को महाकवि तुलसीदास ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजुः० ४०।५) अर्थात् वह परमेश्वर सबके अन्दर-बाहर ओत-प्रोत है। इसलिए उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया नहीं करनी पड़ती। फिर उसे करणों (इन्द्रियों) की अपेक्षा क्यों हो? यजुर्वेद (४०।४) में कहा है कि ईश्वर हिलता नहीं है—**'अनेजत्'** तथा **'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** (स्थिर रहते हुए भी दूसरे दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है), क्योंकि जहाँ दौड़कर पहुँचना है, वहाँ वह 'पूर्वमर्षत्' सर्वव्यापक होने से पहले से ही पहुँचा हुआ है। वेद में जो ब्रह्म को **'सहस्रशीर्ष'**, 'सहीस्राक्ष' 'सहस्रपात्' अर्थात् अनन्त शिरों, नेत्रों तथा पैरोंवाला कहा गया है वह उसकी अन्तर्हित विविध शक्तियों का द्योतक है। बाह्य इन्द्रियों तथा अवयवों के न होते हुए भी सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह सब शक्तियों का स्रोत है।

यदि परमात्मा शरीरी होगा तो वह एकदेशी हो जाएगा। एकदेश में अवस्थित हो जानेपर उसका समस्त संसार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रह सकेगा, जो विश्व के संचालन व नियन्त्रण के लिए नितान्त आवश्यक है। देहधारी कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं-न-कहीं अवश्य होगी। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी एकदेशी उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सके।

यदि शरीर के बिना कोई रचना नहीं हो सकती तो शरीरधारी परमेश्वर के आँख, कान आदि बनाकर उसे शरीरी बनानेवाला उससे भिन्न कोई और शरीरधारी पुरुष होना चाहिए। फिर उस पुरुष की रचना करनेवाला उससे भिन्न कोई और शरीरी पुरुष होना चाहिए। इस प्रकार करते-करते अनवस्था दोष आ जाएगा। यह निर्विवाद है कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है उसका निर्माता वह स्वयं नहीं हो सकता।

इसपर कोई कह सकता है कि 'कोई पुरुष स्वयं अपने शरीर का निर्माता नहीं हो सकता' अस्मदादि के लिए ठीक हो सकता है; किन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर यह नियम लागू नहीं होता। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि परमेश्वर ने स्वयं अपना शरीर बना लिया होगा तो भी शरीरधारण करने से पूर्व उसका अकाय या अशरीरी होना स्वतः सिद्ध है। फिर, यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वयं शरीरी हुए बिना कर सकता है तो बिना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्यों नहीं कर सकता?

किसी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते-करते जो अन्तिम खण्ड या कण है, दृश्यमान् जगत् की रचना के समय वही उसका मूलतत्त्व है, जिसे 'परमाणु' नाम से अभिहित किया गया है। ऐसे ही परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। इतने सूक्ष्मतम परमाणु को हाथ से (और वह भी कल्पनातीत विशाल ब्रह्माण्ड

[ईश्वर निष्क्रिय और निर्गुण नहीं]

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं।

उत्तर —

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

—यह श्वेता० उपनिषद् ६।८ का वचन है ॥

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम[1] दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है।

की रचना के लिए उपयुक्त स्थूलकाय ब्रह्मपुरुष के) पकड़ने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तब उसके द्वारा संयोग-वियोग की क्रिया कैसे सम्भव होगी? निश्चय ही उनके संयोग-वियोग के द्वारा सृष्टि का निर्माण करनेवाली चेतन सत्ता का परमाणुओं के भीतर व्याप्त होना आवश्यक है। ऐसी सत्ता शरीरी नहीं हो सकती।

बालक के शरीर का निर्माण कौन करता है? इसके उत्तर में कहा जाएगा—माता, परन्तु माता आँखों को कैसे बना सकती है, जबकि वह बनी-बनाई आँखों में कोई दोष हो जानेपर उसे ठीक करना भी नहीं जानती। यदि कहा जाए—प्रकृति, तो वह जड़ होने और ज्ञानरहित होने से नहीं बना सकती। यदि यह माना जाए कि माता के गर्भ में स्थित आत्मा ने बनाई, तो वह शरीरी नहीं है। वस्तुतः माता गर्भस्थ भ्रूण के पोषण में सहायक है। चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति के सहयोग से शरीर का निर्माण करनेवाला तो सर्वव्यापक निराकार ईश्वर ही है। ईश्वर तो प्रकृति और जीवात्मा के सहयोग से माता के शरीर के बिना भी बना सकता है। जरायुज योनियों में तो बच्चा माता के गर्भ में बनता भी है, किन्तु अण्डजों में तो बाहर आनेपर बिना किसी अवयव के लगाये ईश्वर के सामर्थ्य से बच्चा बन जाता है।

निष्क्रिय व निर्गुण—ब्रह्म का लक्षण करते हुए ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) में बताया है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) अर्थात् जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है वह ब्रह्म है। सभी आस्तिक दर्शन एक-स्वर से ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण मानते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (१।३) में लिखा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥

अर्थात्—निश्चित ही यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय में यह स्थिर रहता=जीता है और जिसमें यह प्रलयकाल में विलीन होता है, वह ब्रह्म है—उसी को जानो।

यही भाव वेद के नासदीयसूक्त (ऋ० १०।१२६।७) में इन शब्दों में प्रस्फुट किया है—

'इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।'

आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है—**''तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थिति-**

---

१. द्र०—**'साधकतमं करणम्'** । अष्टा० १।४।४२॥

जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय न कर सकता। इसलिए वह विभू तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा, तब अन्तवाली क्रिया होती होगी, वा अनन्त ?

उत्तर—जितने देश-काल में क्रिया करनी उचित समझता है, उतने ही देश-काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून, क्योंकि वह विद्वान् है।

[ईश्वर का स्वरूप]

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है, वा नहीं ?

उत्तर—परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है, क्योंकि **'ज्ञान'** उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों-का-त्यों जाना जाए, अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो, उसको उसी प्रकार का जानने का नाम **'ज्ञान'** है। परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, उससे विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना **'भ्रम'** कहाता है। **'यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति'** जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव हो, उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही **'ज्ञान और विज्ञान'** कहाता है, उल्टा अज्ञान। इसलिए—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ —योगसू० १।२४

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष **'ईश्वर'** कहाता है।

प्रलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते'' (१।१।४)। अर्थात् वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया है। आगे चलकर उन्होंने एक बार फिर लिखा है—''**सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्**'' (१।२।६)

जिस ब्रह्म के ऊपर इतने विशाल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने, उसका संचालन करने, असंख्य जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करने और अन्ततः प्रलय करने का दायित्व हो वह 'निष्क्रिय' कैसे हो सकता है ?

परन्तु ६।१।११ का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर को अद्वैतवाद की याद आ गयी और उन्होंने लिख डाला—

'द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।'

अर्थात्—ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूपविकारभेद की उपाधिवाला और दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त।

एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है। वह सत्तामात्र है। दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। यह दूसरी प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है। परब्रह्म की अपेक्षा यह घटिया स्तर का ब्रह्म है। शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है, इसलिए वह न सृष्टि को उत्पन्न करता, न धारण करता और न उसका विलय करता है, परन्तु शंकर की यह कल्पना, न शास्त्रसम्मत है और न तर्क संगत। मोक्षलाभ के लिए जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गयी (अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा-१।१।१) उसका-परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है (**जन्माद्यस्य यतः**—१।१।२) और जो समस्त ज्ञान का आदिस्रोत है—(**शास्त्रयोनित्वात्**—१।१।३)। ऐसा ईश्वर निष्क्रिय कैसे हो सकता है ? ब्रह्म के इस प्रकार के दो रूपों का संकेत तक वेदादिशास्त्रों में कहीं नहीं

मिलता। यह मात्र शंकर के मस्तिष्क की उपज है। कोई भी चेतन पदार्थ निष्क्रिय नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर के चेतन होने से भी उसके निष्क्रिय होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

सगुण-निर्गुण—सगुण का अर्थ प्रायः साकार तथा निर्गुण का अर्थ निराकार माना जाता है। ऐसा मानना सर्वथा अशास्त्रीय है। यह नितान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित है। निराकार तत्त्व भी सगुण हो सकता है—जैसे निराकार आकाश का गुण शब्द है। ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं और जब तक वह मायोपाधि से ईश्वर नहीं बन जाता तब तक वे ब्रह्म में किसी गुण का अध्यारोप नहीं करते। इस भ्रान्ति का कारण 'सगुण' और 'निर्गुण' के अर्थ को ठीक प्रकार से न समझना है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें केवल सगुणता या केवल निर्गुणता हो। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और विरोधी गुणों से रहित होने से सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। इस प्रकार एक ही पदार्थ में एक ही समय में सगुणता और निर्गुणता दोनों रहती हैं, जैसे—पृथिवी गन्धादि गुणों के कारण सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है। इसी प्रकार चेतन के गुणों से रहित होने से जड़ पदार्थ 'निर्गुण' तथा अपने गुणों से युक्त होने से 'सगुण' हैं तथा जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण' और इच्छा-ज्ञानादि गुणों से युक्त होने से 'सगुण' है।

ऐसे ही ईश्वर भी जगत् के जड़त्व और जीव की अल्पज्ञता, राग-द्वेषादि से रहित होने के कारण 'निर्गुण' है। कठोपनिषद् (३।२५) में ईश्वर के निर्गुण रूप का निरूपण करते हुए उसे **'अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययम्'**—शब्द, स्पर्श, रूपादि से रहित बताया है। यही ईश्वर का 'निर्गुण' होना है। इसके विपरीत सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी होने और पवित्रता, दयालुता तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त बल तथा अनन्त क्रिया से युक्त होने से ईश्वर सगुण है।

सगुण का अर्थ साकार नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सभी सच्छास्त्रों में ईश्वर के साकार या मूर्त होने का निषेध है।

ज्ञान का लक्षण—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानने का नाम 'ज्ञान' है। इन्द्रियाँ बाह्यजगत् का ज्ञान करानेवाले अधिकरण हैं, किन्तु उनकी सीमा गुणों तक है। द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अंशतः सफल होती हैं, किन्तु सधी हुई योगबुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आनेवाला ज्ञान बाहरी आवरणमात्र होता है, जिसे भेदकर योगबुद्धि तत्त्व के यथार्थस्वरूप का दर्शन कर पाती है। साधारण बुद्धि के लिए स्वर्ण पीले रंग की एक बहुमूल्य धातुमात्र है, सामान्य वैज्ञानिक के लिए वह परमाणुओं का संघात है, किन्तु एक महान् वैज्ञानिक के लिए उसी स्वर्ण के परमाणु इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन की निश्चित संख्यावाले हैं, जिनमें परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओं को किसी अन्य तत्त्व के परमाणुओं में बदला जा सकता है। जीव की अल्पज्ञता यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि में बाधक है। स्वरूप से अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा सब-कुछ तो जान नहीं सकता, परन्तु बहुत कुछ जान लेता है, इसलिए, परमाणु से परमेश्वरपर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है। गीता में **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं ज्ञानम्'** (१३।११) अर्थात् तत्त्वज्ञान के विषयों (ईश्वर, जीव व प्रकृति) के साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा है।

क्लेशकर्म—(क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः) क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयों से **(अपरामृष्टः)** असम्पृक्त—अछूता **(पुरुषविशेषः)** पुरुषविशेष=विशेष चेतन तत्त्व **(ईश्वरः)** ईश्वर है।

जैसे **'प्रकृति'** पद जड़ तत्त्व का बोधक है, इसी प्रकार **'पुरुष'** पद चेतन तत्त्व को अभिव्यक्त करता

[क्या कपिलाचार्य अनीश्वरवादी हैं ?]

प्रश्न— **ईश्वरासिद्धेः** ॥१॥
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥
सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥३॥

—सांख्यसू० १।९२, ५।१०,११॥

प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता ॥२॥

और व्याप्ति-सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ॥३॥

उत्तर—यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादानकारण है, और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम **'पुरुष'** और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम **'पुरुष'** है, क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

है। चेतनरूप में 'पुरुष' पद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। जीवात्मरूप में एक साधारण चेतन प्रत्येक मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में पृथक्-पृथक् विद्यमान है। इनके अतिरिक्त एक असाधारण चेतन है। वह **'पुरुषविशेष'** कहाता है। उसी की संज्ञा **'ईश्वर'** है। जीवात्मा चेतन संसार में आकर कर्म करने में स्वतन्त्र है और **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**—प्रभु ने सृष्टि की रचना उसी के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। इसी के निमित्त जीवात्मा बार-बार देह धारण करता है, क्योंकि **'भोगायतनं शरीरम्'** कर्मफलभोग उसके बिना सम्भव नहीं। वस्तुतः **'कर्मैव देहारम्भकारणम्'**—देहधारण का कारण ही कर्म है, किन्तु ईश्वर अविद्यादि क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित है। इसलिए वह प्रकृति उपादान जड़तत्त्व से जगद्रचना केवल जीवात्मपुरुषों के लिए करता है, अपने लिए नहीं। इसलिए वह **'पुरुषविशेष'** है। यह विशेषता उसके नाम ईश्वर 'पद' से भी अभिव्यक्त होती है। उसका अर्थ है—ऐश्वर्ययुक्त। वह ऐश्वर्य उसके सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी होने में निहित है। संख्या की दृष्टि से जीवात्मचेतन अनेक हैं, ईश्वरपदवाच्य चेतन एक है।

ईश्वरासिद्धेः—निर्विवादरूप से कपिलमुनि सांख्य के प्रवक्ता थे। उनके अनन्तर सांख्यपरम्परा में अनेक विद्वान् हुए। उनमें से कुछ ने कपिल से अपना मतभेद भी व्यक्त किया है। उनमें मुख्य थे आचार्य वार्षगण्य। वे प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन-प्रेरणा की अपेक्षा नहीं मानते। उनकी यह मान्यता जगत् में ईश्वर के नियन्त्रण को हटा देती है। भारतीय साहित्य पर सांख्य के प्रभाव का लाभ उठाने की भावना से अनीश्वरवादी बौद्धों ने सांख्य के नाम पर वार्षगण्य की इस मान्यता का प्रचार किया। कालान्तर में सांख्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह मान्यता कपिल पर आरोपित हो गयी। इसी मान्यता से अभिभूत होने के कारण सांख्य के **'ईश्वरासिद्धेः'** इस सूत्र का अनर्थ करके कपिल पर अनीश्वरवादी होने का ठप्पा लगा दिया गया।

सांख्यसूत्रों के अन्तर्गत ही **'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'** (३।५६) इस सूत्र के अनुसार सृष्टि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों तक में व्याप्त होकर समस्त जगत् की रचना करके उसका नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर है। जगत् के उपादानभूत ईश्वर में विश्वास न करके उसके निमित्तकारण के रूप में जगत् के

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥१॥
सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥२॥
श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥३॥ —सांख्यसू० ५।८,६,१२

यदि पुरुष को प्रधानशक्ति का योग हो, तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाए, अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाए, इसलिए परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥१॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो, तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिए, सो नहीं है, इसलिए परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥२॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादानकारण कहती है ॥३॥ जैसे—

नियन्ता तथा अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कपिलाचार्य निर्णायक घोषणा करते हैं— **'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'** (३।५७), अर्थात् इस प्रकार के (जगत् के निमित्तकारण के रूप में) ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट है।

परमर्षि के रूप में प्रतिष्ठित कपिल क्या इतने भ्रान्त थे जो एक ही साँस में उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कह डाला। वस्तुतः इन उल्लेखों में ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन करते हुए उसकी उपादानता का प्रत्याख्यान किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी स्थापना के आधार पर विषय का प्रतिपादन हुआ है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर चेतन ईश्वर के जगत् का उपादान होने की भ्रान्ति होना सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने इस भ्रान्ति को निरस्त करने के लिए कहा कि जगत् का उपादानभूत ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

कतिपय आधुनिक विद्वान् तो इस आधार पर कपिल को अनीश्वरवादी कहते हैं कि वह ईश्वर को जगत् का उपादानकारण नहीं मानता, पर यह तो **'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे'** वाली बात है। वास्तव में अनीश्वरवादी तो वे लोग हैं जो ईश्वर को जगत् का उपादानकारण मानकर उसके सच्चिदानन्दस्वरूप को विकृत कर अचेतन प्रकृति को ईश्वर का नाम दे देते हैं और इस तरह प्रकारान्तर से उसकी सत्ता को नकारते हैं।

प्रकरणान्तर्गत यहाँ उद्धृत सूत्रों पर सांख्यदर्शन में उपलब्ध क्रम में भाष्यरूप विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः—यह कहा जा सकता है कि यदि जगत् का मूल उपादान प्रकृति है और ईश्वर उसमें प्रेरणात्मक सहयोग देता है, तब उस प्रकृतिरूप प्रधानशक्ति के सहयोग से ईश्वर में आंशिक उपादानता स्वीकार की जानी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर और प्रकृति दोनों के सहयोग से जगद्रचना होती है, तब प्रकृति के समान ईश्वर में भी उपादानता स्वीकार करने में क्या आपत्ति है?

कपिलाचार्य का कहना है कि (प्रधानशक्तियोगात्) प्रकृतिरूप उपादानकारण के सहयोग से (चेत्) यदि ईश्वर को उपादान माना जाए, तो (संगापत्तिः) उसमें संगदोष की प्राप्ति होगी। ईश्वर एक ऐसी शक्ति है जिसे अपना कार्य करने में अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं। इसलिए यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाता है और उसमें प्रकृति को उसका सहयोगी स्वीकार किया जाता है तो उसके

पूर्णशक्तिरूप की हानि होकर उसमें संग—साहाय्यरूप की प्राप्ति होती है। 'संग' पद का अर्थ संघात भी है, और संघात परिणाम का फल है। इसलिए परिणामिनी प्रकृति के समान ईश्वर को भी जगत् का उपादान मानने पर परिणामी मानना होगा। वस्तुस्थिति यह है कि ईश्वर का कार्य प्रकृति-उपादान का नियन्त्रण करना मात्र है और अपने इस कार्य को सम्पन्न करने में उसे अन्य किसी का सहयोग अपेक्षित नहीं, अतएव प्रकृति के समान जगद्रचना में ईश्वर की उपादानता का प्रश्न नहीं उठता।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्—यदि ईश्वर की उपादानता मानने पर संगदोष की प्राप्ति होती है तो यही क्यों न मान लिया जाए कि केवल ईश्वर अपनी सत्ता से ही समस्त जगत् की रचना कर देता है अर्थात् पूर्णरूप से एकमात्र परमेश्वर को ही जगत् का मूल उपादान क्यों न मान लिया जाए ?

सूत्रकार का उत्तर है कि (सत्तामात्रात्) केवल अपनी सत्ता से (चेत्) यदि [ईश्वर उपादान हो तो] (सर्वैश्वर्यम्) सब जगत् ईश्वर का रूप होना चाहिए।

'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'—इस न्याय के अनुसार यदि ईश्वर अपनी सत्ता से—अपने स्वरूप से ही समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है तो, मूल उपादान के समान यह समस्त संसार भी पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, अजर, अमर, नित्य, पवित्र और सृष्टि का नियन्ता है, वैसा ही जगत् को होना चाहिए, परन्तु दृश्यमान जगत् में इन अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है, अतः ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाएगा तो उसे परिणामी स्वीकार करना होगा। परिणामी तत्त्व अनिवार्यतः विकारी होगा। विकारी होने से वह अनित्य तथा परिवर्तनशील होगा। दृश्यमान जगत् जड़-अचेतनरूप है। ईश्वर केवल चेतन सत्ता है। चेतन अपरिणामी होता है और अचेतन परिणामी, इसलिए अचेतन परिणामी जगत् का मूल उपादान चेतन, अपरिणामी ईश्वर कदापि नहीं हो सकता।

अगले दो सूत्रों में भी सूत्रकार ने चेतन के परिणाम का प्रत्याख्यान किया है—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः—(प्रमाणाभावात्) प्रमाण न होने से (तत्सिद्धिः) चेतन-परिणाम की सिद्धि (न) नहीं हो सकती। यद्यपि सूत्र में साधारण **'प्रमाण'** पद का निर्देश है, परन्तु अगले सूत्र में **'अनुमान'** का प्रसंग होने से इस सूत्र में 'प्रमाण' पद केवल प्रत्यक्ष का अतिदेश करता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में अर्थात् लोक में कहीं भी ऐसा न देखे जाने से कि चेतन अचेतनरूप में परिणत होता है, चेतन के परिणाम की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार जड़ जगत् के रूप में परिणत होनेवाले अर्थात् जगत् के उपादानभूत चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—(सम्बन्धाभावात्) व्याप्ति न होने से (अनुमानम्) अनुमान (न) नहीं। उक्त अर्थ की सिद्धि में जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का ग्रहण न होने से, अनुमान भी उस अर्थ को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। लोक में देखा जाता है कि घट और कुण्डल आदि अपने सजातीय मृत्पिण्ड तथा कनकपिण्ड आदि के ही कार्य होते हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक जड़ जगत् सत्व-रजस्-तमोरूप जड़ प्रकृति का ही परिणाम हो सकता है, चेतन तत्त्व ईश्वर का नहीं।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य—(श्रुतिः) वेद (अपि) भी [जगत् को] (प्रधानकार्यत्वस्य) प्रकृति के कार्य होने का [उल्लेख करता है]।

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः ॥

—यह शवेताश्वतर उपनिषद् (४।५) का वचन है।

जो जन्मरहित सत्व-रज-तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है, अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है, और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ, निर्विकार रहता है, इसलिए जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।

श्रुति अर्थात् वेद, उपनिषदादि शब्दप्रमाण से भी यह प्रमाणित होता है समस्त जड़ जगत् प्रधान (त्रिगुणात्मक प्रकृति) का ही कार्य है। ग्रन्थकार द्वारा यहाँ उद्धृत 'अजामेकाम्' उपनिषद् (श्वेत० ४।५) से अतिरिक्त **'द्वा सुपर्णा'** (ऋ० १।१६४।२०) **'अपाङ् प्राङेति'** (ऋ० १।१६४।३८)। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (ऋ० १०।१२६।२३) **'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्'** (अथर्व० १०।८।४३) इत्यादि अनेक श्रुतिवचनों में प्रकृति की उपादानकारणता का स्पष्ट एवं विशद वर्णन उपलब्ध है। सूत्र में **'अपि'** पद इस अर्थ की पुष्टि के लिए अनुमान आदि प्रमाणों का संग्राहक है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा वेदादि शास्त्रवचनों के आधार पर ईश्वरसम्बन्धी इस प्रसंग में यह निर्धारित किया गया है कि जगत् का उपादानकारण जड़ प्रकृति है, परमात्मा नहीं। परमात्मा केवल निमित्तकारण है, एवं जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता है। वही कर्माध्यक्ष के रूप में जीवों के कर्मों का फल-प्रदाता है। निष्कर्ष यह है कि महर्षि कपिल ने अपने दर्शन में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है (सा० १।५७) किन्तु जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है (सा० ३।५६-५७)। कई व्याख्याकारों के द्वारा किये गये इन सूत्रों के अर्थ सांख्यसिद्धान्तों को सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से न समझने के कारण केवल कल्पनाप्रसूत हैं।

अजामेकाम्—(लोहित) लाल (शुक्ल) सफेद तथा (कृष्ण) काले रंग की एक **'अजा'** है जो अपने ही रूप-रंगवाली [सरूपा, न कि स्वरूपा] अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक **'अज'** है जो उस 'अजा' से प्रीति करता (जुषमाणः) और उसका उपभोग करता है (अनुशेते)। (अजोऽन्यः) एक **दूसरा 'अज'** है जो [एनां भुक्तभोगाम्] उस भुक्तभोगा (अजाम्) 'अजा' को (जहाति) छोड़ देता है अर्थात् उसका उपभोग नहीं करता है। 'अज' का अर्थ है अ+ज=जो पैदा न हो, अजन्मा, अनादि एवं नित्य हो। तीन 'अज' अर्थात् अनादि=नित्य हैं—एक भोग्य अर्थात् सत्त्व (शुक्ल)—रजस् (लोहित) तथा तमस् (कृष्ण) रूपी प्रकृति; दूसरा उसके भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगनेवाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद १।१६४।२० के समान ही उपनिषद् के इस सन्दर्भ में प्रकृति के उपादानत्व पर बल देते हुए जीवात्मा के भोक्ता और परमात्मा के उन दोनों के नियन्ता होने की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। विकारी तथा परिणामिनी होने के कारण प्रकृति अपने जैसी [सरूपाः—स्वरूपाः] (बह्वीः प्रजाः) बहुत सी प्रजाओं=वस्तुओं को उत्पन्न करती है, परन्तु निर्विकार परमात्मा सदा एकरूप बना रहता है।

शंकर का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट वर्णन न होने से यहाँ **'अजा'** पद प्रकृति का नहीं, अपितु बकरी का वाचक है, किन्तु उनकी यह मान्यता युक्ति-युक्त नहीं है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी की कोई प्रासांगिकता नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर **'भुक्तभोगा' 'अनुशेते' 'जहात्येनाम्'** और दो 'अजों' के वाचक 'अज' आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ

[अन्य शास्त्रों में ईश्वर का प्रतिपादन]

तथा मीमांसा का 'धर्म-धर्मी' से, 'ईश्वर' से वैशेषिक, और न्याय भी 'आत्मा' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादिधर्मयुक्त, और **'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा'** जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादिधर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।

[ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता]

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि **'अज एकपात्' 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'** ये यजुर्वेद (३४।५३, ४०।८) के वचन हैं। इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

विशेषणपद भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते 'प्रकृति' से भिन्न कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। प्रलयकाल में प्रकृति साम्यावस्था में होने के कारण निर्विकार रहती है, सर्गकाल में अवस्थान्तर को प्राप्त होकर विविधरूप धारण कर लेती है।

मीमांसाशास्त्र में धर्म-धर्मी अथवा द्रव्य-गुण का विवेचन हुआ है, अतः उसके रचयिता जैमिनि अनीश्वरवादी नहीं हैं। जीवात्मा तो एकदेशी-अल्पज्ञ है, किन्तु न्याय और वैशेषिक में जिस आत्मा का व्याख्यान किया गया है, वह सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। इन गुणों से युक्त परमात्मा ही है। इसलिए उन दर्शनों के रचयिता गौतम तथा कणाद निश्चितरूप से आस्तिक थे। ग्रन्थकार के यह सब कहने का अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि छहों शास्त्रों के रचयिता समानरूप से आस्तिक अर्थात् ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखनेवाले थे, अनीश्वरवादी कोई नहीं थे।

ईश्वर अवतार नहीं लेता—ईश्वर की पहचान बताते हुए योगदर्शन में कहा है 'क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१।२४)। इसपर व्यासभाष्य—**'अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि। तत्फलं विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयः। यो हि अनेन भोगेन अपरामृष्टः असम्पृक्तः स पुरुषविशेष ईश्वरः।'**

अर्थात्—अविद्यादि क्लेश, कुशल तथा अकुशल कर्म, उनके अनुकूल वासना, कर्मों का फल विपाक—जिसको इस भोग का सम्बन्ध तीन काल में न हो, वह पुरुषविशेष ईश्वर है, क्योंकि देहधारी में ये बातें अवश्य होती हैं, इसलिए परमेश्वर देहधारी नहीं हो सकता।

न्यायदर्शन (१।१।२) में तत्वज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर मोक्षलाभ का क्रमिक वर्णन करते हुए लिखा है—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः' ।

अर्थात्—'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के **'उत्तरोत्तरापाये'** उत्तर-उत्तर के—अगले-अगले के नष्ट हो जानेपर **'तदनन्तरापायात्'** उसके अनन्तर के अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से **'अपवर्गः'** मोक्षलाभ होता है। दुःखादि के क्रम में उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान के कारण ही अन्ततः परमेश्वर को राम के रूप में अवतार लेना पड़ा, यह स्वयं श्रीराम के वक्तव्य से प्रमाणित है। श्रीराम कहते हैं—

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकानुशोको हि परम्पराया मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥

—वा०रा०अ० १०।२

मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्टकर्म करनेवाला नहीं है। एक के बाद एक शोक मुझे पीड़ित कर रहा है।

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत् कृतानि ।
तेषां मयाद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ —१०।४

निश्चय ही पूर्वजन्म में मैंने बहुत बड़े पाप किये थे जिनके फलस्वरूप मुझे एक के बाद एक दुःख मिल रहा है।

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ —६३।५

उसी पापकर्म के फल से मेरा राज्य नष्ट हुआ, माता से वियोग हुआ, स्वजनों से विछोह हुआ, पिता की मृत्यु हुई। हे लक्ष्मण ! ये सब दुःख मेरे शोक को बढ़ा रहे हैं।

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम् ।
सीतावियोगात् पुनरभ्युदीर्णं काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः ॥—६३।६

हे लक्ष्मण ! वन में आकर मेरा यह सब दुःख शान्त हो गया था, किन्तु सीता के वियोग से यह फिर से प्रदीप्त हो गया है।

युद्ध में लक्ष्मण के मरणासन्न प्रतीत होनेपर एक बार फिर राम कहते हैं—

किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि ।
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः ॥ —वा० रा० युद्ध० १०१।२०

पूर्वजन्म में मैंने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म किया था जिसके कारण मेरा धर्मात्मा भाई मेरे सामने मरा पड़ा है।

अपने-आपको ईश्वर जानने और माननेवाला व्यक्ति इस प्रकार की बातें कदापि नहीं कह सकता।

वेद कहता है कि परमेश्वर **'अपापविद्धम्'** (यजुः० ४०।८) है, अर्थात् परमात्मा कोई पाप नहीं करता। योगदर्शन के अनुसार उसे कर्मफल भोगना नहीं पड़ता, परन्तु श्रीराम स्वयं कहते हैं कि मैं अपने पूर्वजन्म में किये पापों का फल भोग रहा हूँ। तब यह कैसे माना जा सकता है कि राम के रूप में स्वयं भगवान् अवतरित हुए थे।

अवतारवाद वेदविरुद्ध—वेदविरुद्ध होने से ईश्वर के शरीरधारी के रूप में अवतरित होने की कल्पना नहीं की जा सकती। यजुर्वेद (४०।८) में ईश्वर को **'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** और स्वयम्भूः नाम से पुकारा गया है। अष्टाध्यायी के **'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः'** (३।३।४१) इस सूत्र से **'काय'** शब्द निवास, चिति और शरीर आदि अर्थों में सिद्ध किया है। इसलिए **'अकाय'** का अर्थ शरीररहित ही है। शंकराचार्यसहित सभी प्राचीन भाष्यकारों ने **'अकायम्'** का अर्थ **'लिङ्गशरीरवर्जितम्'** किया है। लिंगशरीर (**सप्तदशैकं लिंगम्**—सा० ३।६) अठारह घटक पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्र, मन, बुद्धि और अहंकार) अवयवोंवाला होता है। इस प्रकार **'अकाय'** कह देने से ईश्वर के सूक्ष्मशरीर का निषेध हो जाता

है। इन्हीं आचार्यों के अनुसार 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कहने से उसके शरीर का भी निषेध हो जाता है। 'स्वयम्भू' का अर्थ भी महीधर ने 'स्वयं होने या जन्म लेनेवाना' न करके **'स्वयंभूः स नित्यः ईश्वरः'** 'नित्य' किया है—जन्म लेने और उस अवस्था में अनिवार्यतः मरनेवाले (**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**—गीता) की **'नित्य'** संज्ञा नहीं हो सकती। ऋग्वेद ४।१।११ में ईश्वर को **'अपादशीर्षा'** 'सिर और पैर से रहित' तथा १।१५२।३ में **'अपादेति पद्वतीनाम्'** अर्थात् पैरवालों में बिना पैरवाला बताया है।

''अजो न क्षां दाधार पृथिवीं ततस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।''

—(ऋ० १।६७।३)

'अजः' अजन्मा परमेश्वर पृथिवी व द्युलोक को धारण करता है।

'शं नो अज एकपाद्देवः' (ऋ० ७।३५।१३) में भी परमेश्वर को 'अज' अर्थात् कभी जन्म न लेनेवाला बताया है। यही बात 'उत नोऽहिर्बुध्न्यःशृणोत्वज एकपात्' (ऋ० ६।५०।१४) में कही है। यहाँ 'एकपात्'= एक पैर से चलनेवाले अर्थात् लंगड़े परमात्मा का प्रसंग नहीं है। 'एकपात्' का रहस्य यजुर्वेद (३१।३,४) के निम्न मन्त्रों से पता चलता है। वहाँ कहा है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

अर्थात् उस ब्रह्मपुरुष का एक भाग समस्त भूत हैं और तीन पाद दिव्यलोक में हैं। उसका तीन भाग जगत् से ऊपर या बाहर है, मात्र एक भाग यहाँ है।

यह गणित की नहीं उपचार की भाषा है। ईश्वर निरवयव एवं अखण्ड है। इसलिए एक पाद या तीन पाद का यह अर्थ करना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर के चार पाद या चार भाग हैं जिसमें से एक पाद सृष्टि है और तीन पाद द्युलोक। संस्कृत अथवा वैदिक साहित्य में किसी वस्तु का चतुष्पाद् कहा जाना उसके पूर्णत्व का द्योतक है। प्रस्तुत वर्णन सर्वथा औपचारिक है और केवल इतने भाव को प्रकट करता है कि इतना विशाल जगत् भी उसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ है। यही कारण है कि परमेश्वर इसका नियन्त्रण करने में समर्थ है। जन्म-मरण के बन्धन में आनेवाले पञ्चभौतिक शरीरधारी एकदेशी परमेश्वर के लिए इसका याथातथ्य नियमन करना सम्भव नहीं। अभिधा से इसका अर्थ करनेपर परमेश्वर चौपाया बन जाता है। यह अर्थ किसी को मान्य नहीं होगा। प्रकारान्तर से यहाँ परमात्मा की सर्वव्यापकता का निर्देश किया गया है। उष्ट्रयष्टिकान्याय से इस मन्त्र का महीधर का भाष्य द्रष्टव्य है—

''अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्त्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्याव-शिष्टत्रिपात्त्स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं तद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ता अभावात् पादनिरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्म रूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।''

अर्थात्—ब्रह्म की इयत्ता—सीमा नहीं है। फिर भी ब्रह्म की तुलना में जगत् की तुच्छता दिखाने के लिए ही इस रूपक का सहारा लिया गया है।

यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का १९वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

इस मन्त्र पर ग्रन्थकार का भाष्य इस प्रकार है—(प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (चरति) (गर्भे) गर्भस्थे जीवात्मनि (अन्तः) हृदि (अजायमानः) स्वरूपेणानुत्पन्नः सन् (बहुधा) बहुप्रकारैः (वि) विशेषण (जायते) प्रकटो भवति । (तस्य) प्रजापतेः (योनिम्) स्वरूपं (परि) सर्वतः) (पश्यन्ति) प्रेक्षन्ते (धीराः) ध्यानवन्तः । (तस्मिन्) जगदीश्वरे (ह) प्रसिद्धम् (तस्थुः) तिष्ठन्ति (भुवनानि) भवन्ति येषु तानि लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि ।

महीधरभाष्यम्—यः सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् कार्यकारणरूपेण प्रपञ्चरुपेण उत्पद्यते ब्रह्मविदस्तस्य स्वरूपं पश्यन्ति भूता जातानि तस्मिन्नेव कारणात्मनि सर्वं तदात्मकमेव इत्यर्थः ।

भाषार्थ—सबके हृदय में विद्यमान वह प्रजापति गर्भस्थ जीवों के भीतर प्रविष्ट होता है और (अजायमानः=अनुत्पद्यमानः) बिना उत्पन्न हुए अनेक रूपों में व्यक्त होता है । वह कूटस्थ नित्य है । **'सर्वं तदात्मकमेव'** समस्त जगत् उसी ब्रह्म का रूप है । इस मन्त्र के भाष्य में तो महीधर ने अवतारवाद की जड़ ही काट दी । जब सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्मरूप है तो उसके अवतार का अर्थ ही क्या रहा । कौन कहाँ आएगा? महीधर ने उसे नित्य कहा है । यदि ईश्वर जन्म लेगा तो मरेगा भी अवश्य, क्योंकि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'**—जो पैदा होता है, वह मरता अवश्य है—गीता । अवतारवादी पौराणिक महीधर के विरुद्ध **'अजायमानः'** का अर्थ **'जायमानः'** करते हैं । अपने श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने भी **'अजायमान'** पद माना है, **'जायमान'** नहीं ।

सर्वव्यापी होने से भी परमेश्वर का सृष्टि में आना-जाना नहीं बनता । आना-जाना वहाँ होता है जहाँ कोई पहले से न हो । जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं आता-जाता नहीं, वैसे ही अनन्त और सर्वव्यापक होने से परमात्मा का कहीं आना सिद्ध नहीं होता । फिर, **'यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्'** इत्यादि (अथर्व० १०।७।३२-३४) के अनुसार 'भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष जिसका उदर और द्यौ सिर है —'इतने विशाल आकारवाला (उपचार से) ब्रह्म किसी नारी के सीमित गर्भ में कैसे समा सकता है और गर्भ में आया कहाँ से ? सर्वव्यापी होते हुए भी क्या वह पहले से गर्भ में नहीं था और माता के गर्भ से जन्म लेने के पश्चात् गर्भ में नहीं रहेगा ? वस्तुतः उसका किसी के गर्भ में आना या उससे बाहर निकलना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** वह सदा से गर्भ के भीतर भी विद्यमान रहता है और बाहर भी । तात्स्थ्योपाधि से 'गर्भ' का अर्थ गर्भस्थ जीव है, जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** में **'मञ्चाः'** का अर्थ **'मञ्चस्थपुरुषाः'** होता है ।

'परमात्मा गर्भ में आता है' यह सिद्ध करने के लिए अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रायः यह मन्त्र उपस्थित किया जाता है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

—यजुः० ३२।४

उव्वट के अनुसार इसका अर्थ है—

एष एव देवः प्रदिशः दिशाश्च सर्वा अनुव्याप्य वर्त्तते तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति । पूर्वो ह जातः अनादिनिधनः संभूतः । स उ गर्भे अन्तः स एव च मातुरुदरे अन्तर्गर्भे व्यवतिष्ठते । स एव जातः स एव जनिष्यमाणः तदुक्तं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत प्रतिपदार्थमज्जनः । हे जनाः सर्वतोऽक्षि शिरो ग्रीवा

पाणिपादः अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः ।

अर्थात्—वह देव ऊपर-नीचे सब दिशाओं में व्यापक है, अनादिनिधन है, वही माता के गर्भ में विद्यमान है, वही हुआ है, होगा अर्थात् सब संसार ब्रह्म है। वह अचिन्त्यशक्ति है। इस मन्त्र के भाष्य में उव्वट ने भी अवताखाद का मूलोच्छेद कर दिया। जब सारा संसार ब्रह्म है तो रावण, कंस, राम और कृष्ण के रूप में सब ब्रह्म ही हैं। तब कौन साधु और कौन दुष्ट। कौन किसके संहार के लिए अवतार लेगा।

पौराणिक मतानुसार जीवात्मा मुक्त होनेपर सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर तो शुद्धबुद्धमुक्तनित्यस्वभाव है। जो नित्य मुक्त है उसके जन्म का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

गर्भ—प्रायः गर्भ शब्द को देखकर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, अतः यहाँ इस शब्द पर विस्तार से विचार करना उचित होगा।

यजुर्वेद के ३७वें अध्याय का १४वाँ मन्त्र है—

'गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम्।
सं देवो देवेन सवित्रा गत सं सूर्येण रोचते ॥'

महीधरभाष्यम्—**'देवो दीप्यमानो महावीरो देवेन सह संगच्छते। देवानां दीप्तानां रश्मीनां दृश्यमानानां सर्वेषां वा ग्रहीता एष वै गर्भो देवोनां य एष तपति एष हीदं सर्वं संगृभ्णाति एतेनेदं सर्वः गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यः ॥'** श० १४।१।२

वह परमेश्वर वा सूर्य सब देवों का—दृश्यमान पदार्थों का गर्भ ग्रहण करनेवाला है। यहाँ परमेश्वर या सूर्य का नाम गर्भग्रहीता है। **'गर्भ इवान्तः स्थितः परमेश्वरः'** (ग्रन्थकार)।

'गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति' (निरुक्त १०।२३)।

परमेश्वर अनर्थों को नष्ट करता है, अतः उसको गर्भ कहते हैं।

'गर्भं स्तुत्यं वन्दनीयम्' । अ० ३।१०।१२

भगवान् को गर्भ इसलिए भी कहते हैं कि वह वन्दनीय है—स्तुति के योग्य है।

'गर्भोऽस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य अग्ने गर्भोऽपामसि ॥' —(यजु० १२।३७)

हे जीव ! तू ओषधि, वनस्पति सब भूतों का गर्भ अर्थात् सबको ग्रहण करनेवाला है।

'विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ।' यजु० १२।२३

इसपर महीधरभाष्य—**'भूतजातस्य वाय्वात्मजा गर्भः स हि प्राणभावेन भूतानाम् अन्तः संचरति ।'** यहाँ अग्नि अर्थ में गर्भ पद प्रयुक्त हुआ है।

'कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वा हि माद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्त्ताः श्लथद् वसनभूषणकेशबन्धाः ।
—भागवत १०।१६।३१

जिस कृष्ण के गर्भमध्य में सम्पूर्ण संसार है। यहाँ गर्भ का अर्थ मध्य है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'गर्भ' शब्द का परमात्मा, जीवात्मा, अग्नि, वायु, मध्य आदि अर्थों में भी प्रयोग होता है, अतः गर्भ शब्द को देखते ही अवतार की कल्पना कर लेना युक्तियुक्त नहीं है । जिन मन्त्रों में **'गर्भे अन्तः'** शब्द आता है उनमें 'परमात्मा में सब है और सबमें परमात्मा है' इस प्रकार वर्णन करते हुए परमात्मा की सर्वव्यापकता पर ही बल दिया गया है । इसी मन्त्र में आये वह 'सब दिशाओं में व्याप्त है' शब्दों से परमेश्वर के कहीं आने-जाने की आवश्यकता का प्रकारान्तर से निषेध कर दिया गया है ।

वेद का कथन है—**'परिपश्यन्ति धीराः'**—परमेश्वर के स्वरूप को धीरपुरुष ही देखते हैं । मनुष्य (राम, कृष्ण आदि), पशु (मत्स्य, कूर्म आदि) तथा मनुष्य-पशु के संयुक्त रूप (नृसिंह) में तो परमेश्वर को करोड़ों मनुष्यों (वानरों, भालुओं तथा पशु-पक्षियों तक) ने देखा था । फिर वेद ने उसके धीर पुरुषों द्वारा देखे जाने की बात क्यों कही ? राम और कृष्ण को तो रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण, कंस, केशी, मधु आदि राक्षसों और ताड़का, शूर्पणखा, पूतना जैसी राक्षसियों तक ने देखा था । निश्चय ही इस मन्त्र में ईश्वर के शरीरधारण करके अवतरित होने का उल्लेख नहीं है । **'परिपश्यन्ति धीराः'** से ईश्वर का किसी भी दशा में साकार रूप का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि उसे चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्' । (कठ० ६।६)—उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, इसलिए उसे इन आँखों से नहीं देखा जा सकता । **'न तत्र चक्षुर्गच्छति'** (केन० १।३) । **'न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते'** (विष्णुपुराण ६।६) । यजुर्वेद ३२।२ का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनों ने स्पष्ट घोषणा की है—**'न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः'**—(भौतिक पदार्थों की भाँति) ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है । देवीभागवतपुराण (स्कन्ध ३, अ० ७) में लिखा है—

निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेद् दृष्टिगोचरम् ।
दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम् ॥

निर्गुण (पौराणिक मत में निर्गुण का अर्थ निराकार है) का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, अरूप का दर्शन कैसे हो सकता है ? जो दृश्य है—दिखाई देता है, वह तो नश्वर है । नश्वर ईश्वर कैसे हो सकता है ? वह तो अविनाशी है ।

तब धीर पुरुष चारों ओर कैसे देखते हैं ? इसके उत्तर में स्वयं कठोपनिषद् ने ही कह दिया—

'हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।' —६।९

मनीषी लोग उसे मन से ध्यान करने पर आत्मा में देख पाते हैं । जो मनुष्य उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव कर लेता है, वह भावाभिभूत होकर कह उठता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

यह कहा जा सकता है कि जीव भी तो स्वरूप से अजन्मा है, किन्तु फिर भी तरह-तरह के शरीर धारण करता है । ऐसे ही परमात्मा भी स्वरूप से अजन्मा होते हुए भी जन्मधारण करता है, किन्तु यह तर्क यहाँ असंगत है, क्योंकि प्रथम तो जहाँ परमात्मा को **'अजन्मा'** कहा है, वहाँ उसे **'अकायम्' 'अव्रणम्'** तथा **'अस्नाविरम्'** अर्थात् अशरीरी तथा नस-नाड़ी से रहित भी कहा है, परन्तु जीवात्मा के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है । दूसरे जहाँ जीव को अनेकत्र शुभाशुभ कर्मों का फल भोगनेवाला कहा है (और शरीर

के बिना कर्मफल-भोग सम्पन्न नहीं होता—(**भोगायतनं शरीरम्**) वहाँ परमात्मा को **'क्लेशकर्मविपाकाशय'** से अपरामृष्ट—अछूता बताया है, इसलिए उसे कर्मफल भोगने के लिए शरीरधारण करना अपेक्षित नहीं है। तीसरे जहाँ जीव अणुपरिमाण एकदेशी होने से किसी शरीर में समा सकता है, वहाँ परमेश्वर विभु सर्वव्यापी होने से किसी काया में नहीं समा सकता। चौथे, जीव का एकदेशी होने से गर्भ में आना-जाना कहा जा सकता है, किन्तु परमेश्वर के सर्वव्यापक होने से कहीं आना-जाना नहीं कहा जा सकता। कोई स्थान—वह गर्भ हो या जगत्—ऐसा नहीं, जहाँ वह सदा विद्यमान न हो, इसलिए उसके एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जीव की भाँति परमेश्वर का जन्म नहीं माना जा सकता।

ऋग्वेद के जिस अन्य मन्त्र (६।४७।१८) में ईश्वरावतार की कल्पना की गयी है, वह इस प्रकार है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

इन्द्र शब्द का निर्वचन ब्राह्मण इस प्रकार करता है—क्योंकि विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा मुख्य प्राण को तेजस्वी बनाया, अतः मुख्य प्राण का नाम 'इन्द्र' है। अथवा, यतः विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा को तेजस्वी बनाया, अतः जीवात्मा का नाम इन्द्र है, अर्थात् प्राण व जीवात्मा के कारण ही इन्द्रियों की अवस्थिति है, अतः इन इन्द्रियों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं। मन्त्रगत **'हरयः'** पद **'इन्द्रियाणि हयानाहुः'** (कठ० ३।४) का स्मरण कराता है। इसी प्रकार **'शता'** पद से शरीर में विस्तृत असंख्य नस-नाड़ियों का बोध होता है। इस प्रकार इस मन्त्र में प्राण और इन्द्रियों से युक्त भौतिक देह के स्वामी आत्मा का प्रसंग है, न कि परमात्मा का, यह सब-कुछ जीवात्मा के स्वरूपबोध के लिए है। इस जीवात्मा के निर्देशानुसार ही यह शरीर अपने समस्त कार्यों का सम्पादन करता है। कर्मों के अनुसार जीवात्मा जिस-जिस शरीर में जाता है तदनुरूप ही स्वभाव और चेष्टाओंवाला हो जाता है। मनुष्यशरीर में आकर इसकी चेष्टाएँ मनुष्य की-सी होती हैं तो पशु-पक्षी की योनि पाकर तदनुरूप चेष्टा करने लगता है। यह बहुरूपिया जीवात्मा है, परमात्मा का इससे कुछ लेना-देना नहीं।

'इन्द्र' नाम बिजली का भी है। इस अर्थ का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—'जैसे बिजली पदार्थ के प्रति तद्रूप, वैसे ही जीव शरीर-शरीर के प्रति तत्स्वभाव का होता है। पंखे में आकर बिजली हवा देने लगती है तो हीटर में आकर वही गर्मी पहुँचाने का साधन या माध्यम बन जाती है। चक्की में प्रविष्ट होकर वह आटा पीसने लगती है तो रेल के इंजन में आते ही दौड़ने लगती है। विभिन्न योनियों को प्राप्त जीवात्मा की भी यही स्थिति है।

अवतारवाद की सिद्धि में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी प्रस्तुत किया जाता है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

—अथर्व० १०।८।२७

इस मन्त्र से बलात् अवतारवाद को सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, जबकि इसमें स्पष्ट तौर पर मानवयोनिप्राप्त किसी भी जीव की मात्र सामान्य चेष्टाओं का वर्णन है। इसका सीधा अर्थ है—

तू कभी स्त्री बन जाता है और कभी पुरुष। कभी लड़की बनता है, कभी लड़का। तू ही कभी बूढ़ा होकर लठिया के सहारे चलता है। तू विविध योनियों में जन्म लेता और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता है।

'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (यजुः० ५।१५) इत्यादि मन्त्र में विष्णु के वामनावतार का वर्णन हुआ बताया जाता है, जबकि वास्तव में इसमें परमात्मा के तीन प्रकार के जगत् को बनाकर आकाश में स्थिर रखने के एक वैज्ञानिक तथ्य का निरूपण किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा।''

'विष्णुः परमात्मा' (स्कन्द—निरुक्तटीका, भाग २, पृष्ठ ५५) ; **'विष्णुर्व्यापक इति'** शत्रुघ्नाचार्यो मन्त्रार्थदीपिकायाम्, पृष्ठ ६; 'विष्णुर्भगवानिति', पृष्ठ ४७; 'विष्णुर्व्यापक इति' लौगाक्षिगृह्यसूत्रे, ४७।

पदार्थः—(विष्णुः) जो सबमें व्यापक जगदीश्वर जो कुछ (इदम्) यह जगत् है, उसको (विचक्रमे) रचता हुआ इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जगत् को (त्रेधा) तीन प्रकार का (निदधे) धारण करता है। (अस्य) इस प्रकाशवान्, प्रकाशरहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु आदि रूप (स्वाहा) अच्छे प्रकार देखने-दिखलाने योग्य जगत् का ग्रहण करता हुआ इस (समूढम्) अच्छे प्रकार विचार करके कथन करने योग्य अदृश्य (पदम्) जगत् को (पांसुरे) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है, वही सब मनुष्यों को उत्तम रीति से सेवने योग्य है।

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—''परमेश्वर ने जिस प्रथम' प्रकाशवाले सूर्यादि, दूसरा' प्रकाशरहित पृथिवी आदि और जो तीसरा' परमाणु आदि अदृश्य जगत् है, उस सबको कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है, उनमें से ओषधि आदि पृथिवी में, प्रकाश आदि सूर्यलोक में और परमाणु आदि आकाश **और इस सब जगत् को प्राणों के शिर में स्थापित किया है।** इस [संस्कृत में] लिखे हुए शतपथ के प्रमाण से **'गय'** शब्द से प्राणों का ग्रहण किया है। इसमें महीधर जो कहता है कि त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके जगत् को रचा है, यह उसका कहना सर्वथा मिथ्या है।''

निरुक्तकार ने भी इस मन्त्र में वामनावतार का ग्रहण नहीं किया है। यास्काचार्य लिखते हैं—''यदिदं किंच तद्विक्रमते विष्णुः, त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पिंशनीया भवन्तीति वा॥''

—निरुक्त १२।१६

विष्णु=मध्यकालीन सूर्य, **'विष्लृ व्याप्तौ'**, **'विश प्रवेशने'** या **'वि'** पूर्वक **'अशूङ् व्याप्तौ'** **'णु'** प्रत्यय और किद्भाव (उणादि० ३।३६)। मध्यकालीन आदित्य सर्वत्र व्याप्त होता है और सर्वत्र प्रविष्ट होता है।

विचक्रमे=विक्रमते; विष्णुपद=अन्तरिक्ष मध्य जिसमें कि मध्याह्नकालीन आदित्य की स्थिति है। एवं 'विष्णुपद' का मुख्य अर्थ यद्यपि अन्तरिक्षमध्य है, परन्तु सामान्यतः अन्तरिक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। 'गयशिरम्'=मकानों की छत, निघण्टु में 'गय' पद गृहवाची पठित है। मध्याह्नकाल में आदित्य सम्पूर्ण मकानों के ठीक ऊपर देदीप्यमान होता है।

अर्थ—**(इदं विष्णुर्विचक्रमे)** यह मध्याह्नकालीन सूर्य, इस भूतल पर जो कुछ यह है, उस सबमें विक्रम दर्शाता है, अर्थात् भूमि के प्रत्येक पदार्थ को पूरी तरह तपाता है। **(त्रेधा पदं निदधे)** यह पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में—एवं तीन प्रकार से प्रकाश-किरण को धारण करता है, अर्थात्—यह विष्णु आदित्य उपर्युक्त तीनों लोकों को पूर्णतया प्रकाशित करता है। **(अस्य पांसुरे समूढम्)** इस आदित्य की एक किरण अन्तरिक्ष में गुप्त है, अर्थात् दृष्टिगोचर नहीं होती।

प्रश्न— **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ —भ० गी० ४।७

श्री कृष्णजी कहते हैं कि—'जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ ॥

उत्तर—यह बात वेदविरूद्ध होने से प्रमाण नहीं, और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्माओं और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ, तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**[1] परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते ।

उपनिषदों में अवतारवाद का निषेध—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्यान्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ —मुण्डक० २।१।२

वह परमेश्वर अमूर्त्त, भीतर-बाहर व्यापक, अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित और शुद्ध है । तथाकथित अवतरित ब्रह्म इन गुणों से युक्त नहीं होता ।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

—श्वेत० ३।२१

वह पुरुष अजर, अमर, सर्वव्यापक, विभु व नित्य है । ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह जन्म नहीं लेता । यहाँ अवतार का स्पष्ट निषेध है । **'यत्तददृश्यम्'** इत्यादि (मुण्डक० १।७) तथा **'न संदृशे तिष्ठति'** (कठ०६।९) पर पहले विचार किया जा चुका है ।

यदा यदा हि—यह गीता के चतुर्थ अध्याय का सातवाँ श्लोक है । इसका पूरक आठवाँ श्लोक है जो इस प्रकार है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

अर्थ—हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! जब-जब धर्म की ग्लानि=अवनति और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं 'आत्मानं'=अपने को उत्पन्न करता हूँ । सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए और धर्म को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए मैं समय-समय पर जन्म लेता रहता हूँ । तुलना करें—

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवान् ईश आत्मानं सृज्यते हरिः ॥ —भागवत ६।२४।५६

इन श्लोकों में 'धर्म' शब्द का परम्परागत रूढ़ अर्थों में प्रयोग न होकर वर्णाश्रमव्यवस्था, न्याय और नीति आदि सबका उसमें समावेश है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जब संसार में अन्याय, अत्याचार, अनीति, दुष्टता में वृद्धि होकर सज्जनों को कष्ट होने लगता है और दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है तब परमात्मा अपने द्वारा उत्पन्न और संचालित संसार को सुव्यवस्थित कर उसका कल्याण करने में समर्थ,

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है — 'मूलं भुजङ्गैः शिखरे विहङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः कुसुमानि भृंगैः । आश्चर्यमेतत् खलु चन्दनस्य, परोपकाराय सतां विभूतयः' ॥ —कस्यचित् कवेः

ज्ञानवान्, तेजस्वी और पराक्रमी विशिष्ट पुरुषों को भेजकर समाज की बिगड़ी दशा को ठीक कर दिया करते हैं। ऐसे असाधारण पुरुषों को सामान्यजन अवतारी पुरुषों के नाम से अभिहित करने लगते हैं।

इसी बात को डॉ० राधाकृष्णन ने इस प्रकार लिखा है—

Avatar means descent, one who has descended. The Divine comes to the earthly plane to raise it to a higher status. God descends when man rises. The purpose of the avatar is to inaugurate a new world, a new dharma. By his teaching and example, he shows how a human being can raise himself to a higher grade of life. The issue between right and wrong is a decisive one. God works on the right side. Love and mercy are ultimately more powerful than hatred and cruelty. Dharma will conquer adharma, truth will conquer falsehood, the power behind death, disease and sin will be overthrown by the reality which is Being, Intelligence and Bliss (सच्चिदानन्दस्वरुप).

Dharma literally means mode of being. It is the essential nature of a being that determines its mode of behaviour. So long as our conduct is in confirmity with our essential nature, we are acting in a right way. Adharma is non-conformity to our nature. If the harmony of the world is derived from the conformity of all beings to their respective natures, the disharmony of the world is due to their non-conformity. God does not stand aside when we abuse our freedom and cause disequilibrium. He does not simply wind up the world, set it on the right track and then let it jog along by itself. His loving hand is steering it all the time.

The conception of dharma is a development of the idea of rit (ऋत) which connotes cosmic as well as moral order in the Rigveda. The rit (ऋत) which gives logical significance and ethical elevation to the world is under the protection of Varuna. The God of the Gita (X1, 18) is the upholder of righteousness 'Shashvatadharmagoapta' (शाश्वतधर्मगोप्ता), not a God beyond good and evil, remote and unconcerned with man's struggle with righteousness.

—*Bhagwadgita, P.155.*

गीता के उपदेष्टा योगिराज कृष्ण और सम्पादक वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास हैं। यह भी निर्विवाद है कि गीता महाभारत का अंग है, किन्तु वर्त्तमान में प्रचलित महाभारत और गीता महर्षि वेदव्यास की रचना नहीं हैं, अर्थात् वर्तमान महाभारत और गीता, जैसे व्यासजी की लेखनी से निकले थे, वैसे आज हमारे सामने नहीं हैं। विश्वविख्यात गवेषक चिन्तामणि वैद्य ने महाभारत के तीन कर्ता माने हैं—व्यास, वैशम्पायन और सौति। उनके विवेचन के अनुसार महाभारतयुद्ध की समाप्ति पर व्यासजी ने 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था, जैसाकि महाभारत के पहले श्लोक में लिखा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'जय' शब्द का अर्थ यहाँ महाभारत नाम इतिहास ही है। आगे चलकर कहा है—'जयो नामेतिहासोऽयम्' इत्यादि। 'जय' नामक ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या कितनी थी, यह निश्चय करने के लिए कोई निश्चित आधार न मिलने से इस विषय में उन्होंने अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की। इसके बाद वैशम्पायन ने कुछ बढ़ाकर उसे 'भारत' बना दिया। 'भारत' की श्लोकसंख्या वैद्यजी ने २४ हजार मानी है। उनका यह अनुमान आदिपर्व में सौति की अनुक्रमणिका के आधार पर है। शेष ७६ हज़ारा आख्यानों के श्लोक बतलाकर सम्पूर्ण महाभारत की श्लोक-संख्या एक लाख लिखी है। वैद्यजी का अनुमान है कि ये ७६ हज़ार श्लोक सौति ने रचकर मिलाये। तभी से बड़ा हो जाने के कारण इसका नाम महाभारत

हुआ। ग्रन्थकार के अनुसार राजा भोज के समय महाभारत में ३० हज़ार से अधिक श्लोक नहीं थे। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है—"व्यासजी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छह सौ श्लोकयुक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के परिमाण भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। —यह बात राजा भोज के बनाये 'संजीवनी' नामक इतिहास में लिखी है कि जो ग्वालियर राज्य के भिंड नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है जिसको लखुना के रावसाहब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबेजी ने अपनी आँख से देखा है।" ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है कि "शंकराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ। ....विक्रमादित्य के पाँच सौ वर्ष के पश्चात् राजा भोज हुआ।' इस प्रकार राजा भोज का काल आज से २०४६-५००=१५४६ वर्ष ठहरता है। तदनुसार सौति का काल राजा भोज के बाद आता है। इस प्रकार वर्त्तमान 'महाभारत' का रचनाकाल आज से १५४६ वर्ष से पीछे नहीं जा सकता। इस कालगणना से सौति से पूर्वकालीन वैशम्पायन द्वारा रचित २४ हज़ार श्लोकयुक्त 'भारत' का भी सामंजस्य हो जाता है।

सौति कथावाचक थे। महाभारत के सब या अधिसंख्य श्लोक उन्हीं के लिखे हो सकते हैं। मनोरंजन के लिए कल्पित आख्यानों की रचना करते समय सिद्धान्त गौण या सर्वथा उपेक्षित हो जाता है। इसलिए उनका तर्क की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक नहीं। ऐसे असंगत तथा शास्त्रविरोधी प्रसंगों के लिए सौति को भी निश्चितरूप से ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि विभिन्न कालों में साम्प्रदायिक लोग भी प्रक्षेप करते रहे हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि लोग महाभारत में जहाँ अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वहाँ अपने प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं। यही कारण है कि सौति के काल से आज तक महाभारत की श्लोकसंख्या मोटे तौर पर एक लाख ही मानी जाती रही है। वैसे विभिन्न संस्करणों में श्लोकों की संख्या में ४ से १५ हज़ार तक का न्यूनाधिक्य मिलता है। जब सम्पूर्ण महाभारत में प्रक्षेप होता रहा है तो उसका एक अध्याय 'गीता' उससे अछूता कैसे रह सकता था?

महर्षि वेदव्यास जैसे गम्भीर विद्वान् द्वारा सम्पादित योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में परस्पर विरोधी तथा सर्वथा असंगत विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। फिर भी, वर्त्तमान गीता में ये दोष यत्र-तत्र-सर्वत्र पाये जाते हैं। वर्त्तमान में उपलब्ध गीता का कितना बड़ा भाग प्रक्षिप्त है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वैष्णव सम्प्रदाय, जिसकी ओर से प्रक्षेपों की भरमार है, महाभारत के समय में था ही नहीं।

एक बात और। व्यासजी ने महाभारत को अपने हाथ से नहीं लिखा था। इस कार्य के लिए उन्होंने उस समय के सर्वश्रेष्ठ आशुलिपिक (Stenotypist) की सेवाएँ प्राप्त कीं। व्यासजी के उस लेखक-सहायक का नाम था—गणेश। गणेश ने व्यासजी का लेखक बनना इस शर्त पर स्वीकार किया कि लिखते समय मेरी लेखनी क्षणभर के लिए भी रुकने न पाये। यदि ऐसा हुआ तो मैं लिखने का काम तत्काल बन्द कर दूँगा, व्यासजी ने गणेश की यह शर्त स्वीकार कर ली, किन्तु अपनी ओर से एक शर्त गणेश पर लगा दी। व्यासजी ने कहा—बिना समझे एक भी अक्षर न लिखना होगा। गणेशजी ने **'ओम्'** कहकर स्वीकार कर लिया और लेखक बन गये। गणेश बड़ी तेज़ी से लिखते जाते थे। व्यासजी को कभी-कभी सोचने

के लिए रुकने की आवश्यकता अनुभव होती तो वे बीच-बीच में ऐसा अटपटा श्लोक बोल देते थे, जिसको समझने के लिए गणेशजी को ठहरना पड़ जाता था। वे श्लोक ऐसे होते थे, जिनका अर्थ बाहर से दूसरा मालूम पड़ता था और भीतर से कुछ और। इस बीच व्यासजी बहुत-से श्लोक बना लेते थे। इस विषय में व्यास जी ने लिखा है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

इस ग्रन्थ में आठ हज़ार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनका अर्थ मैं समझता हूँ और शुकदेव (व्यासपुत्र) समझते हैं। संजय समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है।

तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च॥

ये कूट श्लोक इतने गुथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्यभेदन कठिन है, क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढ़वृत्ति आदि रचनावैचित्र्य के कारण गम्भीर हैं।

इस प्रकार महाभारत में एक लाख श्लोक हैं, जो तीन विद्वानों द्वारा रचित होने के साथ न जाने कितने अज्ञात लेखकों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। व्यासजी ने जानबूझकर ऐसे श्लोक लिखे हैं (और उनकी संख्या नौ हज़ार के लगभग है) जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं हैं, उसमें जो कुछ भी लिखा है, उसका प्रामाण्य अतिशय सन्दिग्ध है, उसका अधिकांश अनार्ष है, कल्पित है, वेदविरुद्ध है, और परस्पर विरुद्ध है—प्रसंगोपात्त नहीं है। ऐसी स्थिति में महाभारतान्तर्गत सत्यासत्यमिश्रित सामग्री में से सत्य खोज निकालना और फिर उसे प्रमाणित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

युद्ध की जिस स्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान गीता का अधिकांश निश्चितरूप से प्रक्षिप्त है। गीता का प्रथम अध्याय विवरणात्मक भूमिकारूप है। युद्ध की विभीषिका और उसके सम्भावित दुष्परिणामों का उल्लेख करके उद्विग्नमना अर्जुन चुपचाप बैठ गया। तदनन्तर उसकी शंकाओं का समाधान करना श्रीकृष्ण का काम था और वह उन्होंने कर दिया। यह समाधान गीता के द्वितीय अध्याय के प्रथम ३८ श्लोकों तथा कतिपय अन्य श्लोकों तक सीमित है। इसमें पाँच-सात मिनट का समय लगा होगा। सात सौ श्लोकों में निहित ज्ञान-विज्ञान की बातों के लिए न उचित स्थान था और न वे अवसरोचित बातें थीं। अर्जुन का खान-पान, ज्ञान, भक्ति, दान-पुण्य, यज्ञ, योगाभ्यास, मोक्षलाभ, सृष्ट्युत्पत्ति, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि के विषय में प्रश्न उठाना और श्रीकृष्ण का उन प्रश्नों का उत्तर देना वहाँ सर्वथा अप्रासंगिक था। ये सब शान्तिकाल में अवकाश के समय एकान्त स्थान में गुरु-शिष्य परम्परा में बैठकर विवेचन के विषय थे। वैसा ही हुआ भी होगा। अथवा वह किसी के द्वारा विविधविषयविभूषित संकलन हो सकता है, जिसे उपयोगी जानकर कालान्तर में गीता में अनुस्यूत कर दिया गया होगा। यही कारण है कि गीता में परस्पर विरोधी, प्रसंगविरुद्ध तथा निर्हेतुक पुनरावृत्त वक्तव्यों की भरमार है। योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में पुनरुक्ति और विरोध ढूँढने पर भी नहीं मिलना चाहिए। फिर उस उपदेश के व्यासजी जैसे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि द्वारा सम्पादित होनेपर तो सोने में सुगन्धि आजानी चाहिए, परन्तु फिर भी गीता में ये दोष पाये जाते हैं। फलतः उसमें प्रस्तुत वाक्यों की सूक्ष्मेक्षिका से समीक्षा करनी चाहिए।

विवेच्य श्लोक चतुर्थ अध्याय के हैं। स्वामी आत्मानन्दजी महाराज ने **'वैदिक गीता'** नाम से प्रस्तुत गीताभाष्य में लिखा है—

"चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से लेकर २५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। दूसरे अध्याय के अड़तीसवें श्लोक से लेकर कर्मयोग का प्रकरण चला है और छठे अध्याय के चौथे श्लोक तक चला गया है। चतुर्थ अध्याय का प्रथम श्लोक यह है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ ४।१

इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा था। आगे चलकर कहा है—

स एवायं मया ते ऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥ ४।३

अर्थात् वही यह पुराना योग मैंने तुझे आज कहा है।

इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि कर्मयोग का प्रकरण समाप्त हो चुका, परन्तु कर्मयोग का प्रसंग अभी समाप्त नहीं हुआ, दूर तक चला गया है। बीच में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया था कि मनुष्य न चाहते हुए भी पाप क्यों कर बैठता है—उसका उत्तर देकर चतुर्थ अध्याय के १६वें श्लोक में उसी प्रकरण को फिर आरम्भ कर दिया गया है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ४।१६

अर्थ—क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रान्ति हो जाती है। मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अमङ्गल से छूट जाएगा।

इस प्रकार यह प्रकरण निरन्तर चल रहा है। इसके बीच में इसकी समाप्ति की सूचना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यहाँ के नहीं हैं। यदि ये मूल लेखक की रचना होते तो वह इन्हें प्रकरण के अन्त में लिखता।

आगे चलकर चौथे श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि आपके और विवस्वान् के काल में तो बड़ा अन्तर है, फिर आपने विवस्वान् को यह योग कैसे बतलाया ?

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४।४

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने बतलाया—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥४।५

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं, मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ, परन्तु तू नहीं जानता।

यहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समान ही अपने बार-बार जन्म लेने की बात कही है। यदि वे अपने आपको ईश्वर का अवतार मानते तो कहते कि तू तो जीवात्मा होने के कारण बार-बार जन्म लेता रहता है, परन्तु

मैं आवश्यकता होने पर कभी-कभी जन्म लेता हूँ। निश्चय ही श्रीकृष्ण ने यहाँ अपने आपको जीवात्मा (परन्तु योगी) के रूप में प्रस्तुत किया है। आगे सातवें श्लोक में **'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** में **'अहम्'** का अर्थ **'विशिष्ट जीवात्मपुरुष'** ही लेना प्रकरणानुकूल तर्कसंगत होगा।

आठवें श्लोक का उत्तरार्द्ध है—**'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'**। पर यहीं पर प्रक्षेपक महोदय ने बस नहीं कर दी। आगे चलकर भगवान् की उपासना और उसके फल बतलाने आरम्भ कर दिये हैं। इससे भी आगे चलकर उन्होंने श्रीकृष्ण से चारों वर्णों की गुण-कर्मानुसार सृष्टि कराई है। इस प्रकार इस सारे प्रकरण को एक अजायबघर बनाकर रख दिया है, जिसमें कलाकृतियों के अपने-आप में सुन्दर होते हुए भी उनके संयोजन में न कोई तारतम्य है और न व्यवस्था। फलतः उनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

गीता के इन श्लोकों में जिस आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है वह यह है कि जब भी समाज, देश या विश्व में अनिष्टकारी शक्तियाँ प्रबल हो जाती हैं तो उनका दमन करके धर्म व न्याय की स्थापना और दुष्टों का दलन करके सज्जनों की रक्षा में समर्थ शक्तियाँ जिस असाधारण पुरुष में साकार हो उठती हैं, उसके अलौकिक कार्यों से चमत्कृत होकर साधारण जन उसे ईश्वर, अवतार, पैग़म्बर आदि नामों से पुकारने लगते हैं। इस प्रकार के दिव्यगुणसम्पन्न महापुरुष समय-समय पर इस संसार में आते रहते (अवतरित होते) रहते हैं। इसी अर्थ की पुष्टि **'आत्मानं सृजाम्यहम्'** के पूरक **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७।१८) से होती है। इस प्रकार **'आत्मानं सृजाम्यहम्'** का अर्थ **'आत्मानं ज्ञानिनं वा सर्जयाम्यहम्'** करना तर्कसंगत होगा। यह गीता से गीता का अर्थ करना होगा।

यदि समाजशास्त्र की दृष्टि से उक्त श्लोक की व्याख्या की जाए तो उसमें एक ऐसे सार्वभौम एवं सार्वकालिक सत्य का उद्घाटन है, जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। कोई भी महापुरुष जन्मजात महापुरुष नहीं होता। उसे महापुरुष बनाने में उसके समय की परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। जितनी तीव्र क्रिया होगी उतनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी, यह विज्ञान का सिद्धान्त है। भारत के चहुँमुखी अधःपतन का ही यह परिणाम था कि उसमें दयानन्द, गांधी और तिलक जैसी विभूतियों ने जन्म लिया। जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है अर्थात् जब-जब किसी जाति का बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधःपतन हो जाता है, तब-तब उसमें ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं जो उसे पतन के गर्त से निकालकर उन्नति के शिखर पर ले-जाने का प्रयास करते हैं। कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं जिनमें श्रीकृष्ण का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। जिसके जन्म से पहले उसके माता-पिता को जेल के सीखचों में बन्द कर दिया गया हो, जिसे अपने पालन-पोषण और संरक्षण के लिए पराश्रित रहना पड़ा हो और जिसने चारों ओर इसी प्रकार की विनाशलीला देखी हो, उसका विद्रोही मन **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** का दृढ़ संकल्प करके अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिए अपने आपको सर्वात्मना समर्पित क्यों नहीं करेगा? और ऐसे महापुरुष को क्यों नहीं लोग अपने सिर पर बिठाएँगे—उसे देवतुल्य क्यों नहीं मानेंगे?

ब्रह्मलोक में रहनेवाला मुक्तात्मा अप्रतिहतगति होता है। छान्दोग्योपनिषद् (७।२५।२) में कहा है—**'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'** अर्थात् मोक्षदशा में जीव इच्छानुसार सब लोकों में संचरण करता है। योग के एक अंग **'अपरिग्रह'** की सिद्धि हो जानेपर योगी अपने पूर्वजन्म, चालू जन्म तथा आगे होनेवाले जन्म के कारणों को यथायथ जान लेता है। मैं पूर्वजन्म में क्या था? किन कारणों से था? चालू जन्म किन

कारणों से हुआ ? आगे मैं क्या होऊँगा और किन कारणों से होऊँगा ? इस प्रकार अपरिग्रह की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी पहले, अगले और मध्य के अपने जन्मों के विषय में जिज्ञासा होनेपर यथार्थरूप से उन स्थितियों को जान लेता है। योगदर्शन के **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (२।३६) पर व्यासभाष्य में लिखा है—**''अस्य भवति। कोऽहमासम्, कथमहमासम्, किंस्विदिदम्, कथंस्विदिदम्, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति; एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते।''** इसका नाम **'जन्मकथन्तासम्बोध'** है।

महापुरुष विश्वकल्याण के लिए यह कामनाकर सकते हैं कि विश्वकल्याण के लिए मैं बार-बार जन्म लूँ, क्योंकि **'परोपकराय सतां विभूतयः'**। पर यह जन्म जीवात्माओं का होता है, परमात्मा का कभी नहीं। गीता में जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण ने अपने योगबल और योगविभूति तथा सामर्थ्य को लक्ष्य में रखकर अपने विषय में जो बातें कही हैं, वे साधारण मनुष्य नहीं कर सकते परमात्मरूप का भ्रम उत्पन्न करनेवाले अथवा आपाततः ईश्वरवाची होने की प्रतीति करानेवाले **'अहम्'** पद का प्रयोग लक्षणा, तात्स्थ्योपाधि अथवा तत्सहचरितोपाधि से ब्रह्मस्थ मुक्तात्मा के लिए किया गया समझना चाहिए। सारी गीता में न कहीं अवतार शब्द है और न 'ईश्वर का अवतार होता है' इसका स्पष्टतः प्रतिपादक कोई वाक्य है।

अवतारवाद व विकासवाद

प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की विकासवादी कल्पना बड़ी रोचक है। अतीत में आधुनिकता की खोज करनेवालों के अनुसार भारतीयों के लिए विकासवाद की मान्यता कोई नई बात नहीं है। संसार के विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस प्रश्न पर हमारे दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता बहुत प्राचीनकाल से विचार करते आये हैं। उनके अनुसार मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार आदि के रूप में पौराणिक अवतारवाद के माध्यम से विकासवाद की कल्पना को सन्तुलित करने का प्रयास किया गया है। तदनुसार पहले जलचर, फिर उभयचर, तत्पश्चात् स्थलचर, फिर छोटे-छोटे प्राणी और अन्ततः मनुष्य की उत्पत्ति होना सिद्ध होता है। नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि के रूप में ईश्वर अवतार से प्रतीकरूप में मनुष्यजाति के क्रमिक विकास का संकेत मिलता है। वस्तुतस्तु अवतारों की कल्पना में प्राणिसृष्टि के विकास को नहीं ढूँढा जा सकता, क्योंकि जिस कालखण्ड में मत्स्यावतार आदि की कल्पना की गई, उससे बहुत पहले से मानव की तथा अन्यान्य प्राणियों की विद्यमानता सिद्ध है।

अवतार किस लिये ?

कहा जाता है कि राक्षसराज रावण और कंस जैसे पापियों को मारने के लिए ईश्वर को अवतार लेना पड़ता है। कैसी बचकानी-सी बात है। सोचने की बात है कि किसी चीज़ को बनाना आसान होता है या बिगाड़ना। जिस इमारत को सैकड़ों मज़दूर मिलकर महीनों परिश्रम करके बनाते हैं, उसी को आवश्यकता पड़ने पर थोड़े-से मज़दूर कुछ ही दिनों में गिरा सकते हैं। स्पष्ट है, बनाने की अपेक्षा बिगाड़ना आसान है। रावण आदि को बनाने=पैदा करने के लिए यदि ईश्वर को अवतार लेना नहीं पड़ा तो उन्हें मारने के लिए अवतार लेने की आवश्यकता क्यों पड़ती। जो परमात्मा संकल्पमात्र से इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना करने में समर्थ है, उसे यदि एक-दो व्यक्तियों का नाश करने के लिए अवतार लेना पड़े—अमरलोक से मृत्युलोक में आना पड़े तो इससे ईश्वर का नहीं, रावणादि का गौरव बढ़ता है। उस अवस्था में **'सर्वशक्तिमान्'** की उपाधि राम-कृष्ण से छीनकर रावण-कंस को दे देना न्याय्य होगा।

गीता के अनुसार ईश्वर का अवतार होता है—**'धर्मसंस्थापनार्थाय, साधूनां परित्राणाय तथा दुष्कृतां विनाशाय'**, परन्तु पुराणों (जहाँ अवतारवाद की कल्पना की गई है) में ईश्वर के अन्यान्य अवतारों के क्रियाकलापों का जो विवरण मिलता है, उससे चार बातों का पता चलता है—

१. ईश्वर अपनी इच्छा से अवतार नहीं लेता, वैसा बनने के लिए उसे विवश किया जाता है।

२. उसे पूर्वजन्म में किये कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है।

३. पहले से **स्थापित धर्म को विस्थापित**=उखाड़ फैंकने और धर्माचरण में प्रवृत्त लोगों को अधर्म में प्रवृत्त करने में उसकी विशेष रुचि होती है।

४. उनका अपना चरित्र प्रायः भ्रष्ट होता है।

भगवान् विष्णु कहते हैं—

न कस्यापि प्रियो लोके तिर्यग्योनिषु संभवः ।
नाभवं स्वेच्छया वाहं वराहादिषु योनिषु ॥ —दे० १।५७
विहाय लक्ष्म्या सह संविहारं यो याति मत्स्यादिषु हीनयोनिषु ।
शय्यां च त्यक्त्वा गरुडासनस्य करोति युद्धं विपुलं स्वतन्त्रः ॥ —१।५८

संसार में किसी को वराह आदि योनियों में जाना पसन्द नहीं। फिर, मैं इन योनियों में क्यों जाता। यह सब मेरे पापों का फल है॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तो लक्ष्मी के साथ विहार को छोड़कर मछली आदि हीन योनियों में क्यों जाता तथा सुखशय्या (गरुड़ासन) को छोड़कर युद्धादि क्यों करता ?

कौलो वाऽथ सिंहो वा वामनो वाऽभवं कुतः ।
जमदग्निसुतः कस्मात् संभवेयं पितामहः ॥३८॥
नृशंसं वा कथं कर्म कृतवानस्मि भूतले ।
क्षत्रजैस्तु ह्रदान् सर्वान् पूरयेयं कथं पुनः ॥३८॥
क्षत्रियान् हतवानस्मि निर्दयो गर्भगानपि ॥४०॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तब वराह आदि योनियों में क्यों जाता ? वामनावतार के रूप में छल क्यों करता ? परशुराम बनकर क्षत्रियों के नाशरूपी कुकर्म में क्यों प्रवृत्त होता ?

अवश्यमेव कर्माणि भोक्तव्यानीति निश्चयः ।
देवैर्मनुष्यैरसुरैर्यक्षगन्धर्वकिन्नरैः ॥
कर्मैव हि महाराज देहारम्भस्य कारणम् ॥ ६।१०।१५-१६
कर्मक्षये जन्मनाशः प्राणिनां नात्र संशयः ।
ब्रह्माविष्णुस्तथा रुद्रः रुद्राद्याश्च सुरास्तथा ॥१८॥
दानवा यक्षगन्धर्वाः सर्वकर्मवशाः किल ।
अन्यथा देहसम्बन्धं कथं भवति भूतले ॥१९॥

प्रश्न—जो ऐसा है, तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं, और इनको अवतार क्यों मानते हैं ?

उत्तर—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने, और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फँसके ऐसी-ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं।

प्रश्न—जो ईश्वर अवतार न लेवे, तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उत्तर—प्रथम जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार= शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस, रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है ?

और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिए जन्म लेता है, तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे, तो **'न भूतो न भविष्यति'**[1] ईश्वर के सदृश कोई न है न होगा।

पापं करोति मनुजस्तथा देवादयोऽपि ते ।
तथा नारायणो राजन् नरश्च धर्मजावुभौ ॥३१॥
वासुदेवोऽपि संजातः कारागारेऽतिसंकटे ।
नीतोऽसौ वासुदेवेन नन्दगोपस्य गोकुलम् ॥३५॥
जगाम द्वारवत्यां च म्लेच्छराज्यभयात्तदा ।
एवं ते कथिता राजन् कर्मणो गहनागतिः ॥
वासुदेवोऽपि व्याधस्य बाणेन निधनं गतः ॥४१॥

कृतकर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। मनुष्य, देवता आदि सब कर्मफल भोगते हैं, क्योंकि देह का कारण ही कर्म हैं **(भोगापवर्गार्थं दृश्यम्)**। जगत् की रचना, जिसमें मनुष्य की देह भी शामिल है पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करने के लिए हुई है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण आदि ने जो कर्म किये थे उन्हीं का फल भोगने के लिए शरीरधारण करना पड़ा। पाप के फलस्वरूप ही वसुदेव और उनके पुत्र वासुदेव कृष्ण को कारागार का कष्ट भोगना पड़ा और कृष्ण को पालन-पोषण के लिए माता-पिता से दूर गोकुल ले-जाना पड़ा। जरासंध के भय से द्वारिका भागना पड़ा और दुष्कर्मों के कारण ही व्याध के बाण से मृत्यु को प्राप्त हुए।

रामावातार

श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे—आदर्श चरित्र के स्वामी, किन्तु अवतार माने जाने के कारण जो छीछालेदर उनकी हुई उसका विवरण शिवपुराण में दिया है। तदनुसार वृन्दा के शाप से श्रीरामचन्द्र का

---

१. इस चरण को समस्या के रूप में रखकर भिन्न-भिन्न कवियों ने इस की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूर्ति की है। द्र०द्र समयोचित-पद्यामालिका' निर्णयसागर प्रेस, सन् १९२४, पृष्ठ ३४।

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई, अनन्त आकाश को कहे कि 'गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया' ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त, सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना वा आना वहाँ हो सकता है, जहाँ न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा? इसलिए परमेश्वर का जाना-आना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिए 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं, ऐसा समझ लेना, क्योंकि, राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयुक्त होने से वे मनुष्य थे।

जन्म हुआ। वह कथा इस प्रकार है—

"विष्णु ने माया के दो बन्दरों की सहायता से वृन्दा को छलकर उससे मैथुन करके उसका सतीत्व भंग किया। मैथुन के अन्त में वृन्दा को पता चला कि यह तो विष्णु है। तब वृन्दा ने विष्णु को शाप दिया—

हे नराधम दैत्यारे परधर्मविदूषक। गृहणीष्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥

यौ त्वया मायया ख्यातौ स्वकीयौ दर्शितौ मम। तावेव राक्षसौ भूत्वा भार्यां तव हरिष्यतः॥

त्वं चापि भार्यादुःखार्तो वने कपिसहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणायं यस्ते शिष्यत्वमागतः॥

—शिव० रुद्र० २, युद्धखण्ड ५, अध्याय २३।४३-४५

अर्थ—हे महापापी! राक्षसों के शत्रु! दूसरों के धर्म का नाश करनेवाले! मेरे दिये हुए तीक्ष्ण विष के समान शाप को ग्रहण कर। अपनी माया से प्रकट किये अपने जिन दो साथियों को तूने मुझे दिखाया वही दोनों राक्षस बनकर तेरी पत्नी को हरेंगे। तू भी अपनी पत्नी के दुःख से व्याकुल हुआ जंगल में बन्दरों की सहायता से अपने इस शिष्य शेषनाग के साथ फिरेगा।"

पुराण के इस लेख से स्पष्ट है कि राम का तथाकथित अवतार वृन्दा के शाप के अनुसार स्वकृतपाप का फल भोगने के लिए हुआ था, स्वेच्छापूर्वक धर्म की स्थापना अथवा सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिए नहीं।

कृष्णावतार

इसी प्रकार कृष्ण का जन्म गोलोक में राधा द्वारा दिये गये शाप के कारण हुआ था। **ब्रह्मवैवर्तपुराण** में उसकी कथा के अन्त में राधा द्वारा दिये शाप का वर्णन इस प्रकार किया है—

हे कृष्ण वृजाकान्त गच्छ मम पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट ॥५९॥

शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्। अथवा वनमालां वा रूपेणाप्रतिमां व्रज ॥६०॥

हे नदीकान्त देवेश देवानां च गुरोर्गुरो। मया ज्ञातोऽसि भद्रं ते गच्छ गच्छ ममाश्रमात् ॥६१॥

शश्वते मानुषाणां च व्यवहारस्य लम्पट। लभतां मानुषीं योनिं गोलोकाद् व्रज भारतम् ॥६२॥

हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम् ॥६३॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्मखण्ड ४, पूर्वार्द्ध, अध्याय ३

अर्थ—हे कृष्ण! हे हरे! हे वृजा के प्यारे! मेरे सामने से चला जा। मुझे क्यों दुःख देता है?

हे अतिलम्पट ! शीघ्र पद्मावती के पास जा, अथवा सुन्दरी रत्नमाला के पास जा अथवा अनुपम रूपवती वनमाला के पास जा। हे वृजा के प्यारे ! मैंने तुझे जान लिया है। तेरा कल्याण हो। जा-जा, मेरे आश्रम से चला जा, क्योंकि तू साधारण मानवों की तरह मैथुन करने में लम्पट है, अतः तू मनुष्ययोनि को प्राप्त हो=देवलोक से चला था। हे सुशीले, शशिकले, पद्मावति, माधवि ! यह धूर्त है। इसे यहाँ से निकालो। ऐसे धूर्त का यहाँ क्या काम है ?

इस विवरण से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण को लम्पट होने के कारण देवलोक से निकाला गया था और उसके व्यभिचारी या परस्त्रीगामी होने के कारण मानवलोक में आना पड़ा था, गीता के अनुसार धर्मसंस्थापन आदि के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं।

विष्णु=राम-कृष्ण लीला

भ्रातॄणां दैत्यमुख्यानां हतानां दारुणे युधि। स्त्रियो हत्वा तु पाताले चिक्रीड च मुमोद च ॥
त्रेता युगे रामरूपे विष्णुः संप्राप्य जानकीम्। नो तृप्तः स्त्रीविलासानां वित्तस्य च सुतस्य च ॥
रेतः संप्रेषणाच्चापि प्रोषितस्य स्त्रियामपि। तस्मात् कलियुगे भूमौ गृहीत्वा जन्म केशवः ॥
वसुदेवस्य देवक्यां मथुरायां महाबलः। बालस्तु गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः ॥
दशलक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज ह। यस्तु यौवनाक्रान्तो रुक्मिणीं प्रददर्श ह ॥
विवाहयित्वा पुत्रांश्च प्रद्युम्नाद्यांश्च निर्ममे। तथापि नरकं दैत्यं प्राग्ज्योतिषमतिबलात् ॥
हत्वा स्त्रीणां सहस्राणि षोडशैव जहार सः। तासां रतिफलं भुक्त्वा पुत्राणां नवतिं तथा ॥
सहस्राणि ससृजांशु मत्स्ये चांदं महाद्भुतम्। स्त्रीणां तथापि नो तृप्तो दिव्यानां तु रतेर्यदा ॥
तदा राधा स्त्रियं कांचिन्निशि धैर्यादधर्षयत्। तथापि परनारीणां लम्पटो नित्यमेव हि ॥

— शि०ध०अ० ६।६१-६६

अर्थ—भगवान् विष्णु राक्षसों को मारकर उनकी स्त्रियों को पाताल में ले-गया तथा उनसे क्रीडा वा आमोद-प्रमोद किया। त्रेतायुग में रामावतार लेकर जानकी से विवाह किया, किन्तु स्त्रियों से तृप्त नहीं हुए और वन में जाने के कारण गर्भाधान यथेष्ट नहीं कर सके। इसलिए कलियुग में कृष्ण का अवतार धारण किया और बचपन में गोपियों से क्रीडा करके दस लाख लड़के उत्पन्न किये। तब भी तृप्त न हुए। तब युवा होकर रुक्मिणी से विवाह करके प्रद्युम्न आदि सन्तानें उत्पन्न कीं। पुनरपि तृप्त न हुए। तब नरकासुर को मारकर १६ हज़ार स्त्रयाँ लाये तथा ६० हज़ार पुत्र उत्पन्न किये। फिर भी तृप्त न हुए। तब राधा नाम की एक स्त्री को पकड़ लाये। इतना होनेपर भी भगवान् परनारियों का लम्पट है।

यहाँ कितने स्पष्ट शब्दों में इस बात का वर्णन है कि राम, कृष्ण आदि के रूप में विष्णु के सब अवतार कामेच्छा की पूर्त्ति तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए होते रहे हैं।

राम का विषाद

न ज्ञातवान् मृगं तत्र मायया विहितस्तदा। वारितोऽपि नमत्यर्थं मोहितः प्राकृतैर्गुणैः ॥
अन्यायेन हतो बाली शापाच्चैव निवारितः। बद्धोऽहं नागपाशैश्च लक्ष्मणश्च ममानुजः ॥
वराटिकाऽपि पित्रा मे न दत्ता वननिर्गमे। पदातिरसहायोऽहं धनहीनश्च निर्गतः ॥

[ईश्वर पापों को कभी क्षमा नहीं करता]

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं ?

एवं रामावतारेऽपि दुःखं प्राप्तं निरन्तरम् । परतन्त्रेण मे नूनं स्वतन्त्रः को भवेत्तदा ॥

—दे० ४।२४।४४, ४७, ५२, ५८

अर्थ—रामावतार में मैंने यह भी न जाना कि यह मारीच है या हिरण है । अन्याय से मैंने बाली को मारा, मैं तथा लक्ष्मण नागफाँस में फँस गये । पिता ने मुझे एक कौड़ी की सहायता भी नहीं की, धन-हीन, दीन मैं जंगल में फिरता रहा । इस प्रकार राम के रूप में मैंने अनेक कष्ट भोगे । यदि मैं स्वतन्त्र होता तो इतने दुःख क्यों भोगता ? इसी प्रकार शिव आदि कोई भी स्वतन्त्र नहीं हैं ।

बुद्धावतार

शतकोटिमिता दैत्या धर्मात्मानो निवासिनः । गृहीत्वा यज्ञभागं च देवतुल्या बभूविरे ॥
बौद्धस्वरूपस्त्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके । वेदधर्मपरान् विप्रान् मोहयामास वीर्यवान् ॥
निर्वेदा कर्मरहितास्त्रिवर्णा तामसारे । तस्मिन्नेव काले तु कलिना संस्मृतो हरिः ॥
कलेर्वै प्रथमे चरणे वेदमार्गे विनाशितः ॥

—भ०प्र०अ० १८ खं० ४

अर्थ—सौ करोड़ दैत्य, बड़े धर्मात्मा, वेद पढ़नेवाले, तपस्वी देवों के तुल्य, वेदमार्गावलम्बी धर्मपरायण थे । भगवान् ने बुद्ध का अवतार लेकर वेद के विरुद्ध उपदेश देकर नास्तिक बना दिया तथा वेदमार्ग से हटा दिया ।

पहले वेदानुयायियों को बौद्ध बना दिया । फिर भगवान् ने शंकर के रूप में अवतार लेकर बौद्ध धर्म का नाश किया । रामविवाह के अवसर पर राम के द्वारा शिवधनुष के तोड़े जानेपर परशुराम के रूप में राम से झगड़ा किया । राम और परशुराम दोनों ईश्वर का अवतार थे । एक ही समय में ईश्वर ने दो अवतार धारण किये । दोनों एक दूसरे को न पहचान पाये । लक्ष्मण शेषनाग का अवतार थे जिसपर विष्णु भगवान् शयन करते हैं । उसे न रामरूप विष्णु ने पहचाना न परशुरामरूप विष्णु ने । ईश्वर के सभी अवतारों की करतूतों से भरे पड़े हैं पुराण । उनको पढ़कर यही कहना पड़ता है कि ईश्वर ने अवतार लेकर कभी कोई भला काम नहीं किया, अतः गीता के विवेच्य श्लोक **'यदा यदा हि'** इत्यादि में जो कुछ कहा गया है वह प्रक्षिप्त भी है और मिथ्या भी और यदि उसे सत्य माना ही जाए तो उसका ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत अर्थ मान्य होना चाहिए । वस्तुतः अवतारवाद की कल्पना न शास्त्रसम्मत है और न तर्कसंगत ।

पाप क्षमा नहीं—महाभारत में कहा है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः-पुनः ॥

अर्थात्—पूर्व सृष्टि में जिस-जिस प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे बार-बार यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं । जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? 'कृतकर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता'—अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करनेवाले अपने भक्तों के लिए शिथिल नहीं कर सकता ।

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य महापापी हो जाएँ, क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाए। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे, तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाए कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जाएँगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

[जीव का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य]

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र, और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। **'स्वतन्त्रः कर्ता'** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र (१।४।५४) है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है॥

यदि वह पापों को क्षमा करने लगे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य पापी हो जाएँ। हाथ-पैर जोड़ने से परमात्मा अपराधियों को छोड़ देता है, यह जानने पर लोग निःशंक होकर पाप में प्रवृत्त होंगे। ऐसी अवस्था में परमेश्वर लौकिक शासकों के समान हो जाएगा। जो उसकी स्तुति (चमचागीरी या खुशामद) करेंगे वे उसके अपने होंगे। उनके प्रति उसका व्यवहार दया और सहानुभूति का होगा। इसके विपरीत जो उसकी स्तुत्यादि नहीं करेंगे, उनके प्रति वह वैरभाव नहीं तो, कम-से-कम उपेक्षा का भाव तो रखेगा ही। तब वह **'समोऽहं सर्वभूतेषु'**—सब प्राणियों के लिए एक-जैसा नहीं रहेगा। अपनों का उपकार करना परोक्षरूप से अपने पर उपकार करना ही है। इसी में स्वार्थ निहित है। इस स्वार्थ के कारण परमात्मा खुशामदियों से घिरे हुए शासक के समान होगा, जिसमें राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब दोष होंगे। इस प्रकार के जगन्नियन्ता परमेश्वर से न्याय की आशा कैसे की जा सकती है। वस्तुतः परमेश्वर तटस्थ भाव से सब जीवों के कर्मों का साक्षी रहते हुए ही न्यायपरायण हो सकता है और है। उसके व्यवहार में दया और न्याय का विलक्षण सम्मिश्रण अथवा समन्वय, है।

सामान्यतः मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने से डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाए कि अपराध करने पर पकड़े नहीं जाएँगे और पकड़े भी गये तो बिना दण्ड पाये छूट जाएँगे तो अधिसंख्य मनुष्य दुष्कर्मों=अपराधों के अभ्यस्त हो जाएँगे। किसी पीर-पैग़म्बर पर ईमान लाने से कृतकर्मों का दण्ड पाये बिना उनसे कोई नहीं छूट सकता।

जीव का स्वातन्त्र्य—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं। पाणिनि के अनुसार **'स्वतन्त्रः कर्ता'** (अष्टा० १।४।५४)—कर्ता वह है जो **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** करने, न करने अथवा उल्टा करने में स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र वह है जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन हैं। इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। अपने बस की बात हो तो पुरुषार्थ ठीक है, परन्तु जहाँ रत्तीभर भी सत्ता और इच्छा नहीं रह जाती वहाँ हल में जोते हुए बैलों की तरह दास्य भाव से चलते रहने के सिवा और क्या हो सकता है ? **'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'** का तात्पर्य है कि वर्तमान समय में हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्मों (संचित कर्मों में से जिनका भोग शुरू हो गया है) का ही परिणाम है। मनुष्य की इच्छा और बुद्धि जो आज हो रही है वह कल के कर्मों का फल है तथा कल जो बुद्धि हुई थी वह परसों के कर्मों का फल था। इस कारण-परम्परा का अन्त कहीं नहीं होगा और

प्रश्न—**'स्वतन्त्र'** किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके भी अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी भी[१] प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे।

यह मानना पड़ेगा कि अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। तब तो मनुष्य की दशा वही होगी जो नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की होती है। प्रवाह उसे जिधर खींच ले-जाएगा उसे चुपचाप चले जाना होगा। इससे यही निष्पन्न होता है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने में स्वतन्त्र नहीं है। फिर मनुष्य में और मनुष्य द्वारा संचालित मशीन में क्या अन्तर रहेगा ?

किन्तु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिए वह ज्ञानपूर्वक इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है। ऐसा न मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों को खो बैठा। तब उसका अस्तित्व ही कहाँ रहा ? अनादि-अनन्त जीव के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्मस्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मन में यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई-बुराई सोचकर उन्हें अपनी इच्छानुसार करूँ या न करूँ। यदि मनुष्य को किसी कार्य को करने या न करने की स्वतन्त्रता नहीं है तो उसे यह कहना ही व्यर्थ है कि अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं, किन्तु ऐसा कहा जाता है।

वेदादि शास्त्रों में विधिनि-षेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं। उनका अधिष्ठाता होने से वह कर्ता है—**'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।'** श्वेत० उप० (५।७) में बताया—**'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता'**, संसारी जीवात्मा फल-प्राप्ति के लिए कर्मों का कर्ता है। प्रश्नोपनिषद् (४।६) में तो बहुत स्पष्ट कह दिया गया—**'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'**, यह जीवात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि है। यदि वह कर्ता न होता तो उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध असंगत होता। वेदादि शास्त्रों के अनेक वचन इसके पोषक हैं—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'** (यजुः० ४०।२); **'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्वद्धनम्'** (यजुः० ४०।१); **'अक्षैर्मा दीव्यः'** (ऋ० १०।३४।१३); **'पशून्पाहि'** (यजुः० १।१); **'सत्यं वद धर्मं चर'** (तै० २।११);**'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्'** (मनु० ४।९२) इत्यादि सन्दर्भों में अनेकत्र जीवात्मा के लिए **'किं कर्म किमकर्मेति'** का विधान है। विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग का विधान होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है।

कर्ता ही भोक्ता है, यह न्यायसंगत है। यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है तो उसमें भोक्तृत्व भी नहीं होगा। श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है—

"Learn than to be the instrument of God. Let theyself be as a leaf in the tempest; as a sword that strikes and the arrow that leaps to its target. The sword does not choose where it shall strike, the arrow does not ask wither it shall be driven."

—*Essay on the Superman*

---

१. अर्थात् कर्मफल का भागी भी।

जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र-विशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है। शस्त्र नहीं, वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

अर्थात् 'अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आँधी में उड़ते पत्ते, काटनेवाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर जाते तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि उसे किसको काटना है और न तीर ही अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है।' यदि श्री अरविन्द की बात ठीक हो तो मनुष्य का सारा दायित्व ही समाप्त हो जाएगा। तलवार और तीर दोनों ही अचेतन तत्त्व है—न उनमें ज्ञान है और न इच्छा। राग-द्वेष का भी उनमें अभाव है। इसलिए उनको लक्ष्य करके कही हुई बात चेतन जीवात्मपुरुष के विषय में लागू नहीं हो सकती। यह भी स्पष्ट है कि तलवार या तीर से हत्या हो जाने पर तलवार या तीर को अपराधी घोषित कर फाँसी पर नहीं चढ़ाया जाता, अपितु उनके प्रयोक्ता चेतन मनुष्य को ही दण्ड दिया जाता है। श्री अरविन्द की मान्यता के अनुसार तो संसार में भला-बुरा जो कुछ भी हो रहा है, उस सबके लिए परमेश्वर ही उत्तरदायी है। तब तो न्यायव्यवस्था का कुछ भी अर्थ नहीं रहता, परन्तु यह यथार्थ के विपरीत है। जीवात्मा, परमात्मा के हाथ का खिलौना नहीं है। वह इच्छा, सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतन तत्त्व है, अतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता है और स्वतन्त्र कर्ता होने के कारण अपने कार्यों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधात्मक वाक्य जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं।

कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर जीव यदि परमात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छानुसार करनेपर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा, जीवात्मा नहीं। शासन के आदेश से फाँसी देनेवाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। **'केनापि दैवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** के सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो कभी किसी को दण्ड न मिले। यदि यह मान लिया जाए कि अपराध करने या न करने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, अपितु जैसा परमात्मा चाहता है वैसा उसे करना पड़ता है तो अपराधी न्यायालय में जाकर रामचरितमानस से—

> **राम कीन्ह चाहहिं सोई होई। करत अन्यथा अस नहिं कोई।**
> **जोहि जस रघुपति करहिं जब। सो तस तेहि छन होइ।**
> **जाको प्रभु दारुण दुख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं॥**

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें, किन्तु कोई इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा।

यदि जीव अपनी इच्छा से कर्म न करके, जैसा परमात्मा कराये वैसा ही किया करे तो संसार में कहीं पाप न रहे। परमेश्वर स्वयं **'शुद्धमपापविद्धम्'** (यजुः० ४०।८) शुद्ध एवं निष्पाप है। वह कभी नहीं चाहेगा कि उसकी प्रजा में कोई पाप करे। जीव स्वतन्त्र किन्तु अल्पज्ञ होने से ही पाप में प्रवृत्त होता है।

किन्तु शास्त्रों में अनेकत्र ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि का संचालन ईश्वर के हाथों में है, अतः जो होता है, उसी के आदेश से होता है। तद्यथा—

ऋग्वेद (१०।१२१।३) में कहा है—**'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः'** ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन करता है। **'सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** (यजुः० १।१) परमेश्वर हमें श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त करे। माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मण (१४।६।७) में लिखा है—**'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तर आत्मानमन्तरो यमयति'** जो आत्मा से भिन्न, आत्मा में रहता हुआ आत्मा का नियन्त्रण करता है। इसी प्रकार श्वेता० उप० (६।६) में लिखा है—**'धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम'**—धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो। इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि समस्त प्राणियों का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवों की धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है, किन्तु जीवात्मा के कर्मस्वातन्त्र्यविषयक आधारभूत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में इन उद्धरणों पर विचार करनेपर पता लगता है कि इस प्रकार के वाक्य मात्र प्रेरणामूलक हैं। इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती। प्रेरयिता से प्रेरणा पाकर भी कर्ता की स्वतन्त्रता में व्याघात नहीं आता। प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता। कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में करनेवाला स्वतन्त्र है। जीवात्मा परमात्मा के हाथों की कठपुतली नहीं। फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर-प्रेरणा होने पर भी आत्मा का स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहता है। परमात्मा कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दृष्टि से जीवात्मा का मार्गदर्शन कर सकता है, उस मार्ग पर चलने के लिए उसे विवश नहीं कर सकता।

गीता के १८वें अध्याय के ६०वें श्लोक में आये **'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** शब्दों को लेकर यह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है कि इच्छा न होते हुए भी विवश होकर मनुष्य को कर्मविशेष में प्रवृत्त होना पड़ता है। ऐसा पूर्वापर प्रसंग को न देखकर किया जाता है। इसी श्लोक के पहले पद में **'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः'** की बात कही गयी है और इसी अध्याय के श्लोक ४३ में क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वाभवज कर्म **'युद्धे चापलायनम्'** शस्त्रप्रहार के समय युद्ध से न भागना बताया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढंग से अर्जुन को पलायन न करके युद्ध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ में गीता (३।३६) का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है, जिसके आधार पर जीव के कर्म करने में स्वतन्त्र न होने की पुष्टि की जाती है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् इच्छा न होनेपर भी मनुष्य बलात् धकेला हुआ पाप करता है, किन्तु यहाँ पर भी अर्जुन के **'केन प्रयुक्तः'** इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **मया प्रयुक्तः** या **ईश्वरेण प्रयुक्तः** न कहकर रजोगुण से उत्पन्न काम, क्रोध आदि को मनुष्य के पापकर्म में प्रवृत्त होने का कारण बताया गया है। गीता की भावना उसी के **'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८।६३) शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण को जो कहना था, कह दिया और अन्त में 'इसपर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर' कहकर प्रकारान्तर से ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त पर मुहर लगा दी।

डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक लिखा है—

At a time when people are doing devil's work under divine sanction and consoling themselves by attributing everything to God's will, the principle of Karma insisted on the primacy of the ethical and

[जीव ईश्वरजन्य नहीं, वह कर्म करने में स्वतन्त्र है]

प्रश्न— जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

उत्तर— जीव उत्पन्न कभी न हुआ, आनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य हैं। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन-कर्म-वचन से पाप-पुण्य करता है, वहीं भोगता है ईश्वर नहीं। जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया। उसकी दुकान से लोहार नें ले तलवार बनाई। उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनानेवाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वहीं दण्ड पाता है, इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगानेवाला होता है।

---

identified **God with the rule of law. karma** is not a mechanical principle, but a spiritual necessity. God is its supervisor, 'Karmadhyaksha'———. To the Hindu (who believes that the world is divine and everything is God) ethical rules are meaningless. If everything is God, there is no excuse for our interfering with the sacred duties of the pickpocket and the **perjurer**."

—*Radhakrishnan : Hindu View of Life P. 50, 52*

अर्थात् जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा व व्यवस्था के नाम पर सब-कुछ ईश्वर के मत्थे मढ़ रहे हों तब कर्मसिद्धान्त परमात्मा को संवैधानिक शासक के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता पर बल देता है। कर्म कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं, आध्यात्मिक आवश्यकता है। परमात्मा कर्मों का प्रेक्षक—कर्माध्यक्ष है। . . . . . हिन्दू के लिए (जो यह मानता है कि जगत् ब्रह्मरूप है और जो कुछ होता है वह ईश्वर के लिए होता है) नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं और एक जेबकतरे या मिथ्या साक्षी देनेवाले के पवित्र कृत्यों में हस्तक्षेप करने का कोई कारण (अधिकार) नहीं है।

जीव की उत्पत्ति—जैसे पृथिव्यादि की उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे जीवात्मा के ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत उसके उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्यत्व सिद्ध करनेवाले प्रमाण यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने में आते हैं। बृहद०उप० में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—**'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'** (४।५।१४)।

प्रत्येक शरीर में जीवात्मा नाम के एक तत्त्व का अनुभव किया जाता है। ब्रह्म प्रकृति-उपादान से जगत् की रचना करता है। जीवात्मा का प्रादुर्भाव भी कहीं-न-कहीं से होना चाहिए। इस आधारपर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ईश्वर हमारे हाथ-पैर, आँख-कान आदि बनाकर शरीर की रचना करता है, हो सकता है, उसी प्रकार किसी उपादान से जीवात्मा को भी बनाता हो। बादरायण कहते हैं—**'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'** (वे०द० २।३।१७)। नित्य होने से आत्मा की उत्पत्ति असम्भव है। जब उत्पत्ति असम्भव है तो उसके उत्पत्तिकर्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं। प्राणियों को प्राप्त देह जड़ है, इसलिए प्राकृत तत्त्वों से उसकी रचना सम्भव है। जीवात्मा चेतन तत्त्व है, इसलिए देह की भाँति जीवात्मा प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई चेतन तत्त्व न किसी का कार्य हो सकता है और न

जो परमेश्वर कर्म कराता होता, तो कोई जीव पाप नहीं करता, **क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक** होन से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। **इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है।** जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है।

किसी का उपादानकारण। जीवात्मा को उत्पन्न न करनेपर भी परमात्मा उसका नियन्ता और अधिष्ठाता इसलिए कहाता है कि वह उसके कर्मफल का नियामक है और उसके भोगापवर्ग के लिए जगत् की रचना करता है।

जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना ईश्वर का काम है, उन्हें उत्पन्न करना नहीं। जिनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना अपेक्षित है, यदि उन जीवों का अस्तित्व ही नहीं था तो सृष्टिरचना की आवश्यकता क्या थी ? पहले भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना और फिर उनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टिरचना करना कहाँ की बुद्धिमत्ता थी ? फिर, जीवों की उत्पत्ति कार्य है जो कारण के बिना सम्भव नहीं। जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा ? जीव के न होनेपर दो ही पदार्थ शेष रह जाते हैं—ईश्वर और प्रकृति। जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। दूसरे, कार्य से कारण पहले होता है। ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य मानने पर दोनों का एक साथ होना नहीं बनता, परन्तु वेदादि शास्त्र दोनों को **'सयुजा सखाया'** मानते हैं। आचार्य शंकर ने अपने मुण्डकोपनिषद्भाष्य में लिखा है—**'सर्वदा युक्तौ समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ'**। यदि दुर्जनतोषन्याय से जीव का परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होना माना जाएगा तो उसका विनाश भी मानना पड़ेगा और उत्पाद-विनाश होने से उसका अनित्य होना मानना होगा, जिसका आदि होगा उसका अन्त अवश्य होगा। जो उत्पन्न होगा वह एक दिन मरेगा अवश्य। इसलिए जैसे परेश्वर द्वारा बनाये गये हमारे शरीर का अन्त होता है, उसी तरह उसके बनाये गये आत्मा का भी अन्त मानना होगा, परन्तु सभी शास्त्र एक स्वर से उसे अनादि-अनन्त कहते हैं। तद्यथा—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ —गीता २।१८,२०

अर्थ—देह तो अन्तवाले हैं, किन्तु उनमें निवास करनेवाला देही नित्य एवं अविनाशी है। न यह कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं कि यह (एक बार) होकर न रहे। यह तो अजन्मा, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का वध हो जाए तो भी यह नहीं मरता।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। —छान्दोग्य० ६।११।३

अर्थ—शरीर के न रहनेपर भी वह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। —श्वेत० १।६

जड़ (प्रकृति) तथा चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित—दोनों ही अजन्मा हैं।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्। —कठ० २।१८ वह आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है।

न वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः।

—बृहद्०उप० ४।३।१८

न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसम्बन्धोपपत्तेः । शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिः । परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्

—(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।३।१६)

जब वह जीवात्मा पुरुष-शरीर से युक्त होता है तो वह जन्मा हुआ कहा जाता है और जब वह शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहलाता है। इस प्रकार जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में लिखा है—"जीव के उत्पत्ति-विनाश नहीं होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाए तो दूसरे शरीर में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो ? और शास्त्र में जो विधि-निषेधात्मक उपदेश हैं, वे व्यर्थ हो जाएँ। इसलिए यदि कहीं जीव की उत्पत्ति-विनाश का उल्लेख पाया जाए तो उसे शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिए।"

जिस प्रकार भाव का अभाव या विनाश सम्भव नहीं, उसी प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यदि वर्त्तमान में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तो उसका अनादि-अनन्त होना स्वतः सिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो कभी इससे पहले यहाँ आया न हो और न यहाँ से जाने के बाद कभी लौटेगा। मोक्षप्राप्तिपर्यन्त उसका यहाँ आना-जाना निरन्तर बना रहता है।

बाइबल के अनुसार जीवात्मा परमेश्वर का बनाया हुआ है। परमेश्वर ने धरती की मिट्टी से एक पुतला बनाया और उसने उसमें अपनी रूह फूँक दी। इस प्रकार जीता-जागता मनुष्य बन गया—"And the Lord God formed man out of dust and breathed into his nostrils the breath of life, and man became a living soul."

—*The Bible : Genesis, II, 7.*

ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिए एक नई आत्मा को उत्पन्न करता है—"The soul is not transmitted with the semen but is created afresh with each man."

—*Bertrand Russell : History of Western Philosophy, P. 480*

ईसाई प्रचारक सन्त थामस के अनुसार जीवात्मा अमर है, किन्तु नित्य नहीं है। नित्य वह है जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो। ईसाईमत में जीवात्मा उत्पन्न तो होता है, किन्तु मरता नहीं। उसका आदि है, पर अन्त नहीं। इस विषय में डेकार्टे पर भी ईसाईमत का आंशिक प्रभाव मालूम पड़ता है—"Descarte admitted three substances :—God, mind and matter. It is true that even for him God was, in a sense, more substancial than mind, since he had created them and could, if he so chose, annihilate them."

—Ibid, p. 594

इस प्रकार डेकार्टे ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानता है, परन्तु उसका मत है कि जीव व प्रकृति ईश्वर के बनाये हैं और, यदि वह चाहे तो, वह उन्हें नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व ठहरता है। जीव और प्रकृति उसकी कृति हैं और अस्तित्व के लिए परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। कुरान के अनुसार भी आदिम पुरुष आदम की उत्पत्ति भी बाइबल के आदिम पुरुष की भाँति ही हुई थी (कुरान, अलहिजरा, आयत २८-२६)। एक बार उत्पन्न होने के बाद जीव कभी मरता नहीं। मृत्यु के बाद न्याय के दिन तक कब्र में पड़ा रहता है—हवालात या under trials की

तरह। बाद में कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिए अनन्तकाल तक स्वर्ग अथवा नरक में पड़ा रहता है। तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका आदि है वह अनन्त नहीं हो सकता। ईसाईयत और इसलाम के अनुसार यदि शरीर के साथ उसकी आत्मा की उत्पत्ति मानी जाएगी तो शरीर के अन्त के साथ आत्मा का अन्त भी मानना होगा, परन्तु आत्मा को सभी अविनाशी मानते हैं। अविनाशी माननेपर उसे अनुत्पन्न भी मानना होगा। न एक किनारे की नदी होती है और न एक सिरे की रस्सी की कल्पना की जा सकती है। तुलना करें है—

Life is real, life is earnest,
And the grave is not its goal.
Dust thou art, to dust returnest,
Was not spoken of the soul.

उत्पन्न पदार्थ परिणामी होता है और प्रत्येक परिणामी संघात में अवस्थित रहता है। संघात में विकार होते रहते हैं, किन्तु जीवात्मा अविकारी है (**असङ्गोऽयं पुरुषः सां०**—१।१५) और अविकारी होने के कारण उसका अनुत्पन्न होना सिद्ध है। यदि जीवात्मा को उत्पन्न हुआ माना जाएगा तो उसकी उत्पत्ति के लिए कालविशेष की भी कल्पना अपेक्षित होगी। फिर उस कालविशेष में जीवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्धारण करना होगा। बैठे-बिठाये परमेश्वर को क्या सूझी कि उसने असंख्य जीवों की सृष्टि कर डाली ? पूर्णरूप ब्रह्म को अपने भीतर कौन-सी कमी जान पड़ी जिसे पूरा करने के लिए उसे जीवों की सृष्टि करनी पड़ गयी ? जब जीव नहीं थे तो उनके भोगापवर्ग के लिए अपेक्षित सृष्टि भी नहीं थी। उस अवस्था में **'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के निमित्तकारण के रूप में कथित ब्रह्म के लक्षण का क्या अर्थ होगा ? किसके लिए ईक्षण द्वारा प्रकृति को नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता होगा ? कर्माध्यक्ष के रूप में वह किनके कर्मों की व्यवस्था करता होगा ? किसपर दया करता होगा और किसका न्याय करता होगा ? वस्तुतः जीवों के न रहने की दशा में परमात्मा अन्यथासिद्ध हो जाएगा।

जीव अपनी स्वभावगत अल्पज्ञता आदि के कारण पाप-पुण्य में प्रवृत्त होता है। यदि परमेश्वर जीव को बनाता तो अपने जैसा बनाता (बनाना चाहिए था) जिससे संसार में सब कहीं **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का साम्राज्य होता। न कहीं अज्ञान होता, न अज्ञान के कारण पाप और न उसके फलस्वरूप दुःख। बाइबल ने कह तो दिया—'God made man in his own image' अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया, किन्तु यदि यह सत्य होता तो संसार में किसी भी रूप में भ्रष्टाचार न दीख पड़ता। इन सब समस्याओं का समाधान परमात्मा से भिन्न जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानकर ही होता है।

जीव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—

'**प्रश्न**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चारों के मिलने से चेतन भी उसमें होता है। जब वे पृथक्-पृथक् हो जाते हैं तब सब कला बिगड़ जाती है। फिर उसमें कुछ नहीं रहता। इससे जगत् का रचनेवाला कोई नहीं। आप-में-आप ही जगत् और जीव होता है।

उत्तर—आप भी इन चारों को मिलाके जीव और जीव के जितने गुण उनको देखला देवैं। सो कभी न देख पड़ेंगे, क्योंकि पहिले ही सब स्थूलभूतों में सब सूक्ष्मभूत मिले रहे हैं। फिर उनमें ज्ञानादिक गुण क्यों नहीं देख पड़ते ? इससे जीव पदार्थ इन भूतों से भिन्न ही है जिसके ये गुण हैं।'

[जीव और ईश्वर का स्वरूप तथा गुण-कर्म-स्वभाव]

प्रश्न-जीव और ईश्वर का स्वरूप गुण-कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर- दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है, परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति-प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्तबल आदि गुण हैं। और जीव के—

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' ॥

—न्यायसू० १।१।१०॥

'प्राणापानिनिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ —वैशेषिकसूत्र० ३।२।४

'इच्छा' = पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, 'द्वेष'= दुःखादि की अनिच्छा वैर, 'प्रयत्न'= पुरुषार्थ बल, 'सुख'= आनन्द, 'दुःख'= विलाप, अप्रसन्नता, 'ज्ञान'= विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं, परन्तु वैशेषिक में 'प्राण'= प्राणवायु को बाहर निकालना, 'अपान'= प्राण को ओबाहर से भीतर को लेना, 'निमेष' = आँख को मींचना, 'उन्मेष'= आँख को खोलना, 'जीवन'= प्राण का धारण करना 'मन'= निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, 'गति'= चलना, 'इन्द्रिय'= सब इन्द्रियों का चलाना, 'अन्तर्विकार'= भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा हर्ष-शोकादियुक्त होना ये विशेष हैं। ये जीवात्मा के गुण परमात्मा के गुणों से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है ॥

महर्षि वेदव्यास ने स्वरचित ब्रह्मसूत्र में लिखा है—

'व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्' —(३।३।५४)

प्राणी का शरीर पञ्चभूतों का संघात है। भूतों का मूल उपादानतत्त्व सर्वथा जड़ है। भूतों का विश्लेषण करनेपर किसी भी मूल तत्त्व में चेतना की प्रतीति नहीं होती। जब उनमें से प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तो उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? चैतन्य शरीर से भिन्न चेतन सत्ता (जीवात्मा) के कारण है। जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है, तभी तक शरीर में क्रिया होती है। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों-के-त्यों रहनेपर भी, उसके अंग-प्रत्यंग में होनेवाली समस्त क्रियाओं का लोप हो जाता है। यदि जीवचेतन के बिना क्रिया सम्भव होती तो मृतदेह में भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती। जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है, वही जीवात्मा है, क्योंकि जिसके होने से जो हो, और न रहने से न हो, वे गुण उसी के होते हैं। जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में जीवात्मा के बिना किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के बिना जड़ प्रकृति से बने जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी भी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता।

न्याय और वैशेषिक से उद्धृत जीव के लिङ्ग विषयक सूत्रों की व्याख्या तृतीय समुल्लास में की जा चुकी है। इन सूत्रों में जो कुछ कहा गया है वह जीवात्मा का स्वरूप-लक्षण नहीं है। ये लिंगमात्र हैं अर्थात् इनके द्वारा शरीर में अवस्थित जीवात्मा की पहचान होती है। इनके अभाव में प्राणी को मृत समझ लिया जाता है अर्थात् जब ये नहीं दिखाई पड़ते तो 'शरीर से जीव निकल गया' ऐसा निश्चय हो जाता है। प्रथम संस्करण में न्यायसूत्र की व्याख्या में इतना और लिखा है—''इच्छा—किसी प्रकार की चाहना। जिसके गुणों को जानता है उसकी प्राप्ति की चाहना करता है। जिसमें दोषों को जानता है उसमें द्वेष अर्थात् चाहना

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है।

[ईश्वर के त्रिकालदर्शित्व की मीमांसा]

प्रश्न— परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जाता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर— ईश्वर को 'त्रिकालदर्शी' कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह **'भूतकाल'**, और न होके होवे वह **'भविष्यत्काल'** कहाता है। क्या परमेश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत-भविष्यत् जीवों के लिए है। हाँ, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान आनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है ? इसलिए इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

नहीं करता। प्रयत्न नाना प्रकार की शिल्पविद्या से पदार्थों का रचना, शरीर तथा भार का उठाना, इसका नाम प्रयत्न है। सुख नाम अनुकूल का चाहना और जानना (**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**) दुःख प्रतिकूल का जानना और छोड़ने की इच्छा करना (**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**)। ज्ञान जैसा जो पदार्थ है उसका तत्त्वपर्यन्त यथावत् विवेक करना। इसका नाम जीव है। ये गुण पृथिव्यादिक जड़ों के नहीं, किन्तु जीव के ही हैं।" इसी प्रकरण के अन्तर्गत दो अन्य उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

१. "(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) ये चार मिलके अन्तःकरण कहाता है। इससे जीव भीतर मनोराज्य करता है। ये चारों एक ही हैं, परन्तु व्यापारभेद से चार भिन्न-भिन्न नाम हैं।" पृ० २३१

२. "४ अन्तःकरण, १० इन्द्रियाँ, ५ मुख्य प्राण, ५ उपप्राण—ये २४ तत्व मिलके लिंगशरीर कहाता हैं। कोई उपप्राण को नहीं मानता, उसके मत में १६ होते हैं। और कोई पाँच सूक्ष्मभूत जो परमाणुरूप हैं, और पूर्वोक्त चार भेद अन्तःकरण के इन नव तत्वों का लिंगशरीर कहता है।"

ईश्वर की त्रिकालज्ञता—काल सूर्य के भ्रमण का फलमात्र है। यदि सूर्य न हो तो भूत-भविष्यत् बिल्कुल न हों, केवल वर्तमान ही रहे, क्योंकि परमात्मा एकरस है, अतः इसका ज्ञान और क्रिया नित्य हैं। परिणामतः उसका प्रत्येक काम अनवच्छिन्नरूप से होता रहता है। 'जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है' का तात्पर्य है कि जीव का कर्म करना, और ईश्वर का उसको जानना, एक साथ होता है, आगे-पीछे नहीं, अर्थात् न तो यह कि जीव पूर्वकाल में कर्म करे और ईश्वर उसे उत्तरकाल में जाने और न यह कि ईश्वर पूर्वकाल में जान लेता है और फिर जीव उत्तरकाल में कर्म करता है; तथा जब जीव ने कर्म नहीं किया तब उस कर्म की

[जीव और ईश्वर का सम्बन्ध]

प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न ?

उत्तर—परिच्छिन्न । जो विभु होता तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता । इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ अल्प अर्थात् सूक्ष्म है[1] । और परमेश्वर अतीव

सत्ता नहीं है और स्वतन्त्र होने से जीव कर्म करे या न करे, इस कारण कर्म की सत्ता भविष्यत् काल में भी नियत नहीं है, तब वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालों में अनियत कर्मसत्ता को यदि ईश्वर नियत जाने वा माने तो ईश्वर पर अन्यथाज्ञानी होने का दोष आता है और यह कहना कि भविष्यत् कर्मों के न जानने से ईश्वर में अज्ञान या अल्पज्ञा आती है, ठीक नहीं है, क्योंकि जो कर्म न तो हुए और न भविष्यत् में नियत हैं, वे यथार्थ में अवस्तु हैं । तब अवस्तु को अवस्तु ही जानना ज्ञान है और अवस्तु को वस्तु या वस्तु को अवस्तु जानना अविद्या है ।

वस्तुतः भूत, वर्तमान और भविष्यत्—काल के ये तीन विभाग—केवल सापेक्षिक सत्ताएँ (Relative terms) हैं । मुझे अपने घर की छत पर चढ़कर जितनी दूर का प्रदेश दिखाई देता है, वायुयान में बैठे व्यक्ति को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत प्रदेश दिखाई देता है और उपग्रह में बैठकर अन्तरिक्ष की यात्रा कर रहे व्यक्ति को सारी पृथिवी एक साथ दीख जाती है । जैसे समीप और दूर की परिभाषाएँ सापेक्ष हैं, वैसे ही भूत और भविष्य की परिभाषाएँ भी सापेक्ष हैं । देश (Space) की दृष्टि से जिसे समीप और दूर कहते हैं, काल (time) की दृष्टि से उसी को भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करनेपर काल के उक्त तीनों खण्डों का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन हो जाएगा । जो वर्तमान बीत चुका है, वह भूत है । इसी प्रकार जो वर्तमान आनेवाला है वह भविष्यत् है । इस तरह भूत और भविष्यत् दोनों वर्तमान पर आधारित हैं । वर्तमान की सत्ता कहाँ है ? वर्तमान का कुछ अंश भूत है और कुछ अंश भविष्यत् । हमारे कहते-कहते वर्तमान का क्षण फिसलकर भूत और भविष्यत् की कोटि में पहुँच जाता है, अर्थात् वर्तमान, वर्तमान नहीं रहता । इसलिए दार्शनिकों का कहना है कि वर्तमान की अपनी सत्ता नहीं है—बस भूत और भविष्यत् के बीच की रेखा वर्तमान है और यह विभाजक रेखा इतनी क्षीण है कि इसे कोई पकड़ नहीं सकता । जब वर्तमान की यह दशा है तो उसपर आधारित भूत और भविष्यत् कहाँ टिक पाएँगे ? इसलिए कहना चाहिए कि काल अखण्ड और एकरस है । भूत और भविष्यत् की परिभाषाएँ केवल अल्पज्ञ जीव के व्यवहार के लिए हैं । स्वतः परमात्मा के लिए त्रिकाल नहीं हैं—केवल एक ही महाकाल है और वह उसके लिए वर्तमान ही है ।

जीवात्मा परिच्छिन्न (अणुपरिमाण) है—परिमाण तीन प्रकार के माने जाते हैं—विभु, मध्यम और अणु । जो सर्वत्र व्याप्त हो वह विभु, जो शरीरमात्र में व्याप्त हो वह मध्यमपरिमाण तथा जो नियत स्थान में वर्तमान हो वह अणुपरिमाण कहाता है ।

जीवात्मपुरुष परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं अणुपरिमाण है । मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है—**'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः** (मु० ३।१।९), अर्थात् यह 'अणु' आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है । आत्मा के माप का उल्लेख मिलने से भी उसके अणु होने की पुष्टि होती है । जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद में कहा है—

---

१. द्र०—'प्रज्ञानं ब्रह्म तत्त्वमसि अयमात्मान्तर्याम्यमृतः । अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थम्।' हयग्रीवोपनिषद् ॥१॥

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापकस्वरूप है। इसीलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न— जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिए जीव और ईश्वर का संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर— यह नियम समान आकारवाले पादर्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध है।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ —अथर्व० १०।८।२५

अर्थात्—जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक (प्रकृति) है जो दीखती नहीं। इन दोनों में व्याप्त जो देवता है, वही मुझे प्रिय है। इस मन्त्र में कथित जीव को स्पष्ट करते हुए श्वेता० उप० में कहा है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ —श्वेत० ५।६

अर्थात्—बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जाएँ, फिर उनमें से एक भाग के सौ भाग किये जाएँ तो उनमें से एक भाग के बराबर जीव का परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ है। उपनिषदों में अनेकत्र (कठ० ४।१२, १३; ६।१७; श्वेता० ५।८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर (अंगुष्ठमात्रः पुरुषः) बताया है। अंगूठे के बराबर कहने का यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अंगूठे के परिमाणवाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अंगूठे जैसी होने के कारण तात्स्थ्योपाधि से ऐसा कह दिया है; तथापि किसी सम्भावित भ्रान्ति का निवारण कर देने के उद्देश्य से **'अंगुष्ठमात्र'** के साथ ही **'आराग्रमात्र'** (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये वाक्य जीवात्मा के किसी नियत परिमाण का निर्देश न करके उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने का बोध कराने के लिए कहे गये हैं।

आत्मा के अणुपरिमाण होने से यह स्वतः सिद्ध है कि वह शरीर में किसी नियत स्थान पर रहता है। वह कौन-सा स्थान है? जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने आत्मा, हृदयदेश में स्थित बताया है। जीवात्मा का यह स्थान शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—**'हृदि ह्येष आत्मा'**। यह आत्मा निश्चितरूप से हृदय में निवास करता है। सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेदभाष्य (१६।६।५) में लिखा है **'हृदयं हि आत्मनिवासस्थानम्'**। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र जीवात्मा के अणु होने और हृदयदेश में निवास करने का वर्णन मिलता है—

स वा एष आत्मा हृदि। —छां० ८।३।३

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः
—बृहद्० ४।३।७

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
—अथर्ववेद १६।३।५

इन्द्रियों के गोलक स्थूलशरीर का अंग हैं, जबकि उनकी शक्ति का स्रोत हृदयस्थित आत्मा में निहित है, किन्तु जिस हृदय में आत्मा का वास है, वह रक्त का आक्षेप-प्रक्षेप करनेवाला हृदय नहीं, अपितु वह मस्तिष्कगत प्रदेश है, जिसका वर्णन अथर्ववेद (१०।२।३१-३३) में किया गया है। सुश्रुत में लिखा है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥ —शरीर० ४।३४

अर्थात्—'हे सुश्रुत ! देहियों का चेतनास्थान हृदय कहा जाता है। वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है तो देही निद्रावस्था में प्रवेश करता है।'

रक्त का प्रक्षेप करनेवाला हृदय तो जाग्रत् और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में अनवरत अपना काम करता रहता है, अतः उसके तमस् से अभिभूत होकर निद्रा का प्रयोजन बनने का प्रश्न ही नहीं है। निश्चय ही इस हृदय का स्थान मस्तिष्क में है। जिस प्रकार सामान्य हृदय तीन कार्य करता है—अर्थात् **'हृ'** से **हरति=शरीर** से अशुद्ध रक्त को लेता, **'द'** से **ददाति=फेफड़ों** द्वारा शुद्ध करके शरीर को देता और इस उद्देश्य से हर समय **'य'** से **याति**=गति करता रहता है, उसी प्रकार मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता, तदनुसार कार्य करने के लिए कर्मेन्द्रियों को आदेश देता और इस उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में होने से वहीं आत्मा का वास है जहाँ से वह सम्पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है। जीवात्मा का शरीर से निकल जाना मृत्यु है। चिकित्साशास्त्र के अनुसार मनुष्य की मृत्यु रक्तक्षेपक हृदय की गति बन्द हो जाने के साथ न होकर मस्तिष्क के काम बन्द करनेपर होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा का आवास मस्तिष्कगत हृदय अथवा ब्रह्मगुहा में है।

महाभारत (वनपर्व १८१।२२) के अनुसार—

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः । बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥

अर्थात्—हे पुरुषसिंह ! वह आत्मा दोनों भौंहों के बीच स्थित होकर उत्तम, अधम बुद्धि को भिन्न-भिन्न द्रव्यों की ओर प्रेरित करता है।

सांख्य के प्राचीन सन्दर्भ और जीवसम्बन्धी अन्य विवेचनाओं के आधार पर सांख्य के मूलभूत आचार्यों का यही मत बनता है कि जीव परिच्छिन्न है। पातञ्जल योगदर्शन (१।३६) के व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिख के मतानुसार भी जीवात्मा अणुपरिमाण है और सर्वाधिक सूक्ष्म है—**'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते'**। न्यायदर्शन में, यद्यपि स्पष्टरूप से आत्मा के अणुपरिमाण होने का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि वहाँ प्रकारान्तर से आत्मा के एकदेशी होने की पुष्टि होती है। न्यायदर्शन में एक समय में एक से अधिक इन्द्रिय से काम लेना और इस प्रकार एक से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना मन के सामर्थ्य से बाहर है। जब आत्मा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो वह मन से संयुक्त होता है और मन को ज्ञेय विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय से जोड़ता है। इस ज्ञानप्रक्रिया की संगति जीवात्मा को परिच्छिन्न मानकर ही लग सकती है। यदि आत्मा समूचे शरीर में व्यापक हो तो मन आदि के साथ उसका सम्पर्क सदा बना रहे और ज्ञानप्रक्रिया समाप्त होकर समस्त ज्ञान एक साथ सम्भव हों, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। वेदान्तानुयायी सम्प्रदाय एवं शंकर तथा शांकर मत के विद्वान् जीवात्मा को अपनी स्थिति में अथवा स्वरूप से अणु मानते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा

वस्तुतः ब्रह्म से अतिरिक्त तत्व न होकर, उसका अपना रूप है। अतएव इस दृष्टि से वे उसे विभु मानते हैं।

मध्यम परिमाण होनेपर प्रत्येक शरीर के साथ जीव का परिमाण बदलेगा। इस प्रकार जीव का अपना कोई परिमाण न रहेगा जिस शरीर में जाएगा उसी के बराबर उसका परिमाण हो जाएगा। जैन दार्शनिकों ने जीव को मध्यमपरिमाण स्वीकार किया है, अर्थात् शरीर के अनुरूप जीव का परिमाण माना है। एतदनुसार हाथी के शरीर में जीव हाथी जितना विशाल और चींटी के शरीर में चींटी जितना सूक्ष्म होता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुरूप आत्मा को मध्यमपरिमाण माननेपर उसमें संकोच-विकास होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के अनुसार होगा तो मनुष्य के शरीर में ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर का विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर में जीवात्मा का फैलाव होता जाएगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा, कृशकाय का छोटा और स्थूलकाय पहलवान का जीव बड़ा होगा। इससे जीव सावयव हो जाएगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ में घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होनेपर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जाएगा। जो पदार्थ विकारी अथवा परिवर्तनशील होगा, वह नाशवान् होगा अतः जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर उसे नश्वर मानना होगा। मैं छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और बड़े में भी। हाँ, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर कमरे से छोटा हो। अणुपरिमाण होने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मानकर जीव को शरीरपरिमाणी माननेपर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समाएगा और चींटी का जीव हाथी के शरीर में कैसे कार्य करेगा ? जीव को मध्यमपरिमाण मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी।

जीवात्मा के विभु होने की स्थिति में 'कौन शरीर किस आत्मा का है' यह निश्चय कैसे हो सकेगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में वर्तमान रहेंगे। परिणामतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी। जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक माननेपर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा। **'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'** (न्याय० १।१।१९)—होकर समस्त जीवात्मा का एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना सिद्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।'

—बृहद० ४।४।२

अर्थात्—अपने उस चेतनस्वरूप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है। मुण्डक० (१।२।११) के अनुसार **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'**—आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में भी जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है—'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति'—कौ०ब्रा०उ० ३।४—अर्थात् सूक्ष्मशरीर में परिवेष्टित जीवात्मा जब इस शरीर से निकलता है तो सब करणों के साथ ही निकलता है। अथर्ववेद (१६।६८।१) का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने **'अव्यसः'** शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—**'अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः'**—अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का। इस प्रकार उत्क्रान्ति, गति और आगति के प्रमाणों से आत्मा का परिच्छिन्न अथवा अणु-परिमाण होना सिद्ध है।

गति का नियम है कि कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है। गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में

नहीं। जब पक्षाघात हो जाता है तो तन्तुसम्बन्ध में विकार आ जाने से प्रभावित क्षेत्र में काँटा चुभना अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था। जीवात्मा के विभु होने का अर्थ होगा कि जीवात्मा आकाश की तरह सर्वत्र ओत-प्रोत है। तब एक ही आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा और सब जीवों के सुख-दुःख और समस्त क्रियाओं में समानता होगी। उस अवस्था में जन्म-मरण, संयोग-वियोग कुछ भी न होगा, परन्तु यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ये सब युक्तियाँ और प्रमाण आत्मा के अणु-परिमाण होन को सिद्ध करते हैं।

इस परिच्छिन्न जीव की सब शक्तियाँ शरीर में स्थित प्राण आदि के साथ संयुक्त होकर कार्य करती हैं। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना इस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्मरूप में व्याप्त है, जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ जुड़ा रहता है। यह केन्द्र आत्मा के निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदयदेश में है। इन साधनों के द्वारा एकदेशस्थ आत्मा देहव्यापी अनुभव प्राप्त कर लेता है; दीपक की भाँति अपनी शक्ति से समस्त शक्ति का नियमन करता है। जिस प्रकार शरीर के अंग में सम्पृक्त चन्दनबिन्दु ज्ञानवहा नाड़ियों के समस्त शरीर में व्याप्त होने के कारण समस्त देह में नवीन चेतना, शैत्य तथा आह्लाद उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार देह के एक देश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में संवेदना का ग्रहण करता है। शंकर इस दृष्टान्त का प्रत्याख्यान यह कहकर करते हैं कि काँटा भी तो, जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है, सारे शरीर की संवेदन-शक्ति के साथ सम्बद्ध है। फिर भी दुःख केवल पैर के तलवे में ही अनुभव होता है, सारे शरीर में नहीं। ऐसा कहते हुए शंकर यह भूल जाते हैं कि पैर केवल काँटा चुभने का स्थान है। दर्द की अनुभूति का स्थान पैर नहीं, हृदयदेश है जहाँ स्वयं आत्मा बैठा है। शरीर के समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों की भाँति पैर जड़ है। जड़ को दर्द की अनुभूति कैसे सम्भव है? इसलिए, जैसे वायु के सहयोग से मनुष्य तीव्र गन्धवाले दूरस्थ पदार्थ से प्राप्त गन्ध का अनुभव करता है, वैसे ही हृदयदेश में बैठा आत्मा अपने साधनों द्वारा पैर में लगे काँटे की अनुभूति करता है।

जैसे एक स्थान पर रक्खे दीपक की शिखा बहुत छोटी होते हुए भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को आलोकित करती है अथवा जैसे **एकत्र** स्थित सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा संसार को आलोकित करता है, उसी प्रकार देह में **एकत्र** स्थित अणुपरिमाण आत्मा अपने विभिन्न करणों=साधनों के द्वारा समस्त देह को सचेत एवं सक्रिय बनाये रखता और शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव करता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ —गीता १३।३३

लोक में जैसे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि अपने सहायकों के द्वारा अपने विस्तृत राज्य का संचालन करता है और सब प्रकार की जानकारी रखते हुए उसपर शासन करता है, वैसे ही हृदय में स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। इस प्रकार समझने पर जीवात्मा को अणु-परिमाण मानने में कोई बाधा नहीं आती।

प्रज्ञानं ब्रह्म—जैसे ब्रह्म आनन्द का आश्रय न होकर आनन्दस्वरूप है, वैसे ही वह ज्ञान—चेतना का आश्रय न होकर ज्ञानस्वरूप है, अर्थात् चैतन्यस्वरूपता ही ब्रह्म है। इससे पहले (ऐत० ३।१) हृदय, मन, मेधा, स्मृति आदि की गणना करके कहा गया था—**'सर्वाणि एव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'** अर्थात् ये सब प्रज्ञान, चेतना या आत्मा (Consciousness) के ही नाम या स्वरूप हैं। अब परमात्मा के लिए

[ये वाक्य जीव ब्रह्म की एकता के बोधक नहीं]

प्रश्न- जो पृथक्-पृथक् हैं, तो-

प्रज्ञानं ब्रह्म ॥१॥ —ऐत० उप० ३।५।३ **अहं ब्रह्मास्मि ॥२॥** —बृहदा० १।४।१०
तत्त्वमसि ॥३॥ —छां ६।८।७ **अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥** —माण्डू० २

वेदों के इन महावाक्यों[1] का अर्थ क्या है ?

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के वचन हैं। और इनका नाम 'महावाक्य' कहीं शत्यशास्त्रों में नहीं लिखा, अर्थात् (अहम्) मैं (ब्रह्म) अर्थात् ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूँ। यहाँ तात्स्थ्योपाधि है। जैसे— मञ्चाः क्रोशन्ति—मचान पुकारते हैं। मचान जड़ है, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिए मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं[2] इसी प्रकार यहाँ भी जानना।

कोई कहे कि 'ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है' इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं, परन्तु जैसा साधर्म्य-युक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है, इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ 'तात्स्थ्य वा तत्सहचरितोपाधि' अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं, अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ हो परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाग के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है ॥२॥

कहा **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**। उपनिषत्कार ने आत्मा तथा परमात्मा दोनों को प्रज्ञान का नाम दिया है। **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१), **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** (श्वेता० ६।११) इत्यादि सन्दर्भ ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने को प्रमाणित करते हैं। जहाँ अन्य की अपेक्षा से उसके ज्ञान का वर्णन है, उसे अन्यापेक्ष होने का कारण औपचारिक समझना चाहिए।

अहं ब्रह्मास्मि—बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) के अन्तर्गत **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) को जीवात्मा की उक्ति समझकर ही उसे जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का प्रतिपादक माना जाता है। वास्तव में यह वाक्य ब्रह्म के संकल्परूप में कहा गया है। यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्—अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्।

अर्थात्—सर्ग से पूर्व केवल यह ब्रह्म था। उसने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। वही इस समस्त कार्यजगत् का उत्पादक है। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि आज भी जो इस तथ्य को जान लेता है, वह वही हो जाता है, अर्थात् वह आनन्द से आप्लावित हो जाता है। इसके विपरीत जो उपासक, यह समझकर कि उपास्य अन्य है और इस प्रकार अन्य की उपासना करता है वह यथार्थतत्त्व को नहीं जानता। इस सारे सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहनेवाला वह (तत्) है जो सर्ग से पूर्व विद्यमान था (**इदमग्र आसीत्**) निश्चय ही सर्ग से पूर्व सबको अपने अन्दर धारण

१. **द्र०—प्रज्ञानं ब्रह्म तत्वमसि अयमात्मान्तर्याम्यमृतः अहं ब्रह्मस्मीति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थम्..।**—हयग्रीवोपनिषद् १॥
२. 'तात्स्थ्य' वा 'सत्सहचरितोपाधि' के सम्बन्ध में विशेष न्यायाभाष्य २।२।६१ देखें।

[तत्वमसि' वाक्य पर विचार]

प्रश्न—अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे—(तत्) ब्रह्म (त्वम्) तू जीव (असि) है। हे जीव (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है।

करनेवाला परमात्मा वर्तमान था (**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**—यजुः० १३।४)। उपनिषत्कार ने अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार यह वाक्य (**अहं ब्रह्मास्मि**) उसी ब्रह्म के द्वारा कहलवाया है। स्वयं उपासक जीवात्मा को यहाँ उपास्य ब्रह्म के रूप में नहीं कहा गया। वस्तुतः **'अहं ब्रह्मास्मि'** का वक्ता स्वयं ब्रह्म है।

यदि इस वाक्य को जीवात्मा की उक्ति माना जाए तो वह मात्र औपचारिक कथन होगा। ऐसी भावना किसी वाक्य या वाक्यांश से आपाततः प्रतीत हो तो उसे अतिशय भक्ति का उद्रेक जानकर औपचारिक समझना चाहिए, वास्तविक नहीं। अनेकत्र ऐसे वर्णनों में उपासक द्वारा ब्रह्म को माता, पिता, भ्राता, सखा आदि के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसे यथार्थ नहीं माना जा सकता।

प्रायः सुना जाता है—**'मञ्चाः क्रोशन्ति'** अर्थात् मञ्च पुकारते हैं। मञ्च तो जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य कहाँ ? इसलिए मञ्च का अर्थ यहाँ **'मञ्चस्थपुरुषाः'** किया जाता है। जीव का ब्रह्म से साहचर्य तथा संयोगसम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रायः—एक साथ रहने और सहयोग करनेवाले दो व्यक्तियों को लोग 'दो शरीर, एक प्राण' अथवा 'वे दोनों एक हैं' कह देते हैं, इसी प्रकार जब जीवात्मा परमेश्वर का-सा गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार करते हुए ब्रह्मानन्द से आप्लावित होता है तब वह और ब्रह्म एक अथवा अविरोधी हो जाते हैं, परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म एक हैं अथवा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की अपनी कोई सत्ता नहीं, युक्तियुक्त नहीं होगा। यह वाक्य ब्रह्म के साथ जीवात्मा के अत्यधिक अथवा अव्यवहित सान्निध्य का द्योतक हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार विचार करनेपर **'अहं ब्रह्मास्मि'** का अर्थ **'अहं ब्रह्मस्थोऽस्मि'** मानकर करना चहिए।

तत्त्वमसि—छान्दोग्योपनिषद् (६।८।६) के अन्तर्गत **'तत्त्वमसि'** को जीव और ब्रह्म के एकत्व अथवा तादात्म्यसिद्धि में अकाट्य प्रमाण समझा जाता है। इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके इसका विवेचन किया जाता है—

पूर्वपक्ष—**'तत्त्वमसि'** कथन से जीव और ब्रह्म का ऐकात्म्य सिद्ध है। दोनों में तादात्म्यभाव है। भेद कल्पित है जो उपाधिजन्य है। उस उपाधि का नाश होते ही जीवात्मा अपने स्वरूप को प्राप्त होकर अपने को ब्रह्म मानने लगता है। 'तत्त्वमसि' का यही आशय है। आचार्य अपने शिष्य को कहते हैं—**'त्वं तत् (ब्रह्म) असि'**। सामने बैठे हुए शरीर, इन्द्रियादि से युक्त तुम (**त्वम्**) परोक्ष सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म (**तत्**) हो (**असि**)। परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हुए भी 'त्वम्' और 'तत्' एक कैसे हो सकते हैं ? साधक इसको समझने का प्रयास करता है तो आचार्य स्पष्ट करते हैं कि तुम दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। 'त्वम्' और 'तत्' में चैतन्य गुण समान है, शेष गुण उपाधि के कारण कल्पित हैं। इसलिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। अतएव जब आचार्य कहते हैं **'त्वं तत् असि'** तो उनके कहने का यही अभिप्राय है कि 'त्वम्' का चैतन्य और 'तत्' का चैतन्य एक ही हैं। तुच्छ एवं आरोपित भेदक गुणों का परित्याग कर देने पर एक चैतन्य दूसरे चैतन्य से भिन्न नहीं है। **'जहत्-अजहत् लक्षणा'** से इसका यही अर्थ है

'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'—'लक्षणा' शब्द की एक प्रकार की वृत्ति है। जब अभिधावृत्ति से किसी अर्थ का बोध नहीं होता तब उससे सम्बद्ध दूसरे अर्थ का बोध करानेवाली वृत्ति 'लक्षणा' कहाती है। जैसे—'गंगायां

उत्तर—तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो ?

प्रश्न—'ब्रह्म'।

उत्तर—ब्रह्मपद की अनुवृत्ति कहाँ से लाये ?

प्रश्न—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इस पूर्व वाक्य से।

उत्तर—तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद् का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होती, तो वहाँ 'ब्रह्म' शब्द का पाठ ही नहीं है। ऐसा झूठ क्यों कहते ? किन्तु 'छान्दोग्य' में तो—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** ऐसा पाठ है। वहाँ 'ब्रह्म' शब्द नहीं।

घोषः' का अभिधावृत्ति से कोई समन्वित अर्थ नहीं बनता। तब लक्षणावृत्ति से 'गंगायां' का अर्थ 'गंगा की धारा' न करके 'गंगा का तीर' किया जाता है। यहाँ गंगा शब्द के मुख्य अर्थ का परित्याग करके अर्थ की संगति बिठाई जाती है। इसे **'जहत्'** लक्षणा कहते हैं, किन्तु जब लक्षणा द्वारा अर्थ करते हुए मुख्यार्थ का भी बोध होता है, तब वह **'अजहत् लक्षणा'** कहाती है। जैसे—**'शोणो धावति'** (लाल रंग दौड़ता है)। इस वाक्य का **मात्र** मुख्यार्थ से कोई समन्वित अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि लाल रंग जड़ होने से दौड़ नहीं सकता। इसलिए लक्षणा के द्वारा 'शोणः' का अर्थ 'लाल रंग का घोड़ा' किया जाता है। यहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण भी अपेक्षित है, अर्थात् घोड़े के साथ-साथ लाल रंग भी दौड़ता है। यह **'अजहत् लक्षणा'** कहाती है। इस प्रकार जहाँ 'छोड़ा भी जाए और न भी छोड़ा जाए' अर्थात् विरुद्ध धर्म का परित्याग और समान धर्म का ग्रहण किया जाए वहाँ **'जहत्-अजहत्'** लक्षणा द्वारा अर्थ किया जाता है।

उत्तरपक्ष—परन्तु उपनिषद् के पूरे प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ शरीर व आत्मा के भेद को दिखाने के लिए **'तत्त्वमसि'** कथन किया गया है। छान्दोग्य के छठे अध्याय के आरम्भ में वर्णन है कि आरुणि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त करके लौटा तो पिता को अपना पुत्र कुछ अभिमानी जान पड़ा। आरुणि समझ गये कि लड़के ने शब्दमात्र को जाना है, आत्मतत्व को—अपने स्वरूप को नहीं समझा। तब अपने देहादि पर गर्व करनेवाले श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया कि तू प्राकृत देहादि के समान जड़ न होकर ब्रह्म के समान चेतन तत्त्व है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है। देहादि की रचना अचेतनरूप है, त्रिगुणात्मक है, जबकि आत्मा चेतन एवं त्रिगुणातीत है। आत्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए, अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके, अनात्मरूप में **'तत्वमसि'** का जो अर्थ यहाँ किया गया है, वह उसे उपनिषद् के अन्तर्गत सम्बद्ध वाक्य से काटकर तथा पूर्वापर प्रसंग से पृथक् करके किया गया है। छान्दोग्य के इस पूरे प्रसंग को देखने-पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'तत्' पद 'ब्रह्म' का परामर्शक नहीं है। इस तथ्य का बोध होते ही इस वाक्य का जीव-ब्रह्म के भेदाभेद-विवेचन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इस प्रसंग के ग्यारहवें खण्ड में चेतन-अचेतन के भेद का स्पष्ट वर्णन है। इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए समस्त प्रकरण में जो वाक्य बार-बार आया है, वह इस प्रकार है—

स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो। —छां० ६।८।७

अर्थात्—'यह जो सूक्ष्म है, यह सब जगत् आत्मा के लिए है, वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो! तुम वही आत्मा हो।' स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश कर आत्मतत्त्व को उससे भी सूक्ष्म बताया है। जगत् की रचना जीवों के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए की गई है। अतएव स्थूल से सूक्ष्म तक

प्रश्न—तो आप तच्छब्द से क्या लेते हैं ?

उत्तर—'**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति**' ॥ —छान्दो०

वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र ! '**तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि**' उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है ॥

जितना सद्रूप जड़ तत्त्व है, वह सब आत्मा के लिए है। स्थूल-सूक्ष्मशरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य भौतिक पदार्थ आत्मा के लिए मात्र साधनरूप हैं। देहादि सब विकारी हैं। जो अविकारी है वही सत्य है और वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो। जिस प्रकार जीव के निकल जानेपर हरा-भरा वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार जीव के निकल जानेपर यह शरीर मृत कहा जाता है, किन्तु जीवात्मा नहीं मरता, वह अमर है, अपरिणामी है। हे श्वेतकेतो ! वही आत्मा सत्य है, तुम वही हो। जब तक कोई व्यक्ति इस तथ्य को नहीं जान लेता, तब तक अज्ञान में रहता है। जब उसे जान लेता है, तब कोई सांसारिक ताप उसे नहीं सताता।

इस समस्त प्रकरण में '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' पद विचारणीय हैं। प्रकरणानुसार '**ऐतदात्म्यम्**' का निर्वचन इस प्रकार किया जाना युक्तियुक्त है—'**एतस्मै आत्मने इति एतदात्म, तदेवैतदात्म्यम्**'। यहाँ '**इदं सर्वम्**' पदों से जिस वस्तुतत्त्व का निर्देश किया जा रहा है, उसका विशेषण है—'**ऐतदात्म्यम्**'। इसका अर्थ होगा—यह सब आत्मा के लिए है।

शंकराचार्य का मत है कि यहाँ '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' इन पदों के आधारपर जो कुछ यह जगत् दीख रहा है, उसे आत्म-(ब्रह्म)-रूप मानकर श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही (ब्रह्म) है। इस दृष्टि से 'ऐतदात्म्यम्' का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है—'**एष चासौ आत्मा इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्**'। इस निर्वचन के अनुसार ही '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' का अर्थ किया जाता है—यह सब जगत् आत्मा ही है। इस अर्थ के अनुसार ब्रह्म तथा जगत् में अभेद सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। तदनुसार यदि 'जगत्' का निर्देश करके श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही है, तो उसे जगत् के समान जड़रूप आत्मा बताया जा रहा है। आत्मा को जड़ कैसे माना जा सकता है ? नवीन वेदान्ती '**तत्**' पद से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार '**तत्त्वमसि**' का अर्थ (**त्वम्**) तू (**तत्**) ब्रह्म (**असि**) है' करते हैं, किन्तु इस सारे प्रकरण में कहीं भी ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। यदि कहीं आस-पास भी होता तो '**तत्**' पद ब्रह्म का परामर्शक हो सकता था अथवा यहाँ ब्रह्म का अध्याहार किया जा सकता था। सन्दर्भान्तर्गत बार-बार आया '**अणिमा**' पद भी यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होने से विभु है। इसके विपरीत जीव का एकदेशी होने से अणुपरिमाण (परिच्छिन्न) होना शास्त्रसम्मत तथा तर्कप्रतिष्ठित है। '**ऐतदात्म्यमिदम्**' की व्याख्या के लिए यहाँ जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, उन सबमें जड़ तथा चेतन का भेद दर्शाया गया है। इसलिए '**ऐतदात्म्यमिदम्**' पद के प्रचलित अर्थ के युक्तियुक्त न होने से उसके आधार पर '**तत्त्वमसि**' से जीव तथा ब्रह्म का तादात्म्य उपपन्न नहीं होता।

छान्दोग्य के छठे प्रपाठक के आठवें खण्ड से अध्याय की समाप्ति तक विभिन्न उदाहरणों द्वारा आत्मतत्त्व को समझाने का प्रयास किया है। इन उदाहरणों में स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश करके आत्मतत्त्व को उनसे भी सूक्ष्म कहा है। उन सभी प्रसंगों के अन्त में बार-बार कहा है कि वह

यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

—यह बृहदारण्यक का वचन है॥

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि—'हे मैत्रेयि! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान।' इत्यादि वचनों का क्या कई अन्यथा अर्थ कर सकता है? [॥३॥]

['अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य पर विचार]

'अयमात्मा ब्रह्म'=अर्थात् समाधि-दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि—'यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है'। इसीलिए जो आजकल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते [॥४॥]

आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी के लिए यह सब जगत् है। जगत् परिणामी है, हेय है वह आत्मा नहीं है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस प्रसंग में देहादि समस्त जड़ जगत् को भिन्न पक्ष में रखकर उससे अतिरिक्त तत्व को आत्मा बताया है जो चेतनतत्व है।

इस सारे सन्दर्भ में अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व की स्थापना करके श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस सुन्दर, सुडौल, बलिष्ठ शरीर पर तुम्हें इतना गर्व है, तुम वह शरीर नहीं हो—उससे परे आत्मतत्व हो। उसने प्राकृत जगत् से परे आत्मतत्व को समझा और उसको निमित्त बनाकर इस मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु को उद्दालक ने अध्यात्मतत्व का चिरन्तन उपदेश दिया। छान्दोग्य के प्रकृत प्रसंग का यही अभिप्राय है। आत्मा को ब्रह्मरूप बताने की यहाँ कोई भावना नहीं है।

अयमात्मा ब्रह्म—यह वाक्य माण्डूक्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र का अंश है। इससे पूर्व उपनिषद् के पहले मन्त्र में कहा गया है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।' माण्डूक्य १

अर्थात्—'ओम्' यह एक अक्षर है। उसी का यह सब विस्तार है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब ओंकार ही है और जो इसके अतिरिक्त तीन काल से बाहर है, वह भी ओंकार ही है। अतएव माण्डूक्य में आद्योपान्त उसी ओंकार का विस्तृत विवेचन हुआ है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

इसका सीधा अर्थ इस प्रकार है—**(हि)** निश्चय से **(एतत् सर्वं)** यह सब **(ब्रह्म)** ब्रह्म है। **(अयम्)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(चतुष्पात्)** चतुष्पात् है।

इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, वह ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा गया है। उपर्युक्त व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. यह सब (**ब्रह्माण्ड**) ब्रह्म है।

२. यह आत्मा ब्रह्म है।

३. इस आत्मा के चार पाद हैं।

'आत्मा' शब्द सामान्यतया जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'** यास्क के इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ का निश्चायक प्रकरण होता है। पूर्वापर प्रसंग तथा प्रस्तुत सन्दर्भ को देखते हुए **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस वाक्य में **'आप्लृ व्याप्तौ'** से निष्पन्न **'आत्मा'** अपने धात्वर्थ के अनुसार ब्रह्म के विशेषणरूप में सर्वव्यापक अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार **'ओं खं ब्रह्म'** का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर 'परमेश्वर आकाशवत् व्यापक है' है, उसी प्रकार **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ 'यह आत्मा सर्वव्यापक तत्त्व (ब्रह्म) महान् है' अथवा 'यह ब्रह्म सर्वव्यापक (आत्मा) है' होगा। इसी प्रकार **'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'** का अर्थ 'यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है' न होकर तात्स्थ्योपाधि से 'यह ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्थ है' होगा। यदि यहाँ 'आत्मा' को 'जीवात्मा' का वाचक मानकर **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ **'यह जीवात्मा ब्रह्म है'** किया जाएगा तो अगले वाक्य **'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'** का अर्थ भी 'यह आत्मा (जीवात्मा) चतुष्पात् है' करना होगा। यह सर्वथा असंगत होगा। जो आत्मा ब्रह्म है वही (सोऽयम्) चतुष्पात् है। यह 'चतुष्पात्' जीवात्मा कभी नहीं हो सकता। यह ब्रह्म ही है, इस बात को आगे आठवें मन्त्र में सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा है—**'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार-मकार इति ।'** अर्थात् वह यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर ओंकार है और वह ओंकार मात्राओं में अधिष्ठित है। पाद मात्रा हैं, मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं, अर्थात् ब्रह्म के चार पाद ओंकार की चार मात्राएँ हैं और ओंकार की चार मात्राएँ ही ब्रह्म के चार पाद हैं। माण्डूक्य का लक्ष्य ब्रह्म तथा ओंकार का तादात्म्य बताना है, ब्रह्म और जीव का अभेद सिद्ध करना नहीं।

यदि इस वाक्य का जीवात्मपरक अर्थ करना ही अभीष्ट हो तो यह **'तात्स्थ्योपाधि'** अथवा **'तत्सहचरितोपाधि'** से कहा गया भक्तिभाव के अतिरेक का द्योतक है। समाधिदशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो वह भावविभोर होकर कह उठता है—**'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणों में कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। "जैसे इस शरीर में व्यापक होने से मैं इस शरीर का आत्मा हूँ, वैसे ही मेरी आत्मा में व्यापक होने से वह ब्रह्म मेरी आत्मा है।" तथापि व्याप्यव्यापक भाव से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

सदेव सोम्येदमग्र०—इस वाक्य पर विस्तारपूर्वक विचार इसी समुल्लास में आगे किया गया है।

स य एषः—इसपर **'तत्त्वमसि'** के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

य आत्मनि तिष्ठन्०—यह माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण (१४।६।७।३०) का वचन है। बृहद० उप० (३।७।२२) में आत्मा शब्द का प्रयोग न होकर विज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ **'य विज्ञाने तिष्ठन्०'** में विज्ञान पद का प्रयोग जीवात्मा के लिए हुआ है। अर्थ दोनों जगह समान है। यहाँ अन्तर्यामी अमृत आत्मा को **'आत्मनो अन्तरः'** कहकर स्पष्टरूप में जीवात्मा से भिन्न बताया है। वह उपासक है और

[क्या ईश्वर ही जीवरूप में शरीर में प्रविष्ट है ?]

प्रश्न—

अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥१॥

—छा० ६।३।२॥

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् [॥२॥]

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूँ ॥१॥

अन्तर्यामी परमात्मा उसके लिए उपास्य है। प्रकरण के अनुसार याज्ञवल्क्य जनक की सभा में उपस्थित जनों के माध्यम से सभी जिज्ञासुओं के लिए अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) का उपदेश कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ उपासक जीव से भिन्न उपास्यरूप में ब्रह्म का वर्णन है।

अनेनात्मना० तथा तत्सृष्ट्वा०—छान्दोग्य तथा तैत्तिरीय उपनिषदों में उपलब्ध इन वचनों के आधार पर ब्रह्म के जीवरूप होने का कथन किया जाता है। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार जगत् को उत्पन्न करके फिर वही ब्रह्म जीवरूप होकर उसमें प्रविष्ट हो गया और **'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'** के अनुसार उसने जगत् और शरीरों को रचकर उनमें जीवरूप में प्रविष्ट होकर नामरूप दिया। इन वचनों से उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म की एकता प्रमाणित है।

वस्तुतः उपनिषदों की इन उक्तियों में 'अनु' (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। 'प्रवेश' के पश्चात् 'अनुप्रवेश' होने से स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तत्पश्चात् दूसरा। पहले और पीछे प्रविष्ट होने से उनका 'द्वैत'—दो होना स्वयंसिद्ध है। **'शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरः'**—अर्थात् अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर में जीव को प्रविष्ट कराके परमेश्वर जीव के भीतर अनुप्रविष्ट होता है। सहार्थ में तृतीया विभक्ति है—**'अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः'**। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करनेवाला तथा जिसमें वह प्रविष्ट होता है, उन दोनों का अलग-अलग होना निश्चित है। यहाँ भी यह सब औपचारिकरूप में ही कथित समझना चाहिए। अन्यथा सदा से सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर के कहीं प्रवेश-अनुप्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता।

भागत्यागलक्षणा—इसको समझने के लिए शब्द की शक्ति अर्थात् अर्थप्रकाशनसामर्थ्य को समझना आवश्यक है। आलङ्कारिक एवं दार्शनिक विद्वान् शब्द की तीन प्रकार की शक्ति मानते हैं—१. अभिधा, २. लक्षणा तथा ३. व्यञ्जना। जिस अर्थ में जो शब्द प्रसिद्ध है उसको उसी अर्थ में प्रयुक्त करना **'अभिधा'** वृत्ति से होता है। यह कोष, उपमान, समीप्य, आप्तोपदेश, आप्तव्यवहार आदि कई प्रकार से सम्भावित होती है। **'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**—जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ की सम्भावना न हो, जिस शक्ति के द्वारा उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति हो, उसे लक्षणा कहते हैं। 'गधा' शब्द से 'गधा' नाम से प्रसिद्ध पशुविशेष का ग्रहण अभिधावृत्ति से होता है। परन्तु 'गधा' का 'मूर्ख' अर्थ लक्षणावृत्ति से जाना जाता है। दोनों तीरों के मध्य में प्रवहमान जलधारा में कोई मकान नहीं ठहर सकता। इसलिए 'नदी में घर है' इस वाक्य में 'नदी' का अर्थ या तो नदी का तीर करना होगा अथवा नदी के बीच स्थित कोई टापू करना होगा। 'नदी' शब्द का यह अर्थ लक्षणावृत्ति से ही जाना जाता है। प्रसिद्ध वाक्य **'मञ्चाः क्रोशन्ति'**

परमेश्वर उस जगत् और शरीर को बनाकर उसमें वही प्रविष्ट हुआ ॥२।

इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे ?

उत्तर—जो तुम पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानते, तो ऐसा अनर्थ कभी न करते, क्योंकि यहाँ ऐसा समझो—'एक प्रवेश और दूसरा अनुप्रवेश' अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नामरूपादि की विद्या को प्रकट करता है, और शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है। जो तुम 'अनु' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।

में 'मञ्चाः' का अर्थ 'मञ्चस्थपुरुषाः' लक्षणार्थ है। आलंकारिकों ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं, परन्तु उसके तीन मुख्य भेद सर्वमान्य हैं—१. अजहल्लक्षणा, २. जहल्लक्षणा तथा ३. जहदजहल्लक्षणा। पहली **'जहल्लक्षणा'** वह लक्षणा है जिससे पद अपने मुख्य अर्थ के असम्भव होनेपर भी उसका त्याग न करे, वरन् अधिक का ग्रहण करे। जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** में 'मञ्चाः' का अर्थ मंच पर बैठे मनुष्य किया जाता है, क्योंकि जड़ होने से मञ्च का चिल्लाना असम्भव है। इस अर्थ में मचान का अपना अर्थ भी विद्यमान है, साथ ही उससे अधिक 'मनुष्य' अर्थ का निवेश हो गया। **'श्वेतः धावति'** में 'श्वेत' पद से 'श्वेत घोड़े' या **'श्वेत कुत्ते'** का ग्रहण करना भी 'अजहल्लक्षणा' का उदाहरण है। दूसरी **'जहल्लक्षणा'** वह है जिसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर दिया गया हो। जैसे—'नदी में घर है' वाक्य में नदी पद के प्रवहमान जलधारा अर्थ का सर्वथा त्याग होकर तत्सम्बन्धी तीर या टापू अर्थ लिया जाता है। तीसरी 'जहदजहल्लक्षणा' वह है जिसमें मुख्यार्थ का कुछ त्याग हो और कुछ न हो। देवदत्त से मिलने के लिए कोई व्यक्ति उसके घर गया। वहाँ वह मिला नहीं। निराश होकर वह लौट गया। मार्ग में कुछ दूर चलनेपर उसे देवदत्त कहीं बैठा मिल गया। वहाँ उसे देखकर वह व्यक्ति बोला—'यह वही देवदत्त है'। 'यह' पद वर्त्तमानकाल में समीपस्थ वस्तु का वाचक है। इसके विपरीत 'वह' पद बीते समय और दूरस्थ वस्तु का वाचक है। न वर्त्तमान और अतीत एक हो सकते हैं और न समीपस्थ और दूरस्थ एक हो सकते हैं। इसलिए आपाततः 'यह वही देवदत्त है' वाक्य निरर्थक प्रतीत होता है। इस कारण 'यह' और 'वही' के वाच्य अर्थों में से काल और देश भाग का त्यागकर वस्तुसामान्य अर्थ को नहीं त्यागते, इससे अन्वय बन जाता है, इसी को नवीन वेदान्ती **'भागत्यागलक्षणा'** कहते हैं।

प्रसंग न होने से यहाँ व्यंजनावृत्ति की चर्चा नहीं करते। **'भागत्यागलक्षणा'** को समझ लेने पर ग्रन्थकार द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत वेदान्ती का कथन स्पष्ट हो जाता है।

उपाधि—स्वभाव का नाश कभी नहीं होता। वायु को कभी ठण्डा और कभी गरम किया जा सकता है, क्योंकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नहीं है, परन्तु अग्नि को ठण्डा नहीं किया जा सकता, क्योंकि दाहकता उसका स्वाभाविक गुण है। शंकराचार्य श्रुति को स्वतः प्रमाण मानते हैं, फिर भी कहते हैं कि सैंकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते। क्योंकि **'न ह्युपाधियोगादप्यान्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति'** (शांकर वेदान्तभाष्य—३।२।११)। इसी प्रकार अल्पज्ञता के कारण जीव तो उपाधिग्रस्त हो सकता है, परन्तु स्वभाव से सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को उपाधि नहीं लग सकती। ग्रन्थकार का प्रश्न है कि उपाधि नित्य है या अनित्य ? यदि वह अनित्य है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी ? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय

['चेतन' मात्र साधर्म्य से जीव और ब्रह्म एक नहीं]

प्रश्न—'**सोऽयं देवत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्समये मथुरायां दृश्यते**' अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूँ। यहाँ काशीदेश उष्णकाल को छोड़कर शरीरमात्र में लक्ष्य करके देवदत्त लक्षित होता है। वैसे इस 'भागत्यागलक्षणा' से ईश्वर का परोक्ष देश काल माया उपाधि और जीव का यह देश काल अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना—जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से 'अद्वैत' सिद्ध होता है। यहाँ क्या कह सकोगे ?

उत्तर—प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न—इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं।

उत्तर—उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

[नवीन वेदान्तियों के ६ अनादि पदार्थों का खण्डन]

प्रश्न—हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥१॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥२॥

—ये 'संक्षेपशारीरक'[1] और 'शारीरकभाष्य' में कारिका हैं॥

वह उपाधिग्रस्त हो गया—तो पहले उपाधि कहाँ थी ? कहीं-न-कहीं होगी तो अवश्य। न होती तो कहाँ से आजाती ? अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी ? गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतन द्रव्य है नहीं। तब अनिवार्यतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसके गुण उपाधि का अनादि होना स्वतः सिद्ध है। अनादि होने से वह अनन्त भी हो गयी और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गयी। इस प्रकार उपाधि के ब्रह्माश्रित तथा नित्य होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त रहेगा। तब उपाधिजन्य जीव और ईश्वर अनित्य कैसे हो सकते हैं ?

जीवेशौ०—उद्धृत श्लोकों में पहला अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' पृष्ठ ६३

---

१. प्रथम श्लोक 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (अच्युत ग्रन्थमाला काशी) के पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में दिया है (स्वामी वेदा०)। 'वेदान्तसिद्धान्तादर्श' में पाठ इस प्रकार है—'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः ॥' 'अद्वैतसिद्धि दृष्टिसृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यही पाठ अभियुक्त वचन के नाम से उद्धृत है। यहाँ शब्दभेदमात्र है, अर्थ समान है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अ० १, श्लोक ६१ में देखें। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (परिच्छेद १, जीवेशस्वरूपविचार) में लिखा है—संक्षेपशारीरके तु—'कार्योपधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' ।

हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवाँ अविद्या= अज्ञान और छठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते हैं ॥१॥

परन्तु एक ब्रह्म अनादि अनन्त, और अन्य पाँच अनादि सान्त हैं, जैसेकि प्रागभाव होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक ये पाँच रहते हैं और इन पाँच की आदि विदित नहीं होती इसलिए अनादि; और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिए शान्त अर्थात् नाशवाले कहाते हैं ॥२॥

पर टिप्पणी में उद्धृत है। **'वेदान्तसिद्धान्तादर्श'** में पाठ इस प्रकार दिया है—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः ॥

अद्वैतसिद्धि के दृष्टि-सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यही पाठ 'अभियुक्तवचन' के नाम से उद्धृत है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अध्याय १, श्लोक ६१ में देखें। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (परि० १, जीवेश-स्वरूप विचार) में लिखा है—**''संक्षेपशारीरके तु कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।''**

प्रागभाव—वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व अभाव। उत्पत्ति से पूर्व उस घट का अभाव अनादिकाल से है, किन्तु घट की उत्पत्ति के साथ उस घटप्रागभाव का अन्त हो जाता है, अतः प्रागभाव अनादि-सान्त हो सकता है।

नवीन वेदान्तियों के अभिमत छह तत्वों का विश्लेषण करनेपर मूलरूप तत्व दो ही रह जाते हैं—एक ब्रह्म और दूसरा अविद्या। प्रथम तो पाँच तत्वों को अनादि-सान्त मानना तर्कशास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। जिसका अन्त होता है, उसका आदि अवश्य होता है और जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है—**'अन्तवत्वे सत्यादिमत्वप्रसंग आदिमत्वे सत्यन्तवत्वप्रसंगः'**। इस न्याय के अनुसार जिसका आदि नहीं है उसका अन्त नहीं हो सकता। तदनुसार वेदान्तियों के पाँच पदार्थ यदि अनादि हैं तो सान्त और यदि सान्त हों तो अनादि कभी नहीं हो सकते। यदि, दुर्जनतोषन्याय से वेदान्तियों के कथनानुसार उनके छह पदार्थों को अनादि मान लिया जाए तो उनका अनन्त होना अनिवार्य है। अनादि-अनन्त होने से वे नित्य अवश्य होंगे। इस प्रकार जीव व प्रकृति का निषेध करते-करते वेदान्तियों को तीन की जगह छह तत्व मानने को विवश होना पड़ेगा। तब उनका अद्वैतवाद अथवा एकमात्र ब्रह्म की यथार्थता का सिद्धान्त धरा रह जाएगा। शंकर और शांकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने छह अनादि को स्वीकार करके यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी सत्ता है।

कारणोपाधि ईश्वर है, अर्थात् जब शुद्ध चेतन ब्रह्म कारणरूप उपाधि से उपाहित होता है, तब वह ईश्वर कहाता है। इसी प्रकार कार्योपाधि से उपाहित होनेपर शुद्ध चेतन ब्रह्म की संज्ञा जीव होती है। इस प्रकार अद्वैतमत में अविद्या के योग के बिना जीवमाया के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता। अनादि वस्तु किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती। यदि वह वस्तुतः किसी कारण का परिणाम है तो वह अनादि नहीं हो सकती। इस प्रकार कारण से उत्पन्न होने के कारण ईश्वर तथा जीव अनादि नहीं रहते। इन दोनों का चेतन पद में अन्तर्भाव होने से भी इनकी पृथक् गणना करना व्यर्थ है। जब ईश्वर और जीव ही अनादि नहीं रहे तो इन दोनों का विशेष भेद कैसे अनादि रहेगा? यह ठीक है कि ईश्वर और जीव का भेद अनादि है—दोनों सदा से एक-दूसरे से पृथक् अपना अस्तित्व रखते हैं। पर यह भेद इसीलिए है कि दोनों अनुत्पन्न हैं और दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, अर्थात् वे स्वरूप से अनादि हैं, तथापि इस भेद को एक अतिरिक्त तत्व

मानकर उसकी पृथक् गणना करना सर्वथा असंगत है। यही स्थिति **'तच्चितोर्योगः'** अर्थात् अविद्या और चेतन के योग की है। वस्तुतः वह किसी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दो ही पदार्थ बचे रह जाते हैं। इनमें अविद्या अनेक दोषों का घर है। इस प्रकार वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म ही अनादि पदार्थ रह जाता है, परन्तु वह अविद्या का साथ नहीं छोड़ सकता। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि अविद्या तत्त्व को स्वीकार करना स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि केवल चेतन ब्रह्म समस्त चेतन-अचेतन जगत् की सृष्टि करने में असमर्थ है। चेतन ब्रह्म अचेतन जगत् का उपादान नहीं हो सकता और न अनेकविध वैधर्म्य के कारण जीवरूप हो सकता है। इसलिए अद्वैतवाद को व्यावहारिक रीति से सक्षम बनाने के लिए अविद्या की कल्पना करना आवश्यक समझा गया। अविद्या का ही अपर नाम माया है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

आश्चर्य की बात यह है कि एक शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पाँचों को वेदान्ती 'मायिक' अर्थात् मायाकृत मानते हैं। जैसे 'कायिक' शब्द के अर्थ काया से उत्पन्न वस्तु के हैं, वैसे ही व्याकरण की रीति से मायिक शब्द के अर्थ माया से उत्पन्न वस्तु के हैं, परन्तु ये लोग व्याकरण की उपेक्षा करके मनमाने अर्थ करते और अद्वैतवाद के नामपर वेदान्तसूत्रों की भावना के विपरीत उनका भाष्य करके कल्पना-जगत् की सृष्टि करते हैं। तीन अनादि तत्त्वों को छोड़कर, ब्रह्म और ईश्वर के नाम से दो-दो ईश्वरों, अविद्या, माया, अविद्या व चेतन का योग आदि के अनादित्व का नाम तक वेदान्तसूत्रों में कहीं नहीं मिलता।

कार्योपाधिरयम्—यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को अपने अज्ञानी होने का ज्ञान है या नहीं? यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता है तो अज्ञानी होने का अर्थ क्या है? यह कहना कि एक अज्ञानी पुरुष को अपने अज्ञानी होने का पता है—सर्वथा हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है। और यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता नहीं है तो वह ब्रह्म कहाने का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवाद मात्र शब्दजाल बनकर रह जाता है। कार्य के अध्यास के परिणामस्वरूप ईश्वर की सिद्धि तभी हो सकती है जब हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करें। किसी भी अवस्था में कार्यरूप होनेपर ब्रह्म परिणामी तथा अज्ञानी हो जाएगा, किन्तु ब्रह्म के अज्ञानी होने की कल्पना कैसे की जा सकती है?

यदि अज्ञान के कारण ब्रह्म परिणामी होगा तो ब्रह्म के साथ अज्ञान भी नित्य हो जाएगा। ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों अज्ञानरूप हैं। प्रत्येक अवस्था में अज्ञान गुण है जो किसी द्रव्य के आश्रित रहेगा। यदि ब्रह्म में अज्ञान होगा तो गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध होने से न वह ब्रह्म को छोड़ सकेगा और न ब्रह्म उसको। ब्रह्म नित्य है, इसलिए उसका गुण होने से अज्ञान भी नित्य हो जाएगा। अविद्योपाधि के नित्य तथा ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी रहेगा। इस प्रकार अविद्या के कारण जन्म-मरण के बन्धन में रहनेवाले अथवा जीवरूप ब्रह्म को उपदेश देने का क्या लाभ? इस प्रकार ब्रह्म और जीव को तत्त्वतः एक माननेपर भेद का और तत्त्वतः भिन्न माननेपर एकत्व का उपदेश देना व्यर्थ है। गीता ने कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ —गीता २।१२

अर्थात् ऐसा कोई समय न था जब मैं या तू या ये राजा लोग नहीं थे और न कोई ऐसा समय होगा जब हम सब नहीं रहेंगे। गीता के इस श्लोक पर टीका करते हुए रामानुज ने लिखा है—"जिस प्रकार परमेश्वर नित्य है उसी प्रकार सब जीवात्मा नित्य हैं। जीवों का सर्वेश्वर परमात्मा से और जीवात्माओं का

उत्तर—यह तुम्हारे दोनों श्लोक अशुद्ध हैं, क्योंकि अविद्या के योग के विना जीव, और माया के योग के विना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे 'तच्चितोर्योगः' जो छठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा, क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया। और ब्रह्म माया और अविद्या के योग के विना ईश्वर नहीं बनता। फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिए दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं।

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि-कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता है कि जब अनन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे, तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता, और जब एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहाँ-जहाँ जाएगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा। तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे। और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जाएँगे। जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ, ब्रह्म की क्या हानि ? तो अखण्ड नहीं, और जो अखण्ड है तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध से रहेगा यदि ऐसा है तो समवायसम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता।

परस्पर एक दूसरे से भेद यथार्थ है। अज्ञानमोहित अर्जुन के प्रति अज्ञाननिवृत्ति के लिए पारमार्थिकरूप में जीवात्माओं की नित्यता का उपदेश करते समय 'अहम्, त्वम्, वयम्, इमे सर्वे' (मैं, तू, हम, ये सब) इन सब पदों का प्रयोग इसी प्रयोजन से किया गया है।'

अन्तःकरणोपाधि—जीवात्मा को ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब माननेपर ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की कल्पना अन्तःकरण में की जाती है। अन्तःकरण में ब्रह्म के उसी प्रदेश का आभास होगा जो उससे सम्बद्ध है। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह निरन्तर गतिशील रहता है। अन्तःकरण भी उसके साथ-साथ देशान्तर में जाता रहता है, परन्तु ब्रह्म अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि कूटस्थ होने से ब्रह्म सदा, सर्वत्र, समानरूप से विद्यमान है। अन्तःकरण के साथ-साथ आभास बदलता रहेगा, क्योंकि ब्रह्म स्वरूप से अचल एवं अखण्ड है और अन्तःकरण परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी होने से चलायमान तथा खण्ड-खण्ड है। इसलिए जैसे छाता जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ आवरण होने से छाया और जहाँ-जहाँ से हटता जाता है, वहाँ-वहाँ आवरण हट जाने से धूप होती रहती है, वैसे ही जहाँ-जहाँ अन्तःकरण जाएगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ज्ञानी होता रहेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक और स्वरूपतः पवित्र ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ते रहेंगे। परिणामतः अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीवरूप माननेपर नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म सदा दूषित होता रहेगा और जिस प्रकार शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने पर सारे शरीर में वेदना होती है, वैसे ही किसी एक अन्तःकरण में अनुभव होनेवाले सुख-दुःख, अज्ञान आदि से सम्पूर्ण ब्रह्म अभिभूत होगा। और जब सम्पूर्ण ब्रह्म दुःखी होगा तो उसका जीवभूत कोई भी अंश सुखी नहीं होगा, सब समानरूप से दुःखी होंगे। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से ब्रह्म के अन्तःकरणोपाधि से जीवरूप होने की कल्पना नितान्त मिथ्या है।

फिर, चिदाभास अपने ब्राह्मरूप को कैसे भूल सकता है ? वह किसी जड़ या अचेतन पदार्थ का नहीं,

और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान-सुख-दुःख-क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से[1] युक्त होगा, और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे ही कार्योपाधि अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न ? जो कहो व्यापक और उपाधि परिच्छिन्न है, अर्थात् एक देशी और पृथक्-पृथक् हैं, तो अन्तःकरण चलता फिरता है वा नहीं ?

[2]**उत्तर**—चलता फिरता है।

[3]**प्रश्न**—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता फिरता है, वा स्थिर रहता है ?

[4]**उत्तर**—स्थिर रहता है।

प्रश्न—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित, और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा। वैसे क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्ग होगा। और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं कर सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता, क्योंकि जिस समय देखा सुना था वह दूसरा देश और दूसरा काल, जिस समय स्मरण करता वह दूसरा देश और दूसरा काल है।

जो कहो कि ब्रह्म एक है। तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ? जो कहो कि अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा। तो वह[5] जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है। तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्र[6] द्वारा अल्प-अल्पज्ञ क्यों है ? इसलिए कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे।

किन्तु ईश्वर नाम ब्रह्म का है, और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है। जो तुम कहो कि जीव चिदाभास का नाम है, तो वह क्षणभङ्ग होने से नष्ट हो जाएगा तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा' इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ, न है और न होगा।

अपितु सच्चिदानन्दस्वरूप का प्रतिबिम्ब या आभास है। चिदाभास के सिद्धान्त के अनुसार, यदि ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर, एक स्थान पर जन्म मरण के बन्धन में आ जाता है तो अज्ञान के सर्वत्र व्याप्त हो जाने से सम्पूर्ण ब्रह्म जन्म-मरण के आवर्तमान चक्र में आये बिना न रहेगा। प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप हो जाने

---

१. 'युक्त...वैसे' यह पाठ सं० ३४ में है। सं० २ से यह पाछ छूटा हुआ है। इस छूट का कारण 'से' और 'वैसे' में समानाक्षर 'से' सम्बन्धी दृष्टि-दोष ही है। सं०३४ में इस पाठ से पूर्व 'अनुभव' के आगे 'से' पद छूटा है।
२. पूर्व सिद्धान्ती के उत्तर के अन्त में प्रश्न का निर्देश है, अतः यह उत्तर वेदान्ती का है।
३. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है।
४. यह उत्तर वेदान्ती का है।
५. वह अर्थात् अन्तःकरण।
६. उपलक्षक इन्द्रियमात्र को जानना चाहिए।

['अद्वैत' शब्द का अर्थ और उसकी सिद्धि]

प्रश्न—तो **'सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** —छान्दो०। अद्वैतसिद्धि कैसी होगी' हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जब जीव दूसरा है तो अद्वैतसिद्धि कैसे हो सकती है ?

से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उनके फलोपभोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि अभेदरूप से वे सब एक ब्रह्म हैं। अन्तःकरण चलायमान है, अतः चिदाभास क्षणभंगुर है। देखनेवाला अन्य होगा तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी प्रत्यभिज्ञा या अनुस्मृति कैसे होगी ? इसी प्रकार अभेदविचार से करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होगा। वस्तुतः ईश्वर ब्रह्म के अनेक नामों में से एक है, ब्रह्म से भिन्न उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, जबकि प्रत्येक जीव की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है।

सदेव सोम्येदमग्र०—अथर्ववेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ..... स एष एक एकवृदेक एव ॥

परमेश्वर के एक और अद्वितीय होने का जैसा स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त वर्णन इन मन्त्रों में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद से शून्य होने से उससे भिन्न, उसके समान या उससे बड़ी सत्ता का सर्वथा निषेध है। विभिन्न सम्प्रदायोंवाले परमेश्वर का जैसा वर्णन करते हैं, उससे वह दूसरा, तीसरा, चौथा आदि प्रतीत होने लगता है। उपर्युक्त मन्त्र में 'एक' शब्द का तीन बार प्रयोग होने से उसके किसी भी रूप में एक से अधिक होने का बलपूर्वक निषेध कर दिया गया है। प्रकारान्तर से इसके द्वारा उसके प्रतिनिधिरूप किसी अवतार आदि की पूजा का भी स्पष्ट निषेध हो जाता है। विवेच्य सन्दर्भ में ब्रह्म को **'एकमेवाद्वितीयम्'** कहकर उपनिषत्कार ने मानो अथर्ववेद के उक्त मन्त्र को सूत्रबद्ध कर दिया है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य होने के कारण परमात्मा एक है। एक वृक्ष अन्य वृक्षों का सजातीय और पत्थरों का विजातीय है तथा एक ही वृक्ष में उसके पत्तों, फलों और शाखाओं में विविधता का भेद उसका स्वगतभेद है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सजातीय तथा पश्वादि का विजातीय है। एक ही शरीर में आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों में जो भेद है, वह स्वगतभेद है। जीवात्मा, परमात्मा का सजातीय है, क्योंकि दोनों चेतन हैं और अनेक बातों में एक दूसरे के समान हैं। फिर भी परमात्मा का अपना वैशिष्ट्य है जिसके कारण वह जीवात्मा से भिन्न है। जहाँ जीवात्मा अनेक हैं, वहाँ परमात्मा एक है। कोई भी परमात्मा के समान नहीं। इसलिए ब्रह्म अथवा परमेश्वर एक है—अद्वितीय है। ब्रह्म के समान प्रकृति सत् है और नित्य है, किन्तु जड़ और परिणामिनी है। इसके विपरीत ब्रह्म चेतन एवं अपरिणामी है। इस प्रकार विजातीय प्रकृति से उसका वैशिष्ट्य होने से ब्रह्म अद्वितीय है। ब्रह्म निरवयव एवं अखण्ड है, इसलिए उसमें स्वगतभेद भी नहीं है। इस दृष्टि से भी वह अद्वितीय है। इस प्रकार उपनिषदों में **'एकमेवाद्वितीयम्'** में **'अद्वितीय'** से ब्रह्म का एक तथा अन्य पदार्थों से उसका विलक्षण होना सिद्ध है, किन्तु इससे ब्रह्मेतर अन्य पदार्थों का निषेध उपपन्न नहीं होता, अर्थात् उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है।

समूचे शरीर में एक ही आत्मा है जो उसका संचालन व नियन्त्रण करता है। इसी कारण शरीर का

उत्तर—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो ? 'विशेष्य-विशेषण' विद्या का ज्ञान करो कि उसका क्या फल है ? जो कहो कि—**'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति'** विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि—**'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति'** विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक भी होता है। तो समझो कि अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है। इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि अद्वैत वस्तु अर्थात् जो अनेक जीव और तत्व हैं, उनसे ब्रह्म को पृथक् करता है। और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि—ब्रह्म के एक होने की प्रवृति करता है। जैसे—'अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः; अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः' किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त, और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य, और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है, न्यून तो हैं और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ, पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता। वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं है, किन्तु न्यून तो हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है, और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा 'अद्वैत्' वा ' अद्वितीय' विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्य्यरूप जगत् का अभाव और निषेध नहीं हो सकता, किन्तु ये सब हैं, परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि और न द्वैतसिद्धि की हानि होती है। घबराहट में मत पड़ो, सोचो और समझो।

कार्य अबाध गति से चलता है। इतने विशाल और विलक्षण संसार का व्यवस्थितरूप में संचालन इसीलिए सम्भव है, क्योंकि उसका स्वामी तथा नियामक **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्म—**'पतिरेकः'** है। यदि शरीर में एक से अधिक जीवात्मा तथा ब्रह्माण्ड में एक से अधिक परमात्मा होते तो पौराणिक ब्रह्मा, विष्णु, महादेव की तरह आपस में लड़ मरते और अराजकता की स्थिति हो जाती।

अद्वैतसिद्धि—वस्तुतः 'द्वैत' न हो तो 'अद्वैत' की भी सिद्ध-सम्भव न हो सके। 'अद्वैत' पद 'द्वैत' का 'नञ्' (निषेध) के साथ समास होने से निष्पन्न होता है। इसलिए 'अद्वैत' के समझने-कहने के लिए 'द्वैत' को स्वीकार करना अनिवार्य है। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है—**'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्'**। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति कारणभाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। बिना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ—भेद। 'द्विता' से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'द्वैत' निष्पन्न होता है 'द्विता'='द्वैत' भेद नहीं है जिसमें वह 'अद्वैत' हुआ अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य=अद्वितीय ब्रह्म। इस प्रकार 'द्वैत' का प्रतिषेध ही 'अद्वैत' है। 'द्वैत' के प्रतिषेध के लिए पहले 'द्वैत' की सत्ता माननी होगी क्योंकि 'अद्वैत' का प्रादुर्भाव 'द्वैत' के बिना सम्भव नहीं।

अद्वैतवादियों के मत में यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है तो द्विताद्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में अद्वैत कहाँ रहेगा और कैसे ब्रह्म का विशेषण बनेगा ? यदि मिथ्या प्रपञ्चरूप जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से सिद्धि मानी जाएगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होनेवाला द्वैत भी मिथ्या होगा। तब उस मिथ्या द्वैत के अभाव या निषेध का द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ही बता रहा है कि कहीं 'द्वैत' = भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का ही निर्देश 'अद्वैत' शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में उसके साजात्य, वैजात्य, स्वगतभेदशून्य

[साधारण से साधर्म्य से एकता नहीं होती]

प्रश्न—ब्रह्म के सत् चित् आनन्द, और जीव के अस्ति, भाति, प्रियरूप से एकता होती है, फिर क्यों खण्डन करते हो।

उत्तर—किञ्चित साधर्म्य मिनलने से एकता नहीं हो सकती है जैसे पृथिवी जड़, दृश्य है, वैसे जल, अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती और इनमें वैधर्म्य=भेकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म, जैसे—गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस, द्रवत्व, कोमलत्वादि धर्म जल, और रूप, दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं।

जैसे मनुष्य और कीड़ी आँख से देखते, मुख से खाते और पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पद और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती। वैसे परमेश्वर के अनन्तज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल अल्पस्वरूप, सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं, क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।

होने से उसके अद्वितीय होने का द्योतक है। इससे जीव का अभाव या निषेध सिद्ध नहीं होता।

साधर्म्य-वैधर्म्य—ब्रह्म और जीव के चेतन और कुछ अन्य गुणों में समान होते हुए भी दोनों एक नहीं हो सकते, क्योंकि वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों का होना उनकी एकता में बाधक है। चीनी और नमक के रंग में समानता होनेपर भी चीनी की मिठास और नमक का खारापन चीनी का काम नमक से और नमक का काम चीनी से लिये जाने में बाधक है, अतः थोड़ी समानता पाये जाने से पदार्थों में अभिन्नता नहीं हो सकती। इसी प्रकार किंचित् साधर्म्य होनेपर भी वैधर्म्य के कारण जीव ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न होंगे।

द्वितीयाद्वै भयं भवति—बृहद्० उप० १।४।२ में यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

''सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेति स स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति। तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति॥

अर्थ—यह जीवात्मा अकेला ही था तथापि (सः अबिभेत्) वह डरने लगा (तस्मात् एकाकी बिभेति) इसी हेतु आज भी अकेला आदमी डरता है (स अयं ह) सो यह भयभीत आत्मा (ईक्षांचक्रे) ईक्षण अर्थात् विचार करने लगा (यद् मत् अन्यत् नास्ति) कि मुझसे अन्य तो यहाँ कोई है ही नहीं, (कस्मात् नु बिभेमि इति) फिर मैं क्यों डर रहा हूँ? इस प्रकार जब उसने विचारा तो उसका भय चला गया। अब भय का निराकरण करते हैं कि (द्वितीयाद् वै भयं भवति) दूसरे आदमी से भय होता है। पर दूसरा कोई था नहीं। तब (कस्माद् हि अभेष्यत्) क्यों डरेगा?

पहले कहा—**'एकाकी बिभेति'**—अकेला डरता है। फिर कहा—**'द्वितीयाद् वै भयं भवति'** दूसरे से भय होता है। यदि दूसरे से भय होता है तो पहले क्यों डरता था जब दूसरा कोई था ही नहीं। इसी प्रकार पहले अकेला था तो डरता था। फिर जब उसका अकेलापन दूर हो गया तो दूसरे से क्यों डरने लगा? इस रहस्य को समझने के लिए उपनिषदों की शैली को हृदयङ्गम करना आवश्यक है।

दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषद् में भावात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में अलंकारिता और रहस्यात्मकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यंजना का प्राचुर्य

[भय का कारण अद्वैत बुद्धि]

प्रश्न—

'अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' । —तै. उप. ब्रह्म० ७

'द्वितीयाद् वै भयं भवति' ॥ —यह बृहदारण्यक (१।४।२) का वचन है ।

[अर्थः—] जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि दूसरे ही से भय होता है ॥

उत्तर—इसका [1]अर्थ यह नहीं है, किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध, वा किसी एक देश-काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि 'द्वितीय बुद्धि' अर्थात् ईश्वर का मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि तुझको मैं कुछ नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता, वा किसी की हानि करता और दुःख देता जाए, तो उसको उनसे भय होता है । और सब प्रकार का अविरोध हो, तो वे एक कहाते हैं । जैसा संसार में कहते हैं कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं, अर्थात् अविरुद्ध हैं । विरोध न रहने से सुख, और विरोध से दुःख प्राप्त होता है ।

है । परिणामतः दर्शनों तथा उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक दूसरे से भिन्न है । जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है । जब मनुष्य त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धनों से छूटकर सारे संसार को अपना घर समझने लगता है (**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**—यजुः०३२।८) उस अवस्था में उसका प्राणिमात्र से ऐकात्म्य-सा हो जाता है । तब वह हार की मणियों के परस्पर भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनमें अनुस्यूत सूत्र के समान सृष्टि के वैविध्य में ओत-प्रोत एक आत्मा का दर्शन करने लगता है । तब उसके लिए कोई दूसरा--पराया नहीं रह जाता । किसी से राग-द्वेष न होने के कारण न वह किसी से डरता है और न कोई उससे डरता है । **'द्वितीयाद् वै भयम् भवति'** का यही अभिप्राय है ।

ईश्वर में इच्छा—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है । अथर्ववेद (१०।८।४४) में उसे **'अकामः ..... रसेन तृप्तः कुतश्चन नोनः'** अर्थात् स्वार्थकामना से रहित, आनन्द से तृप्त तथा हर प्रकार से पूर्ण (कहीं से न्यून नहीं) कहा गया है । फिर जगद्रचना किस लिए ? **'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते'**—कोई भी समझदार मनुष्य बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता ।

वस्तुत प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है । कुछ पुरुषार्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति अथवा सुख-समृद्धि के लिए करता है और कुछ दूसरों के लिए । परोपकारप्रिय चेतन स्वभाव से परसेवा-निरत होता है । अनेक निरीह, निष्काम एवं निःस्पृह व्यक्ति दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं । वहाँ निजी प्रयोजन प्रायः कुछ नहीं रहता । जहाँ लोग अपने रहने के लिए मकान बनवाते हैं वहाँ दूसरों की सुविधा के लिए भी निर्माण करवाते हैं । जहाँ लोग अपने घर में नल लगवाते हैं या कुँआ बनवाते हैं वहाँ राजमार्गों तथा सार्वजनिक स्थानों पर दूसरों की प्यास बुझाने के लिए भी कुएँ बनवाते हैं । सार्वजनिक औषधालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों आदि के बनवाने में भी लोग इसी भावना से प्रवृत्त होते

---

१. 'अर्थ यह...जीव' इस पाठ के स्थान में 'अर्थ यह नहीं है कि जो जीव' यह पाठ है ।

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी हेते हैं, वा नहीं ?

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्त्त द्रव्य जड़त्व होने से, और कभी पृथक् न रहने से एकता। और आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप अनन्त आदि गुण, और मूर्त्त के परिच्छिन्न, दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते, क्योंकि 'अन्वय' अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता, और 'व्यतिरेक' अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, और स्वरूप से एक भी नहीं होते।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी, लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं। जब घर बन गया तब भी आकाश में है, और जब वह नष्ट हो गया, अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये, तब भी आकाश में हैं, अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, न हैं और न कभी होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्त होने से परमात्मा से तीनों कालों में अभिन्न और स्वरूप से भिन्न होने से एक कभी नहीं होते। आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़के व्यतिरेकभाक से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुण-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य-विशेषण भाव न हो।

[ईश्वर सगुण भी है, और निर्गुण भी]

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर—दोनों प्रकार है।

हैं। उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। ईश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है, न ही उसकी कोई अतृप्त इच्छा है। इसलिए ईश्वर के पक्ष में किसी प्रकार के प्रयोजन का निर्देश नहीं किया जा सकता। सृष्टि रचना का उद्देश्य जीवों के पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित सामग्री उपस्थित करना है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा के हिताहित का विचार करके अपेक्षित व्यवस्था करता है, उसी प्रकार प्रजापति परमेश्वर प्राणियों के हिताहित का विचार करके सृष्टिनिर्माण की व्यवस्था करता है।

वेद ईश्वर से प्रकाशित हुए

यस्मादृचो अपातक्षन्०—इस मन्त्र का भाग 'कतमः स्विदेव सः' इस सूक्त के कई मन्त्रों में आता है। इसका पदपाठ है—**'कतमः, स्वित्, एव, सः'**। ग्रन्थकार ने यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदोत्पत्तिविषय व ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय) तथा पञ्चमहायज्ञविधि में भी उद्‌धृत किया है। ऋ०भा०भू० में उपलब्ध व्याख्यान को देखकर लगता है कि ग्रन्थाकार को **'कतमः स्विद् देवः सः'** पाठ मान्य है। वहाँ इस मन्त्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—

''(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद

प्रश्न—भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं ? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है ?

उत्तर—जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं, और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं, और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं, इसलिए **यद् गुणैस्सह वर्त्तमानं तत् 'सगुणम्'; गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तत् 'निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित वह **'सगुण'** और गुणों से रहित वह **'निर्गुण'** कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित, और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो, किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त-ज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से **'सगुण'** और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से **'निर्गुण'** कहाता है।

[निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहना ठीक नहीं]

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण, और साकार को सगुण कहते हैं, अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब **'निर्गुण'**, और जब अवतार लेता है तब **'सगुण'** कहाता है।

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बर्ड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए।

[ईश्वर न रागी है, और न विरक्त]

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों में नहीं, क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है, इसलिए उसमें राग का सम्भव नहीं और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए **'विरक्त'** भी नहीं।

[ईश्वर में इच्छा का संभव नहीं]

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं ?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं। [जैसी जीवों में देखी जाती है।]

क्योंकि **इच्छा** भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे [उसकी होती है]। तो ईश्वर में इच्छा [कैसे] हो सके ? न उसे कोई अप्राप्त पदार्थ, और न कोई उससे उत्तम है और पूर्णसुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी उसे नहीं है। इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु **'ईक्षण'** अर्थात् जो सब प्रकार की विद्या का दर्शन, और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह **'ईक्षण'** है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग बहुत विस्तरण कर लेगें।

हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाई है। (ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं, सो कौन-सा देव है, उसको तुम मुझसे कहो ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं त०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है। उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी

[वेद ईश्वर से प्रकाशित हुए]

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भ तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ [१॥]

—अथर्व०कां० १० । प्रपा २३ । अनु० ४। मं० २०(१०।७।२०)

[अर्थः—] जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है ? इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है [॥१॥]

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकर परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है [॥२॥]

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो, वा साकार ?

उत्तर—निराकार मानते हैं ।

जानो कि उसको छोड़के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा मनुष्य कौन है जो वेदों के कर्ता, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़के दूसरे को परमेश्वर मानके उपासना करे ।''

इस मन्त्र में यजुः और ऋक् के रूपक के विषय में कुछ नहीं कहा है । पुनरपि ग्रन्थकार ने इनके रूपकों का सम्बन्ध अथर्ववेद ६।६।१-२ के **'परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् । सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते'** मन्त्रों के आधार पर दर्शाया है । इसमें यजुः का हृदयत्व तो स्पष्ट है, परन्तु ऋक् का प्राणत्व स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है । मन्त्र में ऋक् के साथ **'अनूक्य'** शब्द का निर्देश है । सायण ने **'अनूक्य'** का अर्थ **'अस्थिसन्धि'** किया है, परन्तु यह अर्थ **'परूंषि'** से गतार्थ मानकर ग्रन्थकार ने **'अनूक्य'** शब्द का **'अनूच्यते समवाप्यते इति'** ऐसा यौगिक अर्थ मानकर 'प्राण' अर्थ स्वीकार किया प्रतीत होता है ।

'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इस मन्त्र में **'अपातक्षन्'** तथा **'अपाकषन्'** दोनों ही क्रियाओं से सामान्यतया वेदों के प्रादुर्भाव का अर्थ ही अभीष्ट है । **'अपातक्षन्'** क्रिया से समुत्पन्न ऋग्वेद के मन्त्रों में स्तुति विद्याओं की सूक्ष्मता द्योतित है । **'अपाकषन्'** क्रिया से सत्कर्मबोधक यजुर्वेद के ज्ञान के कषण में व्यवहार का परीक्षण सूचित होता है । इस प्रकार यहाँ अनेक धातुओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थ के द्वारा विभिन्न विद्याओं के द्योतन के लिए है । एक ही अर्थ में विभिन्न धातुओं का और अनेकार्थवाची एक धातु का प्रयोग वेद में काव्यसौष्ठव-प्रदर्शन के लिए है । परमात्मा के द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं है । काटने के अर्थ में तक्षण और छीलने के अर्थ में कषण यहाँ संगत नहीं । ब्रह्म में अंशांशिभावकल्पना व्यर्थ है । जिस प्रकार काटना और छीलना काष्ठ में सम्भव है, उस प्रकार परमात्मा में नहीं हो सकता । कूटस्थ तथा निरवयव परमात्मा में तक्षणादि क्रिया सम्भव नहीं । ब्रह्म सृष्टि का निमित्तकारण है, निमित्तोपादानकारण नहीं, अतः ब्रह्म के अंशरूप में वेदों के प्रादुर्भाव की कल्पना नहीं हो सकती ।

स्कम्भ (स्कम्भ+घञ्) का अर्थ है टेक । हिन्दी का खम्भा शब्द इसी स्कम्भ से विकसित हुआ प्रतीत होता है, अतः यहाँ लाक्षणिकरूप से स्कम्भ का अर्थ है आलम्ब या आधार । आप्टे ने अपने कोश में इसका एक अर्थ परमेश्वर किया है । उस ईश्वर से वेद का प्रादुर्भाव होने से वही उसका आलम्ब या आधार

है। यहाँ वेद से केवल मन्त्रसंहिता से तात्पर्य है। उसमें ब्राह्मणग्रन्थों का अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि ये तो वेदों के व्याख्यानग्रन्थ हैं। व्याख्यानग्रन्थ कभी मूलग्रन्थ नहीं होता। सायणाचार्य ने काण्वसंहिताभाष्य में कितना स्पष्ट कहा है—**'तत्र शतपथब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभवित्वात् प्रथमो भवति '** —अर्थात् शतपथब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यानरूप है, व्याख्येयमन्त्रों का प्रतिपादक संहिताग्रन्थ है, जो पूर्व होने के कारण प्रथम है। इस प्रकार व्याख्येय और व्याख्यानग्रन्थ की एकरूपता तथा एककालिकता न होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं।

वेदान्तसूत्र (**शास्त्रयोनित्वात्**—१।१।३) के भाष्य में शंकराचार्य ने लिखा है—**'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति'**—अर्थात् अनेक विद्या स्थानों से सम्पन्न दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाश करने में समर्थ महान् ऋग्वेदादिशास्त्र का योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर अन्य किसी से सम्भव नहीं। **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** (गीता ३।१५) की व्याख्या में शंकर लिखते हैं—**'अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः'** अर्थात् अक्षर (परमात्मा) उत्पत्तिस्थान है जिसका ऐसा ब्रह्म अर्थात् वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ। वस्तुतः वेद की न उत्पत्ति होती है, न विनाश। मात्र अभिव्यक्ति और कारण (ब्रह्म) में विलय होता है। वेदान्तसूत्र **'अतएव च नित्यत्वम्'** (१।३।२६) का भाष्य करते हुए शंकर ने महाभारत से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥
सेतिहासानित्येतिहासयुक्तानित्यर्थः।

'पूर्वे कल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढास्तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष।' **मनु० १।२३, कुल्लूकभट्टटीका।**

अर्थात्—जो पूर्वकल्प में थे, वे ही वर्तमान कल्प के आदि में अग्नि आदि ऋषियों से प्रादुर्भूत हुए।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ —गीता ८।१८

सृष्टिरचना की सारी व्यवस्थाएँ प्रत्येक सर्ग में समान रहती हैं। स्वयं भगवान् की घोषणा है—**'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** (ऋग्० १०।१९०।३)। परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्वकल्प के समान बनाया है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा उपलक्षणार्थ हैं। महाप्रलय के अनन्तर जब सर्ग की आवृत्ति होती है—पुनः सृष्टिरचना होती है तो वह पहली सृष्टि के समान होती है। जब सृष्टि पहले जैसी होगी तो उसका विधान कैसे भिन्न हो सकता है? वास्तव में वेदों के ईश्वर में अविच्छिन्नरूप से स्थित होने से प्रलयकाल में भी वेदज्ञान के प्रलय न होने के कारण स्वरूपनित्यता है। प्रलय सृष्टि की होती है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर का ज्ञान सदा बना रहता है। इसीलिए मेधातिथि कहते हैं—**''नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि'।** **न्यायभाष्यकार का कथन है—'मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्'** अर्थात् अतीत या अनागत मन्वन्तर या युगान्तरों से वेद अविच्छिन्न चले आ रहे हैं। योगदर्शन के भाष्यकार व्यासमुनि **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (योग० १।२७) की व्याख्या में कहते

हैं—**'सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते'** अर्थात् प्रत्येक सर्ग में उसी वाच्यवाचक शक्ति के आधारपर संकेत किया जाता है। ईश्वरीय ज्ञान प्रकृति की विकृतिरूप सृष्टि की अपेक्षा नहीं रखता। **'न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि'**—अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेदों के स्वतन्त्ररूप से बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। उन्हें नित्य मानकर **'अनादिनिधना वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा'**—परमात्मा द्वारा निर्मित न कहकर **'उत्सृष्ट'** कहने का यही अभिप्राय है कि वेद उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत जो प्रलयकाल में व्यवहृत न होने से अव्यक्त हो जाते हैं, वे ही सर्गकाल में व्यक्त हो जाते हैं।

'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः (ऋ० १।१६४।३९)—जिस अविनाशी परमात्मा में सर्वविद्यामय ऋगादि चारों वेद और सूर्यादि लोक स्थित हैं, इस प्रमाण से स्पष्ट है कि परमेश्वर के ज्ञान में वे वेद सदा वर्त्तमान रहते हैं। सर्गकाल में उनका प्रादुर्भाव तथा प्रलयकाल में अपने कारण (ब्रह्म) में विलय होने से तिरोभाव होता है। पुस्तकादि के रूप में अनित्य होनेपर भी ज्ञान के रूप में वेदों की नित्यता अक्षत है।

स्वयंभूः—यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

इस मन्त्र में परमात्मा की एक संज्ञा **'कवि'** है। **'कु शब्दे'** इस धातु से कवि शब्द सिद्ध होता है। परमात्मा सृष्टि के आदि में वेद के द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा होने से कवि कहाता है। उणादिसूत्र **'अच इः'** (४।११४) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि मेधावी, विद्वान्, क्रान्तदर्शी और सब विद्याओं का उपदेष्टा होने के कारण परमात्मा की कवि संज्ञा है—**'कौति शब्दयति उपदिशति स कविः—मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा।'** आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश कवि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'कविः मेधावी क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा'**—निरुक्त १२।७—मेधावी को कवि इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह क्रान्तदर्शी होता है। निरुक्त के व्याख्याकारों ने कवि का अर्थ सर्वज्ञ किया है—**'क्रान्तं दूरगतदर्शनं प्रकाशस्य विज्ञानस्य, अवगन्ता या सर्वस्य ज्ञाता।'** सर्वद्राष्टा होने से भगवान् कवि है। बृहद० उप० में इसी अर्थ का ग्रहण करके कहा है कि उस ईश्वर के सिवा कोई विज्ञाता=सर्वज्ञ नहीं है—**'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'** (बृहद० ३।७।२३)। एक निर्वचन के अनुसार क्रान्त अर्थात् अतीत-अनागत का ज्ञाता होने से भगवान् कवि कहाता है—**'क्रान्तं वेत्तीति कविः'**। यजुर्वेद के प्रायः सभी भाष्यकारों ने यही निर्वचन किया है।

उस महाकवि के काव्य के सम्बन्ध में अथर्ववेद (१०।८।३२) में कहा है—**'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** अर्थात् प्रभु का काव्य न नष्ट होता है और न पुराना पड़ता है। उस काव्य के दो रूप हैं—एक शब्दरूप जिसे वेद कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं। एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं—एक पर पद अंकित हैं और दूसरे पर पदार्थ। पहला **'न ममार न जीर्यति'**—अजर-अमर है, जबकि दूसरा नित्य परिवर्त्तनशील।

वेद के ईश्वरीय रचना होने में कणाद ने यह तर्क दिया है कि धर्मपदवाच्य पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है, उसका विवरण उसी रूप में वेदों में पाया जाता है। यह

[जीवों को अन्तर्यामीरूप से वेदोपदेश]

प्रश्न—जब निराकार है, तो वेद-विद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादिस्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए ।

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद-विद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख-जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है, कुछ अपने लिए नहीं, क्योंकि मुख-जिह्वा के व्यापार करे विना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है । कानों को अङ्गुलियों से मूँदके देखो कि विना मुख-जिह्वा-ताल्वादि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं । वैसे जीवों को अन्तर्यामिरूप से उपदेश किया है, किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिए उच्चारण करने की आवश्यकता है ।

मान लेनेपर कि इस नामरूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना होगा कि इसकी प्रक्रिया को भी वही जानता है, न बनानेवाला मानव नहीं । इससे स्पष्ट है कि ईश्वररचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन वेद में उपलब्ध है । जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का अथवा एक वैद्य किसी ओषधि का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिए एक ग्रन्थ की रचना करता है तो दोनों में सामंजस्य होनेपर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्तज्ञान है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है । विश्व की नामरूपात्मक रचना उभयविध रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है । अतएव दोनों में पूर्ण सामंजस्य है । शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और प्रतिभाशाली मानव के द्वारा सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा होती है । दोनों में पूर्ण सामंजस्य होने से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में कोई बात सृष्टिक्रम के विपरीत नहीं है । इसी आधारपर ग्रन्थकार ने लिखा है कि स्वयम्भू परमेश्वर अपनी सनातन प्रजा (जीवों) के लिए 'यथावत् रीति' से (याथातथ्य) वेद द्वारा सब विद्याओं का प्रकाश करता है ।

'स्वयं' पूर्वक **'भू सत्तायाम्'** धातु से **'स्वयम्भू'** शब्द सिद्ध होता है । जो आपसे आप है—अपनी सत्ता या अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं, वह स्वयम्भू कहाता है । निघण्टु के व्याख्याता देवराज यज्वा इस शब्द पर लिखते हैं—**'स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते'** (निघण्टुटीका १।३।११)—जिसे कोई उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयं ही है, इसलिए स्वयम्भू है ।

निराकार ईश्वर से वेदज्ञान का संक्रमण

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है । वाणी से शब्दोच्चारण की आवश्यकता अपने से भिन्न व्यक्ति को बोध कराने के लिए होती है, अर्थात् जब उपदेश्य और उपदेष्टा में दूरी हो तो भाव-संक्रमण के लिए वर्णोच्चारण की अपेक्षा होती है, परन्तु जब अपने-आपसे बात करनी होती है, अर्थात् जब हम चुपचाप बैठकर किसी विषय का चिन्तन करते हैं तो उस समय के संकल्प-विकल्प अथवा प्रश्नोत्तर की शृंखला में कण्ठ-तालु-जिह्वा आदि के व्यापार के बिना ही हमारे मन में सूक्ष्मरूप में भाषा बोली जा रही होती है । वह मन-ही-मन बोली जा रही सूक्ष्म भाषा हमारे द्वारा बोली जानेवाली स्थूल भाषा के संस्कारों के स्मृतिरूप होती है । सृष्टि के आदि में जब परमात्मा ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है तो अन्तर्यामी होने के कारण वहाँ विद्यमान होता हुआ उनकी आत्मा में वेद और उसकी भाषा के संस्कार डालकर उन्हें उद्बुद्ध कर देता है । तब अर्थों को जानते हुए उस शब्दराशि को वे ऐसे ही उच्चारण करने लगते हैं जैसे कोई व्यक्ति

पूर्वाभ्यस्त वाक्यों को निद्रा से जागकर उच्चारण करता है। यह समस्त प्रक्रिया जीवात्मा के मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश में होती है। वहीं पर स्थित परमेश्वर से जीवात्मा को यह प्रेरणा प्राप्त होती है, अतः शब्दों के उच्चारण द्वारा उपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एक आत्मा के द्वारा दूसरी आत्मा में भावों का इस प्रकार संक्रमण किया जाना कोई अलौकिक प्रक्रिया (Process) नहीं है। मैस्मेरिज़म (Mesmerism) एक अत्यन्त निम्न स्तर की सिद्धि है। ध्यान की एकाग्रता द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करनेवाली इस विद्या को जाननेवाला अपनी संकल्पशक्ति से दूसरे व्यक्ति को मैस्मेरिज़म द्वारा अपने वश में करके उससे जो चाहे करा सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा मैस्मेरिज़म करनेवाला अपनी भाषा को दूसरे के मन में संक्रमित कर देता है। इस प्रकार जिस भाषा को प्रयोजक जानता है, उसे वह उससे सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति से बुलवा सकता है। कालिज के अनपढ़ चपरासी से अंग्रेजी और जर्मन भाषा में भाषण कराते देखा गया है। जब एक सामान्य जन अभ्यास के द्वारा मनोबल से अपनी सुप्त शक्तियों को जाग्रत् करके अपने विशिष्ट सामर्थ्य से अपने से भिन्न व्यक्ति के मन में अपनी भाषा और भावों को संक्रमित कर सकता है और प्रभावित व्यक्ति प्रयोजक अथवा संक्राता की इच्छानुसार व्यवहार करने को विवश हो जाता है तो जीवात्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा के द्वारा तो ज्ञान का संक्रमण करना अनायास ही सर्वथा सम्भव है। फिर, सर्ग के आदि में जिन चार ऋषियों की आत्मा में वह ज्ञान का संक्रमण करता है, वे तो विशिष्ट संस्कारी आत्मा होते हैं, मानो वेद को प्रकट करने के लिए ही माध्यम के रूप में उनका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अपना ज्ञान देने के लिए सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को मुख, जिह्वा आदि अवयवों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जैसे परमेश्वर बया नामक चिड़िया को सुन्दर घोंसला बनाने का ज्ञान देता है; जैसे वह मधुमक्खी को अनेक कोष्ठयुक्त छत्ता बनाने और शहद बनाने की रासायनिक प्रक्रिया का ज्ञान देता है; जैसे वह मछली और बछड़े को तैरना और बन्दर को उछलना-कूदना सिखाता है, मोर को नाचना और नवजात शिशु को स्तनपान करना सिखाता है, वैसे ही वह मनुष्य को उसके लिए अपेक्षित वेदरूपी ज्ञान प्रदान करता है।

इन्द्रियों—हाथ-पैर के न होते हुए भी निराकार (अशरीरी) पमेश्वर सृष्टि की रचना करता है। साधनरूप में हाथ, पैर आदि अंगों की आवश्यकता अपने से बाहर क्रिया करने के लिए होती है। सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् प्रभु के विराट् शरीर में स्थित है और वह प्रभु भी सबके भीतर ओत-प्रोत है। जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने असीम सामर्थ्य से बिना हाथ-पैर के अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है, उसके लिए बिना वाणी के ऋषियों के मस्तिष्क में ज्ञान का संक्रमण करना अत्यन्त साधारण बात है।

आगमशास्त्रों के अनुसार वाणी के चार रूप हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें **'परा'** तो आत्मा की मुख्य शक्तिरूप है, उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। **'पश्यन्ती'** वह वाक् है जिसमें शब्द और अर्थ एक रूप में रहते हैं, दोनों का विभाग नहीं होता। उसे केवल प्रकाशरूप कहकर वर्णन किया गया है। **'मध्यमा'** में शब्द और अर्थ का विभाग होता है, किन्तु शब्द मन-ही-मन मँडराते रहते हैं, कण्ठ-तालु आदि का कोई व्यापार नहीं होता और न उन शब्दों को कोई सुन सकता है। लोक में इसे मन-ही-मन बात करना कहते हैं। चौथी 'वैखरी' कहलाती है। यह दो भागों में विभक्त है—एक **'उपांशु'** भाषण अर्थात् काना-फूँसी और दूसरा 'उच्चैः स्वर' का भाषण जिसे सब कोई सुन सकते हैं। इनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा में कण्ठ-तालु का व्यापार अपेक्षित नहीं होता। ईश्वर की वाणी मुखर नहीं होती।

जिन ऋषियों के मन राजस्-तामस् वृत्तियों से असम्पृक्त होते हैं वे जब अपने निर्मल, स्वच्छ, निर्दोष चित्त को परमेश्वर की सर्वज्ञता में 'तत्स्थ' करते हैं तो उनके स्फटिकमणितुल्य चित्त में परमेश्वर का ज्ञान अंकित होता चला जाता है। इस प्रकार मध्यमा वाक् द्वारा वेद उन ऋषियों को प्राप्त हुए। परमेश्वर को बोलने के लिए न वाणी की आवश्यकता हुई और न ऋषियों को सुनने के लिए कानों की। ऋषियों ने वैखरी वाणी द्वारा वेदों को लोक में प्रसारित कर दिया। ऋग्वेद (१०।७१।३) में कहा है—**'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्'** अर्थात् ऋषियों में प्रविष्ट वाणी को मनुष्यों ने ग्रहण किया।

अविद्या और मोह के आवरण का नाश होनेपर, जब आत्मशक्ति का पूर्ण विकास होता है तब परमात्मा की ज्योति के प्रकाश में आत्मा द्वारा आनन्द-कोष की प्राप्ति होनेपर ज्ञानमयी परा वाणी की शब्दानुभूति होती है। उसके आगे पश्यन्ती, फिर मध्यमा और अन्त में वैखरी वाणी का रूप उद्भूत होता है। अनन्त एकरस जगद्व्यापी परमात्मा में परा-वाणीरूप वेदमन्त्र सदा वर्त्तमान रहते हैं। परमात्मा से मिलनेपर जीवात्मा योग में उसके स्वाभाविक गुण आनन्द में लीन परा-वाणी की अनुभूति करते हैं। इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य शंकर ने वेदान्तभाष्य में लिखा है—'अभीष्ट अर्थ का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य उस अर्थ के वाचक शब्द को पहले स्मरण करके फिर उसका अनुष्ठान करता है—यह हम सबको प्रत्यक्ष है। प्रजापति स्रष्टा को भी सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्द प्रकट हुए थे। तत्पश्चात् तदनुसार अर्थों की सृष्टि की, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए ताल्वादि की सहायता के बिना ही शब्द की अनुभूति हुई—यह मत सयुक्तिक और सप्रमाण है।

अग्नेर्वा ऋग्वेदः—शतपथब्राह्मणान्तर्गत यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

''प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत्। एकऽएव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्त्रयो लोकाऽअसृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः ॥१॥

स इमांस्त्रींल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः ॥२॥

सऽइमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदाऽअजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥३॥

स इमांस्त्रीन्वेदानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद् भुवऽइति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम [६।१५।८।६-४]

अर्थ—वह अकेला, प्रजापति ही था। उसने चाहा कि मैं सन्तानवाला हो जाऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। उसके श्रम और तप से तीन लोक उत्पन्न हुए—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ॥१॥ उसने इन तीन लोकों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं—पहली अग्नि, दूसरी वह जो बहती है, वायु और सूर्य ॥२॥ उसने इन तीन ज्योतियों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन वेद उत्पन्न हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद ॥३॥ उसने इन तीन वेदों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। ऋग्वेद से होत्र को बनाया, यजुर्वेद से अध्वर्यव को, सामवेद से उद्गीथ को। त्रयी विद्या में जो शुक्र था उससे ब्रह्मत्व निकला ॥४॥

इस प्रकार सृष्टिरचना के मध्य मानवोत्पत्ति के साथ ही परमेश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा के माध्यम से चारों वेदों का प्रकाश किया। अग्नि आदि नामों से अभिहित भौतिक पदार्थों का

जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है, फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है इसलिए ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।

[किनके आत्मा में और कब वेदों का प्रकाश हुआ]

प्रश्न—किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

उत्तर—**'अग्नेर्वा ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः'** ॥ —शत० ११।५।८।३

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों[१] के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया ॥

[चार ऋषियों से ब्रह्मा को वेद प्राप्त हुए]

प्रश्न—**'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** ।

—यह उपनिषद् (श्वेता० ६।१८) का वचन है।

इस वचन से ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा ?

ग्रहण करके उनमें अलौकिक देवत्व की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि जड़ पदार्थ ज्ञान के ग्रहण करने, उसका व्याख्यान तथा प्रवचन करने और उसका दूसरों में संक्रमण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। काव्यशास्त्र का सिद्धान्त है—**'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**—जहाँ, मुख्य, प्रसिद्ध अर्थात् अभिधार्थ सम्भव नहीं होता, वहाँ लक्षणा से काम लिया जाता है। जो अर्थ जिस शब्द या पद का वाच्य नहीं है, उस अर्थ के लिए भी विशेष कारण से उसका प्रयोग होता है। वेद के शब्द यौगिक (धातुज) अथवा योगरूढ़ हैं। इस बात को ध्यान में रखकर ही उनके अर्थ किये जाने चाहिएँ। अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ईश्वरीय प्रेरणा से उसके ज्ञान को प्राप्त करनेवाले मानवदेहधारी विशिष्ट जीव थे। इस विषय में सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में लिखा है—**'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्'** अर्थात् सायण ने भी अग्नि, वायु आदि को जीवविशेष ही माना है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेत० ६।१८) के आधार पर कहा जाता है कि सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश ब्रह्माजी के हृदय में किया था और ब्रह्माजी से अग्नि आदि ऋषियों ने प्राप्त किया था। इस प्रसंग में ग्रन्थकार द्वारा मनुस्मृति से उद्धृत श्लोक विवेच्य हैं। मनुस्मृति के अन्यान्य संस्करणों में प्रायः **'त्रयं ब्रह्मा सनातनम्'** पाठ मिलता है, जबकि ग्रन्थकार ने यहाँ भी और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी **'त्रयं ब्रह्म सनातनम्'** पाठ दिया है, परन्तु अर्थ उभयत्र 'ब्रह्मा' पाठानुसारी है। उद्धृत श्लोक में प्रथमाविभक्त्यन्त कर्ता **'ब्रह्मा'** है। और **'अग्निवायुरविभ्यः'** पञ्चम्यन्त प्रयोग है। इससे 'ब्रह्मा ने' 'अग्नि आदि से', न कि 'अग्नि आदि ने' 'ब्रह्मा से' अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। और फिर चतुर्मुख ब्रह्मा का तो यहाँ दूर तक प्रसंग नहीं है।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार का निम्न वक्तव्य द्रष्टव्य है—

---

१. सायणाचार्य ने भी 'ऋग्भाष्योपक्रमणिका' में उक्त वचन को उद्धृत करके अग्नि, वायु, सूर्य=आदित्य को जीवविशेष कहा है—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्'।

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो मनुस्मृति में क्या लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म[1] सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

—मनु० १।२३

जिस परमात्मा ने आदिसृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं, इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे, इसलिए पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया।

"वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई, ऐसा आजकल के पण्डित कहते हैं। परन्तु भाई! इसमें उनकी भूल है, क्योंकि मनुजी ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया। ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच उनके चार ही मुख होंगे। यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो फिर ब्रह्माजी को सचमुच बड़ा ही दुःख हुआ होता और फिर बेचारे सुख से कैसे सोते? तो ऐसा नहीं है, किन्तु **'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः'** ऐसा समास करना चाहिए। प्रथमारम्भ में ईश्वरज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुए और ब्रह्माजी ने उनसे सीखे और पश्चात् उन्होंने सारी दुनियाभर में फैलाये और उनसे मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ। अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इसपर कोई कहेगा कि आदि में ये चार ऋषि ही क्यों थे, अधिक क्यों न थे, तो ये शंकाएँ पाँच या तीन होते, तब भी बनी रहतीं।" —पूनाप्रवचन ५, १३ जुलाई १८७५।

मनु और शतपथब्राह्मण के पूर्वोद्धृत वचनों में ऋग्, यजुः, और साम नाम से तीन वेदों का वर्णन किया, जबकि चार वेदों का होना प्रसिद्ध है। इसमें क्या रहस्य है? वस्तुतस्तु वेद चार ही है। मनु का ऋग्, यजुः, सामरूप वेदत्रयी सप्रयोजन है। यज्ञ में विनियोगार्थ, जैसाकि उसके 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्' शब्दों से स्पष्ट है, वेदों को तीन कहा गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने भी लिखा है—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

शतपथ के वचन में भी ऋग्, यजुः, साम त्रयीविद्या की दृष्टि से कथन है। अथर्ववेद भी चतुर्थ वेद है। उक्त दोनों बातों के लिए प्रमाण है—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा॥ —महा० शान्ति १३५

अर्थात्—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद चार हैं, पर इनमें त्रयीविद्या का प्रतिपादन है। यह बात महाभारत में ही नहीं है, ब्राह्मणग्रन्थों में भी त्रयीविद्या का उल्लेख मिलता है।

---

१. मनु० में 'ब्रह्मा' पाठान्तर भी है। ग्रन्थकार ने यहाँ तथा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' (पृष्ठ २१.२२) में इस श्लोक का जो अर्थ किया है, वह 'ब्रह्मा' पाठानुसारी है। दोनों ग्रन्थों में उद्धृत पाठ में 'ब्रह्म' शब्द ही है।

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ॥ —ऐत० ब्रा० २५|८

इसी प्रकार—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुःशब्दः ॥—मीमांसा २|१|३५-३७

अतः शतपथ के उक्त वचन में ऋग्, यजुः, साम का कथन त्रयीविद्या की दृष्टि से ही किया गया है । अन्यत्र उसी शतपथब्राह्मण में अथर्ववेदसहित चारों वेदों का वर्णन आया है—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।

—शत० १४|५|४|१०; बृहद्०उप० ४|५|४|११

यस्मादृचो० इत्यादि के अतिरिक्त प्रमाण—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ —अथर्व० ११|८|२३

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् । —अथर्व० १५|६|८

ब्रह्म नाम अथर्ववेद का है, इसमें प्रमाण है—

चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः । —गोपथ०पूर्व०१|१६
ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वम् ।

—गोपथ ५|१६

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दा ऽं सि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।

—ऋग्० १०|९०|९; अथर्व० १९|६|१३; यजुः० ३१|९

अथर्ववेद के लिए पूर्वप्रयुक्त अथर्वाङ्गिरस् और ब्रह्म शब्द के समान यहाँ ऋग्० यजुः०, साम के साथ छन्द शब्द अथर्ववेद के लिए आया है । अथर्ववेद के लिए छन्दांसि का प्रयोग बृहद्० उप० में भी हुआ है—**'यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि'** (बृहद्० १|२|५) । ऋग्वेद व यजुर्वेद दोनों में उक्त मन्त्र उपलब्ध होने से अथर्ववेद का उनका समकालीन होना स्वतः सिद्ध है ।

शाखाग्रन्थों में भी अनेकत्र चार वेदों का उल्लेख हुआ है । तद्यथा—

ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ।

—काठक० ४०|७

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् । —छान्दोग्य० ७|१|२

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः । —मुण्डक० १|१|५

चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एता उक्ताः । —निरुक्त

चरणव्यूह, गृह्यसूत्रों में वेद चार हैं—

यत्र यदुक्तं चातुर्वेद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति ।

चरणव्यूहपरिशिष्ट १|२|३

जुहोति पृथिव्यै ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदाय अथर्ववेदाय ।

—वैखानसगृह्य० २|१२

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥ —महा० सभा० ११।३२

'वेद तीन हैं', उपर्युक्त प्रमाणों के रहते यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । इस विषय में अधिक विस्तृत जानकारी के लिए हमारे 'वेद-मीमांसा' तथा 'भूमिका-भास्कर भाग १' ग्रन्थों के अन्तर्गत 'वेदाविर्भाव' विषय को देखें ।

वेद सदा से चार हैं—भट्टभास्कर ने 'तैत्तिरीयसंहिताभाष्य' में, दुर्गाचार्य ने निरुक्त (१।२०) की टीका में तथा महीधर ने यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में भागवतपुराण के बारहवें स्कन्ध के छठे अध्याय के आधार पर लिखा है कि ब्रह्मा से परम्परा द्वारा प्राप्त वेद के चार विभाग महर्षि वेदव्यास ने किये । विष्णुपुराण (३।६) में कहा है—**'आद्य एको यजुर्वेदश्चतुर्धा व्यकल्पयत्'** अर्थात् आदिकाल में यजुर्वेद ही था । उसके चार विभाग वेदव्यास ने किये । अग्निपुराण में भी लिखा है—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः ।
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत् ॥

अर्थात् चार भागों में विभक्त होने से पूर्व एक यजुर्वेद था जिसमें **शतसाहस्र** अर्थात् एक लाख मन्त्र थे । मत्स्यपुराण (१४४।१०) तथा विष्णुपुराण (३।३।१६) ने भी इसका अनुमोदन किया है ।

परन्तु स्वयं वेदों, वेदोत्तर तथा महाभारतपूर्व वाङ्मय और अन्य आप्त वचनों से प्रमाणित है कि सृष्टि के आदि में ही एक साथ चारों वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था । वेदव्यास द्वारा वेद के चार विभाग किये जाने की कल्पना अयुक्त तथा सर्वथा असंगत है । व्यास के पूर्व उपनिषद् तथा ब्राह्मणग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे और उनमें वेदों की शाखाओं तथा उन शाखाओं में प्रक्षेपों तक का वर्णन मिलता है । जिस यजुर्वेद के व्यास द्वारा चार भागों में विभक्त किये जाने की बात कही जाती है, उसी का मन्त्र है—

'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् - - - - - स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम । साम ते तनूः ।
—यजुः० १२।४

यह मन्त्र कई स्थानों पर आया है, जैसे—शत० ६।७।२।६; तै०सं ० ४।१।१०।५; मै०ब्रा०सं० १६।८; शांखायगृह्य० १।२२।१५

यजुर्वेद का ही एक अन्य मन्त्र है—**'ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।**
—यजुः० १८।६७

जब स्वयं यजुर्वेद बार-बार चारों वेदों के नाम ले रहा है तब 'प्रारम्भ में एक यजुर्वेद था, कालान्तर में उसके चार भाग हुए' जैसी बात कैसे मानी जा सकती है ? 'वेदमीमांसा' में जिन प्रमाणों को हमने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है, वे निर्विवादरूप से महाभारतकाल से पहले के हैं । उनके होते हुए वेदव्यास द्वारा एक वेद के चार किये जाने की बात सर्वथा असंगत है ।

चतुष्पाद् वेद—जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर, पेट आदि सब मिलकर एक शरीर होता है और आत्मा, बुद्धि, मन व स्थूलशरीर मिलकर एक शरीर कहाता है, वैसे ही चारों वेद मिलकर एक वेद (ज्ञान) कहाते हैं । इसी रूप में वे चतुष्पाद् हैं । ज्ञान की दृष्टि से चारों वेदों में एकता है, परन्तु जैसे शरीर में प्रत्येक अंग और प्रत्येक अन्तःकरण की अपनी सत्ता और विशेषता है, वैसे ही प्रत्येक वेद की अपनी सत्त्वरूप विशेषता है, जिसके कारण प्रत्येक वेद का अन्य वेदों की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

यह हो सकता है वेदव्यास ने अपने समय में भिन्न-भिन्न बहुत-सी शाखाएँ बन जाने के कारण ब्राह्मण और श्रौतसूत्र आदि का निश्चय कर दिया हो कि किस-किस शाखा का कौन-सा ब्राह्मण है। यह भी सम्भव है कि उन्होंने शाखाओं का प्रवचन और व्याख्यान किया हो और इस प्रकार वे वेदों का प्रचार व प्रसार करने में विशेष सहायक रहे हों। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इस विषयम में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"यह बात (कि वेदव्यास ने वेद रचे हैं) मिथ्या है, क्योंकि व्यासजी ने भी वेद पढ़े थे और उनका पितामह पराशर, उसका पितामह शक्ति और प्रपितामह वशिष्ठ और बृहस्पति आदि ने भी पढ़े थे। जो व्यास ने बनाये होते तो वे कैसे पढ़ते, क्योंकि व्यासजी तो बहुत पीछे भये हैं और जो उनका वेदव्यास नाम पड़ा है वह इस रीति से पड़ा है कि उन्होंने वेदों को पढ़के और पढ़ाये हैं जिससे सब जगत् में वेदों का पठन और पाठन फैलाया और वेदों में उनकी बुद्धि विशाल थी कि यथावत् शब्द, अर्थ और सम्बन्ध से वेदों को जानते थे। सो इनका नाम वेदव्यास रक्खा गया।"

अग्नि आदि को ही वेदज्ञान क्यों? सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मवित् अग्नि आदि नामक परम पवित्र आत्माओं में ऋग्वेदादि का प्रकाश किया। इस विषय में ऋग्वेद (१०।७१।१) में कहा है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

सृष्टि के आदि में पदार्थों के नामरूप को ग्रहण करते हुए ऋषियों के हृदय में बृहस्पति ने अपनी श्रेष्ठ वाणी को प्रेरित किया। हृदयगत प्रेरणा के लिए किसी के मुख से सुनना आवश्यक नहीं होता—**'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'**—हृदय में हुई प्रेरणा को शुद्धान्तःकरणवाला व्यक्ति अनायास ही ग्रहण कर लेता है। अग्नि आदि ऋषि जिनका परमेश्वर ने अपने ज्ञान के संक्रमण के लिए वरण किया, वे मोक्ष की अवधि में दीर्घकाल तक उसी में लीन रहकर लौटनेवाले विशिष्ट जीव थे। अतएव इस महान् कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ माध्यम थे। ईश्वर में प्रणिधान (स्थिति) होने से उनके अन्तःकरणों के दीप्त होनेपर परमेश्वर के योग के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से वेदों का प्रकाश हुआ, अर्थात् निर्मल बुद्धि के ज्ञानग्राहक स्वाभाविक गुण के कारण. वेद ऋषियों के आत्मा में संक्रान्त (प्रतिभासित) हुए।

वेदाविर्भाव के विषय में एक यह कल्पना है कि सृष्टि के आदि में केवल एक विद्वान् को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान मिला था, जिसका नाम अग्नि था। उनकी कल्पना का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ —५।४४।१५

इस मन्त्र के अनुसार ऋचाएँ, सामगान आदि एक अग्नि को ही प्राप्त होते हैं जो जागता रहता है, परन्तु यहाँ अग्नि किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। अग्नि शब्द अनेकार्थवाची है। शतपथब्राह्मण के अनुसार—**आत्मैवाग्निः** (६।७।१।२०); **अग्निर्वै देवानां सुहृदयतमः** (१।६।२।१०); **अग्निर्वै सर्वेषां पाप्मनापहन्ता** (७।३।२।१६); **अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः** (१।१।१।२); **अग्निर्वा आयुष्मान्** (१३।८।४।८)।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'जो जागता रहता है, ऋग्वेद के मन्त्र अर्थात् उत्तम स्तुति, अर्चना, सत्कार आदि भी उसी को चाहते हैं, जो अविद्यारूपी निद्रा से जाग उठता है, उसी को सामवेद के गान या सबके समान व्यवहार प्राप्त होते हैं। जो अग्नि के सदृश वर्त्तमान जाग्रत् होता है, उसको भी सामवेद कहे विज्ञान प्राप्त होते हैं।"

[वेदों का प्रकाश संस्कृत में ही क्यों ?]

प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता, और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है[1], उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिए एक-सी और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एक-सी होनी चाहिए, कि सब देशवालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता और सब भाषाओं का कारण भी है।

इस प्रकार के अर्थ के साथ वेदमन्त्र की संगति बैठकर उसका भाव स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् जागता रहता है वही सम्पूर्ण वेद के तत्त्व को यथावत् जानता है, आलसी या प्रमादी नहीं।

संस्कृत में क्यों ? वेद का ज्ञान किसी देश या जातिविशेष के लिए नहीं है, इसलिए परमेश्वर ने वेदों का प्रकाश किसी देशविशेष या जातिविशेष की भाषा में न देकर विश्वभाषा संस्कृत में दिया। संस्कृत का संसारभर की भाषाओं का मूल होना प्रायः निर्विवाद है।

विश्व की प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं का अध्ययन करनेवाले विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इटेलियन, फ्रेंच, इंग्लिश, जर्मन, स्पेनिश, केल्टिक, टयोटोनिक, ग्रीक, लेटिन, लिथुनियन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाओं, जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द व आर्मिनियन आदि एशियन भाषाओं और हिन्दी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मराठी, तेलगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, कश्मीरी, सिन्धी आदि भाषाओं का मूल एक ही है। इन सब भाषाओं में शब्दकोश और व्याकरण की भी आश्चर्यजनक समानता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इन विविध भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन कालखण्ड में किसी एक स्थान पर रहते थे और एक भाषा बोलते थे। कालान्तर में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गये, तो उनकी भाषा विविध रूपों में विकसित होती गयी। पर मूलतः एक होने के कारण वह समानता बनी रही जो आज हमें आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगला आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्‌भव संस्कृत से हुआ है, वैसे ही यूरोप और एशिया की विभिन्न भाषाओं का स्रोत भी संस्कृत है। तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के जनक बॉप ने कहा था—'मैं नहीं मानता कि ग्रीक, लेटिन और दूसरी यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं - - - - इसकी अपेक्षा मैं यह मानना अधिक उचित समझता हूँ कि ये सभी भाषाएँ किसी एक ही मूल भाषा के विविध रूप हैं जिसे संस्कृत ने अधिक अविकलरूप में सुरक्षित रक्खा है।' निश्चय ही, यहाँ जाने-अनजाने बॉप ने मूल 'वैदिक भाषा' की ओर संकेत किया है।

जब मूलतः एक भाषा थी तो उसके बोलनेवाले भी एक वर्ग या एक जाति के लोग रहे होंगे। उनके संचलन या बिखराव से ही उस भाषा का क्षेत्र विस्तार और कालान्तर में प्रभावक्षेत्र में प्रव्रजित होनेवाले

---

१. इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन ग्रन्थकार ने स०प्र० प्रथम संस्करण के इसी समुल्लास में, तथा पूना के पाँचवें व्याख्यान (पूना-प्रवचन पृ० ३६ रालाकट्र० सं०) में किया है। इस विषय में वेदवाणी 'वेदाङ्क' संवत् २०१७ में श्री मीमांसकजी का 'भाषाविज्ञान और स्वामी दयानन्द' लेख भी देखें।

जनों के अनुरूप ही उस भाषा का विकास हुआ होगा। जब यह बात सत्य है कि अटलाण्टिक महासागर के समुद्रतट से भारत के विस्तृत क्षेत्र में जो भाषाएँ बोली जाती हैं उन सबका एक ही उद्गम है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि उनके बोलनेवाले लोग एक ही विशाल समुदाय के अंग हैं जो अत्यन्त प्राचीनकाल में एक ही स्थानपर निवास करते थे। विलसन ने विष्णुपुराण के अंग्रेजी की भूमिका में लिखा है कि सब भाषाओं के मूल में संस्कृत होने से संसार के सभी राष्ट्रों के एक ही स्थान से निकलकर यत्र-तत्र सर्वत्र फैलने का निश्चय होता है—

"The affinities of the Sanskrit language prove a common origin of the now widely scattered nations amongst whose dialects they are traceable and render it unquestionable that they must have all spread abroad from some centrical spot in that part of the globe first inhabited by mankind."

—*Vishnu Purana, Oxford, 1864*

भारत, ईरान, यूरोप आदि के निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं और उनके रूप-रंग, भाषा आदि में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण जल-वायु की भिन्नता और चिरकाल से एक-दूसरे से दूर रहना ही है। मैक्समूलर के अनुसार—

"There was a time when the first ancestors of the Indians, the Persians, the Greeks, the Romans, the Slaves, the Celts, and the Germans were living together within the same enclosures, nay, under the same roof." Maxmullar Lectures on science and Religion, First Series, P. 211-12

"एक समय था जब भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, कैल्टों (वेल्स व पश्चिमी फ्रांस के निवासी) और जर्मनों के पूर्वज एक चारदीवारी के अन्दर ही नहीं, एक छत के नीचे रहते थे।" भाषासाम्य ऐसी प्रत्यक्ष बात है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था। फलतः यह एक सामान्य सिद्धान्त बन गया कि जिनकी भाषाएँ मातृस्वरूपा वैदिक भाषा [प्रायः यह माना जाता रहा है कि सब भाषाओं की जननी संस्कृत है, परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि संस्कृत अपने समय की सदृश भाषाओं की माता नहीं, बहन है। इन सब भाषाओं की जननी अति प्राचीनकाल की कोई भाषा रही होगी जो अब कहीं नहीं बोली जाती। वह वेदों की समसामयिक वैदिक भाषा ही हो सकती है। दूर तक गहराई में जाकर खोज करनेपर इस मत की पुष्टि होती है—भाष्यकार] से निकली हैं, उनके पूर्वज एक ही थे, अर्थात् किसी समय वे सब एक ही साथ रहते थे और सबकी एक ही भाषा थी। कालान्तर में वे इतस्ततः बिखर गये। परिणामतः एक-दूसरे से दूर हो जाने के कारण धीरे-धीरे भाषाओं में अन्तर पड़ता गया। कालान्तर में वह इतना बढ़ गया कि उसने साम्य को दबा-सा दिया, परन्तु स्थूलशरीर के बदल जाने पर अदृश्यरूप सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर व लिंगशरीर अभी भी वैसा ही बना हुआ है। (इसके लिए देखें: हमारी 'आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता' पृष्ठ ६४-६८)। यह सब जानने के बाद कौन कह सकता है कि वेदों का संस्कृत में प्रकाश करके परमेश्वर ने किसी देश या जाति के प्रति पक्षपात या अन्याय किया है?

भाषा के विषय में प्रथम संस्करण के अन्तर्गत ग्रन्थकार का निम्न लेख द्रष्टव्य है—

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में क्यों रचे? क्या ईश्वर की भाषा संस्कृत ही है? जो देशभाषा में रचते तो सब मनुष्य परिश्रम के बिना वेदों को समझ लेते। और संस्कृत जानने के हेतु व्याकरणादिक सामग्री पढ़नी चाहिए। इसके बिना वेदों का अर्थ कभी मालूम न होगा।

उत्तर—संस्कृत में इस हेतु वेद रचे हैं कि छोटे पुस्तक में सब विद्या आजाएँ और जो भाषा में रचते तो बड़े-बड़े ग्रन्थ हो जाते और एक देश ही का उपकार होता, सब देशों का नहीं। और जितनी देशभाषा हैं उनमें रचते तब तो पुस्तकों का कारोबार (व्यवहार) ही न होता। इस्से परमेश्वर ने सर्वज्ञ (सबके लिए सुबोध) भाषा में वेद रचे हैं कि किसी देश की भाषा न रहे और सब भाषा जिस्से निकलें, क्योंकि संस्कृत किसी देश की भाषा नहीं जैसे ईश्वर किसी देश का नहीं, किन्तु सब देशों का स्वामी है। वैसे ही संस्कृत भाषा है कि किसी एक देश की नहीं।

प्रश्न—देवलोक और आर्यावर्त्त देश की प्रथम भाषा संस्कृत थी। इसी को मुसलमान लोग जिन्न भाषा कहते हैं, क्योंकि जैसी प्रवृत्ति संस्कृत की पहिले आर्यावर्त्त में थी वैसी किसी देश में न थी। जिस देश में कुछ प्रवृत्ति भई होगी सो आर्यावर्त्त ही से भई होगी। अब भी आर्यावर्त्त में अन्य देशों से संस्कृत की अधिक प्रवृत्ति है। इस्से यह निश्चय होता है कि संस्कृतभाषा आर्यावर्त्त की मुख्य भाषा थी।

उत्तर—यह देवलोक की भाषा नहीं, क्योंकि **'बृहस्पतिः प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता'**—यह महाभाष्य का वचन है। इन्द्र ने बृहस्पति से संस्कृत पढ़ी और बृहस्पति ने अंगिरा प्रजापति से, उन्ने मनु से, मनु ने विराट् से, विराट् ने ब्रह्मा से, ब्रह्मा ने हिरण्यगर्भादिक देवों से, उन्ने ईश्वर से। जो देवलोक की भाषा होती तो क्यों पढ़ते और पढ़ाते, क्योंकि देशभाषा तो परस्पर व्यवहार से आ जाती है। इस्से देवलोक की भाषा संस्कृत नहीं और जब ब्रह्मादिकों की भाषा नहीं तो आर्यावर्त्त देशवालों की कैसे होगी? कभी नहीं। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यावर्त्त देश में प्रवृत्ति पहले अधिक थी। सब ऋषि, मुनि और राजा लोग आर्यावर्त्तदेशवासी लोगों ने परम्परा से संस्कृत पढ़ा और पढ़ाया है। इस्से आर्यावर्त्तदेश की भी संस्कृतभाषा नहीं और मुसलमान लोग इसको जिन्न भाषा कहते हैं सो तो केवल ईर्ष्या में कहते हैं, जैसेकि आर्यावर्त्तदेशवासियों का नाम हिन्दू रख दिया। सो यह संस्कृत जिन्न भाषा भी नहीं। जिन्न तो भूत, प्रेत, पिशाचों ही का नाम है। भूत, प्रेत और पिशाच होते ही नहीं। इससे यह बात अत्यन्त मिथ्या है, क्योंकि उनको ऐसी पदार्थविद्या और धर्माधर्मविवेक की बुद्धि ही नहीं। फिर ये संस्कृतविद्या सर्वोत्तम को कैसे कह सकते वा रच सकते हैं। और रचते होते तो अन्य देशों में भी रच लेते तथा किसी पुरुष से अब भी कहते। इस्से ऐसी बात सज्जन लोगों को न मानना चाहिए।

प्रश्न—देशभाषा भिन्न-भिन्न कैसे बन गयीं और किससे बन गयीं?

उत्तर—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत है। जब संस्कृत बिगड़ती है, तब 'अपभ्रंश' कहाता है। फिर अपभ्रंश से देशभाषा होती है। जैसे 'घट' शब्द से घड़ा, 'घृत' शब्द से घी, 'दुग्ध' शब्द से दूध, 'नवनीत' शब्द से नैनू (नौनी), 'अक्षि' शब्द से आँख, 'कर्ण' शब्द से कान, 'नासिका' शब्द से नाक, 'जिह्वा' शब्द से जीभ, 'मातृ' शब्द से मदर, 'यूयम्' शब्द से यू, 'वयम्' शब्द से वी इत्यादिक जान लेना। और एक पदार्थ के अनेक नाम हैं, जैसे कि 'गौ' नाम गाय का, ग्मा, ज्मा, क्षमा इत्यादि ये २१ नाम पृथिवी के हैं। सो भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न २१ नामों से भिन्न-भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषा बन जाती है। और एक नाम अनेक अर्थों का होता है, जैसे सिंह, वानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव और चोर इत्यादि का नाम 'हरि' है। इस्से भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न भाषा होती है। क्योंकि किसी देश में 'सिंह' नाम से उस पशु का व्यवहार किया। किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया, किसी देश में हरि से घोड़े का ग्रहण किया, किसी देश में हरि से सूर्य लिया, किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया। इस

[वेदों के ईश्वरकर्तृत्व में प्रमाण]

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है, वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य-कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है। इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाइबल, कुरान आदि पुस्तकें नहीं। इसकी स्पष्ट व्याख्या बाइबल और कुरान के प्रकरण में तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में की जाएगी।

हेतु से देशभाषा भिन्न-भिन्न हो गई और मनुष्यों के उच्चारणभेद से भी भिन्न-भिन्न भाषा हो जाती है। जैसे—'ज्ञ्' ये दोनों अकार से मिलने से 'ज्ञ' अक्षर होता है। सो आजकल इसका लेख 'ज्ञ' ऐसा हो गया है। इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गये हैं। गुजराती लोग 'गकार' और 'नकार' का उच्चारण करते हैं। महाराष्ट्रिक दाक्षिणात्य लोग दकार और नकार का उच्चारण करते हैं। तथा बंगाली लोग तालव्य श, मूर्धन्य ष और दन्त्य स इन तीनों के स्थान में तालव्य शकार का उच्चारण करते हैं। मध्य और पश्चिम देशवाले तीनों के स्थान में दन्त्य सकार का ही उच्चारण करते हैं। किसी की जीभ कठिन होती है, तो वह शब्दों का अन्यथा उच्चारण करता है। दाक्षिणात्य लोगों ने घी का नाम 'तूपर' रख लिया और उत्तर देश पर्वतवासियों न घी का नाम चोखा रख लिया। गुजरातियों ने चावल का नाम चोखा रख लिया। इस्से भी देश-देशान्तर की भाषा भिन्न-भिन्न हो गयी। इसी प्रकार अन्य कारणों का भी विचार कर लेना।" पृष्ठ २५०-५२

वेदों का ईश्वरकर्तृत्व—किसी भी संगठन अथवा समाज संचालन करने के लिए उसके संविधान का होना अनिवार्य है, अतः संगठन के साथ-साथ ही उसके नियमोपनियम बनाये जाते हैं, जिनका पालन करना उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है। जब साधारण व्यक्ति भी विधि-विधान के बिना छोटे-से समाज का संचालन नहीं करता तो यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर सृष्टि तो बना दे, परन्तु जिसके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की उस मनुष्य को उस सृष्टि के विषय में कोई जानकारी न दे। आदि सृष्टि में जब पहले-पहले मनुष्य का इस पृथिवी पर आविर्भाव हुआ तो वह सर्वथा अनभिज्ञ था। सृष्टि में उसे बहुत कुछ देखने को मिला, किन्तु विविध पदार्थों के न वह नाम जानता था, न उनके गुण-दोषों को जानता था और न उनके उपयोग के विषय में उसे कुछ पता था। अपने शरीर तक के विषय में वह कुछ नहीं जानता था, वह अकेला नहीं था, बहुतों के साथ था, परन्तु किसके साथ कैसे व्यवहार करे—एतद्विषयक ज्ञान से भी वह सर्वथा शून्य था। ऐसी अवस्था में सृष्टि के रचयिता एवं संचालक परमात्मा का कर्त्तव्य था कि वह मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ के नाम, गुण तथा उपयोग के विषय में पूरी जानकारी दे और यहाँ रहने के लिए अपेक्षित समस्त नियमों से अवगत करे। स्वयं कट्टर इसाई होनेपर भी प्रो० मैक्समूलर ने इस युक्ति को अपनी पुस्तक 'Science and Religion' में इस प्रकार व्यक्त किया

है—

"If there is a God who has created heaven and earth, it will be unjust on his part if he deprives millions of his sons, born before Moses, of his divine Knowledge. Reason and comparative study of religions declares that God gives his knowledge from his first appearance on earth."

अर्थात् यदि धरती और आकाश का रचयिता कोई ईश्वर है तो उसके लिए यह अन्यायपूर्ण होगा कि वह मूसा से पूर्व उत्पन्न अपने करोड़ों पुत्रों को अपने ज्ञान से वंचित रक्खे। तर्क और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन दोनों घोषित करते हैं कि परमेश्वर अपना ज्ञान सृष्टि के आदि में सब मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रदान करता है।

इस प्रकार सृष्टि में चराचर जगत् के संचालन, धारण, पोषण आदि के लिए अपेक्षित विधान का निर्माण करना अनिवार्य था। इसी में उसके 'विधाता' (विधायक=विधान बनानेवाला) नाम की सार्थकता थी। मनुष्यमात्र के प्रति पक्षपातरहित समानव्यवहार की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि ऐसा विधान सृष्टि के आरम्भ में बने, अतः परमेश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वेद के रूप में अपेक्षित ज्ञान का प्रकाश किया। महाभारत (शान्ति० २३२।२४) में वेदव्यास कहते हैं—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

सृष्टि के आदि में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी दिव्यवाणी का प्रादुर्भाव हुआ जो नित्य है और जिससे संसार में सब प्रकार की प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ।

जो लोग वेद का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत होना नहीं मानते वे भी इतना तो मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि कोई भी धर्मग्रन्थ वेद से पुराना नहीं है, यह निर्विवाद है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में अविनाभावसम्बन्ध है अर्थात् वे तीनों एक साथ रहते हैं। प्रत्येक अवस्था में आत्मा को ज्ञाता स्वीकार किया जाता है। ज्ञाता के मान लेने पर ज्ञेय (चराचर जगत्) भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि यदि जानने को कुछ नहीं है तो ज्ञाता अन्यथासिद्ध है। इन दोनों (ज्ञाता व ज्ञेय) की स्वीकृति में तीसरा ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञाता का अनुषङ्गी है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ में ज्ञाता मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही वेदज्ञान का आविर्भाव सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। यजुर्वेद में कहा है—

यस्मिन्नृचः सामयजू ँ षि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४।५

अर्थात् मनुष्य के आत्मा में सम्पूर्ण वेदज्ञान विद्यमान है, परन्तु उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति रजोगुण तथा तमोगुण का आवरण हटने और आवश्यक नैमित्तिक उद्बोधन होनेपर ही होती है।

भारतीय वैचारिक परम्परा का यह निष्कर्ष है कि वेद अपौरुषेय हैं, अस्मदादि किसी मनुष्य—चाहे वह ऋषिकोटि का ही क्यों न हो—की रचना नहीं है। ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि सब एक स्वर से इस मान्यता के पोषक हैं। वेदों की अन्तःसाक्षी हम पहले ही उपस्थित कर चुके हैं। अब हम इसकी पुष्टि में कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं—

जो वस्तु बनाई जाती है उसके कर्त्ता का स्मरण किसी-न-किसी रूप में अवश्य होता है, किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण अभ्रान्तरूप में आज तक किसी को नहीं हुआ। इससे सिद्ध है कि वेद का कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं है। यदि होता तो उसका स्मरण अवश्य होता। कदाचित् यह कहा जाए कि ऐसे बहुत से भवन, कूप आदि मिलेंगे जिनके बनानेवाले का किसी को स्मरण नहीं, किन्तु फिर भी उन्हें स्वतः निर्मित नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शब्दसमूहरूप का भी कोई-न-कोई कर्त्ता अवश्य रहा होगा। इसका समाधान यह है कि जीर्ण-शीर्ण भवन आदि के कर्त्ता का स्मरण आज न होनेपर भी कभी-न-कभी, किसी-न-किसी को किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहा होगा, किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण कभी किसी को रहा हो—ऐसा पता नहीं चलता। मीमांसादर्शन की व्याख्या तन्त्रवार्तिक (पृष्ठ १०१) में भट्टकुमारिल ने कहा है—**'कर्त्तुः स्मरणाभावादपौरुषेया वेदाः'** अर्थात् कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद अपौरुषेय हैं। सांख्यदर्शन के रचयिता महर्षि कपिल ने भी यही बात कही है —**'न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्'** (सां०द० ५।४६), अर्थात् वेद का कर्त्ता आज तक उत्पादित नहीं हुआ, इसलिए वेद किसी मनुष्य के बनाये हुए नहीं हैं। इस विषय में एक अन्य हेतु देते हैं—

मुक्त तथा अमुक्त दोनों ही वेद की रचना करने में असमर्थ हैं। अमुक्त जीव तो भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों से युक्त होने के कारण **'सर्वज्ञानमय'** वेद की रचना करने के योग्य नहीं हैं। ब्रह्मनिष्ठ मुक्त जीव भी स्वभाव से अल्पज्ञ होने के कारण उसकी रचना करने में सक्षम नहीं है। फिर, मुक्तावस्था में तो जीव ब्रह्मानन्द में लीन हुआ आनन्द का उपभोगमात्र करता है। उस अवस्था में उसका कर्तृत्व तिरोहित रहता है।

प्रत्येक ग्रन्थ किसी-न-किसी की रचना होता है। तब वेदरूप ग्रन्थ अकस्मात् कहीं से आविर्भूत हो गये, यह कैसे माना जा सकता है। सृष्टि-प्रलय की व्यवस्था अनुमान तथा शब्दप्रमाणों से सिद्ध है, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है? जबकि जगत् का परिवर्त्तनशील होना प्रत्यक्ष है। तब **'न कदाचिदनीदृशं जगत्'** (जगत् सदा से इसी रूप में चल रहा है), यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकता है? जब एक बार प्रलय होनेपर फिर से वेद प्रकट होंगे तो उनका कोई-न-कोई कारण तो अवश्य मानना होगा। अतः यही सिद्धान्त युक्तिसंगत ठहरता है कि जिस प्रकार जगन्नियन्ता परमात्मा ने सब जगत् को बनाया उसी प्रकार उसने वेदों को प्रादुर्भूत कर उनके द्वारा जगत् को शिक्षित किया। **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'**—वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक की गयी प्रतीत होती है, इसलिए किसी बुद्धिमान् सत्ता को ही उनका कारण मानना होगा। तब सकलबुद्धिनिधान परमेश्वर ही उनका कारण हो सकता है। प्रति कल्प में जब-जब सृष्टि होती है तब-तब वेद इसी रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने के कारण वेदों के बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'** में परमात्मा द्वारा 'निर्मिता' न कहकर 'उत्सृष्टा' (प्रकट किये गये) कहने का यही अभिप्राय है कि नित्य वाणीरूप वेदों को परमात्मा ने प्रकाशित किया। भगवद्गीता (३।१५) की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—

"कर्म (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवम्। ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवम्) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः।"

तात्पर्य यह है कि कर्म की उत्पत्ति वेद से और वेद की उत्पत्ति परमात्मा से है। आनन्दतीर्थ, रामानुज आदि ने भी प्रायः इन्हीं अर्थों में वेदों के ब्रह्मनिःश्वसित होने का प्रतिपादन किया है।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि उससे प्रादुर्भूत ज्ञान में स्वयं उसके स्वरूप (गुण-कर्म-स्वभाव) का वर्णन 'याथातथ्य'—जैसा वह है, वैसा ही होना चाहिए। यह कैसे सम्भव है कि स्वयं परमेश्वर ही अपनी रचना में अपना यथायथ वर्णन न करे। **ईश्वर** सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, निर्विकार, न्यायकारी, अजन्मा आदि (जैसाकि यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के ८वें मन्त्र में और आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है) है। जिस धर्मग्रन्थ में इससे विपरीत ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है, वह ईश्वरप्रदत्त होने का दावा नहीं कर सकता। वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है।

सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। वे सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं। अभाव से भाव क़ी उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य, अग्नि आदि द्रव्यों का अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, बिना माता-पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, बिना कर्मफल भोगे कृतकर्म का क्षय, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता, ईश्वर का जीवों की भाँति जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना, पृथिवी का चपटी होना, राहु द्वारा ग्रसे जाने के कारण सूर्य और चन्द्र को ग्रहण लगना, सूर्य को जब चाहे और जहाँ चाहे रोक देना इत्यादि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या हैं। **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'**—वेद में जो कुछ है, बुद्धिपूर्वक है। उसमें सृष्टिक्रम के विरुद्ध कुछ नहीं है। हो भी कैसे सकता है, जबकि सृष्टि और वेद दोनों एक ही ईश्वर की रचना हैं।

जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने सन्दर्भग्रन्थ 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' में लिखा है—"Swami Dayananda tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का यत्न किया। वास्तव में यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों में सामंजस्य होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। ऐसा होना नहीं, प्रत्युत न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे मानचित्र (नक़्शे) का बनानेवाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे हो सकता है कि मानचित्र में तो दिल्ली को यमुना के किनारे स्थित दिखाये और पुस्तक के पृष्ठों में उसे सतलुज के किनारे स्थित लिखे। संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें।

इंग्लैंड के मनीषी डब्ल्यू०डी० ब्राउन ने वेद की इस विशेषता का निरूपण करते हुए अपनी पुस्तक 'Superiority of Vedic Religion' में लिखा है—

"Vedic Religion is thoroughly scientific where science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म हैं, जहाँ विज्ञान और धर्म हाथ-में-हाथ डालकर अर्थात् सहयोगी बनकर चलते हैं। यहाँ धर्म विज्ञान और दर्शन पर आधारित हैं।

लुई जैकालियट नामक विद्वान् ने मत-मतान्तरों के सृष्टि-उत्पत्तिविषयक मन्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद लिखा—

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation, Veda, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science."

—The Bible in India, Vol. II, Ch. I.

अर्थात् आश्चर्यजनक तथ्य है कि एकमात्र हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है, जिसके सृष्टिरचना विषयक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुरूप हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के वैज्ञानिक आधार के कारण ही भारत में वैज्ञानिकों पर वैसे अत्याचार कभी नहीं हुए जैसे बाइबल आदि को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले यूरोप में पृथिवी को गोल कहने और अनेक लोकों की सत्ता माननेवाले गैलिलियो और ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर हुए और जिनका विस्तृत वर्णन डॉ० विलियम ड्रेप ने अपनी पुस्तक 'History of the conflict between Science and Religion' में किया है।

मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है, अतः वह निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। ईश्वर में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं, अतः साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के आत्मा में सीधे परमेश्वर की प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान भी इन दोषों से मुक्त होना चाहिए। वेद में जो वाक्यरचना है, पद व पदसमूह की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है। वेद के इस रूप में भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं हो सकती। निर्भ्रान्त परमेश्वर से प्रादुर्भूत होने के कारण वह निर्भ्रान्त है।

बाइबल का परमेश्वर स्वयं भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से आक्रान्त है। इसलिए उसे अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। Genesis के छठे अध्याय में सृष्टि में मनुष्य के उत्पन्न करने पर परमेश्वर के पश्चात्ताप करने का वर्णन है—

"And it repented the Lord that he made man on the earth and it grieved him at his heart. And the Lord said—'I will destroy man whom I have created, from the face of the earth; for it repented me that I have made him."

इससे पहले लिखा है—"God made man in his own image." **अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया। जिसे उसने अपने जैसा बनाया उसे देखकर भी उसे इतना दुःख हुआ कि तत्काल उसे नष्ट कर देने की घोषणा कर डाली। नीतिकारों का कथन है—'विषवृक्षमपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।'** किन्तु परमेश्वर अपनी जिस वृति को (वह भी ऐसी जिसे उसने अपने जैसा बनाया था) नष्ट करने को तैयार हो गया, वह कितनी बुरी रही होगी। भ्रम, प्रमाद, लिप्सा आदि से ग्रस्त होने के कारण ही बाइबल के परमेश्वर को अपने किये पर पछताना पड़ा। ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करनेवाले प्रायः सभी ग्रन्थ इसी प्रकार की बातों से भरे पड़े हैं। यही उनके मानवीय रचना होने का प्रमाण है। सदसद्विवेक में मनुष्य की अन्तरात्मा का महत्वपूर्ण योगदान है। **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'** आदि अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों से मनःसाक्षी की उपयोगिता स्पष्ट है, परन्तु उसे पर्याप्त अथवा अन्तिम नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न संवेदन या अनुभव अच्छे-बुरे या पाप-पुण्य का एक समान मापदण्ड निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य होने के नाते उनके वे अनुभव भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से मुक्त नहीं हो सकते। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण केवल वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है।

पूर्ण एवं नित्य परमेश्वर से प्रादुर्भूत ज्ञान भी नैसर्गिक ज्ञान का बोधक होने से पूर्ण व नित्य होना चाहिए। आदिकवि सर्वज्ञ व मनीषी है, अतः सर्ग के आदि में समूचे ज्ञान का एकसाथ आविर्भाव होना ही तर्कानुमोदित है। परमेश्वर के एकरस होने से उसका ज्ञान भी एकरस या अपरिवर्त्तनशील होगा। यदि उसे समय-समय पर बदलते रहना पड़े तो ईश्वर में अज्ञान तथा अपूर्णता का दोष प्राप्त होगा। समय-समय पर मन्त्र-प्रकाश या आयत नाज़िल होते रहने की बात उसे मनुष्य जैसा अल्पज्ञ तथा भ्रान्त बना देगी। मनुष्यों की समय-समय की आवश्यकताओं तथा तदनुसार अपनी भूलों के परिमार्जन पर ही यह कल्पना आश्रित है, परन्तु अल्पज्ञों का उदाहरण सर्वज्ञ पर नहीं घटाया जा सकता। मनुष्य द्वारा स्थापित तथा संचालित संसद् अथवा विधानसभाएँ नई-नई परिस्थितियों से निपटने के लिए अपने बनाये क़ानूनों में संशोधन-परिवर्धन करती रहती हैं—पुराने क़ानूनों को निरस्त कर नये क़ानून बनाती रहती हैं। यह सब जीव की अल्पज्ञता के कारण होता है। त्रिकालदर्शी होने से परमेश्वर को परिस्थितियों के अनुरूप अपने नियमों में परिवर्त्तन नहीं करना पड़ता। मनुस्मृति (१२।९६) में कहा है—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थ बनते हैं और नष्ट होते रहते हैं। वे सब अर्वाक्काल (प्राचीन परम्परा के विपरीत) होने से निष्फल और मिथ्या होते हैं। परन्तु **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**—परमेश्वर का काव्य वेद न कभी पुराना पड़ता है और न नष्ट होता है।

वेद के सिद्धान्तों में कालभेद से किसी प्रकार का उलटफेर करना नहीं पड़ता। मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है। भूल प्रतीत होनेपर वैज्ञानिकों को स्वयं अपनी मान्यताएँ बदलते देखा गया है। बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के अनुसन्धान के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किये उन्हें आगे आनेवाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला। डार्विन के विकासवाद (Evolution) अथवा फ्रायड के मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) का आज वह स्वरूप नहीं रहा जो उन्होंने मूलतः निर्धारित किया था। यही अवस्था आइंस्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) की है, परन्तु ईश्वर में भ्रमादि दोषों के न होने से उसके ज्ञान वेद में आज तक कोई भूल नहीं निकली। जहाँ-जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वैदिक सिद्धान्तों से मतभेद दिखाकर संघर्ष किया वहाँ-वहाँ घूम-फिरकर आधुनिक विज्ञान को ही वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। उसके अनेक उदाहरण हैं। निदर्शनार्थ यहाँ दो-चार उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

१. आधुनिक विज्ञान ने पहले अपने कल्पित ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि को मूलतत्त्व माना। अन्वेषण से उनकी संख्या बढ़ती गई—६५-९३-........। किन्तु अब विज्ञान के मत में शताधिक तत्त्व मौलिक नहीं, जन्य हैं। मौलिक तत्त्व तो तीन ही रह गये—इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन जो हमारे सत्त्व, रजस् व तमस् के अपर नाम हैं।

२. सृष्टि की अब तक की आयु के विषय में भी मतभेद रहा। वेदोक्त युगप्रक्रिया के अनुसार सृष्टि कुछ कम दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ केवल ५००० वर्ष पुरानी बताते थे। विज्ञान भी पहले बहुत थोड़ी बताता था, परन्तु भूगर्भविज्ञान ने उसकी आँखें खोल दीं। अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी क्रमशः दो अरब वर्ष तक पहुँच गये हैं, परन्तु भारतीय शास्त्रों की भाँति वे वर्ष, मास, दिन आदि की पूरी-पूरी गणना अभी तक नहीं कर पाये। उसमें अभी न जाने कितना समय लगेगा।

३. वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक उसे वायु का

गुण सिद्ध करने में लगा रहा, परन्तु रेडियो के आविष्कार ने उसकी थ्यूरी बदल दी। आज वे मान गये कि जितने काल में जितनी दूर शब्द पहुँचता है, वायु की गति उतनी नहीं। अब शब्द को ईथर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईथर और स्पेस दोनों ही हमारे यहाँ आकाश शब्द के अन्तर्गत हैं।

४. वृक्ष, लता आदि को विज्ञान पहले चेतन नहीं मानता था। वेदादि शास्त्र सदा से इन्हें चेतन मानकर जीव की भोगयोनि मानते रहे हैं। स्वनामधन्य जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा वृक्षादि में प्राणसत्ता सिद्ध कर वैदिक विज्ञान को मान्यता प्रदान की।

५. पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में रहनेवाले कालेपन को अभी-अभी जाना है, परन्तु वैदिक विद्वान् वेदों के माध्यम से इस रहस्य को आदिकाल से ही जानते हैं। आदित्यमण्डल के मध्य भाग में कालापन होने से वेदों में आदित्य को बहुधा **'कृष्ण'** नाम से पुकारा गया है, जैसे—**'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्'** (ऋ० १।७६।२)। यहाँ कृष्ण शब्द से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है। जैमिनिब्राह्मण में कहा है—**असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम्'** (जै० ब्रा० २।२८) अर्थात् जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसमें जो प्रकाश करनेवाला भाग है वह संवत् है और जो बीच में कृष्ण भाग है, वह सर है। आदित्यमण्डल में रहनेवाले ये काले धब्बे चलते रहने से सर्प कहाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्ड्यब्राह्मण (२५।१५।४) में **'सर्पा वा आदित्याः'** कहा है।

वेद के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। पश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की प्रारम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर कोई संगति है और न सुलझे हुए विचारों की स्थापना। वे धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं उसी की छाया वेदमन्त्रों में है। इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ-सवा-सौ वर्षों से वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्याग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये। अपने देश में भी उनके मानसपुत्र वैदिक विद्वान् भी इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। उनके लिए ब्राह्मणग्रन्थों में की गयी वेद की व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। इसके विपरीत भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। —मनु० १२।९७

भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद है। सायणाचार्य ने अनपे तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य के उपोद्घात् में कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष से या अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता, वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।

इस प्रकार सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्रोत वेद है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है और वेद उस सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त ज्ञान है तो वह उसके लिए अपेक्षित पूर्ण ज्ञान होना ही चाहिए। उसकी अपूर्णता स्वयं वेदत्व का ही विघात करेगी। मनु का तो स्पष्ट मत है—**'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७), अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् विद्याओं का विधान किया है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण विद्याओं का कोष है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्याएँ और ज्ञान वेद में हैं तेद

को **'सर्वज्ञानमय'** कहा जा सकता है। यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुए कहा—**'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** (नि० १।२)। अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्य है, परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। आज हम भले ही इस बात को सर्वांश में सिद्ध न कर सकें, किन्तु वेद में समस्त विद्याएँ होनी चाहिएँ, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता।

वाचस्पतिमिश्र ने वेद को लौकिक तथा पारलौकिक सुख के साधनों का मूल बताते हुए लिखा—**'तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्बुद्धिसत्वप्रकाशादेव भवितुमर्हति।'**

'शास्त्रयोनित्वात्' वेदान्तदर्शन के इस सूत्र (१।१।३) की व्याख्या में आचार्य शंकर लिखते हैं—**'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्था द्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।'** अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाले महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण (आदिमूल) ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्॥

'समस्त शास्त्रों का मूल वेद है'—याज्ञवल्क्यस्मृति का यह वचन अक्षरशः सत्य है। वैदिक वाङ्मय के जितने भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, सभी किसी-न-किसी रूप में वेद से जुड़े हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिषविषयक समस्त ग्रन्थ वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं। विज्ञान और दर्शनविषयक हमारे महान् ग्रन्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा वेद के उपांग कहाते हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थवेद, और गन्धर्ववेद का नाम ही उपवेद है। समस्त उपनिषद् ईशोपनिषद् का विस्तार हैं और ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है। ब्राह्मणादि तो हैं ही वेद के व्याख्यानग्रन्थ। श्रौत तथा गृह्यादिसूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रन्थ हैं। इन मुख्य ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी-पालन, कृषि, सिंचाई, वर्षा, उद्योग-धन्धे, यातायात, ओषधि एवं चिकित्साविज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, ज्योतिष, गणित, अन्तरिक्षविज्ञान, राजनीति, शस्त्रविद्या, सैन्यसंचालन, ऋतुविज्ञान, शिक्षा, भूगर्भविद्या, भाषाविज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक अथवा सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो।

पूर्वपक्ष—वेद में निहित ज्ञान के सम्बन्ध में यह कहा जाता है—**'सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'**—अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। दूसरे शब्दों में वेद में समस्त विज्ञान व विद्याएँ हैं। इसीलिए वेद को **'सर्वज्ञानमय'** कहा गया है, परन्तु यह मान्यता अक्षरशः या पूरी तरह युक्तिसंगत नहीं है। किसी भी विशेषज्ञ आचार्य द्वारा जब किसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए किसी ग्रन्थ की रचना की जाती है तो रचना के यथासम्भव सर्वांगपूर्ण होनेपर भी रचयिता का ज्ञान अवश्य ही उसकी अपेक्षा अधिक रहता है। पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का अद्‌भुत ग्रन्थ है। तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाणिनिमुनि का सम्पूर्ण ज्ञान आ गया है। फिर प्रभु का ज्ञान तो उसी के समान अनन्त है। वह ऋग्वेदादि चार पुस्तकों में कैसे समा सकता है? **'अनन्ता वै वेदाः'**—ज्ञान अनन्त है। उसे किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, अतः यही समझना चाहिए कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को जो ज्ञान मिला, वह ईश्वर का पूर्ण ज्ञान न होकर उसका एक

अंशमात्र है। चार संहिताओं को जो वेद कहा जाता है, उसका यह अभिप्राय नहीं कि वेद इतना ही है। इसमें **'अनन्ता वै वेदाः'** यह प्रमाण तो है ही, विचार करने पर भी यही समझ में आता है कि ज्ञान को किसी सीमा में, अर्थात् चार पुस्तकों में नहीं बाँधा जा सकता।

उत्तरपक्ष—यह ठीक है कि ऋग्वेदादि शास्त्र जिनका ऋषियों ने व्याख्यानरूप अनेक शाखाओं में विस्तार किया, वे सर्वज्ञ ब्रह्म के अनन्त ज्ञान का एक अंश ही हैं। वेद को सर्वज्ञानमय कहने का अभिप्राय यही है कि वेद में निर्दिष्ट ज्ञान जीव की अपेक्षा से सम्पूर्ण है। ज्ञानी पुरुषों के संसर्ग से अज्ञानी आत्मा का ज्ञान बढ़ता है। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेदरूपी ज्ञान से तथा उसके साक्षात्कार से जीव के ज्ञान का विकास होता है, परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण वह परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमेश्वर के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने का न उसमें सामर्थ्य है और न उसे उसकी आवश्यकता है तथापि अपने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए जीव को जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी अपेक्षा से वेद का ज्ञान पूर्ण है। इस विषय का स्पष्टीकरण यजुर्वेद में किया है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥

—यजुः० ३८।२६

इस मन्त्र में आया हुआ **'तावन्तम्'** पद पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में उनका ज्ञान आत्मा को होता है। भूलोक और द्युलोक में पदार्थों से उसका सम्बन्ध है, अतः उतना ही ज्ञान उसके लिए अपेक्षित था और वह उसे वेद के रूप में दे दिया गया। **'अनन्ता वै वेदाः'** में अनन्त पद का प्रयोग औपचारिक भी हो सकता है—**'अनन्तसुखिवत्'**। वेद शब्द से यहाँ समस्त वैदिक साहित्य भी अभिप्रेत हो सकता है, क्योंकि इस वचन के कथन के समय तक वेद के व्याख्यान—शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, उपांग, उपवेद, श्रौत, गृह्यसूत्र आदि के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था और यह प्रवाह अनवरत चालू था, परन्तु वेद संख्या में चार नहीं, अनन्त हैं, **'अनन्ता वै वेदाः'** का यह अर्थ कभी नहीं किया गया।

स्वामी दयानन्द की 'वेदों में विज्ञानविषयक मान्यताओं' का विवेचन करते हुए योगी अरविन्द ने अपने निबन्ध "Dayananda and the Veda" में लिखा है—

"There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, he has rather understated than overstated the depth and range of Vedic wisdom."

अर्थात् दयानन्द की इस धारणा में कि वेदों में धर्म और विज्ञान दोनों की सचाइयाँ पाई जाती हैं, कोई भी उपहासास्पद या कल्पनामूलक बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी भी धारणा जोड़ देना चाहता हूँ कि वेदों में विज्ञान की वे सचाइयाँ भी पाई जाती हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के विषय में अतिशयोक्ति से नहीं, न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

अमरीकन विदुषी श्रीमती ह्वीलर विल्लौक्स (Mrs. Wheeler Willox) ने इस विषय में अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—

"It (India) is the land of the great Vedas—the most remarkable works, containing not only religious ideas for perfect life but also facts which science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas."

यह भारत उन महान् वेदों की भूमि है जो अद्भुत ग्रन्थ हैं, जिनमें पूर्ण जीवन के लिए न केवल उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताये गये हैं, अपितु इन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विज्ञान ने सत्यापित किया है। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रॉन, वायुयान आदि सभी कुछ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होता है।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराव पावगी ने अपने ग्रन्थ 'Vedic India—Mother of Parliament' में वेद के विषय में लिखा है—

"The vedas are the fountain head of knowledge, the prime source of inspiration nay, the grand repository of divine wisdom and even eternal truths."

अर्थात् वेद सम्पूर्ण ज्ञान का आदिस्रोत, ईश्वरीय प्रेरणा का मुख्य आधार, यहाँ तक कि दिव्य बुद्धि तथा नित्य सत्य का महान् भण्डार है।

अपने दूसरे विश्वविख्यात ग्रन्थ 'Vedic Fathers of Geology' में श्री पावगी ने **'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'** (ऋग्० १०।१२१।१), **'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** (ऋग्० १०।६७।१), **'स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः'** (ऋग्० २।१६६।१५); **'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्** (ऋग्० २।१२।२) इत्यादि मन्त्रों के आधार पर वेदों में भूगर्भविद्या का मूल बताते हुए लिखा है—

"I may take this opportunity to remind the reader, without any fear of contradiction, that the Vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth that has still remained unexplored."

अर्थात् मैं बिना किसी प्रत्याख्यान के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं। वे उस साहित्यिक पूँजी की अक्षय खान है जो अभी तक अज्ञात है।

बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर वी०जी० रेले ने वेदों में जीवविज्ञान का विस्तृत वर्णन पाकर अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा—

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations cannot be correctly made."

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान का रचनासम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगद्विषयक वर्णनों से इतना मेल खाता है कि मन में प्रश्न उठता है कि क्या वेद वास्तव में धर्मग्रन्थ हैं या वे शरीरविज्ञान और नाड़ीसंस्थान के रचनाविषयक ग्रन्थ हैं, जिन्हें पूरी तरह जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्थापनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

श्री पन्यम नारायण गौड़ ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'Introduction to the Message of the 20th Century'

में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिकी तथा रसायनशास्त्र के तत्त्व स्पष्टतया पाये जाते हैं। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही पुस्तक के नाम के साथ उसके नाम का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"Containing a new method for the interpretation of the Vedas and experimental data proving that the Vedas are treatises on exact sciences." अर्थात् इस पुस्तक में वेदों की क्रमबद्ध व्याख्या की नई प्रणाली बताई गयी है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि वेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

बाइबल आदि की तरह वेद मत या सम्प्रदायविशेष के प्रतिपादक अथवा रूढ़ अर्थों में धार्मिक ग्रन्थ नहीं हैं। वैदिक धर्म में भौतिक तथा नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सब अचल नियमों का, जिन्हें वेद में ऋत और सत्य नाम से पुकारा गया है, समावेश है। चराचर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन वेदों में पाया जाता है।

ईश्वरीय ज्ञान देश-काल से परिच्छिन्न नहीं होता। वह सदा एकरूप अनादि और अनन्त है। यदि ऐसा न होता तो यह मनुष्यमात्र का पथप्रदर्शक नहीं हो सकता था। जो ज्ञान किसी देश व काल में सीमित रह जाता है, वह ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा नहीं कर सकता। देशभेद व कालभेद उन पदार्थों में आश्रय पाता है जो कभी और कहीं उद्भव में आते हैं। वेद शाश्वत ब्रह्म का रूप हैं। सर्गकाल में भी उसकी उत्पत्ति नहीं, केवल अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार प्रलयकाल में उसका विनाश नहीं, कारण ब्रह्म में विलय होता है। देश-काल से असम्पृक्त ब्रह्म का ज्ञान वेद उसी के समान नित्य है।

वेदों में अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनसे उनमें ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वर्णन होने का भ्रम होता है। ऐसे शब्दों से व्यक्तिविशेष या स्थानविशेष की प्रतीति होने के दो कारण हैं। मनुस्मृति का वचन है—**'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'** अर्थात् मनुष्यों ने अपने तथा अपने व्यवहार में आनेवाले पदार्थों के नाम वेदों में से चुन-चुनकर रख लिये। कानपुर में किन्हीं पं० वेणीमाधव के चार पुत्र थे। उन्होंने उनके नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न रख लिये। तीन चार वर्ष पहले की बात है बम्बई में घूमते हुए हमने एक मकान के बाहर उसके नामपट्ट पर 'रामायणम्' लिखा देखा। उत्सुकतावश पूछनेपर पता चला कि यह फिल्मजगत् के जाने-माने अभिनेता शत्रुघ्न सिन्हा का मकान है। उसके शेष भाइयों के नाम भी राम, लक्ष्मण और भरत हैं। उनमें से एक के दो बच्चों के नाम भी लव-कुश हैं। स्पष्ट है कि नाम इन परिवारों से रामायण में नहीं गये, अपितु रामायण से इन परिवारों में आये। तात्पर्य यह कि वेदों में ये शब्द पहले से थे। बाद में लोग शब्दों के अर्थ के अनुरूप उनका अपने लिए प्रयोग करने लगे। जैसे—जो सबको मित्रभाव से देखे या जिसे सब लोग अपना मित्र समझें, ऐसे किसी भी व्यक्ति की संज्ञा **'विश्वामित्र'** हो सकती है। वेद में इस शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों का वाचक है। कालान्तर में किसी व्यक्तिविशेष को ऐसा जानकर उसको इस नाम से पुकारने लगे। **'अयोध्या'** शब्द का अर्थ अजेय (invincible) है। बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित अजेय किसी भी नगरी का नाम अयोध्या रक्खा जा सकता है। युद्ध में स्थिर (डटा रहनेवाला) व्यक्ति अपना नाम युधिष्ठिर रख सकता है।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं—इस विषय में यास्काचार्य की स्पष्ट घोषणा है कि वेदों में अनेकत्र आलंकारिक या औपचारिक वर्णन हैं। वेदविषयक इस सिद्धान्त को न समझने के कारण ही वेदों में व्यक्ति अथवा स्थानविशेष का उल्लेख होने की प्रतीति होती है। इस विषय का युक्ति-प्रमाणपुरस्सर विस्तृत विवेचन हमने अपनी **'वेदमीमांसा'** में वेदार्थप्रक्रिया प्रकरण में किया है।

[विना ईश्वरीय ज्ञान के स्वतः विद्वत्ता सम्भव नहीं]

प्रश्न—वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते, क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते, और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाए तो विद्वान् हो जाते हैं। और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता, और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवें, तो वह जैसा सङ्ग है, वैसा ही हो जाएगा। इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर वेद ही ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होता है। अन्य कोई भी धर्मग्रन्थ इन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता।

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

मानवबुद्धि जड़ होने से किसी अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। उसे आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्ययोनि की यही विशेषता है। इसी व्यवस्था में मनुष्ययोनि की सार्थकता है। यही ऐसी योनि है जिसमें रहकर जीव को विकास का अवसर मिलता है, परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता। समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। इसी को लक्ष्य कर शास्त्रों में कहा है—**'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**—अर्थात् माता, पिता तथा आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

अफ्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंग्लैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन-पोषण किया जाए तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक का अफ्रीका के किसी हब्शी के घर में रखकर पालन-पोषण किया जाए तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा। गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बंगला बोलता है। इस सबका कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है। जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता।

स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे है। पशु को तैरना सिखाना नहीं पड़ता, परन्तु तैरने की कौन कहे, जब तक अंगुली पकड़कर चलाया न जाता तब तक मनुष्य का बालक चल भी नहीं सकता।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए

जबतक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी, तबतक मिस्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और इंग्लैण्ड के कुलूम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थे, तब तक वे सहस्रों, लाखों, क्रोड़ों[1] वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे। पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

अध्यापक के पास जाना पड़ता है। यदि मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े ही कभी-न-कभी गणित या व्याकरण का आचार्य, डॉक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता, परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हज़ारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, सन्थाल, नागा आदि जातियाँ आज तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें चेतना या संवेदना का सर्वथा अभाव है। यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता तो उनकी दशा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी रहती? दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों वर्षों में न हो पाया, प्रयत्न करनेपर वह कुछ ही वर्षों में हो गया।

समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिए यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह सर्वथा अज्ञ रह जाएगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानवसमाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। आकृति के सिवा उस मानवशिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जन्म के तत्काल बाद से भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की तरह चारों हाथों-पैरों से चलते थे, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाते थे, और बोलने के नाम पर उन्हीं की तरह गुर्राते थे। मानवसमाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन तथा आत्मसंरक्षण विषयक पशु-जगत् का कार्य नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है; परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह कहा जाता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। साधारण दृष्टि से देखनेपर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

---

१. यह अतिशयोक्ति है, इसका तात्पर्य 'चिरकाल' से है, क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं ११वें समुल्लास के आरम्भ में महाराजा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में अमेरिका के राजा अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन का सम्मिलित होना लिखा है। उस समय अमेरिका देशवासी ज्ञान-विज्ञान से युक्त थे, अन्यथा सहस्रों कोसों का सागर पार करके भारत में कैसे पहुँचते?

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । —योगसू० १।२६॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है, क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है। इसलिए यह निश्चित जानना चाहिए कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जब से दीपक और पतंगा हैं तभी से ऐसा होता आ रहा है। पतंगों के लाखों-करोड़ों वर्षों के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, हाथी, घोड़े आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखाते हैं, परन्तु स्वतन्त्ररूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा लाखों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपाजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और यह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशुजगत् में ही नहीं, मानवजगत् में भी यही नियम काम कर रहा है। कोई परिवार चाहे कितना ही शिक्षित और ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े-लिखे विद्वान् बन जाए, यह सम्भव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमित होता रहता। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाए और दूसरा उस शैक्षिक व्यवस्था से वंचित रहे तो दूसरा एक ही वंश-परंपरा में सगा भाई होनेपर भी मूर्ख रह जाएगा। ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित रहना ही इसमें कारण है।

यदि जीवात्मा स्वाभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतनेपर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गयी होती। स्कूल-कालिज होते भी तो कभी के बन्द हो गये होते। बहुत-से सर्वज्ञ हो गये होते, किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति, परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उससे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सरलता व सुगमता चाहता है। वर्त्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानवगुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है। वस्तुतः मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदि मानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था, यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूँढी जा सकती है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह है भाषाविज्ञान। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ है और अधिक गठित भी। वर्त्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का-सा लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहने का सामर्थ्य। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था।

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा ? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के

[अग्नि आदि को वेदार्थ किसने जनाया]

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए, और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। यही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में आज जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को गुरुओं का गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फूर्त कर दीं। इसी ज्ञानराशि को वेद नाम से अभिहित किया गया है।

कोलम्बस—ग्रन्थकार ने उसे इंग्लैंड का लिखा है, जबकि श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने उसे पुर्तगाल का बताया है। वास्तव में वह इटली का था और अमरीका की खोज उसने स्पेन की सहायता से की थी। हम यहाँ उसके प्रामाणिक जीवनवृत्त से आवश्यक अंश उद्धृत कर रहे हैं—

"Christopher Columbus was born in a humble woolcomber's home at Genoa, a port of Italy about 1446. How could he give effect to his dream of reaching India. Who would provide ships and men ? Genoa could not. Portugal after long disappointment and delay failed him. He sent an offer to Henry VII to carry out his project for England. He offered the same terms to France . Poor Columbus spent his time following the court from place to place. The scholars instead of discussing geograply sought to prove that Columbus was denying the teachings of the Bible. The thought that if there were people on the other side of the world they must be upside down. The rulers of Spain at last gave him three little ships and sent him sailing on **Agust**-3, 1492. On the morning of October 12, 1492, knelt and kissed the ground and took possession in the name of the King and Queen of Spain."

—Arthur Mee : The Book of knowledge, P. 1016.

इस विवरण से स्पष्ट है कि कोलम्बस का न इंग्लैंड से कोई वास्ता था, न पुर्तगाल से।

वेदार्थज्ञान—ऋचाओं के आविर्भाव के साथ अन्तःप्रेरणा से ही ऋषियों को उनके अर्थ का उद्बोधन हुआ। यहाँ अर्थ पद से पदार्थ का ग्रहण होता है। पदार्थ ही शब्द का अर्थ है। पद वेद में थे, पदों के अर्थ=पदार्थ सृष्टि में थे। उन पदार्थों के अस्तित्व में आने पर उनके वाचक शब्द ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उच्चारित हुए। उस उद्बोधन के आधार पर ही ऋषियों ने सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का नामकरण किया। वेद के मूल शब्द यौगिक थे। अब वे योगरूढ़ होने लगे। जब तक शब्द यौगिक या योगरूढ़ि रहते हैं तब तक उनके अर्थ बहुव्यापी होते हैं। कालान्तर में वे शब्द पारिभाषिक बनते गये और अनेक अर्थों में रूढ़ि बन गये।

ऋषियों की आत्मा में शब्दमय ज्ञान हुआ—**'अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या'** (अथर्व० ३।३०।१) अर्थात् आपस में तुम ऐसे प्यार करो जैसे गाय अपने सद्योजात बच्चे से करती है। इन शब्दों के साथ ही

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया, और धर्मात्मा, योगी, महर्षि लोग जब-जब जिस-जिसके अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ-प्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम **'ब्राह्मण'** अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से **'ब्राह्मण'**[1] नाम हुआ और—

ऋषियों की आत्मा में बछड़े को प्यार करती हुई गाय का चित्र भी अंकित हो गया। जिस प्रकार एक इंजीनियर पहले अपने मन में किसी मकान या पुल का चित्र बना लेता है और फिर उस चित्र के आधार पर वैसे ही मकान या पुल का निर्माण कर लेता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों से सूचित होनेवाले विभिन्न पदार्थों के, परमात्मा द्वारा अपने मन में पैदा किये गये चित्रों के आधार पर आदिसृष्टि के ऋषियों ने उन-उन पदार्थों की रचना कर डाली।

कृषिसम्बन्धी अथर्ववेद ३।१७ तथा ऋग्वेद १०।१०१।३ से छह मन्त्रों का उपदेश देते समय परमात्मा ने ऋषियों के मन में इन मन्त्रों से सूचित होनेवाले पदार्थों के चित्र उत्पन्न कर दिये। हल तथा उसका जुआ, बैल के गले में पड़नेवाले जोत, हल में जुती हुई बैलों की जोड़ी, खेत में बोया हुआ बीज, खेत में खड़ी हुई खेती, दराँती और उससे काटी जाती हुई फसल, बैलों से गाहना और फिर छाज में डालकर उड़ाना आदि सब पदार्थों और उनसे होनेवाली क्रियाओं के चित्र ऋषियों ने मन में उत्पन्न हुए। आदिम ऋषियों ने फिर यह सब-कुछ दूसरों को सिखा दिया। इस प्रकार एक-दूसरे से सीखने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार आरम्भ में परमेश्वर द्वारा ज्ञान का प्रवाह चालू कर देने पर मनुष्यों की बुद्धि का विकास होता गया। कालान्तर में अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर नये-नये पदार्थ भी बनाने लग गये। अन्ततः ब्राह्मण आदि के रूप में व्याख्याग्रन्थ रचे गये। 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरुक्त १०।१०)। मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि की रुचि स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करने में होती है। तदनुसार ही यास्क ने यत्र-तत्र मन्त्रार्थ के साथ **'अत्रेतिहासमाचक्षते'** लिखकर इस बात का संकेत किया है। इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** में **'समुपबृंहयेत्'** पद का निर्देश किया है, किन्तु **'इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति, इतिहासे च विधौ सति आदिमत्तादोषो वेदे प्रसज्येत'** (मीमांसायाम्—भाष्यकार शबरस्वामी) अर्थात् यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है (वास्तव में इतिहास नहीं होता)। यदि वास्तव में इतिहास माना जाए तो वेद को सादि अथवा अनित्य मानना होगा।

ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा—मन्त्रों के साथ निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा हैं, मन्त्रकर्त्ता नहीं। मन्त्रकर्त्ता (रचयिता) माननेपर वेदों का अपौरुषेयत्व नष्ट हो जाएगा। प्राचीनकाल से मनीषिजन मन्त्रोंपर विचार करते आ रहे हैं। लौकिक लाभ के प्रलोभन से अनुपहतचित्त जिन मनीषियों ने अपने मनन-चिन्तन के द्वारा समय-समय पर मन्त्रगत धर्म (तत्त्व) का दर्शन (साक्षात्) किया उनका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने के लिए उनके नामों को तत्तत् मन्त्रों के साथ जोड़ दिया गया।

'दूसरों को पढ़ाना भी'—इसपर पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—

"जिन ऋषियों को वेदार्थ (मन्त्रार्थ) दर्शन हुआ उनके दो भेद हैं। एक—जिनसे पहले मन्त्रार्थ का प्रकाशन अन्य ने नहीं किया। और पूर्व ऋषियों द्वारा अर्थ-प्रकाशन कर देनेपर भी जिन्होंने पुनः दर्शन करके पढ़ाया। इसी दृष्टि से कई सूक्तों और मन्त्रों के एक से अधिक ऋषियों का निर्देश मिलता है।

---

१. **ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। 'तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः'** (अष्टा० ४।३।६६) से अण्।

'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः; मन्त्रान् सम्प्रादुः'[1] । —निरु० ७।२

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ, और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है । जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें । वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं ।

अथवा—यह भी भाव हो सकता है कि कई ऐसे भी ऋषि हो सकते हैं, जिन्होंने प्रथम दर्शन तो किया, परन्तु लोक में अर्थ-प्रकाशन नहीं किया । गोपथब्राह्मण उ० ६।१ में लिखा है—**'तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्—'एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्'** (ऋ० ४।१६) **तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत् ।'**

मन्त्रार्थ का अध्यापक भी ऋषि होता है—ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२४ में शिशु आंगिरस के विषय में लिखा है—**'ते देवाऽब्रुवन् एष (शिशुरांगिरसः) वाव नो पिता यो मन्त्रकृत्'** । यही प्रकरण मनु० में भी है—

अध्यापयामास वै पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥ २।१५१, १५३

यहाँ अध्यापन करनेवाले शिशु आङ्गिरस को मन्त्रद्रष्टा कहा है ।

वेदों के अनुक्रमणीग्रन्थों में किस मन्त्र का कौन ऋषि है, इसका निर्देश किया है ।

'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः, मन्त्रान् सम्प्रादुः'—यह पाठ दो उद्धरणों का एकीकरणरूप है । **'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः'** की तुलना करें—**'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः'** निरुक्त ७।२ के साथ, तथा **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संल्लीनमानसः'** लक्षण के साथ । **'मन्त्रान् सम्प्रादुः'** निरुक्त १।२० । कुल्लूकभट्ट ने ठीक ही कहा है—**'ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः'** । अर्थात्—ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषि वेदों का स्मरण करानेवाले हैं, उनके बनानेवाले नहीं । मन्त्रों पर लिखे ये नाम मन्त्रों के समान अनादि अथवा नित्य नहीं है । सूक्तों अथवा मन्त्रों के ऊपर नाम लिखना परम्परागत है ।

रचना के बीच अपना नाम डालने की शैली या प्रवृत्ति प्राचीन संस्कृतसाहित्य में किसी भी काल में नहीं रही । यदि वेद में ऐसी प्रवृत्ति होती तो पश्चाद्वर्त्ती साहित्य में इसका अनुकरण सर्वत्र नहीं तो अनेकत्र अवश्य किया जाता । हिन्दी-कविता में यह व्यवस्था अवश्य है परन्तु वहाँ कवि का नाम अनर्थक वा असम्बद्ध-सा रहता है । वेदमन्त्रों में ऋषिनाम समझे जानेवाले पद मन्त्र का अनिवार्य या सार्थक अंग होते हैं । उन्हें छोड़कर मन्त्र का अर्थ पूरा नहीं होता, क्योंकि ऋषिनाम प्रतीत होनेवाले वे शब्द वास्तव में सामान्य नाम अथवा गुणवाचक शब्द हैं, न कि विशिष्ट नाम ।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिस सूक्त वा ऋचा के आरम्भ में जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस सूक्त का रचयिता है और जैसे वर्त्तमान में लेखक का नाम लेख या पुस्तक पर अंकित होता है, वैसे ही सूक्त वा मन्त्रों के रचयिताओं के नाम उन-उन मन्त्रों या सूक्तों पर अंकित हैं । इस मान्यता के अनुसार अनेक ऋषियों द्वारा रचित सूक्तों और मन्त्रों के संकलन का नाम ही वेद है ।

परन्तु यह धारणा नितान्त मिथ्या है । ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता (रचयिता) माननेपर ऐसे आक्षेपों का

---

१. यह पाठ दो उद्धरणों का एकीकरणरूप है । **'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः'** की तुलना करें—**'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः'** निरुक्त ७।२ के साथ, तथा **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संल्लीनमानसः'** लक्षण के साथ । **'मन्त्रान् सम्प्रादुः'** निरुक्त १।२०॥

[वेद-संज्ञा-विचार]

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है ?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं।

सामना करना होगा जिनका समाधान सम्भव न होगा। उदाहरणार्थ—

१. अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके कई-कई ऋषि हैं। दो-दो, चार-चार ऋषियोंवाले तो सैकड़ों मन्त्र हैं। ऋग्वेद ६।१०७ के 'सप्तर्षयः' सात ऋषि बताये गये हैं। ऋग्वेद (६।६६।१६) के 'अग्न आयूंषि' .... मन्त्र में **'शतं वैखानसा ऋषयः'** सौ वानप्रस्थ ऋषि हैं। इसका तात्पर्य यह है कि २४ अक्षरों के गायत्री छन्द के इस मन्त्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया। ऋग्वेद के ८वें मण्डल के तीन मन्त्रोंवाले सूक्त ३४ को 'सहस्रसंख्यका ऋषयः' एक हज़ार ऋषियों ने मिलकर बनाया होगा। मन्त्र के अर्थ को जानने उसका विनियोग और प्रचार करनेवाले तो हज़ार व्यक्ति भी हो सकते हैं, परन्तु एक मन्त्र के सौ ऋषियों द्वारा बनाये जाने की कल्पना सर्वथा असंगत और उपहासास्पद होगी।

२. ऐसे भी अनेक मन्त्र है जो एक से अधिक वेदों में पाये जाते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न वेदों में उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—'अग्ने नय सुपथा राये......। यह प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद १।१८९।१ में भी है और यजुर्वेद ४०।१६ में भी। परन्तु ऋग्वेदान्तर्गत उसका ऋषि अगस्त्य है और यजुर्वेद में उसका ऋषि दीर्घतमा है। तो क्या यजुर्वेद के ऋषि ने ऋग्वेद का मन्त्र चुराकर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया?

३. ऐसे मन्त्र भी हैं जो एक ही वेद में एक से अधिक बार आये हैं। उदाहरणार्थ—'इडा सरस्वती मही' इस मन्त्र का ऋषि ऋग्वेद १।१३।९ में मेधातिथि काण्व है, परन्तु ५।५।८ में इसी मन्त्र का ऋषि बहुश्रुत आत्रेय है। एक ही मन्त्र को पहले एक ऋषि बनाये और फिर उसी को ज्यों-का-त्यों दूसरा ऋषि बनाये—यह कैसे व्यावहारिक है ?

४. ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके ऋषि और देवता एक ही नामवाले अथवा मिलते-जुलते नामवाले हैं। ऋग्वेद १०।१२४।२-४ का देवता भी 'अग्नि' है और ऋषि भी 'अग्नि'। ऋग्वेद के ही १०।९७ सूक्त का देवता **'औषधिस्तुतिः'** है और ऋषि **'भिषक्'** अर्थात् वैद्य है। क्या मन्त्ररचयिता अपनी ही स्तुति के मन्त्र बनाते हैं।

इन सब बातों पर विचार करके ही ग्रन्थकार ने लिखा है कि "जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं।" उपर्युक्त समस्त आपत्तियों का समाधान ऋषियों को मन्त्रार्थद्रष्टा, व्याख्याता अथवा प्रवक्ता मानकर होता है।

वेद किन ग्रन्थों का नाम—वेदपदवाच्य ग्रन्थों के विषय में बहुत काल से विवाद रहा है। वेद की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद नाम से अभिहित किया है। प्रायः लोग मन्त्रसंहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद) को ही वेद मानते हैं, किन्तु कुछ लोग वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेद में समावेश करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो कल्पसूत्र, मीमांसासूत्र और वेदांगों (विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः षडङ्गमेके—पा०गृ० २।६।५-६) का भी वेदत्व स्वीकार करते हैं। आरण्यक और उपनिषदों का ब्राह्मणग्रन्थों में आविर्भाव माने जाने तथा कल्पसूत्रों और मीमांसा आदि के पारस्करगृह्यसूत्र के कतिपय व्याख्याताओं द्वारा ही माने जाने से ब्राह्मणग्रन्थों का ही वेदपदवाच्य होना विवादास्पद रह जाता है। जब हम यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा वाक्यसमूह है जो आदिकाल से आज तक ईश्वरप्रदत्त अथवा

प्रश्न—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इत्यादि कात्यायनादिकृत 'प्रतिज्ञासूत्रादि' का अर्थ क्या करोगे ?

उत्तर—देखो, संहिता-पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में वेद शब्द सनातन से लिखा आता है और ब्राह्मण पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा और निरुक्त में—

'**इत्यपि निगमो भवति । इति च ब्राह्मम्**' —५।३।४

'**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**' ॥ —यह पाणिनीय (४।२।६६) सूत्र है

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है । इसमें जो विशेष देखना चाहें, तो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिए । वहाँ अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन सत्य नहीं हो सकता, ऐसा ही सिद्ध किया गया है, क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें, क्योंकि ब्राह्मण-पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं । और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है । वह ग्रन्थ भी उसके जन्मे पश्चात् होता है वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है । किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं ।

[वेदों की शाखा]

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं ?

उत्तर—ग्यारह सौ सत्ताईस ।

अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध रहा है तो समस्त वैदिक साहित्य एक स्वर से कहता है—'**ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्याथर्वणः**' ।

'**यत्परः शब्दः स मुख्यार्थः**'—इस न्याय से शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ होता है वह किसी को बताना नहीं पड़ता । अपरिभाषित होने से वह मुख्य होता है । जो किसी वचनविशेष द्वारा परिभाषित अथवा न्यायदर्शन (२।२।६१) में निर्दिष्ट साहचर्यादि निमित्तों से प्राप्त विशेषार्थ होता है, वह गौण होता है । परिभाषित अर्थ कभी मुख्य या स्वाभाविक नहीं होता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा की आवश्यकता नहीं होती । ऋग्-यजुः-साम-अथर्वसंहिताओं के वेदत्वप्रतिपादनार्थ आज तक किसी ने प्रयास नहीं किया । इन संहिताओं का अध्येता या श्रोता अनायास ही कहता है कि मैं ऋग्वेद या यजुर्वेद आदि का अध्ययन कर रहा हूँ, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों व उपनिषदादि का अध्येता साधारणतया ब्राह्मण या उपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है अथवा नामनिर्देशपुरःसर ऐतरेयब्राह्मण या कठोपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है । वेद के व्याख्यानग्रन्थ होते हुए भी शतपथ अथवा ऐतरेयब्राह्मण का अध्येता कभी नहीं कहता कि वह शतपथवेद अथवा ऐतरेयवेद का अध्ययन कर रहा है, अतः '**वेद**' पद का स्वाभाविक एवं अपरिभाषित वाच्यार्थ मन्त्रसंहिता ही हैं ब्राह्मणादि ग्रन्थ नहीं ।

'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**'—यह सूत्र या उसका वचनान्तर ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में कहीं नहीं मिलता । केवल कृष्णयजुःशाखा के आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है । ऋग्वेद और सामवेद की जितनी शाखाएँ उपलब्ध हैं, उनमें ब्राह्मण का लेशमात्र भी सम्मिश्रण नहीं है । कुछ लोग शुक्लयजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिनसंहिताओं में ब्राह्मण का संमिश्रण मानते हैं । इस मान्यता का आधार कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध वर्त्तमान यजुःसर्वानुक्रमसूत्र हैं, जो स्वयं अप्रामाणिक हैं । प्राचीन आचार्यों के मत में शुक्लयजुः की दोनों संहिताओं में कोई भाग ऐसा नहीं

प्रश्न—शाखा क्या कहाती हैं ?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं।

[क्या शाखाएँ वेद का अवयव हैं ?]

प्रश्न—संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं ?

उत्तर—तनिक-सा विचार करो, तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखा हैं, वे **आश्वलायन** आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे 'आश्वलायनी' आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धरके व्याख्यान करते है। जैसे **तैत्तिरीय शाखा** में '**इषे त्वोर्जे त्वेति**' इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी, इसलिए परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष, और आश्वलायनादि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं।

जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहें, वे '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लेवें। जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार, भ्रमजाल से छूटकर, विद्याविज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएँ।

है जो ब्राह्मणपदवाच्य हो। शुक्लयजुः की काण्वसंहिता का प्रसिद्ध भाष्यकार आनन्दबोध भी तथाकथित ब्राह्मणभाग को मन्त्र नाम से स्मरण करता हुआ उनके ऋषि, देवता तथा छन्दों का निर्देश करता है। ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश मन्त्रों में ही होता है—यह सब आचार्यों का मत है।

वस्तुतः कात्यायनश्रौतसूत्रों में यह वचन कहीं नहीं है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में यह अवश्य मिलता है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध दो प्रतिज्ञापरिशिष्ट हैं—एक श्रौतसूत्र से सम्बद्ध और दूसरा प्रातिशाख्य से। उनमें से प्रातिशाख्य से सम्बद्ध परिशिष्ट में यह सूत्र मिलता है, श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में नहीं। वस्तुतः इस परिशिष्ट का कात्यायनकृत होना ही सन्दिग्ध है। यदि यह कात्यायनसम्मत होता तो आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के समान उनके श्रौतसूत्रसम्बद्ध परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्यसम्बद्ध में। वहाँ न होने से प्रतीत होता है कि कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व इष्ट नहीं है। कात्यायन आदि के नाम से उद्धृत वाक्यों में **'नामधेयम्'**, **'आचक्षते'**, **'आहुः'** पद प्रकट करते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ स्वतः वेदवाच्य नहीं हैं, किसी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ यह परिभाषा गढ़ी है।

यहाँ सत्यार्थप्रकाश में ग्रन्थकार का लेख है—"वहाँ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में) अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन नहीं हो सकता।" इससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार इसे कात्यायन का वचन नहीं मानते। किन्तु ऋ०भा०भू० (वेदसंज्ञाविचार) में वे लिखते हैं—"एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है"—(कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायाम-स्वीकृत्वात्)। इसका अभिप्राय है कि उन्होंने इसे कात्यायन का वचन माना है। वस्तुतः उन्होंने दुर्जनतोषन्याय से इसे कात्यायन का वचन मानकर यह पंक्ति लिखी है।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में आपस्तम्बकल्प के वचन अनेकत्र उद्धृत किये हैं। इससे कतिपय विद्वानों के इस कथन का प्रत्याख्यान हो जाता है कि उन्होंने कृष्णयजुः के श्रौतसूत्र नहीं देखे थे। इसलिए उनके (ग्रन्थकार) के "एक कात्यायन को छोड़के अन्य किसी ऋषि ने उनके (ब्राह्मणग्रन्थों के) वेद होने में साक्षी

नहीं दी है'' कथन से विशेष अभिप्राय सूचित होता है। वह इस प्रकार है—'कृष्णयजुः की शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण का मिश्रण प्रत्यक्ष होने से उन शाखाओं के सूत्रकारों ने अपने श्रौतसूत्र के परिभाषाप्रकरण में मन्त्रब्राह्मण की पारिभाषिक वेदसंज्ञा कही है, क्योंकि पारिभाषिक संज्ञाएँ उसी ग्रन्थ के लिए प्रमाण होती हैं जिसमें वे पढ़ी जाती हैं। इस प्रकार इस सूत्र में कही गयी वेदसंज्ञा सामान्यरूप से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा का विधान नहीं कर सकती।

इससे पूर्व अनेकत्र उद्धृत प्रमाणों से सिद्ध है कि स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, व्याकरण, निरुक्त, मनुस्मृति आदि किसी ने भी कहीं अपने वेद होने का दावा नहीं किया है। आनुषङ्गिकरूप में यहाँ हम कुछ अन्य युक्तियाँ मात्र चार मन्त्रसंहिताओं की वेदसंज्ञा होने के पक्ष में प्रस्तुत करते हैं—

१. वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जबकि ब्राह्मणादि मनुष्यकृत ग्रन्थ हैं।

२. वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ, जबकि ब्राह्मणादि समय-समय पर रचे गये।

३. यज्ञों में वेदमन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मणवचनों का नहीं।

४. वेदमन्त्रों की संख्या नियित है—ऋग्वेद १०५२२, यजुर्वेद १६७५, सामवेद १८७५, अथर्ववेद ५६७७; कुल योग २०३४६। इसके लिए अनुक्रमणिका है। शतपथब्राह्मण में भी ऋचाओं का परिमाण निर्धारित है। यदि ब्राह्मणों को भी वेद माना जाए तो यह संख्या कहीं अधिक हो जाए, परन्तु उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वेदों के अक्षरों का परिमाण ८ लाख चौंसठ हज़ार निर्धारित है। यदि ब्राह्मणादि का वेदों में अन्तर्भाव होता तो वेद के अक्षरों की संख्या कहीं अधिक होती।

५. यदि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद माना जाएगा तो उनके कालान्तर में प्रादुर्भूत होने से आदिसृष्टि में प्रादुर्भूत वेद का पूरक मानना होगा। इससे वेदों के अपूर्ण होने से ईश्वर की पूर्णता और **सर्वज्ञता पर भी प्रश्नचिह्न** लग जाएगा।

६. वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका **उच्चारण किया होगा**। **वेद** के एक-एक अक्षर, मात्रा, स्वर और पौर्वापर्य की रक्षार्थ क्रम, जटा, माला **आदि के रूप में अनेक-विध** पाठों की व्यवस्था की गयी। ब्राह्मणग्रन्थों के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ।

७. पाठकाल में वेदमन्त्रों का उदात्तानुदात्तस्वरित भेद से त्रैस्वर्य पाठ होता है—ऐसा व्याकरण आदि शास्त्रों तथा स्मृतियों का कथन है। यज्ञ के समय ये मन्त्र न्यूङ्ख साम को छोड़कर एकश्रुति से पढ़े जाते हैं। एकश्रुति को ही तान कहा जाता है। अष्टाध्यायी (१।२।३४), कात्यायनश्रौतसूत्र (१।७।१८-१९), यजुः-प्रतिशाख्य तथा मीमांसा (६।२।७) में इस पक्ष को स्थापित किया है, परन्तु मीमांसादर्शन (१२।३।१७) में जैमिनि ने ब्राह्मणों का भाषिक स्वर माना है। इसपर मीमांसा के सर्वमान्य भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है—**'भाषास्वरो ब्राह्मणे प्रवृत्तः'** इस स्वरभेद से वेद और ब्राह्मण का भेद स्वयंसिद्ध है।

८. वेदों के प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर नियत हैं। बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि में तथा अन्यत्र कहीं भी ब्राह्मग्रन्थों के लिए इस प्रकार का विधान नहीं मिलता। यदि ब्राह्मणग्रन्थों का वेद में समावेश होता तो वेदमन्त्रों के समान उनके भी ऋषि, देवता आदि नियत किये गये होते। इसी प्रकार जैसे वेदों के उपवेद ब्राह्मण आदि हैं, वैसे ही ब्राह्मणग्रन्थों के वेद माने जाने की स्थिति में उनके भी उपवेद तथा अन्य ब्राह्मण होते। ऐसा न होने से भी वेदों से ब्राह्मणों का भेद स्पष्ट है।

९. यजुःप्रातिशाख्य में वेद तथा ब्राह्मणों में भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'ओंकारं वेदेषु**

अथकारं भाष्येषु' अर्थात् वेद के आरम्भ में **'ओ३म्'** का उच्चारण किया जाता है तथा उनके भाष्यरूप ब्राह्मणग्रन्थों में **'अथ'** का प्रयोग होता है। इससे अतिरिक्त भी याज्ञिक प्रक्रिया में कहा गया है कि जब अध्वर्यु वेदमन्त्र बोले तो होता **'प्रतिगर'** (हुंकार) के रूप में **'ओ३म्'** का उच्चारण करे और वेदेतर वचनों के प्रतिगर के रूप में **'तथेति'** बोले। यहाँ भी वेद से ब्राह्मण का भेद स्पष्ट है।

१०. **'छन्दो ब्राह्मणानि'**—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५) इस वचन में कल्प और ब्राह्मण दो ग्रन्थों के नाम है। यज्ञ में वेदमन्त्रों के विवरण-अर्थवाद-विनियोग को वर्णन करनेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाता है और उसकी वैनियोगिक विधि को विशदरूप से बतानेवाला ग्रन्थ कल्प है। निरुक्त १३।७ में कहा है—**'मन्त्रब्राह्मणकल्पैः'**—मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। यज्ञ में मन्त्र पढ़े जाते हैं, ब्राह्मण द्वारा मन्त्रों का विवरण अर्थवाद विनियोग किया जाता है और कल्प से वैनियोगिक विधि विशदरूप में बताई जाती है। इस प्रकार अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थों में मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अब लीजिए—'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (अष्टा० ४।२।६६)। यहाँ **'छन्द'** और **'ब्राह्मण'** ये दो कहे गये हैं। इस प्रकार यहाँ छन्द अलग वस्तु है और ब्राह्मण अलग वस्तु है। इस सूत्र पर व्याकरणशास्त्रमर्मज्ञ पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। जो इस प्रकार है—

"बहुत से व्याख्याता पाणिनीय सूत्र में **'छन्द'** और **'ब्राह्मण'** दो पदों का प्रयोग **'गोबलीवर्दन्याय'** से मानते हैं, परन्तु नागेशभट्ट कैयट द्वारा उद्धृत उक्त न्याय का खण्डन करते हुए लिखता है—**'वस्तुतो गायत्र्यादिछन्दोबद्धेषु मन्त्रेष्वेव छन्दस्त्वमिति बोधयितुं तत्र ब्राह्मणग्रहणम्'**। (अर्थात् वस्तुतः गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों में ही छन्दः पद की प्रवृत्ति को बताने के लिए ही इस सूत्र में 'ब्राह्मण' पद का ग्रहण किया है।) महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।१०, निर्णयसागर सं० पृष्ठ १४३"

'ब्रह्म' वेद का पर्यायवाची शब्द है। **'ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः'** (अष्टा० ४।३।६६) से अण्। महाभाष्यकार पतञ्जलि की स्पष्ट घोषणा है—**'ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि'**—अर्थात् ब्राह्मण महर्षियों ने वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों की रचना की। व्याख्येय और व्याख्यान में साहचर्य होनेपर भी दोनों एक नहीं हो सकते। व्याख्येय वेद साध्य है, व्याख्यानरूप ब्राह्मण साधन हैं। साध्य एक होनेपर भी साधन अनेक हो सकते हैं। फिर, साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। मूल के समझ लेने-पर टीका की आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्योक्त ब्राह्मणग्रन्थों को ईश्वरोक्त वेद नहीं माना जा सकता।

वेदशाखा—ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (१८७५) के पृष्ठ ३३२ पर इस प्रकरण में लिखा है—

"इससे जो वेद पुस्तक हैं, वे सब शाखाओं के मूल हैं। और शाखा व्याख्यानों की नाईं ब्रह्मादिक ऋषि-मुनि के किये हैं। जैसे—**'मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य'** ऐसा पाठ शुक्लयजुर्वेद (२।१३) में है और तैत्तिरीय शाखा (१।५।३।२) में **'मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यम्'** ऐसा पाठ है। **'जूति'** जो मन का विशेषण था, सो **'ज्योति'** शब्द से स्पष्टार्थ हो गया। इसी प्रकार **'आज्यस्य'** में कर्म में षष्ठी है, यह **'आज्यम्'** शब्द से स्पष्ट हो गया।"

इस प्रकार पाठादि में परिवर्त्तन करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता **है वह शाखा** का रूप धारण कर लेता है, जैसे—तैत्तिरीय, काठक, काण्व, मैत्रायणी आदि संहिताएँ। शाखाओं के प्रवचनकर्त्ताओं ने पाठान्तरमात्र करके-क्लिष्ट या अस्पष्टार्थक शब्द के स्थान पर स्पष्टार्थक शब्द का प्रयोग करके मन्त्र के

भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार शाखाएँ बनती गयीं। जिस प्रकार शाखाकारों ने मन्त्रगत पाठ में परिवर्त्तन करके मन्त्रपद का व्याख्यान किया है, उसके कुछ उदाहरण पं० भगवद्दत्तजी ने स्वरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, द्वि० सं०, पृष्ठ १७८-७६ पर दिये हैं।

प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट लिखते हैं—**'चरणशब्दाऽध्ययनवचनः'** अर्थात् चरण (शाखा) शब्द अध्ययन वाचक है। चरण और शाखा आदि शब्द वेदों की पठन-पाठनशैली के ही वाचक हैं, वेदों के विभाग के बोधक नहीं। शाखातत्त्व पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐतरेयालोचन' में लिखते हैं—**'तत्त्वतो न हि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्यनविशेषरूपैव'**, अर्थात्—वेद की शाखाएँ न तो वृक्ष की शाखाओं की भाँति हैं और न नदी की शाखाओं की भाँति। प्रत्युत वे पठन-पाठनभेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप हैं।

शाखा शब्द का व्यवहार मूलग्रन्थों में बिना किसी परिवर्त्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ जुड़ जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकलसंहिता है। शाकल्य ने संहितापाठ में कोई परिवर्त्तन या परिवर्द्धन नहीं किया। पदपाठ का कर्त्ता होनेमात्र से ऋक्-संहिता के साथ उसका नाम संयुक्त हो गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा नाम से व्यवहार होने लगा।

शाखाएँ दो प्रकार की हैं—एक मन्त्रात्मक और दूसरी मन्त्र-ब्राह्मणमिश्रित। दोनों प्रकार की शाखाओं के मन्त्रों में शब्दभेद से प्रवचन द्वारा व्याख्यान किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति शाखाओं में भी मन्त्रों के प्रतीक रख-रखकर वेदों का व्याख्यान किया जाता है। इस प्रकार शाखाएँ व्याख्यानरूप हैं, वेद व्याख्येय हैं। दोनों एक नहीं हो सकते।

शाखाओं की संख्या—अपने मूलरूप में ११३१ शाखाओं में से अब केवल १० उपलब्ध हैं—ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की काण्व, तैत्तिरीय, माध्यन्दिनी व मैत्रायणी, सामवेद की जैमिनि, राणायनि व कौथुम, अथर्ववेद की शौनक व पिप्पलाद। भारत और नेपाल दोनों में कुल मिलाकर अब १७५० पण्डित और ६५० शिष्य रह गये हैं। मैत्रायणी शाखा के केवल ३ पण्डित, शौनक व जैमिनि का १ पण्डित व तीन शिष्य. पिप्पलाद शाखा का नेपाल में १ पण्डित और शौनक शाखा का सिनौर में केवल १ पण्डित शेष है। १६६३ में कांची कामकोटिपीठ के जगद्‌गुरु स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती ने 'वेदरक्षणनिधिट्रस्ट' की स्थापना की है। ट्रस्ट का उद्देश्य प्रारम्भ में उन शाखाओं के अध्ययन के लिए पाठशालाओं का संचालन करना है जिनके जल्दी ही लुप्त हो जाने की आशंका है। अभी तक ट्रस्ट ने ऋग्वेद में ५०, शुक्लयजुर्वेद में ५, कृष्णयजुर्वेद में ७०, अथर्ववेद में ३ तथा सामवेद की **कौथुमा** शाखा में २० अध्येता तैयार किये हैं। वेदों को सुरक्षित रखने के लिए इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों की भी सहायता ली जा रही है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान तथा तिरुमल तिरुपति देवस्थान पहले ही कुछ मन्त्रों के पाठ को टेपरिकॉर्ड कर चुके हैं। यह सब प्रयत्न वेद के शरीर को=शब्दों को सुरक्षित करने के लिए है। इस तोतारटन्त का भी अपना महत्त्व है। **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**—जड़ ही न होगी तो फूल-पत्ते कहाँ से आएँगे ? किन्तु यह न भूलना चाहिए कि बीज बोने का अन्तिम ध्येय फल प्राप्त करना है जो वेदार्थ के बिना सम्भव नहीं—**'वाचः फलमर्थः'**, परन्तु यदि वह अर्थ सारहीन=दिशाहीन होगा तो वह वेद और वैदिक वाङ्मय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न करके (जैसाकि ग्रन्थकार के प्रादुर्भाव से पूर्व शताब्दियों तक होता रहा और अब भी यत्र-तत्र हो रहा है) उसके सम्बन्ध में हमारी—संसार की—पवित्र एवं उदात्त भावनाओं को रौंदकर वेद के दिव्य रूप को

[वेद की नित्यता-अनित्यता पर विचार]

प्रश्न—वेद नित्य हैं, वा अनित्य ?

उत्तर—नित्य हैं, क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण-कर्म-स्वभाव नित्य, और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न— क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

उत्तर— नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्र और स्याही का बना है। वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।

[सर्वज्ञ ईश्वर के विना वेदों की रचना सम्भव नहीं]

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के विना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार

धूमिल कर उसे हेय बना देगा।

वेदों का नित्यत्व—वेद शब्दरूप है, अतः वेद का नित्यत्व शब्द के नित्यत्व पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में शब्द का नित्यत्व विवेच्य है। गुण-गुणी आदि अयुतसिद्ध हैं। अयुतसिद्ध में समवायसम्बन्ध होता है। शब्द की गणना गुणों के अन्तर्गत है। गुणी द्रव्य होता है। नौ द्रव्यों में आकाश भी एक द्रव्य है। परिशेषानुमान से शब्द आकाश का गुण है। जब गुणी आकाश नित्य है तो उसका गुण अर्थात् शब्द कैसे अनित्य कैसे हो सकता है ? मीमांसादर्शन (१।१।१५) में शब्द के आकाश की भाँति नित्य तथा व्यापक होने का उपपादन करने के लिए कहा है—**'आदित्यवद्यौगपद्यम्'** अर्थात् एक शब्द का सूर्य की भाँति अनेक देशों में एक ही समय में होना शब्द के व्यापकत्व में प्रमाण है। ऐसा न होता तो दिल्ली या लन्दन से रेडियो द्वारा प्रसारित शब्द एक ही समय में संसारभर में कैसे सुना जाता ?

शब्दों का समूह वाक्य होता है। ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति होने से वेद के वर्ण, शब्द और वाक्य सभी नित्य हैं। वेदस्थ शब्दार्थसम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में स्थित होने से नित्य है। ईश्वर के एकरस होने से उसकी विद्या भी अखण्ड और एकरस बनी रहती है। उसमें एक अक्षर का भी विपर्यय नहीं होता। चारों वेदों की संहिताओं में शब्द, पद, अक्षरादि का जो क्रम वर्त्तमान में है, वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। नई सृष्टि में पूर्वकल्प के समान ही वेदों का प्रकाश होता है। इस प्रकार वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से वेदों का नित्यत्व सिद्ध है।

पुस्तकों का निर्माण काग़ज, स्याही आदि से होता है। ये सभी पदार्थ तथा लेखन-मुद्रण की क्रिया मनुष्यकृत है और देशकालावच्छिन्न होने से नाशवान् है, अतः पुस्तक के नाशवान् होने से वेदज्ञान अनित्य नहीं हो सकता।

हमारा मत—वेद हैं—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः। —भागवत् ६।१।४०

वेदो धर्ममूलम्। —गौतमधर्मसूत्र १।१।२

का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें। हाँ, वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है ? तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं। अब इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे। यह संक्षेप से ईश्वर और वेदविषय में व्याख्यान किया है ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषित ईश्वरवेदविषये सप्तमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥७॥

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। —मनु० २।१३
वेदाः प्रमाणं लोकानाम्। —महा० शान्ति० २७०।१
यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ —मनु० २।७

अथाष्टमसमुल्लासारम्भः

अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

[ब्रह्म से जगदुत्पत्ति में प्रमाण]

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१॥
—ऋ० मं० १० । सूक्त १२६ । मं० ७

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥२॥
—ऋ० मं०१०। सूक्त १२६ । मं० ३

इयं विसृष्टिः—उपर्युक्त प्रथम दो मन्त्र नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १०।१२६) से लिये गये हैं। वेद के जिन प्रसंगों में सृष्टिरचना का निर्देश किया गया है, उनमें नासदीय सूक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूरा सूक्त इस प्रकार है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥
—ऋ. अ. ८ । अ. ७ । व. १७

सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। वहाँ लिखा है (तदानीं) सर्गकाल से पूर्व, प्रलय अवस्था में सब-कुछ (असत् आसीत्) 'असत्' था, (न) ऐसी बात नहीं है। उस समय (सत्) 'सत्' (नो आसीत्) नहीं था, क्योंकि (रजः) ये दृश्यमान लोक-लोकान्तर और (यत्) जो उनसे (परो व्योमा) परे व्यवहार्य आकाश (नो) न था। (किम् आवरीवः) कहीं कोई आवरण करनेवाला नहीं था। (कुह कस्य शर्मन्) यह सब कहाँ, किसके भोग के लिए किया जाए जब उस समय कोई भोक्ता नहीं था। जब लोक-लोकान्तर, भोक्ता, भोक्ता के आवरक तत्त्व और पृथिव्यादि भूत नहीं थे, तब (गहनं) गहरा (गभीरं) गम्भीर (अम्भः) समुद्र (किम्) कैसे (आसीत्) हो सकता था ?

यह प्रथम ऋचा का शब्दार्थ है। द्वितीय ऋचा में इसी प्रसंग को प्रवृत्त रखते हुए अन्त में बताया गया है कि उस समय किस प्रकार की सत्ता थी। वहाँ लिखा है—(तर्हि) उस समय (मृत्युः) मृत्यु (नासीत्) नहीं थी, (अमृतं) अमृत (न) नहीं था, (रात्र्याः) रात्रि और (अह्नः) दिन का (प्रकेतः) कोई चिह्न (न आसीत्) नहीं था। (एकं स्वधया) स्वधाके साथ केवल एक (अवातं) निर्दोष चेतनसत्ता (आनीत्) अवस्थित थी। (तस्मात्) उससे (परः) उत्कृष्ट (अन्यत् ह) और (न किञ्चन) कोई नहीं (आस) है, अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है।

यह द्वितीय ऋचा का शब्दार्थ है। इसके उत्तरार्ध में प्रतिपादित अर्थ को और अधिक स्फुट करके प्रलयकाल की अवस्था को स्पष्ट किया है, तथा अन्त में प्रलयकाल के अनन्तर होनेवाले सर्ग की ओर निर्देश किया गया है। वहाँ लिखा है—(इदं सर्वं) यह सब दृश्यमान जगत् (अग्रे) सृष्टि के पूर्वकाल में (अप्रकेतं) प्रत्येक चिह्न से रहित (सलिलं) कारण के साथ अविभागापन्न (आः) था। (तमः) वह मूल कारण भी, (तमसा) अन्धकार से (गूढं) आवृत (आसीत्) था। दूसरे शब्दों में (यत्) जो (तुच्छ्येन) कारण ने (आभु) कार्य को (अपिहितं) अपने अन्दर छिपाया हुआ (आसीत्) था (तत् एकम्) कारण के साथ एकीभूत वह जगत् (महिना) सर्गकाल में तेजोमय चेतना की महिमा से (अजायत) उत्पन्न हो जाता है। तृतीय ऋचा का यह शब्दार्थ है।

चतुर्थ ऋचा में प्रथम संकेतित आदिसर्ग का अधिक स्पष्ट वर्णन है। ऋचा के प्रत्येक पद के साथ, अर्थ को निम्न रीति पर समझना चाहिए—(अग्रे) आदि सर्गकाल में, (अधि) परमात्मा में, (यत्) जो, (कामः) संकल्प (समवर्त्तत) होता है, (तत्) वही, (मनसः) जगत् का, (प्रथमं) पहला (रेतः) कारण (आसीत) है। (कावयः) क्रान्तदर्शी ऋषि (हृदि) अपने अन्तःकरण में (प्रतीष्या) विचारकर अथवा विचारपूर्ण (मनीषा) बुद्धि के द्वारा, (असति) अव्यक्त में, (सतः) व्यक्त के, (बन्धुम्) सम्बन्ध को, (निरविन्दन्) जान जाते हैं। यह चतुर्थ ऋचा का शब्दार्थ है

पञ्चम ऋचा के द्वारा आदिसर्ग के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डाला गया है। वहाँ लिखा है—(एषाम्) इनका (रश्मिः) जाल, (विततः) सहसा विस्तृत (तिरश्चीनः) मध्य में (आसीत्) हो जाता है। (अधः स्वित्) अथवा नीचे (उपरि स्वित्) अथवा ऊपर, (रेतोधाः) प्रेरणा के आधारभूत मूलतत्त्व (आसन्) होते हैं, और (महिमानः) ये महान् लोक-लोकान्तर (आसन्) हो जाते हैं। (स्वधा) मूलतत्त्वरूप प्रकृति (अवस्तात्) अपकृष्ट, और (प्रयतिः) नियन्ता (परस्तात्) उत्कृष्ट।

पञ्चम ऋचा का यह शब्दार्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त की पाँच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदिसर्ग के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश किये गये हैं, जिनसे इस रहस्यमयी विश्व-पहेली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए छठी ऋचा के द्वारा उसी अर्थ को प्रथम प्रश्नरूप में उपस्थित करके सातवीं ऋचा में इसका उत्तर दिया गया है। छठी ऋचा में लिखा है—(इयं) यह (विसृष्टिः) विविध सृष्टि, (कुतः) कहाँ-कहाँ से (आजाता) उत्पन्न होती है ? (को अद्धा) कौन इसको (वेद) वास्तविकरूप में जानता है ? और (कः)

कौन (इह) इस विषय में (प्रवोचत्) कथन करता है ? (देवाः) इस विषय में गम्भीर विचार करनेवाले विद्वान्, (अस्य विसर्जनेन अर्वाक्) इस सर्गकाल के अनन्तर होते हैं। (अथ) इसलिए यह (यतः) जहाँ से (आबभूव) उत्पन्न होती है, इसको (कः) कौन (वेद) जानता है ?

सूक्त की अन्तिम सातवीं ऋचा में इसका उत्तर देते हुए कहा है—(इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध सृष्टि (यतः) जहाँ से (आबभूव) उत्पन्न होती है, (यदि वा) और जिसके द्वारा (दधे) धारण की जाती है, (यदि वा न) और अन्त में जब यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाती है, (अस्य) इस सबका (यः) जो (अध्यक्षः) अध्यक्ष—नियन्ता (परमे व्योमन्) सर्वव्यापक परमात्मा है (सो अङ्ग) वह इसकी वास्तविकता को (वेद) जानता है। (यदि वा न) और जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी (वेद) जानता है।

प्रलयावस्था में सब-कुछ अभावरूप नहीं हो जाता। उसकी कुछ सत्ता अवश्य रहती है, परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं होती जैसी सर्गकाल में देखी जाती है, अर्थात् सर्गकाल के समान लोक-लोकान्तर, भोक्ता आत्मा, उसके सुख-दुःख आदि उपभोग के साधन देह आदि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि उस समय नहीं थे। यह सब 'नो सदासीत्' का व्याख्यान है। अभिप्राय यह कि 'सत्' पद का प्रयोग यहाँ 'व्यक्त' जगत् के लिए हुआ है। चौथी ऋचा में भी 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' के अर्थों में हुआ है।

'सत्' का निषेध तो समझ में आता है, किन्तु 'सत्' और 'असत्' दोनों का एक साथ निषेध कैसे सम्भव है ? उधर छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—"कुछ लोग कहते हैं कि पहले एकमात्र 'असत्' ही रहता है। उस 'असत्' (अभाव) से 'सत्' (भाव) हो जाता है। हे सौम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् कैसे हो सकता है ? इसलिए हे सौम्य ! पहले सत् ही था।" वहीं पर अन्यत्र कहा है कि पहले असत् ही था। सत् और असत् परस्पर-विरोधी हैं। दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? इतना ही नहीं, उपनिषद् ने एकत्र ही **'असदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीत्'** भी कह दिया। इस प्रकार जहाँ श्रुति (वेद) सत् और असत् दोनों का निषेध करती है, वहाँ उपनिषत्कार दोनों का एक साथ उपपादन करते हैं। इस लिए यहाँ सत् और असत् दोनों का निषेध होने से आपाततः **'सदसद्विलक्षण'** तत्त्व की खोज में प्रवृत्त होना स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए सर्वथा असंगत है। विष्णुपुराण में जहाँ प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा) तथा परमात्मा का वर्णन है, वहाँ प्रकृति के स्वरूप का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"ऋषियों ने 'प्रधान' नामक जो जगत् का अव्यक्त कारण कहा है, वही सूक्ष्म प्रकृति है। वह नित्य तथा सद्रूप एवं असद्रूप है।"[1]

इस उलझन का कारण 'असत्' को 'अभाव' का पर्याय समझना है। वस्तुतः 'सत्' व्याकृतनामरूप अवस्था का वाचक है और 'असत्' अव्याकृतनामरूप अवस्था का। जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में सदा विद्यमान रहना 'सद्रूप' कहाता है और कार्यरूप में न रहना 'असद्रूप'। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन **'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'** कहकर किया है। प्रलयदशा में मूलकारण=तमः अन्धकार से=तमसा आवृत्त रहता है। उस अवस्था में समस्त दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के रूप में अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। ऋग्वेद के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥—मनु० १।५

१. **अव्यक्तकारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥** —वि.पु. १।२।१६
तुलना करें—निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तलिङ्गम् ।—योगसूत्र व्यासभाष्य २।१६

अर्थात् सृष्टि से पहले यह जगत् तमोभूत (कारणरूप) होने से न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य होता है। समस्त व्याकृत जगत् कारण में लीन होने से ज्ञेय नहीं था, इसीलिए कहा गया कि 'सत्' नहीं था, परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता ? वह कारणरूप में विद्यमान था, इसलिए कहा गया कि **'असत्'** नहीं था। विष्णुपुराण में जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयदशा का वर्णन इन शब्दों में किया है—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत् तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥—१।२।२३

अर्थात् प्रलयकाल में दिन-रात, द्यु, भूमि आदि कुछ भी न था। उस समय श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध न होनेवाला प्रधान (प्रकृति), ब्रह्म तथा पुरुष (जीव) ही था। विष्णुपुराण के इस वर्णन में ऋग्वेद के प्रस्तुत नासदीय सूक्त की ध्वनि है। टीकाकार श्रीधर स्वामी ने प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम चरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रलयकाल में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति—इन तीनों तत्त्वों का अस्तित्व था—"प्राधानिकं प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलय आसीत्।" प्रकृति का कार्यरूप जगत् उस समय नहीं था। मूलतः प्रकृति शब्द, स्पर्शादि व्यक्त रूपों से रहित है। कारणावस्था में रहते हुए वह केवल त्रिगुणात्मक है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। विष्णुपुराण के उक्त सन्दर्भ में २१वें श्लोक में **'त्रिगुणं तज्जगद्योनिः'** कहकर स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि का उपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है, चेतन ब्रह्म नहीं। शंकराचार्य को भी स्वीकार करना पड़ा—

"नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः । किं तर्हि ? व्याकृतनाम रूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव ।"

—शा.भा. २।१।१७

अर्थात् कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् कहना अत्यन्ताभाव के अभिप्राय से नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्याकृत होने के कारण है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के नामरूप अव्याकृत रहते हैं, उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त होते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है।

विवेच्य सूक्त के द्वितीय मन्त्र में सदसत् के अतिरिक्त जिन वस्तुओं के अस्तित्व को नकारा गया है, उनमें मुख्य हैं—मृत्यु, अमृत, प्रकाश और अन्धकार में भेद तथा प्राण। इसका कारण था कारणावस्था में होने से जगत् में किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव न होना। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—**"आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् ।"** —ऐत० २।१ अर्थात् सर्ग से पूर्व एक परमात्मा था, अन्य कोई वस्तु गति में नहीं थी, वस्तुतः सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में जब किसी का जन्म ही नहीं हुआ था तो मृत्यु कैसे होती ? इसलिए मृत्यु नहीं थी। उस अवस्था में जब न कोई जन्म लेता था और न मरता था तो मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्षलाभ करने का प्रश्न ही नहीं था। इसलिए अमृत नहीं था। सर्गकाल में जिन पदार्थों के कारण काल के दिन और रात विभाग होते हैं, वे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रलयकाल में नहीं थे। दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही हैं, जिनके होने से दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। इस प्रकार जब अभी सूर्य की सृष्टि नहीं हुई थी तब प्रकाश और अन्धकार में भेद कैसे हो सकता था ? इसी प्रकार जब तक जीवात्मा ने कोई शरीर धारण नहीं किया था, तब तक उसे प्राण की अपेक्षा क्यों होती ? इसलिए प्राण नहीं था।

सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी ब्रह्म से अतिरिक्त जिन दो वस्तुओं के विद्यमान होने का निर्देश सूक्त में स्पष्टरूप से उपलब्ध है, वे हैं —**'स्वधा'** तथा **'रेतोधाः'**। वेद में स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि नामों से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का निर्देश हुआ है। जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी परमेश्वर अकेला नहीं था। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** में तृतीया विभक्त्यन्त 'स्वधा' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति की

स्वतन्त्र सत्ता थी। प्रकृति के साथ (स्वधया) ही ब्रह्म विद्यमान था। एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। इससे उन पदार्थों के दो निश्चित होने के साथ-साथ यह भी स्वतः सिद्ध है कि उन दोनों में एक मुख्य, प्रधान अथवा उत्कृष्ट है और तृतीयान्त दूसरा अप्रधान अथवा अपकृष्ट है। अचेतन, चेतन के अधीन और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है, अतः दोनों तत्त्वों में चेतन ब्रह्म उत्कृष्ट (परः) है और अचेतन स्वधा (प्रकृति) अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी ब्रह्म के अधीन होने से उसकी अपेक्षा अपकृष्ट है। उस (प्रलय) अवस्था में स्वधा का विद्यमान रहना यह प्रकट करता है कि समस्त कार्य तब केवल अपने उपादान-कारण में अवस्थित रहता है। यही बात **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (ऋ० १।१२१।१) में कही गयी है। प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में थी। उसे व्यक्त करके उसी के सहयोग से उसने सृष्टि की रचना की। गीता में कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—गीता १४।३-४

अर्थात् मेरे अधीन जो उपादानकारण प्रकृति है, उसमें मैं गर्भ को धारण कराता हूँ। सब प्राणियों की उत्पत्ति इसी से होती है। सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उनका उपादानकारण है और मैं बीज देनेवाला पिता हूँ। इस प्रकार प्रकृतिरूपी माता और परमात्मरूपी पिता के संयोग से सृष्टिरचना होती है। 'महद् ब्रह्म' से यहाँ प्रकृति अभिप्रेत है। मूल उपादान होने से प्रकृति समस्त कार्यसमूह से बड़ी है। इसीलिए उसे 'महत्' कहा गया है और कार्यरूप में वृद्धि का कारण होने से ब्रह्म। इस प्रकार महद्ब्रह्म प्रकृति का वाचक है।[1] प्रकारान्तर से इन श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप में प्रकृति का उपपादान किया है।

सूक्तगत पञ्चम ऋचा मे आये 'रेतोधा आसन्' पदों से यह भी स्पष्ट है कि 'स्वधाः' के अतिरिक्त 'रेतोधाः'—रेतस् को धारण करनेवाले जीवात्मा भी सर्ग से पूर्व विद्यमान थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है—**'रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन्।'** इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्गकाल में ब्रह्म स्वयं जीवरूप में परिणत नहीं हुआ, ब्रह्म के साथ जीव पहले से विद्यमान थे। बहुवचनान्त 'रेतोधाः' से यह भी स्पष्ट है कि ये जीव संख्या में अनेक या असंख्य थे। प्रलय के पश्चात् और सर्ग से पूर्व शरीरधारी न होने के कारण प्रलयकाल में जीवों की नामरूप पहचान नहीं की जा सकती। उस अवधि में वे मूर्च्छित अथवा सुषुप्ति की अवस्था में निष्क्रिय पड़े रहते हैं। जगत्सर्ग में अव्यक्त न रहकर सब-कुछ व्यक्त हो जाता है। प्रकृति अनेकविध नामरूप धारण करने लगती है। जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मों के अनुसार भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होती हैं और इस प्रकार सृष्टिक्रम चालू रहता है।

सर्गकाल में उपलब्ध अनेक वस्तुओं का निषेध प्रकारान्तर से प्रलयकाल की अवस्था का संकेत करने के लिए किया गया है। प्रकृति तब भी विद्यमान थी, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण वह ज्ञेय नहीं थी। अन्ततः परमात्मा ने ईक्षण किया (**तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति**—छा० ६।२।३) और उसकी पूर्वकल्पना के अनुसार सृष्टि बन गयी (यथापूर्वमकल्पयत्।—ऋ० १०।१९०।३) —

परन्तु सूक्त के द्वितीय मन्त्र के अन्तर्गत **'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास'** शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसलिए यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से

१. महद्योनि अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है—तिलक : गीतारहस्य, १४।३

Great Brahma (Prakriti) is my womb. —Radhakrishnan : Gita, 14.3

उत्पन्न हुआ है। यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ जीवात्मा तथा प्रकृति के अस्तित्व को नकारा नहीं गया है। वस्तुतः इस सूक्त में जगत् के कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्तकारण की प्रधानता दिखाने का प्रयास किया गया है। जड़ उपादान की तुलना में चेतन निमित्त का आसन निश्चय ही ऊँचा है। मिट्टी की अपेक्षा कुम्हार बड़ा है। घड़ा बनने से पूर्व घड़े का ज्ञान कुम्हार के मस्तिष्क में रहता है। मिट्टी को हाथ लगाने से पहले वह अपने मस्तिष्क में चित्रण कर लेता है। निमित्तकारण की यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये **'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव'** शब्दों से स्पष्ट है। मीमांसादर्शन के 'प्रशंसासूत्र' (१।४।२६) में **'अयज्ञो वा एष असामा', 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो वा गोऽश्वाः'** इत्यादि वाक्यों पर विचार करते समय स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्यान्य पशुओं की तुलना में गो आदि की और इसी प्रकार अन्यान्य यज्ञों की तुलना में विधेय सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा के लिए ही अन्य पशुओं को 'अपशु' और अन्य यज्ञों को 'अयज्ञ' कहा गया है। यह स्तुति अर्थवाद है, अर्थात् यहाँ अभीष्ट की केवल स्तुति की गयी है। ऐसे स्तुतिवाक्य अभीष्ट के प्रति श्रद्धान्वित कर अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं, अतः ये विधिवाक्य नहीं होते। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में **'नासदासीन्नो सदासीत्'** इत्यादि में सत्-असत् का निर्देश कर तथा **'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास'** जैसे शब्दों का प्रयोग करके ब्रह्म की उत्पादक शक्ति की प्रशंसा प्रधानतत्त्व द्योतन के लिए है, न कि सत् प्रकृति आदि के निषेध के लिए। मीमांसकों का न्याय है—**"न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु स्तोतुम्"**। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए—**'न हि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धुं प्रवृत्तः, अपितु परब्रह्मप्रशंसयितुं तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा'।**

लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा में 'परः' पद का अर्थ 'इससे परे' किया है, अर्थात् ब्रह्मचेतन के परे अन्य कुछ भी न था। वस्तुतः चेतन परमात्मा के प्रसंग में 'परः' पद का यह अर्थ संगत नहीं जंचता, क्योंकि वह चेतन सर्वत्र एकसमान व्याप्त है। कोई देश उसका भेदक अथवा व्यवच्छेदक नहीं कहा जा सकता। तब उसमें उरे-परे का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए 'पर' पद का अर्थ यहाँ उत्कृष्ट ही युक्ति-युक्त है।

तृतीय ऋचा में जगत् के मूल उपादानकारण के लिए 'तमस्' शब्द का प्रयोग हुआ है। साधारणतया गुणत्रय (सत्त्व-रजस्-तमस्) की साम्यावस्था को ही प्रकृति उपादान के रूप में स्वीकार किया जाता है, परन्तु सांख्यग्रन्थों में यत्र-तत्र केवल 'तमस्' पद से भी प्रकृति का ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ—

(क) **तम एव खल्विदमग्र आसीत् तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्त्तते प्रथमम्। तम इति उच्यते प्रकृतिः, पुरुषः क्षेत्रज्ञः।** (माठरवृत्ति ७१ आर्या की अवतरणिका) । यहाँ प्रकृति को तमस् और पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहा है।

(ख) **तथा प्रकृतिपर्यायाः**—अव्यक्तं, ब्रह्म, अक्षरं, क्षेत्रं, तमः, माया, ब्राह्मी, अविद्या, प्रकृतिः, शाक्तिः, अजा इत्यादयः'। (सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, तत्त्वसमाससूत्र की भावागणेशकृत व्याख्या, पृ० ५२ पंक्ति ४) यहाँ पर प्रकृति के अनेक पर्यायों में 'तमस्' का उल्लेख हुआ है।

(ग) **'सांख्यास्तु—तमः शब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमुच्यमानमिच्छन्ति । ते हि परमार्षं सूत्रमधीयते—"तम एव खल्विदमग्र आसीत् । तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत" इति'** (निरुक्त दुर्गवृत्ति, ७।३) यहाँ पर दुर्ग ने तमस् पद का अर्थ सांख्यानुसार साम्यावस्थापन्न गुणत्रयरूप प्रधान बताया है। अगले परमार्षसूत्र की, उपर्युक्त माठरवृत्ति से तुलना करें।

(घ) **तमश्चास्मिन् पक्षे प्रकृत्यव्यक्तादिपर्यायं प्रधानमुच्यते**। (निरुक्त पर स्कन्दस्वामी की व्याख्या,७।३) इसका मूल आधार वेद का यह तथा इसके समान अन्य प्रयोग कहे जा सकते हैं—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (यजुः० ३१।१८) इस मन्त्र में 'तमस्' से परे तेजोमय पुरुष (परब्रह्म) का वर्णन किया गया है। यहाँ भी 'तमस्' पद से प्रकृति का ग्रहण होता है।

विवेच्य ऋचा में 'तमसा' पद में 'तमस्' पद का अर्थ अन्धकार है। भौतिक प्रकाश का कोई साधन न होने से प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण कार्यजगत् अपने मूलकारणों में लीन होने के कारण अन्धकार से आवृत्त था।

इस ऋचा में 'सलिल' पद का अर्थ विचारणीय है। लोक में यह पद जल का वाचक है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रलयकाल में जल का अस्तित्व नहीं होता, यहाँ उसके अस्तित्व का कथन कैसे हो सकता है ? 'सलिल' पद गत्यर्थक 'सल्' धातु से औणादिक (१।५४) **इलच्** प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है—कारण के साथ संगत होना, अर्थात् कारण के रूप में पहुँच जाना। प्रस्तुत ऋचा में यह पद 'सर्वमिदम्' का विशेषण अथवा विधेय है। **'इदम् सर्वम्'** से उपलक्षित इस सम्पूर्ण दृश्यादृश्य जगत् को मन्त्र प्रलयकाल में **'अप्रकेतं सलिलम्'** बताता है। यह वह अवस्था है जब सर्गकाल का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि कार्यजगत् अपने कारण में लीन हो जाता है। कार्य का कारण में लीन हो जाना ही 'सलिल' पद का अर्थ है। सायण से अति प्राचीन दुर्गाचार्य ने निरुक्त (७।३) की वृत्ति में इस ऋचा की व्याख्या करते हुए 'सलिलं' का अर्थ 'सद्भावे लीनं' अर्थात् सद्रूप कारण में लीन किया है। निरुक्त के एक अन्य प्राचीन टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी इस पद का ऐसा ही अर्थ किया है। वह लिखता है—

'सलिलं, सति—सत्तालक्षणे कारणात्मनि लीनम् ।'

इसी प्रकार सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका (५०वीं आर्या की व्याख्या) में सलिल पद का यही अर्थ किया है। वहाँ लिखा है—**'कथं पुनरेतत् सलिलम् ? सत्युपादाने विकारो लीयत इति'**। अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिए व्याख्याकार ने प्राचीन शास्त्र का एक प्रमाण इस प्रकार उद्धृत किया है-**"तथा च कृत्वा शास्त्रमाह—'सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिन् लीयते जगत्' इति"**। यह प्रमाणवाक्य पञ्चशिख का है।

प्रलयकाल में कार्यजगत् अपने कारणरूप में विद्यमान रहता है, इस बात को प्रस्तुत ऋचा के तृतीय चरण में, कार्यकारणभाव का ध्यान रखते हुए कहा गया है—**'तुच्छ्येन आभु अपिहितं यदासीत्'**। यहाँ 'तुच्छ्य' पद कारण और 'आभु' पद कार्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस पद में 'आ' उपसर्ग और 'भू' धातु है, जिसका अर्थ होता है—होना या उत्पन्न होना। इसका सम्मिलित अर्थ होगा—**आ समन्तात् भवति उत्पद्यत इति आभु**। इस प्रकार निश्चितरूप से 'आभु' पद का अर्थ 'कार्य' किया जा सकता है। इसलिए ऋचा के तृतीय चरण का अर्थ हुआ—कारण से ढका हुआ या कारण में छिपा हुआ कार्य। इस ऋचा के अन्तिम चरण में प्रलयकाल के अनन्तर होनेवाले सर्ग का आभास दिया गया है। **'तपस्तन्महिना जायतैकम्'** इन शब्दों से स्पष्ट है कि प्रलयदशा में मूल उपादानकारण के साथ एकीभूत हुआ जगत् तेजोमय ब्रह्म की महिमा अर्थात् संकल्पात्मक प्रेरणा के द्वारा पुनः उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि जिस दृश्यमान कार्यजगत् को मूल उपादानकारण ने अपने भीतर छिपाया हुआ था, वह सर्गकाल में परमात्मा की प्रेरणा से कारणरूप से कार्यरूप में आ जाता है। इस प्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं द्वारा, प्रलयकाल की अवस्था का स्पष्ट वर्णन करने के अनन्तर अन्तिम पदों से आदिसर्ग का आभास दिया गया है।

चतुर्थ ऋचा के अनुसार अव्यक्त को व्यक्तरूप में आने के लिए, परमात्मसंकल्प प्रथम कारण है। अव्यक्त मूल उपादान अचेतन होने के कारण स्वतः सर्गोन्मुख प्रकृति के लिए सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि मूल उपादान ही परिणत होकर व्यक्त कार्यजगद्रूप में उपस्थित होता है, परन्तु वह परिणाम उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक नियन्ता अचेतन उसे प्रवृत्ति के लिए प्रेरित न करे। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा में चेतन के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम अर्थात् मुख्य कारण कहा गया है। उस अव्यक्त मूल उपादानकारण से किस प्रकार व्यक्त जगत् बन जाता है, इस रहस्य को क्रान्तदर्शी विद्वान् जान पाते हैं।

जगत्सर्ग में नियन्ता चेतन और अव्यक्त अचेतन दोनों अपेक्षित हैं। अचेतन व्यक्त कार्यजगत् के लिए जितनी अपेक्षा अचेतन अव्यक्त मूल उपादान की है, उसकी प्रेरणा के लिए उससे कहीं अधिक अपेक्षा चेतन संकल्प की है। प्रस्तुत ऋचा के आधार पर अचेतन और चेतन दोनों की भिन्न सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक है। चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि होना न शास्त्रसम्मत है, न तर्कसंगत। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस ऋचा के आधार पर यह समझाने का यत्न किया है कि परमात्मा स्वयं परिणत होकर कार्यरूप जगत् बन जाता है, वे वस्तुस्थिति से बहुत दूर जा पड़े हैं।

आदिकाल में जब सर्ग होने लगता है, तब उसमें कितना समय लग जाता है अथवा उसका क्या क्रम होता है, इस अर्थ की ओर पञ्चम ऋचा संकेत करती है। सर्वोत्कृष्ट चेतन की प्रेरणा के अनन्तर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर अपनी स्थिति में आ जाते हैं। पहले मध्य लोक बने, अथवा अधोलोक अथवा ऊर्ध्वलोक, इस बात को नहीं कहा जा सकता। वह अज्ञेय काल है। प्रकृति के अनन्तानन्त मूलतत्त्वों में, चेतन की प्रेरणा से सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर अखिल लोक-लोकान्तर प्रकाश में आ जाते हैं। इनका अन्तरालवर्त्ती पूर्ण क्रमिक विकास अशक्य-कथन है, क्योंकि उसका अस्तित्व कल्पनातीत है। ऋचा में 'महिमानः' पद कार्यरूप इस दृश्यादृश्य समस्त जगतके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋचा के अन्तिम चरण में, सर्गकाल के उपसंहाररूप में, चेतन और अचेतन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया है। स्वधा=अचेतन प्रकृति अपकृष्ट (**अवस्तात्**) है, तथा उसका नियन्ता चेतन उत्कृष्ट (**परस्तात्**) है; क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। यद्यपि जगत् का मूल उपादान होने से प्रकृति उसका मुख्य साधन है, तथापि चेतन की उत्कृष्टता के कारण चतुर्थ ऋचा में चेतन संकल्प को जगत् का प्रथम=मुख्य कारण कहा गया है। इसी आधार पर अनेक स्थलों पर औपचारिकरूप से चेतन को जगत् का मूलकारण कह दिया गया है।

चतुर्थ ऋचा में कहा गया है कि क्रान्तदर्शी ऋषियों ने इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझा, परन्तु ऋषियों के अल्पज्ञ होने के कारण, यह अधिक सम्भव है कि उनका ज्ञान भ्रम, प्रमादादि से अभिभूत हो। फिर उस अवस्था (प्रलयकाल) में तो उनका ऐसा अस्तित्व ही न था, जिससे वे तत्कालीन स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इस प्रकार यह विश्व-पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह जाता है और इसकी आश्चर्यपूर्ण स्थितियों को सम्मुख पाकर सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है—क्या कोई इसके वास्तविक रहस्य को समझनेवाला है ? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम ऋचा में दिया गया है।

सर्वव्यापक परमात्मचेतन इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि अवस्थाओं का अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता है। इन तीनों अवस्थाओं के निर्देश के लिए ऋचा में तीन पृथक् वाक्य इस प्रकार हैं—**यत आबभूव** (उत्पत्ति), **यदि वा दधे** (स्थिति), **यदि वा न** (प्रलय)। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में इन शब्दों में कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय जीता और जिसके द्वारा अन्त में लीन होता है, उसको जानने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है। सम्भवतः वेद और उपनिषद् के इसी अभिप्राय को महर्षि वेदव्यास ने **'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२) के रूप में सूत्रबद्ध किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जिसकी उत्पत्ति आदि होती है, वह जगत् है और जो उससे भिन्न है, वह उसकी उत्पत्ति आदि में निमित्तकारण है। जो इन स्थितियों का नियामक है, वही उनको जान सकता है—**सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद**। यहाँ **'यदि वा न'** का अर्थ है —जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

—ऋ० म० १० । सूक्त १२१ । मं० १

इस प्रकार नासदीय सूक्त में उपादानरूप प्रकृति, उसके भोक्ता जीवात्मा और सबके नियामक परमात्मा—इन तीनों अनादि सत्ताओं का स्पष्ट वर्णन किया है । ईश्वर विश्वसम्बन्धी व्यवस्था के अन्दर इस विश्व को इसके परम आधार के रूप में धारण करता है, प्रलय होने पर समेटकर अपने भीतर धारण किये रहता है और आगामी सर्गकाल में इसे पुनः अव्यक्त से व्यक्त कर देता है । अनादिकाल से यह क्रम चलता आया है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा । रामानुज के अनुसार "प्रकृति तथा जीव पूर्णतः परमात्मा के अधीन हैं, जो अन्तर्यामिरूप में समस्त जड़-चेतन का नियमन करता है । अनादिकाल से इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी अवस्था में उनका ब्रह्म में विलय (अन्त) नहीं होता । प्रलयकाल में जब वे अपना नाम-रूप खोकर कारणावस्था को प्राप्त होते हैं, तब भी परमात्मा बीजरूप में प्रकृति तथा जीवों को अपने भीतर धारण किये रहता है ।'[1] प्रलय के बाद जगत्सर्ग होने पर अव्यक्त प्रकृति इन्द्रियों का विषय बन जाती है और जीवात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुरूप देह धारण करके पूर्वजन्म में किये कर्मों का फलोपभोग करने और भविष्य के लिए कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं ।

निश्चय ही, परमेश्वर द्वारा बार-बार निर्मित जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । जो है ही नहीं, उसकी उत्पत्ति और प्रलय का तो प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिए उसे मिथ्या कहना मिथ्या है ।

हिरण्यगर्भः—इस मन्त्र में आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है । यह समस्त पद ईश्वर तथा प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—'हिरण्यगर्भ (प्रकृति) को अपने गर्भ में धारण करनेवाला ।' प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है । व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्त दशा में अदृश्य रहती है । सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म अकेला नहीं, प्रकृति को अपने भीतर समेटे हुए बना रहता है । यदि उस काल में प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में वह कहाँ से आ जाती ? उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में 'पृथिवी-द्यौ' आदि को धारण कर रक्खा है । उसी के लिए अन्यत्र कहा गया है—**'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः । योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'**—यजुः० ३२।६

---

१. Ramanuja takes his stand on the Antaryamin Brahmana (B. 4.3.7) which says that within all elements, all sense organs, all souls there dwells an inward ruler whose bodies these, elements sense organs and souls are. Brahman comprises within himself all elements of plurality, matter with its various modifications and souls of different classes and degrees. They are entirely dependent on and subservient to the Lord who pervades and rules things, material and inmaterial as their inmost self, antaryamin. Their individual existence has been there from all eternity and will never be entirely resolved into Brahma. They exist in two different periodically alternating conditions. In pralaya state, which occurs at the end of each world-period, when Brahman is said to be in a causal condition, Karanavastha, distinctions of names and forms disappear. Matter is unmanifested, avyakta, the individual souls are not attached to bodies and their intelligence is in a state of contraction, samkocha. Even then brahman contains within itself matter and souls in a bija (बीज) or seed condition. when, owing o an act of **volition** on the part of the Lord, pralaya is succeeded by creation, unmanifested matter becomes gross and evident to the senses and the souls enter into connection with meterial bodies corresponding with their accumulated merit and demerit and their intelligence undergoes expansion, vikasa. Cause and effect are different names of direrent conditions or changes, parinama.

— Radhakrishnan: Brahmasutra, P. 53-54

न्यूटन के आगमन से पूर्व विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रमुख प्रश्न था कि सूर्य बिना किसी माध्यम के किसी ग्रह आदि को कैसे आकृष्ट कर सकता है। न्यूटन के ही समकालीन प्रमुख दार्शनिक जान लॉक (John Locke) की मान्यता थी कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से टकराये बिना न उसमें गति पैदा कर सकता है और न उसके सम्पर्क में आये बिना उसे प्रभावित कर सकता है, पर न्यूटन ने युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया कि निराकार होकर भी विभिन्न तरंगें चलकर अन्य पदार्थों को प्रभावित करती हैं। बाद में यह तथ्य भी सामने आया कि विद्युच्चुम्बकीय तरंगें निर्वात में भी, एकदम शून्य आकाश में महावेग से चलकर दूरस्थ पदार्थों को प्रभावित करती हैं। सूर्य द्वारा अन्य लोकों को आकर्षित करने का यही आधार है। अथर्ववेद के एक सूक्त (१०।७) में बार-बार यह पूछा गया कि वह खम्भा बताओ जिसके सहारे यह समस्त विश्व टिका है—**'स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः'**। इसके उत्तर में बताया गया—वह परब्रह्म परमेश्वर है। अन्ततः लॉक को स्वीकार करना पड़ा कि 'जो कुछ हमारी समझ से परे है, वह परमात्मा की शक्ति से बाहर नहीं।' यह **'स दाधार'** इस वैदिक सिद्धान्त की विजय थी।

शास्त्रों में ब्रह्म के लिए अनेकत्र **'पति'** और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। **ब्रह्मसूत्र** (वेदान्तदर्शन) में **'पत्यादिशब्देभ्यः'** (१।३।४३) सूत्र के द्वारा जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए यह कहा गया है कि यदि ब्रह्म और जीव में अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीव के लिए भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणों का प्रयोग होता। सृष्ट्युत्पत्ति आदि के सन्दर्भ में यहाँ **'पतिरेक आसीत्'** में 'एकः' पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेदान्तदर्शन के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने एक सूत्र (४।४।१७) और उसपर अपने भाष्य द्वारा शंकराचार्य, रामानुज आदि ने स्पष्ट कर दिया है कि मोक्षदशा में भी जब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, परमेश्वर जीवात्माओं को सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का अधिकार नहीं देता, क्योंकि उसे भय है कि जीवात्माओं के अनेक होने से उनमें परस्पर मतभेद होने से झगड़ा होगा। 'कोई सृष्टि को बनाना या बनाये रखना चाहेगा और कोई उसका संहार करना चाहेगा—**"जगद्व्यापारे एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित् संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।"** इसलिए यदि संसार के एक से अधिक पति (स्वामी—संचालक) होते तो अराजकता हुए बिना न रहती।

वेदों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें सृष्टिविद्याविषयक वर्णन मिलता है। ऊपर नासदीय सूक्त का विवेचन हो चुका है। **अस्यवामीय सूक्त** (ऋ० १।१६४; अथर्व० ६।६) तथा पुरुषसूक्त (ऋ०१०।९०; यजु:०३१; अथर्व० १९।६; साम० पूर्वार्चिक) दो अन्य सूक्त हैं जिनमें जगत्सर्ग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। वेद के इन सूक्तों में अत्यन्त रहस्यपूर्ण, रुचिकर एवं आकर्षक रीति पर जगत्सर्ग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दर्शनशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलतत्त्वविषयक जितनी विचारधाराएँ आज तक संसार में जानी गयी हैं, संक्षेप में उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. जड़ और चेतन दो प्रकार के मूलतत्त्व हैं। दोनों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता होने पर इनके परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत्कार्य सम्भव है।

२. केवल जड़ एकमात्र तत्त्व है। चेतन नाम की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली कोई वस्तु नहीं है। जड़ तत्त्व ही अवस्थाविशेष में आकर अपने मूलरूप से इतना भिन्न प्रतीत होने लगता है कि उसे चेतन कह दिया जाता है।

३. केवल चेतन एकमात्र तत्त्व है। चेतन से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। यह जो जड़ जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, इसकी वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, मूलचेतन तत्त्व ही लीलावश इस रूप में भासता है।

पहली विचारधारा वैदिक है, जिसका स्पष्ट संकेत एवं निर्देश वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥४॥—यजुः अ० ३१ मं० २

होता है। वेद के **अस्यवामीय सूक्त** के मन्त्र इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। वे जगत्सर्ग-विषयक पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सूक्त की प्रथम ऋचा में काव्यात्मक शब्दों में तीन अनादि तत्वों का वर्णन किया है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

अर्थात् वह परमात्मा सर्वातिशयी अनादि तत्व है जो सबका सेवनीय है, एवं समस्त जगत् का स्रष्टा है। उसका साथी एक और समान वर्ग है जो इस जगत् का भोक्ता है। वह मध्यम है, क्योंकि उसकी स्थिति परमात्मा और प्रकृति दोनों के मध्यगत है। वह जीवात्मवर्ग है। जगत्सर्ग में परमात्मा सर्वातिशायी निमित्त है, जीवात्मा अपने कर्मों द्वारा सर्ग में निमित्त रहते हैं। परमात्मा केवल निमित्त है, पर जीवात्मा जगत् के भोक्ता भी हैं। इसी कारण जीवात्मवर्ग 'मध्यम' है। अनादि चेतन तथा कर्मों द्वारा विशिष्ट जगद्रचना में निमित्त होने से यह परमात्मा का भ्राता अर्थात् साथी है। कर्त्ता-भोक्ता के रूप में अभ्यागत यह आत्मा जब अपनी प्रवृत्तियों को परमात्मा की ओर झुका लेता है, तब इसमें दिव्य भावनाओं का उद्रेक रहता है। ऐसा समाज देवों का समाज अथवा दैवीसर्ग कहा जाता है। पर भोगलिप्सा से जब इसका झुकाव प्रकृति एवं विषयों की ओर हो जाता है, तब आत्मा की ऐसी प्रवृत्तियों को आसुरी कहा जाता है। केवल प्रकृति का उपासक ऐसा समाज आसुरसर्ग कहलाता है।

परमात्मा का तीसरा साथी **'घृतपृष्ठ'** है। यह पद तीसरे अनादि तत्व का बोधक है। वह तत्त्व है—जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति। 'घृत' पद वेद में उदक का वाचक माना जाता है। यह अपने कार्यशरीर का उपलक्षण है—रयि एवं प्राण अथवा तरल रज-वीर्य के रूप में यह शरीर का कारण होता है। 'पृष्ठ' पद 'स्पृश्' धातु से बना है (निरुक्त ३।४)। इसका अर्थ होता है—स्पर्श करना अथवा भोग करना। जीवात्मा स्थूल शरीर के द्वारा ही प्रकृति के सम्पर्क में आता है, अर्थात् प्रकृति का भोग करता है। इस प्रकार 'घृतपृष्ठ' पद आत्मा की भोग्यभूत प्रकृति का वाचक है। भोक्ता होने के कारण ही परमात्मा के मध्यम भ्राता को **'अश्नः'** बताया है। प्राणिमात्र का रक्षण-पोषण इस तीसरे साथी प्रकृति के द्वारा होता है। इसलिए इसे **'विश्पति'** ('विश्' का अर्थ है प्रजा, उनका पालक विश्पति) कहा गया है। प्रकृति का एक पर्याय **'अदिति'** है, जिसके सात पुत्रों का संकेत **अदितिसूक्त** (ऋ. १०।७२) में उपलब्ध होता है। विश्व ब्रह्माण्ड का सातों लोकों में समावेश है। ये सब प्रकृति का विकार हैं। इसलिए यहाँ तृतीय भ्राता को **'सप्तपुत्र'** कहा है।

अस्यवामीय सूक्त की प्रसिद्ध **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि बीसवीं ऋचा में स्पष्टरूप से तीन अनादि तत्वों का वर्णन है। वहाँ चेतनतत्व को भोक्ता और अभोक्ता दो रूपों में वर्णन किया है। परमात्मा को वहाँ 'अनश्न' अर्थात् अभोक्ता कहा है। इसी आधार पर प्रथम ऋचा में भोक्ता आत्मा को 'अश्नः' कहा गया है। जगत् के मूल उपादान प्रकृति का वर्णन 'वृक्ष' पद से हुआ है। इस प्रकार यहाँ चेतन और अचेतन (जड़) रूप में दो प्रकार के अनादि तत्व हैं। परमात्मा (अभोक्ता) और जीवात्मा (भोक्ता) दो चेतन हैं। इनकी स्थिति अपने रूप में सर्वथा पृथक् है। इनसे अतिरिक्त है—जड़तत्त्व, मूल उपादान तथा जीवात्मवर्ग का भोग्य।

पुरुष एवेदम्—जिस प्रकार अदृश्य सत्ता के लिए अदस् शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥५॥

—तैत्तिरीयोपनि० भृगु० १॥

हे 'अङ्ग=मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है। जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान, और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान ॥१॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत्, तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया ॥२॥

दृश्यमान सत्ता=जगत् के लिए 'इदम्' का प्रयोग किया जाता है। यजुर्वेद (४०।१) में **'यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** के साथ **'इदं सर्वम्'** का प्रयोग हुआ है। तदनुसार ही ग्रन्थकार ने 'इदम्' शब्द से 'वर्तमानस्थ जगत्' का तथा 'सर्वम्' से 'सब' का ग्रहण किया है। 'इदम्' से 'प्रत्यक्ष' का और 'प्रत्यक्ष' से 'इन्द्रियगोचर' पदार्थ अभिप्रेत है। भट्टभास्कर ने 'इदं सर्वम्' का अर्थ किया है—**'इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं व्यक्तस्थावर जंगमात्मकं यद् वर्तमानं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तदेतत्सर्वम्'** (तै.आ. पर पु.सू. भाष्य)। मंगलाचार्य के अनुसार **'इदं सर्वं शब्दवाच्यं चराचरं जगत्'** (मंगलाचार्यकृत पुरुषसूक्तभाष्य)। कुछ विद्वान् इसी भाव को अन्य प्रकार से प्रकट करते हैं। वे 'इदम्' से अभिप्राय लेते हैं—'जो काल में आबद्ध है' और 'सर्वम्' का अर्थ 'सब-कुछ' करते हैं। रामानुजाचार्य लिखते हैं—**'इदं यद् वर्तमानकालीनं यद् भूतमतीतकालीनं यच्च भविष्यत्कालीनं तत्सर्वम्'** (पुरुषसूक्तभाष्य)। इसी प्रकार उव्वट 'इदम्' से वर्तमान काल का अध्याहार करते हैं, इस तरह 'इदं सर्वम्' से 'कालत्रय' का अभिप्राय लेते हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन से प्रतीत होता है कि 'इदं सर्वम्' काल में आबद्ध प्रकृतितत्त्व तथा उसका भोक्ता जीवात्म-तत्त्व है। इसमें वर्त्तमान काल के कार्यजगत् तथा भूत व भविष्यत् काल के कारणजगत् दोनों का समावेश है। प्रकारान्तर से यहाँ प्रकृति और जीवात्म-पुरुष के नित्यत्व का प्रतिपादन हुआ है—'कालत्रयसत्तावन्नित्यम्'। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' में आपाततः सर्वात्मवाद अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की प्रतीति होती है, परन्तु वस्तुतः यहाँ प्रकारान्तर से परमेश्वर का नित्यत्व तथा सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित हुआ है। जैसे **'मञ्चाः' क्रोशन्ति'** में 'मञ्चाः' का अर्थ 'मञ्चस्थपुरुषाः' होता है, वैसे ही यहाँ तात्स्थ्योपाधि से **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** का अर्थ **'सर्वमिदं पुरुषस्थितमेव'** है। यही अर्थ युक्तियुक्त है। यदि 'सब जगत् पुरुष=परमेश्वर ही है' ऐसा अर्थ करके दोनों में तादात्म्य माना जाएगा तो जगत् की उपासना में ही क्या दोष होगा ? इसके अतिरिक्त सब जगत् को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उत्पत्ति आदि का कथन निरर्थक होगा।

यतो वा इमानि—इस उपनिषद् वचन के अनुसार परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण है, परन्तु कई आचार्य इसके आधार पर ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार—

T.U. (3.1) speaks of that from which (यतः) these beings are born etc. This indicates the material cause of the world.

—**Radhakrishnan : Brahmasutra.**

यद्यपि इस विषय का सम्बन्ध जितना भाषाशास्त्र या व्याकरणशास्त्र से है, उतना दर्शनशास्त्र से नहीं। परन्तु इसके महत्व को देखते हुए इसका विवेचन आवश्यक है। ऐसे विद्वानों का कहना है कि

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार, और जो यह जगत् हुआ, है, और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य-पर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति किया करें ॥३॥

हे मनुष्यो ! जो सबमें पूर्ण पुरुष, और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी, जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनानेवाला है ॥४॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते है, वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो ॥५॥

'जन्माद्यस्य यतः'॥ —शारीरक सू० अ० १। पा० १ सं० २

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है ॥

'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में पञ्चमी विभक्ति अर्थात् अपादानकारक (Ablative case) होता है वह उपादानकारण होता है, अर्थात् जायमान वस्तु के उपादानकारण में पञ्चमी विभक्ति होती है। अष्टाध्यायी के जिस सूत्र को इसकी पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है वह है—**'जनिकर्तुः प्रकृतिः'** (१।४।३०) परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कारणमात्र में पञ्चमी का प्रयोग होता है, केवल उपादानकारण में नहीं। स्वयं पाणिनि ने इस सूत्र से पूर्व पाँच सूत्रों में अन्य कारणों में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग का विधान किया है। वेद और लोक में अनेकत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

'तस्मादश्वा अजायन्त' (यजुः० ३१।८)। **'यस्मादृचोऽपातक्षन्'** (अथर्व० १०।७।२०)। **'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ..... यजुस्तस्मादजायत'** (यजुः० ३१।७)। **'आदित्याज्जायते वृष्टिः'** (मनु० ३।७६)। **'पुत्रात् प्रमोदो जायते'**। **'सुधनाज्जायते सुखम्'**। **'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते, क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'** (गीता २।६२-६३)। यहाँ सर्वत्र पञ्चमी है, तथापि पञ्चम्यन्त पदों से किसी उपादानतत्व का ग्रहण नहीं किया जा सकता। आदित्य को वृष्टि का, पुत्र को हर्ष का, परमेश्वर को वेदों का अथवा बुद्धिनाश को मनुष्य के नाश का उपादान कैसे कहा जा सकता है ? ये केवल इन जायमान वस्तुओं के निमित्त हैं, अर्थात् कारणकारक का काम देते हैं। फिर, संस्कृत में (विशेषतः वैदिक साहित्य में) कारकव्यत्यय के बाहुल्य से भी विद्वान् परिचित हैं। ऐसी स्थिति में उपनिषद् का प्रस्तुत सन्दर्भ ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकता।

जन्माद्यस्य यतः—वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (वे० द० १।१।१)। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को होगी जो उसे नहीं जानता। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे—यह अपने-आपमें कितना उपहासास्पद है। वास्तव में जिज्ञासु और जिज्ञास्य अथवा ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से भिन्न कोई और है। प्रकृति के जड़ होने से उसके जिज्ञासु होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः चेतन, किन्तु अल्पज्ञ, जीव ही ब्रह्म का जिज्ञासु हो सकता है।

सूत्रकार ने जिज्ञास्य ब्रह्म की पहचान—उसका लक्षण कहा—**'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२)—(यतः) जिससे (अस्य) इस जगत् का (जन्मादि) उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होता है, वह ब्रह्म है।

लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण। स्वरूपलक्षण पदार्थ के याथायथ स्वरूप

[परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं]

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से ?

उत्तर—निमित्तकारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका उपादानकारण प्रकृति है।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर—नहीं। वह अनादि है।

प्रश्न—अनादि किसको कहते, और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उत्तर—जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो उसको 'अनादि' कहते हैं। ईश्वर, जीव और जगत् का कारण, ये तीन अनादि हैं।

[ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व में प्रमाण]

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥

—ऋ० म० १। सू० १६४। मं० २०

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

—यजुः० अ० ४०। मं० ८

का निर्देश करता है। **'सच्चिदानन्दस्वरूप' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। तटस्थलक्षण किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए उस वस्तु का बोध कराता है। **'जन्माद्यस्य यतः'** ब्रह्म का तटस्थलक्षण है। नवीनवेदान्त ब्रह्म में कर्त्तृत्व नहीं मानता— **'कर्त्तृत्वानुपपत्तेः'** (शा० भा० १।१।४)। तथापि शंकर ने अनेक स्थलों पर ब्रह्म का स्रष्टा होना स्वीकार किया है। वेदान्तदर्शन के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा है—**'तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते ।'** (शा० भा० १।१।४) अर्थात् वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया है। आगे चलकर एक बार फिर उन्होंने लिखा है—**'सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्'** (शा० भा० १।२।६)। अर्थात् सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला है। इस प्रकार ईश्वर का सृष्टि का रचयिता होना सर्वथा प्रमाणित है। जगत् को मिथ्या या भ्रान्ति मानने का अर्थ होगा कि सृष्टि की रचना मात्र भ्रान्ति की रचना है, उसे धारण करना भ्रान्ति को बनाए रखना है और उसकी प्रलय भ्रान्ति का अन्त है, इस प्रकार ब्रह्म भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण सिद्ध होगा। यदि शंकराचार्य की भाँति वेदव्यास जगत् को मिथ्या मानते तो वह ब्रह्म को असत् अथवा भ्रान्ति का जनक कहकर उसे बदनाम न करते।

अनादि—जिसका आदि कोई कारण या समय न हो वह अनादि है। जो अनादि है वह अनुत्पन्न है वह अनन्त-अविनाशी अर्थात् नित्य है। नित्य होने से वह अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० द० ४।१।१)। लोक-लोकान्तर में जितने पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी का परिणाम हैं, अर्थात् कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न हैं और जो वस्तु बनती

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त, (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण, और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ। इन तीनों के गुण-कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप है। ये तीनों अनादि हैं ॥१॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि, सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥२॥

है, वह सावयव होने से विकारी एवं अनित्य होती है। इसलिए जो भावरूप पदार्थ उत्पन्न नहीं होता वही अनादि कहाता है और त्रिकालाबाधित होने से वह नित्य होता है। सृष्टि में ऐसे तीन पदार्थ हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। इसमें ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१।१६४) का बीसवाँ मन्त्र प्रमाण है—

द्वा सुपर्णा—इस मन्त्र को मुण्डक (३।१।१) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।६) में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके वेदानुकूल ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया गया है। इस मन्त्र में स्पष्टरूप से वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीवात्मा का तथा केवल साक्षीरूप में ईश्वर का कथन करके ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है। वेद के प्रति शंकराचार्य की आस्था अवश्य थी, परन्तु वेद पर उन्होंने कभी कुछ लिखा हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः उनका कार्यक्षेत्र प्रस्थानत्रयी—गीता-उपनिषद्-वेदान्तदर्शन तक ही सीमित रहा। मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत इस मन्त्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने **'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ'** लिखकर ईश्वर के समान जीव का अनादित्व स्वीकार किया है। आगे उन्होंने लिखा है—**'तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयित्वा ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम्।'**

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। **'आत्मेश्वरौ'** इस समस्त पद में **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** का स्पष्ट निषेध है। स्वामी शंकराचार्य द्वारा यत्र-तत्र-अनेकत्र प्रयुक्त **'लिंगोपाधि'**, **'मायोपाधि'** जैसे शब्दो का मन्त्र में संकेत तक नहीं है।

सायणाचार्य के पूर्ववर्त्ती स्वामी आत्मानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है—**"द्वौ साधूनभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ। तयोर्मध्ये (एकः) जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादुकृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः प्रत्यर्थं प्रकाशते।"** इस प्रकार स्वामी आत्मानन्दकृतभाष्य के अनुसार भी ऋग्वेदादि में आया यह मन्त्र स्पष्टतः जीवेश्वरप्रकृति-भेद का प्रतिपादन करते हुए इन तीन सत्ताओं के अनादित्व की घोषणा कर रहा है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥३॥

—यह उपनिषद् (श्वेता० ४।५) का वचन है।

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता, और न कभी ये जन्म लेते, अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है ॥३॥

[प्रकृति का स्वरूप]

ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर-विषय में कह आये। अब **प्रकृति का लक्षण** लिखते हैं —

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहंकारत् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः' । —सांख्यसू० १।६१

अजामेकाम्—श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र में इसी बात को काव्यात्मक शैली में कहा गया है—लाल, सफ़ेद और काले रंग की एक 'अजा' है जो अपने ही रंग-रूपवाली अनेक अजाओं का सर्जन करती है। एक 'अज' है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका उपभोग करता है। एक दूसरा 'अज' है जो उस भुक्तभोगा अजा को छोड़ देता है अर्थात् उसका उपभोग नहीं करता। 'अज' का अर्थ है अ+ज=जो पैदा न हो—अजन्मा-अनादि एवं नित्य हो। तीन अज हैं—एक भोग्य=सत्व-रजस्-तमस्रूप प्रकृति, दूसरा भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगनेवाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद १।१६४।२० के समान ही इस मन्त्र में भी ईश्वर-जीव-प्रकृति के अनादित्व तथा उनकी स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट वर्णन है।

श्री शंकराचार्य का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख न होने से यहाँ 'अजा' पद प्रकृति का नहीं अपितु बकरी का वाचक है, किन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा असंगत है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी का कोई स्थान नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर **'अज' 'भुक्तभोगा' 'अनुशेते'** तथा **'जहात्येनाम्'** आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ विशेषण भी ऐसे और इतने हैं कि उनका बकरी के साथ सामंजस्य नहीं हो सकता।

मुण्डकोपनिषद् में उद्धृत उक्त वेदमन्त्र की शंकर द्वारा की गयी व्याख्या के रूप में दिया निम्न मन्त्र भी समानरूप से महत्वपूर्ण है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

—मुण्डक० ३।२

अर्थात्—अनादि नित्य जीव प्रकृतिरूपी वृक्ष के भोग में निमग्न मोह के कारण शोक करने लगता है, किन्तु जब वह उसी वृक्ष के ऊपर निर्लिप्त भाव से बैठे अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तब शोकरहित हो जाता है।

यदि वास्तव में जीव ब्रह्म का ही रूप होता तो वह किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान, दुःख आदि से त्रस्त न होता। मन्त्र में **'मुह्यमानः पुरुषः'** तथा **'अन्यमीशम्'** पदों के रहते नवीनवेदान्तियों का जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खेंचातानी है।

सत्त्वरजस्तमसाम्—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन प्रकार के मूलतत्त्व हैं। इनकी साम्यावस्था का

'सत्व'=शुद्ध, 'रजः'=मध्य, तमः=जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है, उसका नाम **'प्रकृति'** है। उससे महत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे **पाँच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत**, और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच भूत, ये चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है ॥

इनमें से प्रकृति अविकारिणी, और महत्व, अहङ्कार तथा पाँच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य, और इन्द्रियाँ, मन तथा स्थूलभूतों का कारण हैं। पुरुष न किसी की प्रकृति=उपादानकारण, और न किसी का कार्य्य है।

[जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं]

प्रश्न—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१)॥१॥ **असद्वा इदमग्र आसीत्** (तै० उप० ब्रह्म० ७)॥२॥
आत्मा वा इदमग्र आसीत् (बृहद० १।४।१) ॥३॥ **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्** (शत० ११।१।११।१) ॥४॥

—ये उपनिषदों के वचन हैं ॥

हे श्वेतकेतो ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ॥१॥ असत् ॥२॥ आत्मा ॥३॥ और ब्रह्मरूप था ॥४॥

नाम प्रकृति है, अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, प्रत्युत अपने मूलरूप में अवस्थित रहते हैं, तब तक इनका नाम 'प्रकृति' है। इस प्रकार समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था प्रकृति कहाती है। कार्यमात्र का यही मूल उपादान होने से गौणरूप में भले ही इसे एक कहा जाए, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप में कोई तत्त्व नहीं है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में ही सम्भव हो सकते हैं, इसलिए प्रकृतिस्वरूप को साम्यावस्था कहकर स्पष्ट किया है।

इस प्रकार मूलतत्व तीन वर्ग में विभक्त है। संख्या में वह अनन्त है। जब चेतन की प्रेरणा से उसमें क्षोभ होता है, तब वे मूलतत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं, अर्थात् कार्यरूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। तब उसकी अवस्था साम्य न होकर वैषम्य की ओर अग्रसर हो जाती है। तब उसका जो प्रथम परिणाम है, उसका नाम 'महत्' होता है। इसी को बुद्धिकहते हैं।

'महत्' या बुद्धि से 'अहंकार', अहंकार से पञ्चतन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत और सात्विक अहंकार से आन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आन्तर इन्द्रिय केवल एक 'मन' है तथा बाह्य इन्द्रिय दस हैं, जो दो वर्गों में विभक्त हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसन, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म-भूतों से स्थूल-भूतों की उत्पत्ति होती है। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहते हैं। इनमें मूल प्रकृति केवल उपादान तथा महत् आदि तेईस पदार्थ उसके विकार हैं। ये चौबीस अचेतन जगत् हैं। इसके अतिरिक्त पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व है। इस प्रकार चौबीस अचेतन और पच्चीसवाँ पुरुष चेतन है। चेतन तत्त्व भी दो वर्गों में विभक्त है—एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। परमात्मा एक है तथा जीवात्मा अनेक, अर्थात् संख्या की दृष्टि से अनन्त। ये हैं, वे समस्त तत्त्व, जिनके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर अचेतन तथा चेतन के भेद का साक्षात्कार करना है।

सदेव सोम्येदम्—इन वाक्यों में सदसत् के विधि-निषेध का रहस्य शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न होता है। छान्दोग्य (६।२।१-२) में एक साथ कहा है—**'असदेवेदमग्र आसीत्'** तथा **'सत्त्वेव इदमग्र आसीत्'**। एक साँस में दोनों बातें कह दीं। पहले कहा 'असत् ही था', फिर कह दिया 'सत् ही

पश्चात्—

'तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति' (छा० ६।२।) ॥१॥
'सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति' ॥२॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्म० ६) का वचन है ॥

वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है ॥१,२॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ॥३॥

—यह भी उपनिषद् का वचन है ॥[1]

जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप हैं ॥३॥

उत्तर—क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो ? क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—

था'। तत्पश्चात् स्पष्ट भी कर दिया—**'कथमसतः सज्जायेत'** अर्थात् यदि पहले 'असत्' ही होता तो बाद में उससे 'सत्' कैसे हो जाता ? **'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)। फिर पहले क्यों कहा था—'असत् ही था'? बात समाप्त करते हुए ऋषि ने कह दिया—**'सत्वेव सोम्येदमग्र आसीत्'**। वस्तुतः 'सत्' और 'असत्' से 'भाव' और 'अभाव' नहीं, व्यक्त और अव्यक्त अभिप्रेत है। प्रलयावस्था में सब अभावरूप नहीं हो जाता, कारण में लीन हो जाने से अव्यक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उद्धृत वाक्यों में 'सत्' और 'असत्' पदों का प्रयोग 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के अर्थों में हुआ है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ —गीता ८।१८

अर्थात् ब्रह्मदेव के दिन का आरम्भ होने (सर्गोत्पत्ति होने) पर अव्यक्त से सब व्यक्त पदार्थ निर्मित होते हैं और रात्रि (प्रलयकाल) आने पर उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।

At the beginning of day, all manifested things come from the unmanifested and at the coming of night they merge in that same, called the unmanifested. Here unmanifested is Prakriti.

—Radhakrishnan.

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—"यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ परब्रह्म नहीं है, क्योंकि आगे बीसवें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है कि ब्रह्मरूपी 'अव्यक्त' इस अठारहवें श्लोक में वर्णित 'अव्यक्त' शब्द से सांख्यों की 'प्रकृति' अभिप्रेत है। बीसवें श्लोक में वह ब्रह्म का वाचक है।" इस प्रकार गीताकार के मत में स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत नहीं होता। इस दृश्यमान जगत् के रूप में जो मूलतत्त्व परिणत होता है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है।

यह सब जगत्—'यह सब जगत्...अभाव न था' इस वाक्य को अस्पष्टार्थ कहा जाता है। इसके अभिमत अर्थ को स्पष्ट करने और समझने के लिए इसमें से दो अवान्तर वाक्यांशों का विभाजन करना होगा। इस वाक्य में से 'और जीवात्मा ब्रह्म' इन पदों को अलग रख लीजिए। फिर शेष वाक्य को पढ़िए। वह इस प्रकार होगा—'यह सब जगत् सृष्टि से पूर्व असत् के सदृश और प्रकृति में लीन होकर

---

१. यह किसी प्रामाणिक उपनिषद् का वचन नहीं है। इसीलिए जैन आचार्यों ने भी लिखा है—**कृत्रिमेणाप्यागमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च—'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'**। स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक १३, पृष्ठ १०३, पूना सं०। अर्थात् 'सर्वं वै०' यह बनावटी वचन है।

'[एवमेव खलु] सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः [सर्वाः] प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' ॥

—छान्दोग्य उपनि० ६।८।४

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवीकार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल, और तेजोरूप कार्य से सद्रूपकारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है। यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था ॥

और जो **'सर्वं खलु०'** यह वचन ऐसा है जैसाकि **'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुड़वा जोड़ा'** ऐसी लीला का है।

क्योंकि—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' ॥ —छान्दोग्य० ३।१४।१॥

वर्त्तमान था, अभाव न था।' इतना वाक्य एक पूरे अर्थ को व्यक्त करता है। जगत् जो अब हमारे सामने विद्यमान है, सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में यह असत् के सदृश था, सर्वथा असत् नहीं था। कारण यह है कि यह प्रकृति में लीन हुआ विद्यमान था अर्थात् कारणरूप में विद्यमान था। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने कार्य-कारणभाव में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्रलयकाल में जगद्रूप कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं होता।

जो पद उक्त वाक्य में से अलग करके रक्खे हैं, वे भी दो अवान्तर वाक्यों को बनाते हैं—१. 'और जीवात्मा वर्तमान था'। २. 'ब्रह्म वर्तमान था'। तात्पर्य यह है कि प्रलयावस्था में प्रकृति के साथ जीवात्मा और परमात्मा भी वर्तमान थे—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'**—**'रेतोधाः आसन्'** (नासदीय सूक्त)। इस प्रकार उक्त पंक्ति से ग्रन्थकार ने उस अवस्था में तीन अनादि पदार्थों की सत्ता को स्पष्ट किया है तथा प्रकारान्तर से इस मन्तव्य का प्रत्याख्यान किया है जो उस अवस्था में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं और शेष जीव तथा प्रकृति का उद्भव उसी से मानते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके भवति, प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत ॥

इसका सीधा अर्थ है—"यह सब ब्रह्म ही है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म)। तज्ज+तल्ल+तदन् (तज्जलान् इति) अर्थात् उसी (ईश्वर) में सब उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में प्राण धारण करता है। ऐसा जानकर (शान्त उपासीत) शान्त होकर उसी की उपासना करे। (अथ खलु) अब निश्चय (क्रतुमयः पुरुषः) मनुष्य वासनामय है अर्थात् जैसा वह विचार करता है वैसा ही बन जाता है। (यथा क्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषः भवति) जैसी वासना इस लोक में होती है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसी ही यहाँ से मरने के बाद की योनि में होती है। (सः क्रतुं कुर्वीत) इसलिए वह (उत्तम) कर्म करे।

यहाँ स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है। किसी का स्वयं अपनी उपासना करना कितना अटपटा लगता है। उपास्य और उपासक एक नहीं हो सकते। उपासक जीव को उपास्य ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहाँ वासनामय बताकर शान्तभाव से ब्रह्म की उपासना करने के लिए कहा गया है वहाँ ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण कहा गया

और—**'नेह नानास्ति किंचन'** ॥ यह कठवल्ली ४।११ का वचन है ॥

जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक काम के, और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य **'सार्थक'**, और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से **'अनर्थक'** हो जाते हैं। सुनो, इनका अर्थ यह है—

"हे जीव ! तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है। उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतनमात्र, अखण्डैकरस ब्रह्मरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है, किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं।

है। तात्स्थ्योपाधि से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है—यह सब जगत् 'ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्मस्थ है। साहचर्य तथा अगले-पिछले प्रकरण और अभिप्राय को देखते हुए 'इदं' शब्द का अन्वय 'सर्वम्' के साथ न होकर ब्रह्म के साथ ही हो सकता है। जैसे—'इदं सर्वं घृतम्' का अर्थ है—यह सब घृत है, इसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण नहीं है, इसी प्रकार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है कि यह सब 'शुद्ध ब्रह्म' **(शुद्धमपापविद्धम्)** है। इस चेतन अखण्डैकरस ब्रह्म में माया, अविद्या आदि कुछ नहीं है। 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि वह ब्रह्म अपने भीतर सूक्ष्मरूप में स्थित कारणरूप प्रकृति से सर्गकाल में सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थितिकाल में उसे धारण करता तथा प्रलयकाल में पूर्व की भाँति समेटकर पुनः अपने भीतर धारण कर लेता है। उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव (पुरुष) तथा कार्यरूप जगत् तीनों का एक साथ उल्लेख होने से यह मन्त्र स्पष्ट ही द्वैतवाद (त्रैतवाद) का प्रतिपादक है।

नेह नानास्ति—वह ब्रह्म अनेकरूप नहीं है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त है। इससे पहले मन्त्र में कठोपनिषत्कार ने बताया कि जो यह समझता है कि वह मन्दिर-गिरजे में है या चौथे-सातवें आसमान पर है, या कैलास पर्वत पर या क्षीरसागर में है, वह जीवन-मरण के आवर्त्तमान चक्रमें फँस जाता है—**'य इह नाना इव पश्यति मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति'**।

तीन अनादि पदार्थों के मानने पर जगद्रचना की व्याख्या सर्वाधिक निर्दोष की जा सकती है। कारण यह है कि लोक में किसी रचना के हेतु तीन प्रकार के देखे जाते हैं। सृष्टिरचना में तीन कारण हैं—निमित्त, उपादान व साधारण। जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, दूसरों को प्रकारान्तर से बनादे, उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं। प्रकृति से सृष्टि को बनानेवाला परमात्मा मुख्य निमित्तकारण है, विकृति अर्थात् परमात्मा की बनाई सृष्टि—पृथिवी, जल, कोयला, लोहा, पर्वत, समुद्र, नदियाँ आदि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध नामरूप देनेवाला जीवात्मा साधारण निमित्तकारण है। निमित्तकारण स्वयं अपरिणामी रहकर अपने से भिन्न पदार्थों को नाम-रूप प्रदान करता है। अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने-बिगड़नेवाला उपादानकारण कहाता है। उपादान के बिना कोई वस्तु बन नहीं सकती। उसी से नाम-रूप की सिद्धि होती है। निमित्त और उपादान के अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन साधारणकारण कहाते हैं। घड़े के बनने में कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादानकारण तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल आदि साधारणकारण हैं।

But now O Lord ! We are the clay and thou our potter and we are all the world of thy hand.

—The Bible, Isaiah, 61.8

इस प्रकार किसी भी वस्तु को कार्यरूप में आने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) नाम-रूप देनेवाली चेतन सत्ता, जो स्वयं अपरिणामी रहकर परिणमन करने में समर्थ हो, (२) मूल उपादान

[जगत् की उत्पत्ति में तीन कारण]

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं ?

उत्तर—तीन। एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। '**निमित्तकारण**' उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा '**उपादानकारण**' उसको कहते हैं, जिसके विना कुछ न बने। वही अवस्थान्तररूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा '**साधारणकारण**' उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने, तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्तकारण **परमात्मा। दूसरा**—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनानेवाला साधारण निमित्तकारण '**जीव**'।

जो स्वयं तो कार्यरूप में परिणत न हो सके किन्तु किसी चेतनसत्ता द्वारा प्रभावित होने पर नाम-रूप धारण कर सके। (३) वे साधन जो जड़ होने से न तो निमित्तकारण के समान कुछ बना सकें, न स्वयं कुछ बन सकें, किन्तु जिनके सहयोग के बिना नाम-रूप न दिये जा सकें।

सृष्टिरचना में परमेश्वर निमित्तकारण है, प्रकृति वह उपादान है जिसे विभिन्न नाम-रूप देकर वह सृष्टि का निर्माण करता है और जीवात्मा वह चेतन सत्ता है जिसके लिए सृष्टि की रचना की जाती है। ऐसा कोई समय नहीं था जब इनमें से किसी एक का भी अभाव रहा हो और न कोई ऐसा समय होगा जब इनमें से कोई एक न रहेगा। ये तीनों सदा से हैं और सदा रहेंगे।

सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग के लिए है—**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्** (योग० २।१८)। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करनेवाली सत्ता का होना आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादानकारण अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल भोक्ता या कर्त्ता हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख '**भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च**' कहकर किया है।

The eternal trinity is the basis of all creation. It answers the three questions : creation by whom, creation for whom and creation whence ?

—Dr. Satya Prakash : Man and his Religion. P. 29.

Reality is not one, but two. Here two means more than one.

—C.E.M. Joad : Matter, Life and Value, P. 71

उपादानकारण—सृष्टिरचना में उपादानकारण प्रकृति है। '**प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः**'—जिससे कोई पदार्थ बनाया जाए उसे प्रकृति कहते हैं। कार्यावस्था में आने पर वह नाम-रूप को धारण करती और विकृति कहाती है। 'प्रकृति' शब्द ही इस बात को सिद्ध करता है कि जगत् का मूलभूत उपादानकारण प्रकृति है।

जगत् का निमित्तकारण ब्रह्म अभौतिक एवं अपरिणामी है। उपादान जब तक विकृत न हो तब तक कार्यरूप नहीं हो सकता—कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतएव जगत् का उपादान वही हो सकता है जो विकारी हो। संसार में कर्त्ता को विकृत होते नहीं देखा जाता। सोना बिना गले या मुड़े कंगन नहीं

उपादानकारण—प्रकृति, परमाणु, जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आप-से-आप न बन और न बिगड़ सकती है, किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है। जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं, परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव क अधीन है।

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात्, ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन, और दिशा, काल और आकाश वे **साधारण कारण**। जैसे घड़े को बनानेवाला कुम्हार निमित्त, मिट्टी उपादान और दण्ड-चक्र, दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आँख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि **साधारण कारण होते हैं**। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती, और न बिगड़ सकती है।

बन सकता। इसी प्रकार मिट्टी बिना रूपान्तर के घड़ा नहीं बन सकती, परन्तु कंगन या घड़ा बनाने के बाद भी सुनार या कुम्हार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जुलाहे को कपड़ा बनते या बढ़ई को मेज़ बनते नहीं देखा गया। फिर परमेश्वर ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? ऐसा मानना सृष्टिक्रम के विरुद्ध होगा।

जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ अन्य किसी की साझेदारी नहीं है। शंकराचार्य के अनुयायियों ने 'परिणाम' के साथ कल्पनामूलक 'विवर्त' को खड़ा करके इस तथ्य पर परदा डालने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रयास करने पर भी वह ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया (**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्**—श्वेता०) नामक तत्त्व की उपादानकारणता को न हटा सके। यदि प्रकृति के सहयोग के लिए ब्रह्म स्वयं ही जगद्रूप में प्रकट होता तो उसमें परिणामित्व आदि दोषों की प्राप्ति होती और '**कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः**' इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के अनुरूप होता।

'**प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्**' (वे० द० १।४।२३) इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म इस जगत् की रचना करता है। कठोपनिषद् (५।८) में कहा है—'**स एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः**' अर्थात् सोते हुओं में जागनेवाले चेतन ने संकल्प के अनुसार इस संसार का निर्माण किया। निर्माता द्वारा यह संकल्पपूर्वक निर्माण प्रकृति उपादान के बिना सम्भव नहीं। जगन्नियन्ता का संकल्प नित्यज्ञानरूप है। ज्ञान निश्चितरूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। इस संकल्परूप ज्ञान का विषय वह प्रकृतितत्त्व है जिसे निर्माता जगद्रूप में परिणत करता है। सर्ग से पूर्व न केवल ब्रह्म जागता रहता है, वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूय में परिणत करता है। जगत् की उत्पत्ति में प्रेरयिता अथवा निर्माता के रूप में जैसे ब्रह्म निमित्तकारण है वैसे ही प्रकृति उसका उपादानकारण है। यदि प्रकृति को कारण न माना जाए तो इस प्रतिज्ञावाक्य की अनुकूलता नहीं रहेगी।

प्रकृति—सत्त्व (शुद्ध) रजस् (मध्य) तमस् (जाड्य) ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व हैं। साम्यावस्था में इनके संघात का नाम प्रकृति है। कार्यमात्र के उपादानकारण की मूलभूत स्थिति यही सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति है, अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप में अवस्थित रहते हैं, तभी तक इनका नाम प्रकृति है। इनमें विकृति अथवा वैषम्य आने पर नामरूपयुक्त सृष्टि बनती है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में सम्भव हैं, इसलिए प्रकृतिस्वरूप को साम्यावस्था में कहकर स्पष्ट किया है। विकृति का ही अपर नाम कार्यावस्था है। प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से उसका कार्य जगत् में त्रिगुणात्मक है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ —गीता १८।४०

अर्थात् पृथिवीलोक, द्युलोक आदि में कहीं कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से परे हो । कूर्मपुराण उत्तरार्ध के कुछ अध्याय 'ईश्वरगीता' के नाम से जाने जाते हैं । वहाँ (२।२।११) परमात्मा को प्रकृति और पुरुष दोनों से भिन्न कहा है । प्रपञ्च और परमात्मा का तमः-प्रकाश के समान भेद निरूपित किया है । प्रकृति और पुरुष को छाया और आतप के समान परस्पर भिन्न कहा है । इस भेद का कारण प्रकृति का जड़ और पुरुष का चेतन होना है । 'ईश्वरगीता' में प्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम् ।
साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तं प्रकृतिं विदुः ॥ कूर्म० २१।७।२६

अर्थात्—सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण कहे जाते हैं । इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त प्रकृति के नाम से जाना जाता है । अन्तिम चरण में सांख्यदर्शन (१।२।६) के **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** इस सूत्र को किंचिद् भिन्न शब्दों में कह दिया है । कार्यमात्र का मूल उपादान होने से भले ही इसे एक कह दिया जा, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप में कोई तत्त्व नहीं है । प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है—जैसे प्रकृति, अदिति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त, अजा, तमस्, वृक्ष, परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, अक्षर, क्षेत्र, ब्रह्म, माया, अविद्या आदि, तथापि उसे मुख्यतः प्रकृति और प्रधान इन दो नामों से पुकारा जाता है । 'प्रधान' पद अपने निर्वचन के आधार पर मुख्यरूप से प्रलयावस्था की ओर संकेत करता है । जो सब जगत् का आधार है (**प्रधीयते**—सांख्यप्रवचनभाष्य) और जिसमें सब जगत् लीन हो जाता है, वह प्रधान है—**'प्रकर्षेण अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत्'** । जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिए सर्वाधिक प्रचलित नाम यही है । धातु और प्रत्यय के आधार पर 'प्रकृति' पद का अर्थ होगा—**'प्रकर्षेण क्रियते जगदनया इति प्रकृतिः'** अर्थात् जिससे सब जगत् की रचना होती है, वह 'प्रकृति' है ।

भारतीय दर्शन में सत्त्व, रजस् और तमस् को मूल तत्त्व माना है । समस्त जड़ जगत् मूलतः इन्हीं तत्त्वों से मिलकर बना है । सांख्यकारिका (१२) में इस सन्दर्भ में लिखा है—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥

सत्त्व (शुद्ध) प्रीतिरूप है । प्रीति का अर्थ है—दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना । इसके विपरीत रजस् (मध्य) अप्रीतिरूप है और इस कारण वह दूर हटाने की प्रवृत्ति रखता है । तीसरा तमस् (जाड्य) विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप और न अप्रीतिरुप । प्रलयकाल में बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं कि कार्य करने की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है । व्यक्त होने की प्रवृत्ति (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती हैं । 'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रधानपक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है, एकान्तिक अथवा अनन्य-स्वरूप को लक्ष्य करके नहीं । भौतिक जड़ पदार्थों में तमोगुण प्रधान है और सत्त्व तथा रजस् गौण । गतिमान् पदार्थों में रजोगुण प्रधान होता है, अन्य गुण प्रच्छन्न ।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादानकारण इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन नामक तीन तत्त्वों को मानता है । प्रोटोन (A unit constituent of matter, associated with (or consisiting of) an invariable charge

[क्या ईश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है ?]

प्रश्न—नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण[1] मानते हैं—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' —यह मुण्डक उपनिषद् १।१।७ का वचन है ॥

जैसे मकरी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है, वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है ॥

सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि—'मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊँ' संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया, क्योंकि—

---

of positive electricity) आकर्षण शक्ति का पुञ्ज है । इसके विपरीत इलेक्ट्रॉन (The smallest supposed component of matter, associated with (or consisting of) an invariable charge of negative electricity) आकर्षणरूप है । पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है, जबकि दूसरा अपने अपकर्षण (दूर करने या हटाने) में प्रवृत्त रहता है । साधारणतया इन्हें पॉजिटिव और नेगेटिव (Positive and Negative) पावर कहा जाता है । तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन (An electrically neutral particle consting of an electron and a proton in close association) में ये दोनों बातें नहीं होतीं । समस्त विश्व के मूल में ये ही तीन तत्त्व हैं, जिनसे उसका निर्माण होता है ।

इस सन्तुलन का यह अभिप्राय नहीं कि 'सत्त्व-रजस्-तमस्' क्रमशः पूर्णतया प्रोटोन-इलेक्ट्रॉन-न्यूट्रॉन हैं, किन्तु मूलतत्त्वविषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन दोनों में पर्याप्त समानता है । इस सन्तुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय मनीषियों—तत्त्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था । यह भी सम्भव है कि भारतीय दार्शनिकों का चिन्तन उससे भी परे मूल चिन्तन की ओर हो ।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है, अपितु ऊर्जा (Energy) को वस्तु-तत्त्व (Matter) के रूप में और वस्तु-तत्त्व को ऊर्जा के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है । यदि यह ठीक है तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ऊर्जा और वस्तुतत्त्व (Energy and Matter) का मूल उपादानतत्त्व एक ही है अथवा मूल में वे दोनों एक हैं ।

यथोर्णनाभिः—नवीनवेदान्तियों की मान्यता है कि जगत् के निमित्त तथा उपादानकारणों को अलग मानना आवश्यक नहीं है । एक ब्रह्म ही स्वयं अपने से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं है । लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं । मकड़ी अपने आपसे ही जाला बुन देती है, बाहर से उसे कोई सामान जुटाना नहीं पड़ता । इसी प्रकार ब्रह्म प्रकृति-उपादान के बिना ही अपने से ही सृष्टि की रचना कर देता है । इस प्रकार एक ही तत्त्व के निमित्त तथा उपादानकारण होने को 'निमित्तोपादानकारण' कहते हैं ।

यह बात पहले विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है कि विकारी हुए बिना उपादान से रचना नहीं हो सकती । यदि ब्रह्म अपने से जगत् को बनाएगा तो वह विकारी या परिणामी अवश्य होगा । दूसरी बात यह है कि चेतन ब्रह्म का परिणाम जड़ जगत् कैसे हो जाता ? क्योंकि कारण के विशेष गुण कार्य में अवश्य

---

१. अर्थात् निमित्त और उपादानकारण का भिन्न-भिन्न न होना ।

आते हैं। या तो जगत् भी चेतन होता या उपादानकारण ब्रह्म जड़ होता, पर न जगत् चेतन है और न ईश्वर जड़। इसलिए ईश्वर को किसी भी रूप में जगत् का उपादानकारण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म-उपादान से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी आदि के दृष्टान्त अद्वैतमत की सिद्धि में बाधक हैं, साधक नहीं। विवेच्य मन्त्र इस प्रकार है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यां ओषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा ऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥ —मुण्डक० १।१।७

अर्थात जैसे मकड़ी तन्तुजाल का सर्जन करती है और अपने भीतर समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है। आपाततः यह मन्त्र अभिन्ननिमित्तोदानकारण की मान्यता का प्रतिपादक मालूम होता है, परन्तु तनिक-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः यहाँ इन दृष्टान्तों द्वारा जगत् के निमित्त तथा उपादानकारणों का अलग-अलग होना ही बताया गया है। इस मन्त्र में आये **'यथा' 'तथा'** और **'सतः पुरुषात्'** पदों पर ध्यान देने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। मन्त्र में कहा गया है कि 'जैसे मकड़ी तन्तुजाल को बनाती और संहारती है 'वैसे ही' ब्रह्म से जगत् का प्रादुर्भाव होता है।' मकड़ी तन्तुजाल को कैसे बनाती है? यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि मकड़ी से तन्तुजाल तभी तक बनता है जब तक वह जीवित रहती है। न मृत शरीर से तन्तुजाल बनते देखा गया है और न शरीर से निकलने के बाद शरीररहित आत्मा को कहीं जाल बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी की चेतना स्वयं तन्तुजाल में परिणत नहीं होती, चेतना के वहाँ रहते प्राकृत देह के अवयव ही तन्तुजाल में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार तन्तुजाल की उत्पत्ति में मकड़ी का शरीर जड़ उपादान और उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्तकारण है। वैसे ही ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति (हिरण्यगर्भ=गर्भ में प्रकृति को धारण करनेवाला) से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल सृष्टि की रचना करता है। यह परमात्मा की विशेषता है कि जहाँ अन्य निमित्तकारण (मनुष्यादि) रचना करके अपनी रचना से पृथक् हो जाते हैं, वहाँ परमात्मा अपनी रचना में व्याप्य-व्यापक भाव से सदा वर्तमान रहता है। दूसरा दृष्टान्त पृथिवी से ओषधि आदि की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। यहाँ भी यह स्पष्ट है कि ओषधि-वनस्पति आदि के उपादानतत्त्व उनके बीज होते हैं। पृथिवी का आश्रय पाकर ऊष्मा, जल आदि के निमित्त से वे बीज ही अंकुरित होते हैं। न बिना बीज के वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है और न पृथिवी, जल आदि के बिना। तीसरा दृष्टान्त यह है कि **'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि'** जैसे पुरुष के रहते केशलोमादि प्रकट होते हैं। देहावयव ही केश, नख आदि के रूप में परिणत होने से ये सब देह के विकार हैं, देह में बैठे जीवात्मा के नहीं। **'सतः पुरुषात्'** कहने से बिल्कुल स्पष्ट है कि देह से केशादि का प्रादुर्भाव तभी तक सम्भव है जब तक देह में जीवात्मा अधिष्ठित है। मृत देह से कुछ नहीं निकलता।

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी रूप में परिणत होता है और न चेतन तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति कार्यरूप में परिणत होती है। परमात्मा इन्द्रियातीत, अव्यय, अपरिणामी तथा अदृश्य है। उपादानकारण अव्यय, अपरिणामी नहीं होता। कार्यरूप में आते ही वह दृश्य आदि धर्मवाला हो जाता है। प्रकृति में ऐसा सम्भव होने से वही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म ऐसा कभी नहीं हो सकता, अतः वह केवल निमित्तकारण है।

आदावन्ते—प्रथम तो जो प्रत्यक्ष है, जिसे प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' ॥ —यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका ३१ है।

जो प्रथम न हो, अन्त में न रहे, वह वर्त्तमान में भी नहीं है ॥

किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म रहेगा। तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादानकारण ब्रह्म होवे, तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त, विकारी हो जावे और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में आते हैं—

'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' ॥ —वैशेषिक सू० २।१।२४

उपादानकारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं।

नहीं हो सकता। वर्तमान में जगत् का अस्तित्व है—यह प्रत्यक्ष होने से स्वतः सिद्ध है। यदि कोई पदार्थ वर्त्तमान में है ही नहीं तो उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह पहले नहीं था या फिर नहीं रहेगा। उसके पहले न होने या फिर न रहने की उक्ति ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय है। 'यहाँ घड़ा नहीं था और कुछ समय बाद नहीं रहेगा' कहने से स्पष्ट है कि वह इस समय यहाँ है। यह ठीक है कि संयोगज पदार्थ संयोग से पहले नहीं होता और वियोग के बाद नहीं रहता, किन्तु संयोग होता ही विद्यमान सत् पदार्थों का है, अभाव का नहीं। जो पदार्थ है ही नहीं उसके संयोग अथवा वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के सामर्थ्य में जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। यह अवश्य है कि सृष्टि से पूर्व प्रलय-काल में और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलयकाल आरम्भ होने से जब तक पुनः सृष्टिरचना न होगी तब तक उपादाकारण प्रकृति के साम्यावस्था में रहने से वह उसकी अव्यक्त दशा है, जबकि वर्त्तमान में वह व्यक्त है।

प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं हो सकता। मैं आज से ८० वर्ष पूर्व नहीं था और एक दिन ऐसा भी आएगा जब मैं नहीं रहूँगा। इसलिए यह कौन मान सकता है कि मैं आज भी नहीं हूँ। कार्य और कारण दोनों के सत्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा कारण अधिक सत्य और स्थायी होता है। निमित्तकारण के रूप में नित्य, किन्तु अपरिणामी, परमेश्वर तथा उपादानकारण के रूप में नित्य, किन्तु परिणामी, प्रकृति की अपेक्षा से नित्य परिवर्तनशील नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहा जा सकता है, किन्तु यह कथन मात्र औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं। आनुभविक जगत् अपने आप में सत् होते हुए भी ब्रह्म की तुलना में या उसकी अपेक्षा से असत् या अयथार्थ अथवा **'श्वोभावः'** कह दिया जाता है।

कारणगुणपूर्वकः—कारण के गुण के अनुरूप ही कार्य में गुण देखे जाते हैं। दाल को चटपटा बनाने के लिए दाल में मिर्च डाली जाती है, क्योंकि उसमें चटपटापन है। हलवे को मीठा बनाने के लिए उसमें चीनी डाली जाती है, क्योंकि उसमें मिठास होती है। सोने का टुकड़ा मिट्टी के घड़े का कारण नहीं बन सकता। पानी को कितना भी बिलोएँ, उसमें से मक्खन नहीं निकल सकता। जो गुण कारण में नहीं हैं, यदि वे कार्य में आ जाएँ तो कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी नियत कारण की अपेक्षा न हो। यह असत् से सत् की उत्पत्ति के समान होगा, किन्तु यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो सके। न यथार्थ का कारण अयथार्थ हो सकता है और न अयथार्थ का कारण यथार्थ। सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर है, अर्थात् कारण और कार्य एक दूसरे से विलक्षण हैं। जगत् अशुद्ध एवं अधार्मिक है, इसलिए **शुद्धमपापविद्धम्** ब्रह्म उसका उपादान नहीं हो

तो ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप, जगत् कार्यरूप से असत्, जड़ और आनन्दरहित। ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है। ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवें, तो पृथिव्यादि कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाए और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होना चाहिए।

और जो मकरी का दृष्टान्त दिया, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है, क्योंकि वह जड़रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्तकारण है और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है, क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर, बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने **'ईक्षण'** अर्थात् दर्शन=विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊँ, अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है, तभी जीवों के विचार-ज्ञान-ध्यान-उपदेश-श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध, और बहुत स्थूल पदार्थों में सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है, तब परमेश्वर और मुक्त लोगों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता।

और जो वह कारिका है, वह भ्रममूलक है, क्योंकि प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था। और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी वार सृष्टि न होगी, तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है। क्योंकि—

'तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑' ॥१॥

—यह ऋग्वेद १०।१२६।३ का वचन है॥

सकता। शंकर का कहना है कि अचेतन पदार्थ चेतन प्राणियों से जन्म लेते हैं, जैसे केश और नाखून चेतन मनुष्य से जन्म लेते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि केश, नख आदि के रूप में देहावयव ही परिणत होते हैं, चेतन जीवात्मा नहीं।

किसी कार्य के प्रादुर्भाव के लिए किन्हीं नियत वस्तुओं का उपादान होने से यह प्रमाणित होता है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व हम उनमें नियत कार्य के उत्पाद की क्षमता स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो वस्त्र-निर्माण के लिए तन्तुओं का ग्रहण न किया जाए। फलतः कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध के लिए यह व्यवस्था है कि कारण-वस्तु के न रहने पर कार्य का होना सम्भव नहीं। कार्य को उसकी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' कहना उसके अत्यन्त सत्त्व का द्योतक नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्यक्त होने से ऐसा कहा जाता है। यदि दूध में दही बनने की या मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता न हो तो कोई उनसे दही या घड़ा बनाने का प्रयास क्यों करे ? वस्तुतः घड़े के बनने का ज्ञान कुम्हार की बुद्धि में सदा वर्त्तमान रहता है और कारण-तत्त्वों में कार्योत्पाद की क्षमता बराबर बनी रहती है।

तम आसीत्—जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में सदा विद्यमान रहना **'सद्रूप'** कहाता है और कार्यरूप में न रहना **'असद्रूप'**। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन **'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'** कहकर किया है। प्रलय दशा में (अग्रे) मूलकारण (तमः) अन्धकार से (तमसा) आवृत्त (गूढम्) रहता है। उस अवस्था में दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥२॥ —मनु० १।५॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था, और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने, और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा, किन्तु वर्तमान में जाना जाता है, और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है ॥१,२॥

पुनः उस कारिकाकार ने वर्त्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा, सो सर्वथा अप्रमाण है, क्योंकि जिसको प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

[सृष्टि-रचना का प्रयोजन]

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है ?

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी की नहीं और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है ? जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाए, तो सुख कई गुना अधिक होता और बहुत-से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं। और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता, और जीव क्योंकर भोग सकते ?

प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—

आसीदिदं तमोभूतम्—सृष्टि से पूर्व यह जगत् कारणरूप होने से ज्ञेय नहीं थ, परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता ? कारणरूप में तत्वतः विद्यमान था। **'प्रसुप्तमिव'**—तुलना करें—

In solitude where Being signless dwelt,
And all the universe still dormant lay,
In selfishness one Being was exempt,
From I or thouness, and apart from all duality.

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, P. 16-17

सृष्टिरचना का प्रयोजन—संसार में प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई प्रयोजन होता है। विश्व की रचना विविध रूपों में है और सबका एक विशिष्ट प्रयोजन है, भले ही हम उसे समझ न पाएँ। प्रयोजन ही नियमों को सार्थक बनाता है। वस्तुतः प्रयोजन का निश्चय हो जाने पर ही तदर्थ अपेक्षित नियम बनते हैं।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी उपयोग के लिए बना है। मनुष्यों के नेत्रों का अर्थ है देखना। यदि बाहर पदार्थ न होते तो नेत्रों का होना व्यर्थ था। यदि कोई देखनेवाला न होता या देखने के लिए आँखें न होतीं तो पदार्थों का होना व्यर्थ था। इस प्रकार शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध न

जो तुमसे कोई पूछे कि आँख के होने में क्या प्रयोजन है ? तो तुम यही कहोगे कि देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन ? विना जगत् की उत्पत्ति करने के दूसरा कुछ भी न कह सकोगे ? और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

होते तो उनकी ग्राहक इन्द्रियों नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण आदि का होना व्यर्थ था। इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था।

प्रयोजन कामनामूलक होता है। ब्रह्म में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है। जगद्रचना में ईश्वर का कोई स्वार्थ सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप कहा गया है। इसलिए उसके किसी निजी प्रयोजन को खोजना उसकी पूर्णता को चुनौती देना है। **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः'** को फलोपभोग की अपेक्षा नहीं। उसके लिए जगत् किस काम का ? इन्द्रियविहीन प्रकृति परार्थ है, क्योंकि अचेतन प्रकृति स्वयं अपना भोग्य नहीं हो सकती। तब परमात्मा से भिन्न चेतन सत्ता जीव राज्य सञ्चालन के लिए अपेक्षित व्यवस्थाएँ करता है, उसी प्रकार परमेश्वर प्राणियों के हिताहित का विचार करके के लिए ही भोग्य अपेक्षित है। जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग और अपवर्ग का सम्पादन करता है। जड़ प्रकृति में यह सामर्थ्य नहीं कि वह असंख्य जीवों के हिताहित का विचार करके तदनुसार अपने को प्रवृत्त कर सके। अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीव भी इसकी व्यवस्था करने में असमर्थ है। इसलिए जैसे राजा अपनी प्रजा के हिताहित का विचार करके, सृष्टि निर्माण की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा सृष्टिरचना का प्रयोजन जीवों के पूर्वजन्मों में किये कर्मों के फलोपभोग तथा मोक्षलाभ के लिए समुचित व्यवस्था करना है। परमेश्वर का यह कार्य उसकी स्वभावगत विशेषता है। इसमें कभी कोई अन्तर या विपर्यास आने की सम्भावना नहीं है। सृष्टिरचना के द्वारा ही परमात्मा का बोध होता है और इस बोध के द्वारा ही जीव जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर मोक्षलाभ करता है।

ग्रन्थकार ने सृष्टिरचना का एक उद्देश्य परमात्मा के दया, न्याय आदि गुणों की सार्थकता बताया है, परन्तु संसार में व्याप्त दुःख को देखते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि परमात्मा ने जीवों पर कोई अनुग्रह किया है। यदि जीवात्माओं के हित और उनपर दया के प्रयोजन से ईश्वर जगत् की रचना करता तो उसे सुखमय बनाता, पर आनन्दस्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्मित संसार अनेकविध दुःखों का घर है। उसमें सुख कहाँ है ? जिधर देखो, दुःख-ही-दुःख है। यह कैसी दया है ? **'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'**—जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख भोगने पड़ते हैं। सारा जीवन त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) दुःखों से छुटकारा पाने के प्रयास में ही बीत जाता है—**'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः'** (सांख्य १।१)। दुःख न होता तो कपिलमुनि ऐसी बात क्यों कहते ? एक दुःख से मनुष्य छूट नहीं पाता कि दूसरा मुँह बाये सामने आ खड़ा होता है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति॥

—हितोपदेश १।१६३

बौद्धमत में विश्व के आधारभूत पाँच स्कन्ध माने गये हैं—संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और संस्कार।

[कारण सदा कार्य से पूर्व होता है]

प्रश्न—बीज पहले है, वा वृक्ष

उत्तर—बीज, क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से [वह] कार्य के प्रथम ही होता है।

ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं, इसलिए बौद्ध और बौद्धों की भाँति अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं।

वस्तुतस्तु यह विचार एकान्तिक है। आनन्दस्वरूप की कृति—सृष्टि में दुःख-ही-दुःख हो, सुख कहीं हो ही नहीं, यह कैसे सम्भव है? दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है, परन्तु सुख-दुःख के सापेक्ष होने से सुख का अस्तित्व माने बिना दुःख की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सुख को बड़ी जल्दी भूल जाता है, जबकि दुःख की स्मृति देर तक बनाए रखता है। सुख में बीते महीने क्षणभर में बीत गये लगते हैं, किन्तु दुःख की रात बहुत लम्बी जान पड़ती है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का सम्मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है, अतः अपवर्ग की अपेक्षा भोग हेय है और भोग की अपेक्षा अपवर्ग ग्राह्य है। भोग को अपवर्ग के साधन के रूप में अपनानेवाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है। परमात्मा ने तो अनन्त विभूतियाँ जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दी हैं। आत्मा का यह अपना प्रयास है कि वह उनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। सुख-दुःख तो आत्मा की अपनी कमाई है। उसे ब्रह्म पर आरोपित करना अपने आपको धोखे में रखना है। जगत् की रचना का प्रयोजन तो प्राणियों पर अनुग्रह ही है।

जीवात्मा की संसार में प्रवृत्ति होने से भी संसार दुःखरूप नहीं है। प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे विरत होता है—'**दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्**'। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। कोई भी व्यक्ति संसार को छोड़ना नहीं चाहता। अत्यन्त दुःखी और जीवन से निराश व्यक्ति भी यहाँ बना रहना चाहता है। '**अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा बलीयसी**'—जीवों में जीने की आशा बड़ी बलवती होती है। किसी विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि मनुष्य इन्द्रपद के बदले भी शरीर का त्याग करना नहीं चाहता—'**देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदमपि न वाञ्छति**'। जहाँ शरीर दुःखों का कारण है, वहाँ सुख और आनन्द की प्राप्ति का भी साधन है। मानवशरीर प्राप्त होने पर ही जीवात्मा उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है, जिनके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। यदि संसार में दुःख-ही-दुःख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति क्यों होती? किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक-से-अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करते रहने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के लिए अपेक्षित साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। '**जीवेम शरदः शतम्**' से सन्तुष्ट न होकर '**भूयश्च शरदः शतात्**'—सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीते रहने की कामना करता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने तथा असह्य कष्ट को अनुभव करते हुए भी येन-केन-प्रकारेण मौत को भगाकर कुछ और समय तक यहाँ बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि उसे विश्वास है कि संसार में दुःख की तुलना में सुख की मात्रा कहीं अधिक है।

बीज पहले—कुछ ऐसे सिद्धान्त होते हैं जो सर्वमान्य होने से बिना ननु-नच के स्वीकार कर लिये

[सर्वशक्तिमान्' का वास्तविक अर्थ]

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता।

जाते हैं। 'कारण पहले होता है, कार्य पीछे' एक ऐसा ही सिद्धान्त है। इसी को इस रूप में भी कह सकते हैं कि बीज पहले होता है, वृक्ष उसके बाद में। हम अपने सामने पेड़ से बीज और बीज से पेड़ होता देखते हैं। तब इनमें से पहले किसको कहें और पीछे किसको ? सर्ग के आदि में सबसे पहले एक पीपल के पेड़ ने भूमि को फोड़कर जन्म लिया। कालान्तर में बड़ा हो जाने पर उसपर फल लगे। उनसे अनेक पीपल के पेड़ पैदा हुए और इस प्रकार **साजात्य** प्रजनन की प्रक्रिया चालू हो गयी। प्रश्न यह है कि सबसे पहले पीपल का पेड़ किस बीज से पैदा हुआ होगा, क्योंकि उससे पहले पीपल का पेड़ न होने से बीज कहाँ से आया ? तब यही कहना होगा कि सबसे पहला पीपल बिना बीज के पैदा हुआ था, किन्तु बिना बीज के अंकुर नहीं उग सकता—कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है ? फिर सबसे पहले उगनेवाले पीपल का बीज कैसे बना और किसने बनाया ?

एक बात निश्चित है कि पीपल का पेड़ सन्तति—प्रजनन के लिए जो बीज देता है, उनमें अंकुर को उत्पन्न करनेवाले सब तत्त्व प्रकृति से आते हैं। ये तत्त्व प्रकृति में सदा से विद्यमान रहते हैं। जब तक चालू सर्गकाल की प्रक्रिया आरम्भ नहीं होती तब तक प्रकृति के नियम व व्यवस्था उस प्रक्रिया को स्वतः पूरा करते हैं। सबसे पहले उगनेवाले पीपल के बीज का निर्माण ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार प्रकृति के गर्भ में स्वतः होता है। बीज के अन्दर अंकुरप्रजननशक्ति जिन भौतिक अथवा प्राकृत तत्त्वों में आहित है, उन तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें पहचानने में हम भले ही सफल हो जाएँ, पर उन तत्त्वों को अपेक्षित मात्रा में संकलित करके अंकुरोत्पादनशक्तिसम्पन्न बीज का निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। वे अंकुरजनक भौतिक तत्त्व जब प्रकृतिगर्भ में संकलित हुए होंगे तब एक खोल में संपिण्डित जैसे रहे होंगे। अंकुरजनन की अनुकूल अवस्था आने तक प्रकृति द्वारा उनका पोषण होता रहा। जब वह अवस्था पूर्णता को पहुँच गयी, तब खोल फटा और अंकुर ने धीरे-धीरे भूमि में से सिर बाहर निकाला। हो सकता है उस बीज की संरचना कुछ ऐसी ही रही हो, जैसी आज वृक्ष से प्राप्त होनेवाले बीज की होती है। इस सन्दर्भ में गीता के निम्न दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

> **मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।**
> **सम्भवं सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥**
> **सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।**
> **तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥** १४।३-४

भावार्थ—मेरे अधीन उपादानकारण जो प्रकृति है, उसमें मैं गर्भधारण करता हूँ। सब प्राणियों की उत्पत्ति उसी से होती है। सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ होती हैं, प्रकृति उनका उपादानकारण है और मैं बीज डालनेवाला पिता हूँ। यहाँ **'महद् ब्रह्म'** प्रकृति का वाचक **है**। राधाकृष्णन का यह कहना सर्वथा उपयुक्त **है**—'महद् ब्रह्म' or 'Prakriti is my womb'.

इस प्रकार अमैथुनी सृष्टि में परमेश्वर ही प्राकृत तत्त्वों से बीजों का निर्माण करता है। मैथुनी सृष्टि में उन बीजों से उत्पन्न पेड़ों से प्राप्त होनेवाले बीजों से पेड़ पैदा होने लगते हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार का वृक्ष से पहले बीज के होने की बात कहना विज्ञानसम्मत एवं तर्कसंगत है।

सर्वशक्तिमान्—परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर इससे पूर्व सप्तम समुल्लास में भी विचार हो चुका

उत्तर—'सर्वशक्तिमान्' का शब्दार्थ पूर्व लिख आये हैं, परन्तु क्या 'सर्वशक्तिमान्' वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसे कारण के विना कार्य को कर सकता है, तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर, और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिए परिवर्त्तन नहीं कर सकता। इसलिए **'सर्वशक्तिमान्'** का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी की सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।

[ईश्वर निराकार है, साकार नहीं]

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार ? जो निराकार हो तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और साकार है, तो कोई दोष नहीं आता।

है। पौराणिकमतावलम्बी ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'** समर्थ मानते हैं। उनकी देखा-देखी कुरानी तथा किरानी भी वैसा ही मानने लगे। जब ईसाई या मुसलमान ईसामसीह या मुहम्मद साहब पर ईमान लाने की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि पैग़म्बर के सिफारिश करने पर खुदा ईमानवालों के गुनाह माफ़ कर देता है, क्योंकि वह जो चाहे कर सकता है—वह गुनहगारों को माफ़ भी कर सकता है और बेगुनाहों को सज़ा भी दे सकता है। अहमदी या क़ादियानी सम्प्रदाय के इमाम साहब का कहना था कि जब हम मामूली इन्सान किसी की ग़लती को माफ कर सकते हैं तो 'अल्लाहो अकबर'—हमसे बड़ा खुदा क्यों नहीं कर सकता ? वे यह नहीं समझते कि ईश्वर का बड़प्पन क़ानून—सृष्टि के नियमों को तोड़ने में नहीं, बल्कि स्वयं उनका पालन करने और दूसरों से पालन करवाने में है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लंघन करने लगे तो वह नियामक कहाँ रहा ? ऐसी स्थिति में Cosmos के स्थान पर बहुत बड़ा Chaos उपस्थित हो जाएगा।

सृष्टि के आदि में स्वयं ईश्वर ने जो संविधान बना दिया, उसका उल्लंघन न स्वयं ईश्वर कर सकता है और न उसकी प्रजा। परमेश्वर कोई मदारी या जादूगर नहीं है, जो दिन को रात बना दे और रात को दिन या अमृत को विष बना दे और विष को अमृत। सृष्टिक्रम या स्वनिर्मित संविधान के विपरीत कुछ भी कर सकने में वह सर्वथा असमर्थ है।

निराकार द्वारा सृष्टिरचना—अनन्त विश्व की रचना करनेवाला निराकार ही सम्भव है। जहाँ ईश्वर को निराकार माना गया है वहाँ उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् भी कहा गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है सर्वशक्तिमान् का इतना ही तात्पर्य है कि संविधान के अन्तर्गत जगद्रचना का जो कार्य वह करता है, उसके करने में वह अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। वह अपने असीम सामर्थ्य द्वारा मूल उपादान जड़ प्रकृति को प्रेरित करता है। उसकी अनन्त सामर्थ्ययुक्त व्यवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों में सर्वत्र व्याप्त है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा को किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए अन्तरंग साधन— करण (मन,बुद्धि आदि) तथा बाह्य साधन देह एवं देहावयवों की अपेक्षा होती है। इसलिए लोक में देखी गयी स्थूल व्यवस्था के अनुसार ऐश्वरी सृष्टि के विषय में ऊहा करना उपयुक्त नहीं होगा।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो जीवात्मा द्वारा की जानेवाली प्रेरणाओं में उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जहाँ किसी साकार सहयोग की अपेक्षा नहीं जानी जाती। कल्पना कीजिए आप कुर्सी पर बैठे हैं, मेज आपके सामने है, मेज पर आपका हाथ निश्चेष्ट रक्खा हुआ है, उससे कुछ दूर मेज के

उत्तर—ईश्वर निराकार है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है वह ईश्वर नहीं, क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश-काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन शीतोष्ण ज्वर-पीड़ादि सहित होवे। उसमें जीव के विना ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं, इससे त्रसरेणु-अणु-परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता। जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक, हस्तपादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति, बल, पराक्रम हैं। [वह] उनसे सब काम करता है, जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें[1] व्यापक है, तभी उनको पकड़कर जगदाकार कर देता है।

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के माँ-बाप साकार है, उनका सन्तान भी साकार होता है, जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी निराकार होते। वैसे परमेश्वर निराकार हो ते उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिए।

उत्तर— यह तुम्हारा प्रश्न लड़के के समान है, क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है और जो स्थूल[2] होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादानकारण है और वे सर्वथा निराकार नहीं, किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

[असम्भव कार्य ईश्वर भी नहीं कर सकता]

प्रश्न—क्या कारण के विना परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जिसका अभाव अर्थात् जो वर्तमान नहीं है, उसका भाव=वर्त्तमान होना सर्वथा

कोने पर क़लम रक्खी है, आप उसे उठाकर कुछ लिखना चाहते हैं। आपकी इस इच्छा के साथ ही हाथ में हरकत होती है, वह ऊपर उठता है और अंगुलियों में क़लम पकड़कर फिर पहली जगह आ टिकता है। हाथ में उठने के लिए जो क्रिया हुई, वह एक प्रेरणा का फल है। देह के भीतर बैठे चेतन आत्मा से यह प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने की सीमा में चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य साकार सहयोगी का समावेश नहीं है। यहाँ केवल चेतन आत्मा प्रेरणा कर रहा है, जो निराकार है। इससे स्पष्ट होता है कि चैतन्य एक ऐसा तत्त्व है जिसे किसी अन्य साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं होती। जीवचेतन की शक्ति जैसे अति सीमित है, ऐसे ब्रह्मचेतन की शक्ति असीमित है। जैसे जीवचेतन देह में प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे परमेश्वर अनन्तसामर्थ्ययुक्त होने से अनन्त विश्व को प्रेरित करता है। फलतः अनन्त विश्व की रचना के लिए निरपेक्ष निराकार चैतन्य सर्वथा सक्षम है।

साकार-निराकार—इस विषय पर सप्तम समुल्लास में विचार हो चुका है।

कारण के बिना कार्य नहीं—वैशेषिकदर्शन का सूत्र है—**'कारणाभावात्कार्याभावः'** (१।२।१)—कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है, अर्थात् कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि सम्भव है। कारणविशेष से कार्यविशेष का प्रादुर्भाव होता है। जिसके होने पर कोई कार्य होता है और न होने पर नहीं होता, वह कारण कहाता है। इस नियम के अनुसार कार्य की सम्पन्नता के लिए आवश्यक है कि कारण पहले से

---

१. 'उनमें' अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों में।

२. यहाँ प्रकृति को परमात्मा की दृष्टि से स्थूल कहा है, इन्द्रियगोचरता अभिप्रेत नहीं है। देखो—अगला वाक्य।

असम्भव है। जैसे कोई गपोड़ हाँक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा। वह नरशृंग का धनुष धारण किये और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे। मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते, और गन्धर्वनगर में रहते थे। वहाँ बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी। वैसे ही कारण के विना कार्य का होना असम्भव है। जैसे कोई कहे कि **'मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। ममं मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च'** अर्थात् मेरे माता-पिता न थे, ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूँ। बिल में सर्प न था, निकल आया। मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं न थे, और हम सब जने आये हैं। ऐसी असम्भव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

[कारण का कारण नहीं होता]

प्रश्न—जो कारण के विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण कौन है?

उत्तर—जो केवल कारणरूप ही हैं, वे कार्य किसी के नहीं होते और जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह दूसरा[1] कहाता है। जैसे पृथिवी घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य होता है, परन्तु जो आदिकारण प्रकृति है, वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ —सांख्यसू० १।६७

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे अकारण सब कार्यों का कारण होता है॥

क्योंकि किसी कार्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं। वैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है, जैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

विद्यमान हो। फलतः कारण वह पदार्थ है जिसका आगे परिवर्तन होता है। परिवर्तन सद्वस्तु में सम्भव है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)।

मूले मूलाभावात्—(मूले) मूल में (मूलाभावात्) मूल के अभाव में (अमूलं) मूलरहित है (मूलम्) मूल। कार्य-कारण-सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि कारणवस्तु के न होने पर कार्य होना सम्भव न हो। इसलिए प्रत्येक कार्य का कारण खोजा जाता है, क्योंकि कार्यकारणरूप इस जगत् में प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है। जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह प्रकृति-विकृति कहाता है। सूत वस्त्र का कारण है, किन्तु रुई का कार्य। इसी प्रकार आटा रोटी का कारण है, किन्तु गेहूँ का कार्य और ईंटें मकान का कारण हैं, किन्तु मिट्टी का कार्य। उत्पन्न पदार्थ का कोई उपादान-कारण अवश्य होना चाहिए। इसलिए कार्यजगत् अपने उपादानकारण पार्थिवादि परमाणुओं के अस्तित्व में प्रमाण है। परन्तु जो केवल कारणरूप है वह किसी का कार्य नहीं होता। जो किसी का कारण हो और स्वयं किसी का कार्य, वह मूलकारण नहीं कहाता। भावरूप पदार्थ जिसका कोई कारण न हो, नित्य कहाता है—**'सदकारणवन्नित्यम्'** (वैशे० ४।१।१)। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था में प्रकृति जगत् का आदि अथवा मूलकारण है। समस्त चराचर **अचेतन** जगत् के मूलकारण सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। अखिल विश्व इनका परिणाम है, किन्तु ये किसी का परिणाम नहीं हैं। यदि इनका भी कोई उपादानकारण माना जाएगा तो

---

१. अर्थात् प्रकृति-विकृति।

[सृष्टि-रचना-विषयक विविध मतों पर विचार]

अत्र नास्तिका आहुः —

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥१॥—सांख्यसू० १।४४॥
अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥२॥
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३॥
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥४॥
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥५॥
सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥६॥
सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥७॥
सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥८॥

—न्यायसू० अ० ४। आह्निक १। सूत्र १४, १६, २२, २५, २६, ३४, ३७, ३६

[शून्य ही एकमात्र पदार्थ नहीं]

यहाँ नास्तिक लोग ऐसा कहते हैं कि—

पहिला नास्तिक —शून्य ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा, क्योंकि जो भाव है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जाएगा।

उत्तर—शून्य आकाश, अदृश्य, अवकाश और बिन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ है। इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक बिन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार होने से भूमि पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं और शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं होता ॥१॥

उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण-परम्परा का कहीं अन्त नहीं होगा और अनवस्थादोष की प्राप्ति होगी। जबकि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है, प्रकृति का कोई कारण नहीं, क्योंकि सब कार्यों का मूलकारण अकारण होता है।

शून्यं तत्त्वम्—केवल शून्य वस्तुभूत तत्व है, क्योंकि जिस वस्तु का भाव है, जिसको कहा जाता है कि 'यह है' वह सब वस्तुसमूह नाश होनेवाला है, क्योंकि नाश होना वस्तुमात्र का धर्म है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आज जो वस्तु है, कल नहीं रहती, होने से पहले भी नहीं थी। इसी तरह आज जो नहीं है, कल होगी, वह भी आगे नहीं रहेगी। प्रत्येक वस्तु अभाव से होकर अभाव में लीन हो जाती है। फलतः अभाव ही वास्तविक तत्त्व है, उसी का नाम शून्य है।

उत्तर—प्रत्येक वस्तु का धर्म है—विनाश होना, यह कथन मिथ्या है। जो वस्तु निरवयव हैं, जिनके उत्पाद या विनाश का कोई कारण नहीं, उनके विनाश की बात सर्वथा निराधार है। कोई घटना बिना कारण हो जाना सम्भव नहीं और प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिए प्रमाण चाहिए। शून्यमात्र तत्त्व है, इसकी सिद्धि के लिए यदि प्रमाण उपस्थित किया जाता है तो इससे ही शून्यवाद का खण्डन हो जाता है, क्योंकि जो प्रमाण साधक है, वह शून्य नहीं कहा जा सकता। यदि कोई प्रमाण शून्य की सिद्धि में नहीं है तो शून्य स्वतः असिद्ध हो गया। यदि शून्य को स्वतः सिद्ध मानते हो तो जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसका अस्तित्व कर लिया गया। तब वह विनाशशील अभाव या शून्य कैसे होगा ? इसलिए यह कहना कि अभाव से भाव हो जाता है, या सब शून्य है, सर्वथा अप्रामाणिक एवं निराधार है।

[अभाव से भाव की उत्पनत्ति नहीं होती]

दूसरा नास्तिक—अभाव से भाव की उत्पत्ति है। जैसे बीज का मर्दन किये विना अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता और बीज को तोड़कर देखें, तो अङ्कुर का अभाव है। जब प्रथम अङ्कुर नहीं दीखता था तो अभाव से उत्पत्ति हुई।

उत्तर—जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था। जो न होता, तो उससे उत्पन्न कभी नहीं होता ॥२॥

[कर्मानुसार ही फल मिलता है]

तीसरा नास्तिक कहता है कि — कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के अधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है। जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है।

उत्तर—जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो, तो विंना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता ? इसलिए जैसा कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतन्त्र[1] होकर पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता, किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है ॥३॥

दूसरा नास्तिक—अभावाद् भावोत्पत्तिः—(अभावात्) अभाव से (भावोत्पत्तिः) भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है (न) नहीं (अनुपमृद्य) उपमर्द—विनाश किये बिना (प्रादुर्भावात्) प्रादुर्भाव से कार्य की उत्पत्ति होने से।

बीज को अंकुर का कारण कहा जाता है, परन्तु जब तक बीज अपनी स्थिति में होता है, अंकुर उत्पन्न नहीं होता। बीज को मिट्टी में मिला देने पर जब वह अपने स्वरूप को छोड़ देता है—गल-सड़ जाता है, तब अंकुर फूटता है। इससे स्पष्ट होता है कि अंकुर का कारण बीज न होकर बीजाभाव है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

उत्तर—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है तो उत्पन्न होने के लिए बीज की आवश्यकता ही क्या है ? बीज का न होना या गलकर नष्ट हो जाना—दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तब बिना बीज के अथवा गले-सड़े, घुने हुए या जले हुए बीज से भी अंकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए। इतना ही नहीं, एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की—आम की गुठली से जामुन की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय ?' वस्तुतः नष्ट बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। बीज का गलना उसका नष्ट होना नहीं, अंकुर की उत्पत्ति के लिए अवस्थान्तर को प्राप्त होनामात्र है। अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं।

तीसरा नास्तिक—ईश्वरः कारणम्—मनुष्य अपने कर्मों का फल अवश्य प्राप्त कर लेता हो, ऐसी बात नहीं है। फलप्राप्ति की सिद्धि ईश्वराधीन है। फलसिद्धि का कार्य जिस ईश्वर के अधीन है, उसी को कार्यमात्र का कारण मानना चाहिए।

---

१. अर्थात् स्वेच्छापूर्वक।

[बिना कारण के कार्य नहीं होता]

चौथा नास्तिक कहता है कि — विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसाकि बबूल आदि वृक्षों के काँटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं। इससे विदित होता है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसका निमित्त है। विना कंटकी वृक्ष के काँटे उत्पन्न क्यों नहीं होते ? ॥४॥

[सब पदार्थ अनित्य नहीं हैं]

पाँचवाँ नास्तिक कहाता है कि—सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इसलिए सब अनित्य हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

—यह किसी ग्रन्थ[1] का श्लोक है।

उत्तर—यदि फल मात्र ईश्वर की इच्छा के अधीन हो तो ईश्वर को **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं'** समर्थ मानकर बिना कर्म किये ही फल प्राप्ति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होने लगे तो अकृताभ्यागमदोष होगा—शास्त्रमर्यादा के विपरीत बिना कर्म किये मनमाने फल की प्राप्ति होना। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की फलप्राप्ति में न्यूनाधिक्य होने से परमेश्वर पर स्वेच्छाचारिता—अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होगा। वस्तुतः जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते और उनका कर्ता जीव अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से न तो स्वकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए अपेक्षित भोग्य पदार्थों की व्यवस्था कर सकता है और न उनका ठीक-ठीक लेखा-जोखा कर सकता है और न पापकर्मों के फलस्वरूप मिलनेवाले दुःख को स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार न ईश्वर बिना कर्मों के फल दे सकता है और न कर्म बिना ईश्वर के फल दे सकते हैं। इसलिए ईश्वर जो जैसा करता है, उसे वैसा फल देता है।

चौथा नास्तिक—अनिमित्ततः— काँटों की तीक्ष्णता, पर्वतों में होनेवाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि का कोई निमित्त नहीं दीखता। इसलिए जैसे बिना निमित्त के इन पदार्थों की रचना हो जाती है, वैसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी बिना किसी ईश्वर या कर्मफल आदि के निमित्त के स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

उत्तर—जो उपादान होता है, वही उत्पन्न कार्य का निमित्त होता है। यदि बिना निमित्तकारण के उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए तो बबूल से क्यों, आम के पेड़ से भी काँटे उत्पन्न हो जाने चाहिएँ। बबूल से काँटे, आम-से-आम और जामुन-से-जामुन उत्पन्न होने से स्पष्ट है कि इन सबके अपने-अपने निमित्तविशेष हैं। इससे बिना निमित्तकारण के कार्योत्पत्ति की कल्पना सर्वथा मिथ्या है।

पाँचवाँ नास्तिक—सर्वमनित्यम्—जो वस्तु होकर न रहे वह अनित्य कहाती है। जो उत्पत्ति से पूर्व न

---

१. अष्टावक्रगीता, श्लोक ५। भ०द० ॥ शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'ब्रह्मनामावली-स्तोत्र' (श्लोक २०) में इस प्रकार पाठ है—
'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मैव जीवो नापरः।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥'

नवीन वेदान्ती लोग पाँचवें नास्तिक की कोटि में हैं, क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि क्रोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं ।

उत्तर—जो सबकी अनित्यता नित्य है, तो सब अनित्य नहीं हो सकता ।

प्रश्न—सबकी अनित्यता भी अनित्य है । जैसे अग्नि काष्ठों को नष्ट कर आप भी नष्ट हो जाता है ।

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्त्तमान में अभाव, और परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता । जो वेदान्ती लोग ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य कभी नहीं हो सकता । जो स्वप्न-रज्जु-सर्पादिवत् कल्पित कहें, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि कल्पना गुण है । गुण से द्रव्य नहीं और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकता । जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है, तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए । नहीं तो उसको भी अनित्य मानो ।

जैसे स्वप्न विना देखे-सुने कभी नहीं आता । जो जाग्रत् अर्थात् वर्त्तमान समय में सत्य पदार्थ है, उसके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होनेपर संस्कार अर्थात् उसका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थिर होता है । स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है । जैसे सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्त्तमान रहता है । जो संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे । इसलिए वहाँ उनका ज्ञानमात्र है, और बाहर सब पदार्थ वर्त्तमान है ।

हो और नाश के पश्चात् न रहे, वह अनित्य है । उत्पत्ति से पहले पदार्थ नहीं होता और कालान्तर में उसका विनाश हुए बिना नहीं रहता । उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का नियम सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है । इस प्रकार जो कभी हो, कभी न हो वह अनित्य कहाता है । संसार में शरीरादि कुछ पदार्थ भौतिक हैं और बुद्धि, सुख-दुःखादि अभौतिक । ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले होने से अनित्य हैं ।

उत्तर—अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य नहीं रहते । 'सब अनित्य हैं', इस कथन से यह परिणाम स्पष्ट है कि सब पदार्थों में विद्यमान अनित्यता सदा बनी रहती है । यदि सबकी अनित्यता सदा बनी रहती है तो वह नित्य हो गयी ।

उसके नित्य होने से यह कथन असंगत हो गया कि सब अनित्य हैं । यदि अनित्यता को अनित्य माना जाता है, तो अनित्य होने के कारण उसके न रहने पर सब नित्य माना जाना चाहिए । ऐसी स्थिति में सर्वानित्यवाद को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ।

श्लोकार्धन—पं० भगवद्दत्त के अनुसार यह अष्टावक्रगीता का श्लोक है । शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'ब्रह्मनामावलीस्तोत्र' (श्लोक २०) में इस प्रकार पाठ है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥

किसी भी वस्तु का सत्य होना उसके साधक प्रमाणों के होने तथा बाधक प्रमाणों के न होने पर निर्भर करता है । इस रूप में जगत् एक यथार्थ सत्ता है । उसे मिथ्या कहना असंगत है । त्रिगुणात्मक प्रकृति के मूल उपादानतत्त्वों से जीवात्माओं के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि के लिए जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है । चेतन आत्मतत्त्व तथा प्रकृति दोनों सत्य हैं—नित्य हैं । तब उन दोनों से मिलकर बना संसार कैसे मिथ्या हो सकता है ? मूल उपादान से उत्पन्न होने के कारण जगत् की वास्तविकता का अपलाप नहीं किया जा

प्रश्न—जैसे जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में और दोनों के सुषुप्ति में अनित्य हो जाते हैं, वैसे जाग्रत् के पदार्थों को भी स्वप्न के तुल्य मानना चाहिए।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते, क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे किसी के पीछे की ओर बहुत-से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है। इसलिए जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण अनादि नित्य हैं, वही सत्य है ॥५॥

सकता। जब उपादान सत्य है तो उसका विकार नश्वर भले ही हो, उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वेद व वैदिक साहित्य में अदिति, स्वधा, त्रिधातु आदि के रूप में मूल उपादान प्रकृति के सत्य होने का स्पष्ट उल्लेख है। उससे उत्पन्न जगत् के लिए भी **'यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते'** (तै० आ० ८।६) इत्यादि वाक्य उसके सत्य होने की घोषणा कर रहे हैं। फिर नवीनवेदान्ती तो ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादानकारण मानते हैं। तब सत्य ब्रह्म से उद्भूत जगत् कैसे मिथ्या हो सकता है? यदि संसार सचमुच मिथ्या हो, तो उस व्यक्ति को जिसे उसके मिथ्या होने का ज्ञान हो चुका है, उसकी विद्यमानता का आभास नहीं होना चाहिए। कोई भी समझदार व्यक्ति मदारी के तमाशे को देखकर भ्रमित नहीं होता। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान और उसके यथार्थ न होने का ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। भ्रम कभी-कभी और किसी-किसी को होता है। इसलिए संसार के यथार्थताविषयक विश्वास की व्यापकता को देखते हुए उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता।

जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों को देखते हुए दोनों को एक नहीं माना जा सकता। परमेश्वर का अनन्त ज्ञान और बल तथा निर्भ्रान्तित्व जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, भ्रान्तित्व आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। जीवात्मा परिच्छिन्न अर्थात् अणु-परिमाण है, जबकि परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, जबकि जीव शुद्ध, चेतन, अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता तथा कर्मफल भोगने के लिए बार-बार शरीर धारण करता है। जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं—

'नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति।
जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्॥' —शा० भा०१।२।३

अर्थात्—ईश्वर भी शरीर में है, यह ठीक है, परन्तु शरीर में ही है, ऐसा नहीं अर्थात् शरीर से बाहर भी है, किन्तु जीव तो शरीर में ही है (अर्थात् बाहर नहीं)। ईश्वर की भाँति शरीर से बाहर जीव की वृत्ति नहीं जाती। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। दोनों में इतना अन्तर होते हुए यह कैसे माना जा सकता है—**'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**।

इसपर सर्वानित्यत्ववादी कहता है—लोक में देखा जाता है कि आग अपने दाह्य पदार्थों को जलाकर अन्त में बुझ जाती है। इसी प्रकार सबकी अनित्यता सबको विनष्ट कर—अनित्य बनाकर अन्त में स्वयं विनष्ट हो जाती है। अन्त में सूत्रकार अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—**'नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात्'** (न्याय० ४।१।२८)। इसका भाव यह है कि नित्य का निराकरण सर्वथा अनुपपन्न है, अप्रामाणिक है, क्योंकि जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसी के अनुसार उसकी व्यवस्था की जानी चाहिए। जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्ति-विनाशधर्मक उपलब्ध होता है, उसे अनित्य माना जाना चाहिए। इसके विपरीत प्रमाण द्वारा जो ऐसा नहीं जाना जाता, उसे नित्य मानना होगा।

[उत्पत्तिमान् पदार्थ नित्य नहीं होता]

छठा नास्तिक कहता है कि—पाँच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं, क्योंकि जिन पदार्थों का उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है, वह सब नित्य हों तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर, घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं, इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते ॥६॥

[पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है]

सातवाँ नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक पदार्थ नहीं है। जिस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं, उनमें दूसरा एक पदार्थ कोई भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवों में अवयवी, वर्त्तमानकाल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ-समूहों में एक-एक हैं। उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिए सब पृथक् पदार्थ नहीं, किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं, और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है ॥७॥

परमसूक्ष्म परमाणुरूप में पृथिवी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा आत्मा, मन ये सब द्रव्य तथा इनमें समवेत (समवायसम्बन्ध से रहनेवाले) कतिपय गुण (परमाणु—परिमाण, परममहत्परिमाण, नित्यद्रव्यवृत्ति-संयोग—परमाणुद्वयसंयोग को छोड़कर—आदि) एवं सामान्य, विशेष, समवाय ये पदार्थ किसी प्रमाण से उत्पत्तिविनाशधर्मक नहीं जाने जाते। इसलिए ये सब पदार्थ नित्य हैं। फलतः सब पदार्थों को बिना किसी प्रमाण के अनित्य नहीं कह सकते।

मिथ्या कल्पना करनेवाला मिथ्याचारी होता है। सत्यस्वरूप, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प परमात्मा मिथ्याचारी नहीं हो सकता। **'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' जिसकी वस्तु के यथार्थरूप में स्थिति न हो, ऐसे मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय'** है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार **'बन्धो विपर्ययात्'** (सां० ३।२४) 'विपर्यय' अर्थात् मिथ्याज्ञान बन्धन का हेतु है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की मिथ्या कल्पना करके नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा स्वयं बन्धन में पड़ जाएगा। जब स्वयं ईश्वर ही बन्धन में आ गया तो और किसी की मुक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

छठा नास्तिक—सर्वं नित्यम्—कारणरूप में पञ्चभूत नित्य हैं। किसी प्रमाण से इनका नाश सिद्ध नहीं होता। समस्त जगत् इन्हीं पाँच भूतों से मिलकर बना है। जब पञ्चभूतरूप कारण नित्य हैं तो फिर उनके कार्य अनित्य कैसे हो सकते हैं।

उत्तर—प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं होता। जिन पदार्थों के उत्पत्ति-विनाश का कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध है, उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है? सब स्थूल जगत्—शरीर, घटपटादि को उत्पन्न और नष्ट होते देखा जाता है जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध है, अतः पदार्थमात्र को नित्य नहीं माना जा सकता।

शास्त्रों में अनेकत्र भौतिक जगत् को कहीं 'सत्' और कहीं 'असत्' कहा गया है। वस्तुतः 'सत्' और 'असत्' दोनों सापेक्षिक हैं। शरीर तथा संसार दोनों सत् हैं, परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार। उपनिषत्कारों ने शरीर को 'सत्' माना परन्तु आत्मा की दृष्टि से और आत्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना, किन्तु विश्वात्मा की अपेक्षा उसे असत् माना।

सातवाँ नास्तिक—सर्वं पृथक्—भावलक्षणों के पृथक् होने से सब पदार्थ पृथक् और अनेक हैं। जगत्

[सब पदार्थ अभावरूप नहीं हो सकते]

आठवाँ नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थों में इतरेतर अभाव की सिद्धि होने से सब अभावरूप हैं। जैसे—**'अनश्वो गौः; अगौरश्वः'** गाय घोड़ा नहीं, और घोड़ा गाय नहीं। इसलिए सबको अभावरूप मानना चाहिए।

उत्तर—सब पदार्थों में इतरेतराभाव का योग हो, परन्तु **'गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव'** गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव ही है, अभाव कभी नहीं हो सकता। जो पदार्थों का भाव न हो, तो इतरेतराभाव भी किसमें कहा जावे? ॥८॥

के सब पदार्थ नानारूप हैं—पृथक्-पृथक् और अनेक। व्यवहार में आनेवाली किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं, क्योंकि भाव के लक्षण अलग-अलग हैं। सूत्र का 'भाव' पद प्रत्येक उस वस्तुपद का बोधक है, जो अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। 'लक्षण' पद उसके स्वरूप एवं उसके वाचक पद का बोध कराता है। प्रत्येक पदार्थ अनेक अवयवों का समुदायमात्र है, जो अवयव अपनी सत्ता में स्वयं स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक भाव (सदात्मक पदार्थ) का अपना निजी स्वरूप तथा अभिधान (नाम) है।

उत्तर—स्वरूप से पृथक्-पृथक् पदार्थों में भी पदार्थ की एकता निष्पन्न होने से उक्त कथन ठीक नहीं। अनेक अवयवों तथा विविध पदवाच्य साधनरूप अर्थों से एक घट उत्पन्न होता है। यह घट नानारूप न होकर एक इकाई है। वह केवल परमाणुसमूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। भाव का लक्षण जो संज्ञा है उसका नियम एक अवयवी में देखा जाता है। अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होती है। अनेक गुण और भिन्न-भिन्न अवयव मिलकर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। अवयवी से जो काम सिद्ध होता है, वह उसके अवयवों से सिद्ध नहीं हो सकता। घड़े में पानी भरा जा सकता है, मिट्टी के परमाणुओं में नहीं। इससे सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से युक्त एक भाव, अनेक गुणों से सम्बन्ध एक गुणी और अनेक अवयवों से एक अवयवी सिद्ध होता है। यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है तो उनके लिए 'अवयव' पद का प्रयोग असंगत होगा। अवयव किसी अवयवी के ही कारणतत्त्वों को ही कहा जा सकता है। यदि अवयवी एक इकाई नहीं तो कारणतत्त्व किसके अवयव कहाएँगे? 'अवयवसमूह' कहकर अवयवी की इकाई का निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वरूप से पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ अवगत होता है।

आठवाँ नास्तिक—सर्वमभावः—भावों में अन्योन्याभाव की सिद्धि से सब अभाव है। प्रत्येक भाव का उससे अतिरिक्त समस्त भावों में अभाव रहता है। जैसे घड़े में वस्त्रादि का, वस्त्र में घड़े आदि का अभाव है। गौ का अश्वादि समस्त पदार्थों में और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ में अभाव है। जब भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध है तो सबका अभाव क्यों न मान लिया जाए?

उत्तर—यदि सब पदार्थों का अभाव है, अर्थात् यदि कुछ है ही नहीं तो एक दूसरे में इतरेतराभाव—एक में दूसरे के अभाव की बात ही कैसे कही जा सकती है? जब न गाय कोई पदार्थ है और न घोड़ा तो 'गाय घोड़ा नहीं' या 'घोड़ा गाय नहीं'—यह प्रयोग कैसे हो सकता है? वस्तुतः 'सर्व' पद अनेक भावपदार्थों की सम्पूर्णता का वाचक है और 'अभाव' भावरूपपदार्थ के प्रतिषेध को कहता है। ये दोनों पद परस्पर विरोधी पद का निर्देश करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी होने से यह प्रतिज्ञा वाक्य ही असंगत है।

[स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति नहीं]

नववाँ नास्तिक कहता है कि—स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं, और बीज पृथिवी-जल के मिलने से घास, वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र-वायु के योग से तरंग, और तरंगों से समुद्रफेन, हल्दी-चूना और नींबू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है, वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वभाव-गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसका बनानेवाला कोई भी नही।

उत्तर—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे, तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी और जो युगपात् दोनों स्वभाव द्रव्यों में मानोगे, तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो निमित्त के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे, तो निमित्त को उत्पत्ति और विनाश होनेवाले द्रव्यों से पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता, तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो, तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल, चन्द्र-सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते?

इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है तो तर्कशास्त्रसम्मत न होने से अशुद्ध है। **'सर्वमभावः'** इस प्रतिज्ञा वाक्य में भावरूप का प्रतिषेध किया गया है। इसके अनुसार यदि 'सब अभाव है तो हेतु में **'भावेषु'** पद का भाव निराधार हो जाता है। भाव कुछ है नहीं तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर? यदि हेतु पद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व माना जाता है तो 'सर्वमभावः' यह प्रतिज्ञा मिथ्या हो जाती है। इस प्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर विरुद्ध होने से त्याज्य है। इसलिए सबको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है।

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने भाव से वर्तमान हैं। उनमें अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उनके अपने भाव का निषेधक न होकर साधक है। यदि सबका अभाव है तो गाय-में-गाय का और घोड़े-में-घोड़े का अभाव क्यों नहीं कहा जाता? जब वादी गौ को गवात्मना सत् और अश्वात्मना असत् कहता है तो गौ का स्वभाव—स्वरूप से अर्थात् गवात्मरूप से अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सब पदार्थों में अपना रूप होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता।

नववाँ नास्तिक—न स्वभावसिद्धिः—कोई वस्तु स्वरूप से अवस्थित नहीं होती। इसलिए दूसरे की अपेक्षा के बिना स्वतः किसी भाव की सिद्धि नहीं होती।

वादी का कहना है कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव है कि वह जगद्रूप में परिणत हो जाती है। इसके लिए किसी चेतन की प्रेरणा की अपेक्षा नहीं। किसी वस्तु के स्वभाव में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है। गाय आदि पशु घास खाते हैं। वह घास स्वयं दूध में परिणत हो जाती है। चुम्बक बिना किसी चेतन प्रेरणा के लोहे को आकर्षित करता है। इसी प्रकार प्रकृति के परमाणु स्वभाव से ही जगद्रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इनमें किसी चेतन की प्रेरणा के लिए कोई अवसर नहीं।

वस्तुतस्तु बाह्य निमित्त के बिना यह सम्भव नहीं। दूध का दही में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप-ही-आप दही बनने को छोड़ दिया जाए तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाए, दही के रूप में परिणत नहीं होगा। दूध के दधिरूप में परिणत होने के लिए उसे ठीक तरह से उबालना,

और जिस-जिसके योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज-अन्न-जलादि के संयोग से घास, वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं। जैसे हल्दी, चूना और नींबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक, न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति-परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं बन सकते, इसलिए स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है ॥६॥

यथासमय उचित मात्रा में उसमें जामन देना और अनुकूल तापमान में सुरक्षित रखना आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। यदि घास आदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो सकते तो संसार में दूध की नदियाँ बहती दिखाई पड़तीं। गाय का खाया घास-पात यदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो जाता है, तो बैल आदि का खाया खाद्य भी दूध के रूप में परिणत हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। गाय में भी ऐसा केवल प्रसूतावस्था में ही होता है। मनुष्यों में भी यही व्यवस्था देखी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनों का एक-जैसा खाद्य होने पर भी जहाँ पुरुष के शरीर में उससे केवल रक्त बनता है, वहाँ स्त्री के शरीर में पहुँचकर वही खाद्य रक्त और दूध दोनों के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार स्तनपायी मादा प्राणियों में तथा विशेष अवस्था में ही खाद्य का परिणाम दूध होता है और वह भी जीवित अवस्था में ही। यह स्थिति विचारशील व्यक्ति को यह मानने पर बाध्य करती है कि यह एक ईश्वरीय व्यवस्था है जो नियमितरूप से संसार में देखने में आती है। किसी जड़ वस्तु का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। चुम्बक सदा लोहे को आकृष्ट करता है, अन्य किसी वस्तु को नहीं। फिर, आकृष्ट करने के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता, किन्तु जड़ उपादानतत्त्व विविध रूपों में परिणत हुआ है, इसके लिए चुम्बक के स्वभाव की तुलना करना व्यर्थ है। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गयी क्रिया के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। रक्खा हुआ आटा सड़ जाएगा, किन्तु स्वतः रोटी, पूरी, परांठा, मठरी आदि के रूप में परिणत नहीं होगा। घुणाक्षरन्याय से लकड़ी में एकाध अक्षर भले ही बन जाए, किसी महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती। आकाश में उड़ते बादलों में किसी आकारविशेष की क्षणिक प्रतीति हो सकती है, किन्तु जीते-जागते प्राणियों की सृष्टि नहीं हो सकती। इससे निश्चय होता है कि चेतन-सहयोग के बिना, केवल जड़ उपादानतत्त्व से उसका ऐसा स्वभाव मानकर—व्यवस्थित जगत् की रचना सिद्ध नहीं हो सकती।

यदि दुर्जनतोषन्याय से जड़ उपादानतत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति मान ली जाए तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। जड़तत्त्व का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर यान्त्रिक क्रिया की भाँति सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी, विनाश कभी नहीं होगा। तब संसार सदा इसी रूप में बना रहना चाहिए। जगत् की सर्ग के विपरीत प्रलयावस्था कभी नहीं आनी चाहिए। यदि उपादानतत्त्व केवल प्रवृत्तिस्वभाव होने से किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रखता तो जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्ति-स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता, किन्तु संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते देखा जाता है। केवल चेतनतत्त्व में यह सामर्थ्य रहता है कि वह इच्छानुसार विपरीत क्रिया को उत्पन्न कर दे।

यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति कभी नहीं

होगी, किन्तु पदार्थों को बनते देखा जाता है।

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाए तो यदि संयोग-स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति-ही-उत्पत्ति होगी और यदि वियोग गुणवाले परमाणुओं की शक्ति अधिक होगी तो सदा विनाश-ही-विनाश होगा। यदि प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् माने जाएँ (यद्यपि एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते) तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति तथा विनाश दोनों का एक समय में प्रत्यक्ष होता है।

उत्पत्ति और विनाश—उपादानतत्त्व की ये दो परस्पर विपरीत अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियाओं को उत्पन्न करना चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से प्रेरणा पाकर कार्यरूप में परिणत होता और समय आने पर पुनः उसी में विलीन हो जाता है। समुद्र से प्राप्त जल से मेघ बनता और मेघ से बरसकर जल पुनः समुद्र में जा मिलता है। यह क्रम जैसे पृथक्-पृथक् पिण्डों में देखने में आता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में भी देखने में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय और मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म या प्रवृत्ति हो सकती है या निवृत्ति। संसार सर्वथा स्वतन्त्र अर्थात् चेतन-निरपेक्ष हो तो उसकी गति यान्त्रिक (mechanical) होनी चाहिए—सृष्टि-ही-सृष्टि होती जाए या प्रलय-ही-प्रलय। सृष्टि होते-होते प्रलय या प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती। उसके लिए किसी नियामक चेतनसत्ता का होना अनिवार्य है।

वस्तुतः शून्यवाद, अभाववाद, सर्वानित्यत्ववाद, भूतनित्यत्ववाद, पृथक्त्ववाद, इतरेतराभाववाद, स्वभाववाद आदि वादों के आधार पर सृष्टि की पूर्ण व्याख्या होना सम्भव नहीं। ये सब एकदेशी अवैदिक वाद हैं। जगत् की यथार्थ विद्यमानता पहले दोनों वादों को ठुकरा देती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, निश्चित ही वह अपने कारणों से उत्पन्न होगी। यह अलग बात है कि हम उन कारणों को जान सकें या न जान सकें। सब वस्तु अनित्य हैं अथवा भूत नित्य हैं, इसलिए सब वस्तु नित्य हैं, ये कथन अपने आप में ही मिथ्या हैं। किसी वस्तु का नित्य या अनित्य होना विशिष्ट निमित्तों पर आधारित है। उत्पन्न होने-वाली वस्तु अनित्य तथा उत्पाद-विनाश से रहित वस्तु नित्य कही जाती है, यह एक व्यवस्था है। प्रत्येक वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य।

पृथक्त्ववाद आधुनिक रसायनशास्त्र से पर्याप्त सीमा तक मेल खाता है। रसायनशास्त्र के अनुसार आज तक ऐसे एक सौ दो पदार्थों का पता लगा चुका है, जो मूलरूप में एक-दूसरे से पृथक् हैं, एक-दूसरे में किसी का कोई अंश नहीं है। भविष्य में और भी ऐसे अनेक पदार्थों का पता लग जाने की सम्भावना है। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा, गन्धक, जस्ता, सीसा, कैल्शियम, ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन, सिलिकन, आर्सेनिक, फास्फोरस, एल्यूमिनियम, प्लैटिनम आदि सब ऐसे पदार्थ हैं जो सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् हैं। किसी-में-किसी का कोई अंश नहीं है, पर भौतिकी विज्ञान ने ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि ये सब किन्हीं मूलतत्वों के सम्मिश्रण से बने हैं। वे मूलतत्व प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के अनुसार इन्हें यथाक्रम सत्त्व, रजस्, तमस् के वर्ग में समझा जा सकता है। अन्यथा इन पदार्थों में से प्रत्येक में आकाश, काल एवं परमात्मा आदि का विद्यमान रहना अनिवार्य है। इसलिए स्वरूप से इनके पृथक्-पृथक् रहते भी इनमें अन्य पदार्थों का अस्तित्व रहता है। पदार्थों के इतरेतराभाव से सब पदार्थों का अभाव बताना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय

[यह जगत् अनादि नहीं]

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था न है और न होगा; किन्तु अनादिकाल से यह जैसा का वैसा बना है, न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश होगा।[1]

उत्तर—बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते। और जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता, और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो, तो कठिन-से-कठिन पाषाण, हीरा और फौलाद आदि तोड़, टुकड़े कर गला वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं।

नहीं, इसलिए न गाय है, न घोड़ा—ऐसा कथन सर्वथा विचारशून्य है। यद्यपि गाय घोड़ा नहीं है पर गाय, गाय तो है। इसी प्रकार घोड़ा गाय नहीं है, पर घोड़ा, घोड़ा तो है। उनके अपने अस्तित्व को कैसे नकारा या झुठलाया जा सकता है ? 'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति कहने का क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। 'स्वभाव' में 'स्व' पद का क्या अर्थ है ? यदि 'स्व' पद मूलकारण को कहता है, तो इस पदमात्र के कहने से कोई अन्तर नहीं आता। अपने मूलकारण से जगत् उत्पन्न होता है, यह यथार्थ है।

जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में चेतन जीवात्मा के बिना कोई क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के बिना जड़ प्रकृति से बने जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता। क्रिया तो अचेतन में ही होती है, किन्तु उसका पैदा करनेवाला चेतन ही होता है। स्वचालित यन्त्रों में क्रिया अपने आप होती रहती है, किन्तु स्वचालित यन्त्र में वैसी क्रिया की व्यवस्था करनेवाला कारीगर चेतन ही होता है। उसमें विकार आ जाने पर उसी की शरण में जाना पड़ता है। इसी तरह अचेतन सूर्य और पृथिवी आदि में साक्षात् क्रिया होती दिखाई देती है, तो भी उनमें उस क्रिया का कारण परमात्मा ही होता है। सृष्टि के आदि में स्विच दबाकर गति देनेवाला वही होता है। उसी की आदि प्रेरणा के कारण वे सब सर्गकाल में कार्य करते रहते हैं।

वर्तमानरूप में अवस्थित जगत् को अनादि या नित्य नहीं माना जा सकता। जागतिक वस्तुओं में परिणाम व परिवर्त्तन अथवा उत्पाद-विनाश बराबर देखा जाता है, जो इसके बने हुए होने को सिद्ध करता है। इसी रूप में जगत् को अनादि कहना प्रमाणविरुद्ध है। पृथिव्यादि पदार्थ अवयवसंयोग से बने परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जो निरन्तर बन-बिगड़ रहा है उसे अनादि कैसे कहा जा सकता है ? परिवर्तनशील अनादि-अनुत्पन्न नहीं हो सकता। जो अनादि नहीं, वह अनन्त भी नहीं हो सकता।

ईश्वर का विकास नहीं—यदि जीवात्मा ही सिद्धावस्था को प्राप्त करके सृष्टिरचना में समर्थ हो सकता है तो जीवात्मा को भी तो योगाभ्यास द्वारा सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए संसार की आवश्यकता है। जीवविशेष के प्रादुर्भाव से पूर्व जगत् विद्यमान था। उस जगत् की रचना जिसने की, वही परमात्मा था (है)। जीवात्मा स्वरूप से अल्पज्ञ व अल्पशक्ति है। वह कितना ही योगाभ्यास करे, ईश्वर के सदृश सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता और जो इन गुणों से युक्त नहीं वह इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकता।

---

१. यह मत जैनियों तथा नवीन मीमांसकों का है।

[जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता]

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि-गुणयुक्त केवलज्ञानी होता है, वही जीव परमेश्वर कहाता है।[1]

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होनेवाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत्, शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते ? इनके विना जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहाँ से होता ? जीव चाहे जैसे साधन कर सिद्ध होवे, तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि हैं, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े, तो भी परमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्यवाला कभी नहीं हो सकता। देखो कोई भी योगी[2] आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है, और न होगा। जैसा अनादिसिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता, अतः जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

[प्रतिकल्प सृष्टि की समानता]

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एक-सी ?

उत्तर—जैसीकि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी। भेद नहीं करता।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

—ऋ०म० १०। सू० १९०। मं० ३

धाता=परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य-चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि बनाये थे, वैसे ही अब बनाये हैं, और आगे भी वैसे ही बनावेगा॥

वर्तमान सृष्टि अनादि नहीं—प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस तरह वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक-दूसरे के अनन्तर पर्याय से आवर्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह 'सत्' है तो वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा, परन्तु उसका सदा अपने वर्तमानरूप में बना रहना आवश्यक नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि है। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का अभाव हो जाए। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्वादि, जीव का कर्मफलभोक्तृत्वादि) अनादि हैं, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। अनन्तकाल तक ऐसे ही चलते रहेंगे।

प्रत्येक दिन और रात्रि का आदि और अन्त देखने में आता है, परन्तु दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न आदि है

---

१. यह मत भी जैनियों का है।
२. यह पद प्रकरणानुरोध से आवश्यक है। योगदर्शन व्यासभाष्य में अणिमादिसिद्धि-सम्पन्न योगी के जो ऐसे कार्य करने का उल्लेख है, वह केवल उनकी शक्ति-अतिशयता का प्रशंसापरक अर्थवादमात्र है।

इसलिए परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के होने से सदा एक-से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

[सृष्टि के विषय में शास्त्रों में विरोध नहीं]

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादिशास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध ?

उत्तर—अविरोध है।

प्रश्न—जो अविरोध है, तो—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥'

—यह तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मा०१ का वचन है॥

और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है, किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न कभी अन्त होगा।

सूर्याचन्द्रमसौ—जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है, उसी के काम में भूल-चूक होने से उसे उसमें संशोधन, परिवर्धन करना पड़ता है। परमेश्वर के पूर्ण तथा निर्भ्रान्त होने से उसके सभी कार्य पूर्ण तथा निर्दोष होते हैं। यजुर्वेद (४०।८) में ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना के सन्दर्भ मे कहा है—**'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'** अर्थात् परमेश्वर सब पदार्थों का यथायथ विधान करता है।

शास्त्रों में अविरोध—वेदादि शास्त्र परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से होता है। यह अनेकशः स्पष्ट हो चुका है कि कार्यमात्र के तीन कारण हुआ करते हैं—निमित्त, उपादान और साधारण। न्यायादि दर्शनों में जगत् के विभिन्न कारणों का वर्णन है और उसके लिए अन्य उपयोगी विधियों का। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिए किसी भी स्तर पर हमें प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है, इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। तत्वविषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिसका प्रतिपादन वैशेषिकदर्शन करता है। तत्वों के स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप और उनके गुण-धर्मों की जानकारी पर ही आगे तत्वों की अतिसूक्ष्म अवस्थाओं को जानने—समझने की प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। प्रमाण और बाह्य प्रमेय का विषय न्याय-वैशेषिकदर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। तत्वों की उन अवस्थाओं और चेतन-अचेतन रूप में उनके विश्लेषण को सांख्य प्रस्तुत करता है। चेतन-अचेतन के भेद का साक्षात्कार करने की प्रक्रियाओं का योग में वर्णन है। इन प्रक्रियाओं के मुख्य साधनभूत मन की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दशाओं का केन्द्रभूत आधार है। समाज के कर्तव्याकर्तव्यों का वर्णन वेदान्त में है। यह ज्ञानसाधन कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम-धर्मों एवं कर्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन उद्देश्यों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय है। दर्शनों में जिन तत्वों का निरूपण किया है, सृष्टिरचना में एक-दूसरे के पूरक होकर वे तत्व पहले कहे तीन कारणों में अन्तर्हित अथवा समाविष्ट हैं, इनमें विरोध का कहीं अवकाश नहीं।

जब तक एक ही विषय में परस्पर विरोधी मत व्यक्त न किये जाएँ, तब तक उनमें विरोध उपपन्न नहीं होता। तीन विद्वान् ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति नाम से तत्तद् विषय का विवेचन करनेवाले तीन ग्रन्थों की

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश, अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विना आकाश के प्रकृति-परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है॥

यहाँ आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई, ऐसा कहा है। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से, मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

उत्तर—इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादिक्रम और जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, तब अग्न्यादि क्रम से। और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष और हिरण्यगर्भादि प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं, वे सब नाम परमेश्वर के हैं।

रचना करते हैं। जब तक ईश्वर-विषयक ग्रन्थ में जीवात्मा तथा प्रकृति का, जीवात्मविषयक ग्रन्थ में ईश्वर और प्रकृति का और इसी प्रकार प्रकृति विषयक ग्रन्थ में ईश्वर और जीवात्मा का निषेध न हो तब तक उन्हें एक-दूसरे का विरोधी नहीं कहा जा सकता। एक ही विषय की तीन शाखाओं के विवेचन द्वारा सृष्टिविषय का विशदीकरण करनेवाले ये तीनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक माने जाएँगे। भौतिकी (Physics) के अन्तर्गत Sound, Heat, Electricity आदि विषयों पर लिखे तीन ग्रन्थ परस्पर विरोधी न होकर पूरक होंगे। सृष्टि की उत्पत्यादि के विषय में यही स्थिति छह दर्शनों की है।

तस्माद्वा—इस सन्दर्भसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर के अन्तर्गत 'जब महाप्रलय होता है' और तत्पश्चात् 'जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है' इन वाक्यों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार महाप्रलय के अतिरिक्त अवान्तर या खण्डप्रलय मानते हैं। महाप्रलय सर्ग के चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बीतने के बाद होती है और अवान्तर प्रलय प्रतिमन्वन्तर होती है। दो मन्वन्तरों के बीच सन्धिकाल का निर्देश शास्त्रों ने किया है। महाप्रलय में सब-कुछ मूलकारण में विलीन हो जाता है, जबकि अवान्तरप्रलय में सीमित विलय होता है। जिस प्रलय में जहाँ तक प्रलय हो जाता है, उससे अगले स्तर से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसी कारण कहीं आकाश से और कहीं जल आदि से उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है, परन्तु भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्तरों का उल्लेख न करके ग्रन्थकार के मतानुसार सर्वत्र सामान्य नियम कि 'जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है' क्यों नहीं कहा गया, यह विचारणीय है।

श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार ईश्वर द्वारा वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया जाता है। अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्धन्याय से ऋषियों को वेद का स्मरण स्वयं हो जाता है। पं० भगवद्दत्त के अनुसार 'इन अवान्तर प्रलयों में पूर्वसृष्टि का मानव-इतिहास भी लुप्त हो जाता है, अतः मानवसृष्टि का मानव-इतिहास गत अवान्तर प्रलय से उत्तरकाल का है।'

परन्तु **'विरोध'** उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। **मीमांसा में**—'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाए'। **वैशेषिक में**—'समय न लगे विना बने ही नहीं'। **न्याय में**—'उपादान-कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता'। **योग में**—'विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाए तो नहीं बन सकता'। **सांख्य में**—'तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता'। और **वेदान्त में**—बनानेवाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो न सके'। इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसे ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

जैसे पाँच अन्धे और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है ? उनमें से एक ने कहा—खम्बे, दूसरे ने कहा—सूप, तीसरे ने कहा—मूसल, चौथे ने कहा—झाड़ू, पाँचवें ने कहा—चौतरा, और छठे ने कहा—काला-काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकारवाला है। इसी प्रकार आजकल के अनार्ष, नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृतभाषावालों ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर, एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इनका कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं, क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चलें, तो दुःख क्यों न पावें ? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

[कारण और कार्य तथा 'सृष्टि' का विवेचन]

प्रश्न—जब कारण के विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण क्यों नहीं ?

उत्तर—अरे भोले भाइयो ! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते ? देखो, संसार में दो ही पदार्थ होते हैं—एक कारण, दूसरा कार्य। जो कारण है वह कार्य नहीं, और जिस समय कार्य है वह कारण नहीं। जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता[1]—

आकाशः सम्भूतः—वस्तुतः आकाश उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ सदा सावयव, परिच्छिन्न तथा नाशवान् होता है, जबकि आकाश निरवयव, व्यापक तथा अविनाशी है। यदि आकाश न हो तो प्रकृति तथा परमाणु कहाँ ठहरें ? इसलिए आकाश सदा विद्यमान रहता है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रलयदशा में मूल उपादानतत्त्वों से जो आकाश भरा रहता है, सर्गदशा आने पर मूलतत्त्वों के जगद्रूप में परिणत हो जाने से वह प्रकट-जैसा हो जाता है। यह प्रकट होना ही उत्पन्न होना कह दिया जाता है। उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थों का आकाश के साथ सम्बन्ध सदा बना रहता है। इस सम्बन्ध के कारण प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का उपचार आकाश में हो जाता है। जीना-मरना देह का धर्म है, परन्तु व्यवहार में हम सदा 'देवदत्त मर गया' कहते हैं। शरीर के सम्बन्ध से नित्य आत्मा में यह व्यवहार गौणरूप से होता है। आकाश का उत्पन्न होना भी इसी प्रकार उपचार से या गौणरूप से कह दिया जाता है।

१. **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजुः० ३१।१८) में आधिदैविक पक्षानुसार विराट् पुरुष प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि अनेक नामवाला प्रकृति का विकाररूप जो महद् अण्ड है, उसके और उससे उत्पन्न कार्यजगत् के ज्ञान से ही मृत्यु से अतिक्रमण=अमृतत्व-प्राप्ति का निर्देश किया है।

'नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक्-पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः, संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते ॥'

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व-रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, उन संयोगविशेषों से अवस्थान्तर=दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है । इसी से यह संसर्ग होने से **'सृष्टि'** कहाती है ।

भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलानेवाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त, अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, उसको **'कारण'** कहते हैं और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता वह **'कार्य'** कहाता है । जो उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य कहता है, वह देखता हुआ अन्धा, सुनता बहिरा और जानता हुआ मूढ है । क्या आँख की आँख, दीपक का दीपक, और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है ? जो जिससे उत्पन्न होता है वह **'कारण'**, और जो उत्पन्न होता है वह **'कार्य'** और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है वह **'कर्त्ता'** कहता है ।

कारण का कारण क्यों नहीं—इसपर विचार पूर्व पृष्ठों में हो चुका है ।

नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसाम्—इस सन्दर्भ पर आचार्य उदयवीर शास्त्री की टिप्पणी है—

"इस आनुपूर्वी में यह सन्दर्भ आज तक कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सका । लेखक की प्रणाली के अनुसार यहाँ सन्दर्भ के पहले या पीछे ऐसा कोई संकेत नहीं किया गया जिससे प्रस्तुत सन्दर्भ के उद्धरण होने का आभास हो सके, जबकि ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र उद्धृत सन्दर्भों के लिए मूलग्रन्थ के विषय में संकेत उपलब्ध होते हैं । इससे प्रतीत होता है कि इस विषय के शास्त्रप्रतिपादित सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ऋषि ने स्वयं इस सन्दर्भ की रचना की है । इस सन्दर्भ के तीन भाग हैं—

१. सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है ।

२. प्रकृति से परमसूक्ष्मतत्त्व परमाणुओं की उत्पत्ति होती है, जो अपने-अपने रूप में पृथक्-पृथक् विद्यमान रहते हैं ।

३. उन परमसूक्ष्मतत्त्वों का परस्पर संयोग होकर विभिन्न तत्त्वों के इस प्रकार अन्योऽन्यमिथुन से विविध रचना के क्रमानुसार स्थूलाकार जगत् प्रकट में आ जाता है ।

इस सन्दर्भ के विषय में कुछ सैद्धान्तिक आपत्ति उठाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) यहाँ परमाणुतत्त्वों को प्रकृति से उत्पन्न बताया गया है, जबकि न्याय-वैशेषिक में इन्हें नित्य माना गया है ।

(ख) यद्यपि ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रकृति को जगत् का उपादानकारण बताया है, पर अनेक स्थलों में प्रकृति के साथ उपादानकारणरूप में परमाणु का भी उल्लेख किया है । शास्त्रों में प्रकृति और परमाणु दोनों का विभिन्न रूप में वर्णन है; इसका सामंजस्य कैसे ?

प्रथम इस सन्दर्भ द्वारा प्रतिपादित अर्थ की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है । सांख्य और वैशेषिक के इन सिद्धान्तों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जब सांख्य प्रकृति से और वैशेषिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करता है ।

वस्तुतः यदि गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर विचार किया जाए तो यह आपाततः प्रतीयमान विरोध

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ —भगवद्गीता २।१६

कभी असत् का भाव=वर्त्तमान, और सत् का अभाव=अवर्त्तमान नहीं होता । इन दोनों का निर्णय तत्वदर्शी[1] लोगों ने जाना है ॥

लुप्तप्राय हो जाता है । न्याय-वैशेषिक में जगत् के उपादान पृथिव्यादि परमाणुओं को 'सविशेष' माना गया है । तात्पर्य यह है कि दृश्यमान स्थूल पृथिव्यादि में जो गन्धादि गुण देखे जाते हैं, वे सब उन-उन परमाणुओं में भी विद्यमान रहते हैं, पर सांख्यप्रतिपादित सर्ग-प्रक्रिया में सविशेष सृष्टि का प्रादुर्भाव पर्याप्त अनन्तर काल में आता है । सांख्य-योग के व्याख्याग्रन्थों में इसका स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है कि पृथिव्यादि परमाणुओं की उत्पत्ति तन्मात्रों से होती है । तन्मात्रों तक सृष्टि अविशेष रहती है, उनसे सविशेष सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, जिसके सर्वप्रथम तत्त्व पृथिव्यादि परमाणु हैं । आगे समस्त भूत-भौतिक-सृष्टि सविशेष रचना है ।

तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुओं की उत्पत्ति के विषय में वाचस्पति मिश्र का निम्न निर्दिष्ट लेख द्रष्टव्य है, योगदर्शनसूत्र (१।४४) के व्यासभाष्य की भूमिका में वह लिखता है—

'पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः, एवमप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्र-वर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः । एवं तैजसस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्र प्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः । एवं वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादितन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्यां, एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात् ।'

अभिप्राय है कि पाँचों तन्मात्रों से पृथिवी की उत्पत्ति होती है, पर उनमें गन्धतन्मात्र की अधिकता रहती है । इसी प्रकार गन्धतन्मात्र को छोड़कर शेष चार तन्मात्रों से जलीय परमाणु परिणत हो जाते हैं, पर उन तन्मात्रों में रसतन्मात्र की अधिकता रहती है । ऐसे ही गन्ध और रसतन्मात्र को छोड़कर शेष तीन तन्मात्र अन्योन्यमिथुन होकर तैजस परमाणुओं के रूप में परिणत हो जाते हैं, पर उनमें रूपतन्मात्रों की अधिकता रहती है । इसी प्रकार शेष दो तन्मात्रों से वायवीय परमाणु उत्पन्न होते हैं, पर उनमें स्पर्श- तन्मात्रों की अधिकता रहती है । आकाशतत्त्व का परिणाम केवल शब्दतन्मात्रों से होता है ।

इसी आशय का सन्दर्भ सांख्यसप्तति की अति प्राचीन टीका माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है । २२वीं कारिका की व्याख्या में पाठ है—

'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशः, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, इत्यादि क्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथिवीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः' ।

पुनः ३८वीं आर्या की व्याख्या में पाठ है—

'शब्दादिभ्य पञ्चभ्य आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि
पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेक द्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते'।

इनका अभिप्राय यही है कि शब्दतन्मात्र से आकाश परिणत होता है । स्पर्शतन्मात्रप्रधान शब्दस्पर्शतन्मात्र से वायु, एवं रूपतन्मात्रप्रधान शब्दस्पर्शरूपतन्मात्र से तेज, इसी प्रकार आगे समझना

१. तत्वदर्शी=जो तत्त्वों का अर्थात् परमाणुओं अथवा प्रकृति का साक्षात्कार करते हैं । —भ०द०

अन्य पक्षपाती आग्रही मलीनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान्, सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य वे पुरुष हैं कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं, और जानने के लिए परिश्रम करते हैं। जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं, इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

चाहिए। इस परिणाम में सर्वप्रथम स्पर्शादितन्मात्रों से जो तत्त्व परिणत होता है, वह वायवीय आदि परमाणुरूप में होता है। उसके अनन्तर उनसे समानजातीय स्थूलभूत एवं अन्य भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है।

योगदर्शन के व्यासभाष्य में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रसंगवश इस अर्थ को स्पष्ट किया है कि तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुरूप में सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होकर उनसे स्थूलभूत परिणत होते हैं। योगदर्शन के (१।४५) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

'पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति, तेषामहङ्कारः' ।

अर्थात्—पार्थिव परमाणु से सूक्ष्म विषय है गन्धतन्मात्र, क्योंकि वह पार्थिव परमाणु का कारण है। अन्य तैजस आदि परमाणुओं के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। तन्मात्रों की अपेक्षा अहंकार और भी सूक्ष्म विषय है, क्योंकि वह तन्मात्रों का कारण है। इस विषय में व्यासभाष्य के ३।४४ तथा ४।१४ ये स्थल भी द्रष्टव्य हैं।

इन सब आधारों पर यह स्पष्ट होता है कि समस्त जगत् का मूल उपादानकारण प्रकृति है। प्रकृति से अध्यात्मसृष्टिरचना के अनन्तर जब अधिभूत सृष्टि का आरम्भ होता है तो उसमें सर्वप्रथम तन्मात्रों का परिणाम होता है, तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुरूप में उन सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होती है। अनन्तर सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत एवं अन्य भौतिक जगत् परिणत होता है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में उपादानकारण रूप से जहाँ 'प्रकृति' के साथ 'परमाणु' पद का भी प्रयोग किया है, वहाँ ऋषि का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जगत् का मूल उपादान तो प्रकृति ही है, परन्तु जब प्रकृति के द्वारा भौतिक जगत् की रचना होने लगती है, तब सर्वप्रथम पृथिव्यादि परमाणुरूप में ही रचना होती है। वह भौतिक जगत् का सर्वप्रथम कार्य है। प्रकृति से परमाणु-रचना द्वारा ही स्थूल भौतिक जगत् परिणत होता है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए ऋषि ने यत्र-तत्र प्रकृति के साथ परमाणु पद का प्रयोग किया है। यहाँ शास्त्रीय पारस्परिक विरोध अथवा अन्य किसी भावना का सन्निवेश नहीं है।

जहाँ तक परमाणु को नित्य मानने का प्रश्न है, यह ठीक है कि इस रूप में पृथिव्यादि परमाणुतत्त्व यद्यपि अनित्य हैं—अनेक तत्वों के सम्मिश्रण हैं, फिर भी गौतम-कणाद ने इनको नित्य कहा है। इसका कारण यह है कि जहाँ पर इनको मूल तत्त्व कहकर वर्णन किया गया है, वहाँ इन्हें नित्य कहना ही चाहिए, क्योंकि वहाँ उनसे पूर्व की व्याख्या नहीं की गयी है।

इसकी अधिक स्पष्टता के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि नव्य नैयायिकों में अनेक आचार्य सूक्ष्म परमाणु से स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति की न्याय-वैशेषिकाभिमत विशिष्ट व्याख्या की उपेक्षा करके त्रसरेणु से ही जगत्सर्ग का आरम्भ मान लेते हैं, सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति कैसे होती है, इस झमेले में पड़ना ही नहीं चाहा और स्थूल जगत् के सबसे छोटे कण त्रसरेणु को मूल उपादान मानकर जगत् की व्याख्या प्रस्तुत

की है और उसको नित्य तत्त्व कहा है। कारण यह है कि उन्होंने अपने विवेचन-क्षेत्र को यहीं तक सीमित रक्खा है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसका और अधिक स्पष्ट उदाहरण दिया जा सकता है। आधुनिक रसायनशास्त्र में पहले १०२ तत्त्व माने जाते थे। रसायनशास्त्र इनको नित्य मूलतत्त्व स्वीकार करता था, पर वस्तुस्थिति में ये समस्त तत्त्व सम्मिश्रण थे। जबसे इनका भौतिकीशास्त्र में प्रवेश हुआ है तब से इनकी संख्या केवल तीन रह गयी है—प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन। ऐसा होने पर भी इन शास्त्रों की मान्यताओं में कोई असामंजस्य नहीं है, क्योंकि इनके विवेचन का अपना-अपना क्षेत्र है, यद्यपि यह समस्त विवेचन जगत्सर्गविषयक है। ठीक यही स्थिति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग के विवेचन की समझनी चाहिए। फलतः सत्यार्थप्रकाशस्थित विवेच्य सन्दर्भ के विषय में जो आपत्ति उठाई जाती हैं, वे निराधार हैं।

सन्दर्भ का प्रथम भाग ऋषि ने साक्षात् सांख्यदर्शन के सूत्र **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** के आधार पर प्रस्तुत किया है। द्वितीय अंश एतद्विषयक मूल तथा व्याख्या-ग्रन्थों पर आधारित है और तृतीय अंश का आधार सांख्यादि शास्त्रों के वे कथन हैं जहाँ प्रकृति से विकार अथवा जगद्रचना की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

इस विवेचन से प्रकृति—परमाणुभेद, परमाणु का नित्यानित्यवाद तथा सांख्य-वैशेषिक में परस्पर भेद आदि सभी आपत्तियों का समाधान हो जाता है।

'गुण' नामकरण का आधार—विभिन्न शास्त्रों—व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, गणित, वै० दर्शन आदि में इस पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। मूलतत्त्वों के 'गुण' नामकरण का आधार सांख्य का एक सिद्धान्त है, जो जगद्रचना की वास्तविक प्रक्रिया के अनुसार निर्णीत किया गया है। वह सिद्धान्त है—जगत्-सर्ग में मूलतत्त्वों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्वभाव। जब जगत् की रचना होने लगती है अथवा मूलतत्त्व विकारोन्मुख होने लगते हैं तब वे एक-दूसरे में वर्त्तुलाकार गुथे हुए रहकर अपना कार्य चालू रखते हैं, यह उनका स्वभाव है। कपिल ने मूलतत्त्वों के स्वरूप का निरूपण प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों से किया है। जगद्रचना-काल में ये एक-दूसरे के साथ गुथे रहते हैं। जब हम सन अथवा जूट या इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के रेशों (तन्तुओं) को इकट्ठा कर लपेट के साथ उन्हें दुहरा-तिहरा कर देते हैं, उनकी उस अवस्था को 'गुणित' अथवा 'गुणीकृत' या 'गुणीभूत' कहा जाता है। कदाचित् इसी आधार पर संस्कृत में रस्सी का नाम 'गुण' है। लगभग यही स्थिति रचनाकाल में मूलतत्त्वों की होती है।

यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा कि अथर्ववेद में मूलतत्त्वों के लिए इस पद का प्रयोग हुआ है—**'त्रिभिर्गुणैरावृतम्'** (१०।८।४३)। इस पद के व्याख्यान में सत्त्व, रजस्, तमस् के अन्योऽन्यमिथुनवृत्ति होने की ध्वनि प्रस्फुटित होती है।

कार्यावस्था में जो अविभाज्य है उसकी पृथिवी परमाणु आदि संज्ञा है। किसी पदार्थ का छोटे-से-छोटा अवयव, जिसके आगे टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहाता है। पृथिवी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विश्लेषण या विभाग करते-करते जब हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण पर पहुँच जाते हैं जिसमें पृथिवीत्व बना रहता है, वह पृथिवी का मूल परमाणु है। परमाणु में परिधि और व्यास होता है और जिसमें परिधि और व्यास है, वह अन्तिम तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके आगे और भी विघटन हो सकता है। जब तक वह एकमात्र नहीं हो जाता तब तक कटता चला जाता है। फिर भी उसे अविभाज्य इसलिए कहा

जाता है कि उस अवस्था में अर्थात् कार्यावस्था को खोये बिना उसके और टुकड़े नहीं किये जा सकते। पृथिवी के परमाणु का और आगे विश्लेषण अथवा विखण्डन तो किया जा सकता है, किन्तु तब उसमें पृथिवीत्व नहीं रहेगा, प्रत्युत वह अपने मूल कारणों के रूप में बिखर जाएगा। पृथिवीत्व की प्रतीति न रहने पर उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त हो जाएगी। तब उसकी संज्ञा 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हो जाएगी जो अन्ततः सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप में एकमात्र हो मूलकारणावस्था को प्राप्त हो जाएगा। जलादि के परमाणुओं के विषय मे भी यही स्थिति है। इन्हें 'तन्मात्र' इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये अन्य किसी भी तत्व से अमिश्रित रहते हैं और 'अविशेष' इसलिए क्योंकि इनमें किसी भी प्रकार की बाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नहीं रहती। प्रकृति की कार्यावस्था में परमाणु ही सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्यसृष्टि की रचना सम्भव नहीं। इसलिए कार्यावस्था में प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार सृष्टि की उत्पत्ति में कारण होने से द्रव्य की परमाणु अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक ने प्राकृत तन्मात्रों से परिणत सूक्ष्मभूत की अवस्था तक विचार प्रस्तुत किया, जबकि सांख्य ने प्रकृति की मूलावस्था तक पहुँचने का प्रयास किया, अर्थात् जहाँ से सांख्य मूल जड़ तत्त्व की खोज में सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया, वहीं से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया। इस प्रकार सभी एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रकृति से विकृति की अवस्था में आने पर उसका प्रथम विकार अथवा परिणाम 'महत्' कहाता है। उस 'महत्' से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार भेद का सिद्धान्त है, अतः उससे प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न होता है। अहंकार से पञ्चतन्मात्र तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मतत्त्वों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता, किन्तु पृथिवी आदि स्थूल तत्त्व इन्द्रियगोचर हैं। इसलिए इनके अस्तित्व से उनके उपादान तन्मात्र तत्त्वों के अस्तित्व का अनुमान होता है।

ग्रन्थकार के अनुसार "साठ परमाणुओं के संघात का नाम अणु है, दो अणु का एक द्व्यणुक वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल और पांच द्व्यणुक की पृथिवी है, अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलाकर भूगोल आदि परमेश्वर ने बनाये हैं।" एक अणु=६० परमाणु, द्व्यणुक=२×६०=१२० परमाणु, त्रसरेणु=३ ×१२० =३६० परमाणु, त्रिसरेणु का दुगुना २×३६०=७२० परमाणु। इस प्रकार किसी द्रव्य पदार्थ के दृश्यरूप में आने के लिए न्यूनातिन्यून ७२० परमाणुओं का संघात अनिवार्य है। फिर उनके संयोग विशेष से प्रथमतः कोई तत्त्व बनकर सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम बनता जाता है।

जो पंचभूत दृष्टिगोचर होते हैं वे सब संयुक्त हैं। उनमें जो स्थूल हैं, उनमें सुक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथिवी उनसे स्थूल है, इसलिए उसमें सब भूतों के रहने से उन सब भूतों का पृथिवी में प्रत्यक्ष होता है। पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। वह विभु एवं नित्य है। फिर भी जब **'आकाशः सम्भूतः'** कहा जाता है तो इसका इतना ही अभिप्राय होता है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश—अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैला हुआ था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न हुआ-सा दीखता है।

[सृष्टि की रचना]

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार, और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, वाक् हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं, और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाँच स्थूलभूत, जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ओषधियाँ वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है, परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।

सृष्टि का प्रादुर्भाव

सृष्टि की रचना जीव के भोग और अपवर्ग के लिए की गयी है—**'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग २।१८)। जीव का भोगादि शरीर के बिना सम्भव नहीं—**'भोगायतनं शरीरम्'**। इसलिए सृष्टिक्रम को चालू करने के लिए जीवों के पास देह का होना नितान्त आवश्यक है। अशरीर अवस्था में जीव उनका निर्माण करने में असमर्थ है। इसलिए योनिज तथा अयोनिज दो प्रकार के शरीरों की व्यवस्था की गयी है। सर्ग का चालू काल ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार संचालित होता है और अयोनिज शरीरों का निर्माण होता है। इसलिए इसे ऐश्वरी सृष्टि कहते हैं। तत्पश्चात् साजात्य प्रजनन का क्रम चालू होता है। जो कार्य पहले प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार जीव से अतिरिक्त सत्ता के द्वारा होता था, वह अब नर-मादा के संयोग से होकर योनिज शरीरों की सृष्टि के रूप में स्वयं प्राणियों द्वारा होने लगता है। आरम्भ में साँचा बनना कठिन होता है। साँचा तैयार हो जाने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। आदि सृष्टि में अनेकानेक शरीरों के रूप में सांचे बनाना ईश्वर का काम था। तदनन्तर उन साँचों में ढाल-ढाल कर नित नये शरीर बनाते रहना जीवों का काम है।

प्रजनन की विधाओं को साधारणरूप में चार भागों में बाँटा गया है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। इन चार वर्गों में प्राणिमात्र का समावेश हो जाता है। स्वेदज अथवा ऊष्मज वर्ग में सूक्ष्म कृमि, कीट आदि की गणना की जाती है। इनके देह अपने उपादानकारणों में एक विशेष सीमित ऊष्मा की प्राप्ति पर विशिष्ट आकृतियों के रूप में उभर आते हैं। ये देह अति सूक्ष्म स्थिति से लगकर चक्षु द्वारा दृश्य तथा कुछ स्थूल स्थिति तक रहते हैं। सम्भवतः इनमें अनेक देह इतने सूक्ष्म हों जिनको हम बाह्य यन्त्रों की सहायता से भी चक्षुओं द्वारा न देख सकते हों। ऐसे सभी दृश्यादृश्य देहों की रचना ऊष्मा के उपयुक्त स्तर पर पहुँचने से उनके उपादानतत्त्वों से पूर्ण हो जाती है।

उद्भिज्जों में पीपल के पेड़ के उदाहरण से आदि सृष्टि में उसके पैदा होने की प्रक्रिया का 'बीज पहले या वृक्ष पहले' प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है। उद्भिज्ज-वर्ग के अनन्तर अण्डज-वर्ग आता है। इस वर्ग में पक्षी और सरीसृप जाति के प्राणि आते हैं। सरीसृप जातियाँ जल-स्थल दोनों में पाई जाती हैं। इस वर्ग के प्राणियों का भ्रूण एक विशेष प्रकार के खोल में सुरक्षित रहता है। मातृगर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त करके गर्भ से बाहर भी कुछ काल तक कोशयुक्त रहता हुआ पुष्ट होता है। भ्रूण का अपेक्षित परिपाक

देखो ! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत् फेफड़ा, पंखाकला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम-नखादि का स्थापन, आँख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान-विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला-कौशल-स्थापनादि[1] अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है ?

होने पर खोल फटता है और बच्चा निकल आता है। इस वर्ग में उत्पत्तिकाल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देहवाले प्राणियों का समावेश है। कुछ काल तक भ्रूण का गर्भ से बाहर भी पोषण होता है, इसलिए इस वर्ग के भ्रूण का खोल अपेक्षाकृत कठोर होता है।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देहवाला जरायुज वर्ग है, जिसमें मानवसहित समस्त प्राणियों का समावेश है। भ्रूण के कोश में परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग में भी समान है। मातृगर्भ में भ्रूण पूर्णांग होने तक जरायु में परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध, सुदृढ़ चमड़े-जैसे पदार्थ की थैली को जरायु कहते हैं। पूर्णांग होने पर इसको भेदकर ही भ्रूण मातृगर्भ से बाहर आता है। विभिन्न प्राणियों में भ्रूण के परिपोषण और पूर्णांग होने तक की व्यवस्था में थोड़ा-बहुत अन्तर देखा जाता है, पर भ्रूण की सुरक्षा तथा उपयुक्त पुष्टि एवं वृद्धि तक के लिए उसका परिवेष्टित कोश में रहना समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्यस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

योनिज-अयोनिज

गर्भाशय से देह के बाहर आने के मार्ग का तथा देहोत्पत्ति में सहायक स्थानविशेष का नाम 'योनि' है। इस प्रकार से उत्पन्न होनेवाले देह योनिज कहाते हैं। सर्ग के आदिकाल में जब सर्वप्रथम देही का शरीर प्रकाश में आता है तब नर-नारी का परस्पर सम्पर्क नहीं होता, क्योंकि इसमें देह के शरीर से बाहर निकलने अथवा गर्भस्थिति में सहायक होनेवाले मार्ग=योनि का उपयोग नहीं होता, इसलिए यह देहरचना या देहसृष्टि अयोनिज कहाती है। इसी को अमैथुनी सृष्टि कहते हैं। सर्गादिकाल में मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानवशरीर धारण करनेवाले जीवों, उत्कृष्ट धर्मविशेष का पालन करनेवाले ऋषि-मुनियों तथा अन्य समस्त प्राणियों के देह इसी श्रेणी में आते हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिकदर्शन के अपने भाष्य में लिखा है—**'तत्रायोनिजमनपेक्षितं शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'** अर्थात् देवों और ऋषियों के शरीर शुक्रशोणित के बिना ही परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं। रज-वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं एवं मूलतः सत्त्व, रजस्, तमस् का ही विकार हैं। यजुर्वेद (३१।६) में लिखा है—**"तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये"** अर्थात् आदि सृष्टि में परमात्मा से देव, ऋषि और साध्य आप-ही-आप उत्पन्न हो गये।

यदि माता-पिता के संयोग से ही सृष्टि मानी जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यह ऐश्वरी सृष्टि कहाती है, क्योंकि उस समस्त सृष्टि के निमित्तकारण के रूप में ईश्वर ही विद्यमान होता है। उसकी प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार रज-वीर्य के मूलतत्त्वों के किसी विशिष्ट खोल आदि में इकट्ठा होने पर देहरचना आरम्भ हो जाती है और पुष्ट होने पर यथासमय उनके खोल फट जाते हैं और इस प्रकार

१. इसका भाव यह है कि सब धातुओं का विभाजन और उनका कलाकौशल से स्थापनादि। अथवा धातुओं का विभाग करनेवाली जो कलाएँ=शरीरावयव उनका कौशल से स्थापनादि।

इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के रत्न, धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार के वटवृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म-रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र, मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, मूल, निर्माण, मिष्ट, क्षार, कटुक, कषाय, तिक्त, अम्लादि विविध रस, सुगन्धादियुक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द-मूलादि रचन, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल, सूर्य-चन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता।

बने-बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं।

उद्भिज्ज में वृक्ष, लता, वनस्पति आते हैं, जो पृथिवी फोड़कर बाहर निकलते हैं। ये देह सर्ग के चालू काल में भी इसी प्रकार बनते रहते हैं। वृक्षों में जीवन है, इस तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर भी इसकी पुष्टि हुई है। वृक्षों में भग्नक्षतसंरोहण और साजात्य प्रजनन को देखकर भी उनमें जीवन का होना सिद्ध होता है, परन्तु वृक्षादि में चेष्टाश्रयता और इन्द्रियाश्रयता के स्पष्ट न होने से उनमें शरीर-व्यवहार नहीं होता।

सृष्टि चाहे मैथुनी हो या अमैथुनी, प्राणियों के शरीरों की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता के द्वारा ही करता है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आदिसृष्टि में जननी यह भूमि होती है और वीर्यसंस्थापक सूर्य। ऋग्वेद में कहा है —**'द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्'** (ऋ० १।१६४।३३), अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में प्राणियों के शरीर का उत्पाद पिता रूप में सूर्य था और माता के रूप में यह विशाला पृथिवी, परमात्मा ने पृथिवी और सूर्य दोनों के रज-वीर्य के संमिश्रण से प्राणियों के शरीरों को बनाया। जैसे इस समय बालक माता के गर्भ या जरायु में पड़ा माता के आहार में से रस लेकर बनता और विकसित होता है, वैसे ही आदिसृष्टि में पृथिवीरूपी माता के गर्भ में बनता रहता है। गीता में कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥—गीता १४।३

अर्थात् मेरे अधीन जो प्रकृति (महद् ब्रह्म) है उसमें मैं गर्भ धारण कराता हूँ। यहाँ **'महद् ब्रह्म'** योनि-स्थानीय है और परमेश्वर पितृस्थानीय है। इस प्रकार प्रकृतिरूपी माता और परमात्मारूपी पिता के संयोग से सृष्टिरचना होती है। ब्रह्म पद ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है। वेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म', 'इदं ब्रह्म' और 'महद् ब्रह्म' से क्रमशः ईश्वर, जीव और प्रकृति का बोध होता है। केवल 'ब्रह्म' पद प्रायः ईश्वर और वेद का वाचक है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'महद् ब्रह्म' का प्रयोग प्रकृति के लिए हुआ है। मूल उपादान के रूप में प्रकृति समस्त कार्यसमूह से बड़ी है, इसीलिए उसके विशेषणरूप में 'महत्' पद का प्रयोग हुआ है। प्रकारान्तर से गीता के इस श्लोक में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादनकारण के रूप में प्रकृति का उपपादन हुआ है।

रज-वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं एवं मूलतः सत्त्व-रजस्-तमस् का ही विकार हैं। **प्राणी के प्रजनन की जिस स्थिति को मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्रस्तुत करता है, अमैथुनी सष्टि में वह स्थिति प्राकृत नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति के गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है?** वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानवशरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है।

पुरुष के वीर्य के स्त्री के गर्भाशय में रज के साथ ठहर जाने से गर्भ का जन्म होता है। यदि कोई पदार्थवेत्ता उन तत्त्वों को पूरी तरह जान ले, जो वीर्य में हैं तो वह स्वतन्त्ररूप से वीर्य बना सकता है। उस अवस्था में पुरुष के वीर्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसी प्रकार यदि कोई जान ले कि गर्भाशय में कितने अंश की गर्मी वीर्यपोषक रहती है तो वह स्वतन्त्र गर्भाशय बना सकता है। फिर वायु और बिजली

जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा वह पदार्थ है, और दूसरा उसमें रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान होता है। जैसे किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया। देखा तो विदित हुआ कि वह सुवर्ण का है, और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार की सृष्टि में विविध रचना बनानेवाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

[सृष्टि की आदि में मनुष्योत्पत्ति कब और कैसे]

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की ?

द्वारा इन दोनों को मिलाकर एक गर्भ का रूप दे सकता है। यदि वह गर्भ को सुरक्षित रख सके तो उसमें से समय पर बच्चा निकल सकता है। देहोत्पत्ति की यह प्रक्रिया सर्वथा युक्तियुक्त होती है, परन्तु कोई भी मनुष्य पूर्णज्ञानी न होने से ऐसा कर नहीं सकता। हाँ, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं, उसकी व्यवस्था में आज भी यह सब हो रहा है।

एक ओर प्रकृति बीज बनाती है तो उसी समय दूसरी ओर निकट या कुछ दूरी पर गर्भाशय बनाती है। पवन या तितलियों को एक स्थल से बीज लेकर उड़ते और उन स्थलों में पहुँचाते देखा जा सकता है, जो गर्भाशय का काम दे सकें। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिकाल में जब बीज की उत्पत्ति हुई तो उसी समय गर्भाशय भी बनाये गये होंगे। बीज को धारण करने के लिए गर्भाशय आज भी तैयार किये जाते हैं। गेहूँ बोने के लिए भूमि ही योनि, क्षेत्र या गर्भाशय का काम देती है। यदि बीज को सपाट भूमि पर डाल दिया जाए तो या तो वह उगेगा नहीं और यदि उग गया तो चलेगा नहीं और कुछ चला तो फलेगा नहीं। इसलिए बीज डालने से पहले भूमि को हल चलाकर या खोदकर इस योग्य बनाते हैं। तब अन्दर की मिट्टी में बीज डालकर ऊपर की मिट्टी से ढक देते हैं। इस प्रकार बीज को गर्भाशय में पड़ गया समझना चाहिए। गर्भाशय में दो विशेषताएँ हैं—एक यह कि वह बीज धारण करने के लिए खुलता है, दूसरे, बीज धारण कर लेने के पश्चात् बन्द हो जाता है। भूमि को खोदना मानो भूमिरूपी गर्भाशय को खोलना है और फिर मिट्टी डालकर उसे ढक देना मानो गर्भाशय को बन्द कर देना है। सृष्टि के आदि में एक ओर परमेश्वर की प्रेरणा से अनेकानेक प्राणियों को जन्म देने योग्य वीर्य का भण्डार तैयार होता है और दूसरी ओर भूमि में अनेक गर्भाशय तैयार होते हैं। इन गर्भाशयों में प्रविष्ट वीर्य गर्भरूप हो विकसित होने लगता है और एक दिन गर्भाशय की थैली फटने पर प्राणी बाहर आ जाता है।

नासतो विद्यते भावः—'सत्' से 'असत्' और 'असत्' से 'सत्' कभी नहीं होता। जो संसार में आज तक विद्यमान है, उसका सत् होना निश्चित है। वस्तुतः किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता और न अभाव से उसकी उत्पत्ति होती है। अभिव्यक्त अवस्था में आने पर जब वह अपने नाम-रूप का परित्याग करती है तो या तो वह रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में चली जाती है। इसी स्थिति को साधारणतया उस कार्यवस्तु के नाश का नाम दे दिया जाता है—**'नाशः कारणलयः'**, परन्तु उत्पत्ति से पहले और विलय के पीछे भी उसका अस्तित्व अपने कारण में बराबर बना रहता है।

पृथिव्यादि की सृष्टि पहले—भोग्य के पश्चात् भोक्ता होता है। इस व्यवस्था के अनुसार पहले प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व पृथिवी, जल, वायु, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, फूल आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था। यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार **'संभृतं पृषदाज्यं पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्याग्राम्याश्च ये'** अर्थात् परमेश्वर ने

उत्तर—पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता ।

पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करनेवाले पक्षियों, व्याघ्रादि बनैले पशुओं तथा नगरों एवं ग्रामों में रहनेवाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न किया । इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूरी होने पर चेतन जगत् की और चेतन जगत् में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई । अन्त में **"तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये"** (यजुः० ३१।६) देव, ऋषि आदि कोटि के मनुष्य उत्पन्न हुए ।

सब योनियों की स्वतन्त्र सृष्टि— परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक है । उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियों की रचना की है । आज जो लाखों प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई दे रहे हैं—कृमि से हाथी और मनुष्यपर्यन्त—सब सृष्टि के आदि से इसी रूप में चले आ रहे हैं । सभी की स्वतन्त्र सत्ता है । मूल में किसी एक योनि की शाखा-प्रशाखा नहीं हैं । (यजुर्वेद (३१।८) में स्पष्ट लिखा है—

तस्मादश्वाऽजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥

अर्थात् घोड़े आदि दो जबाड़ोंवाले, गौ आदि एक जबाड़ेवाले, बकरी, भेड़ आदि सब पशु **'तस्मादजायन्त'** उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए । इस प्रकार यहाँ सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक-दूसरे की अपेक्षारहित प्राणिमात्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ।

इसके विपरीत आधुनिक विचारधारा के सब प्रकार के जीविति प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति-उपसन्तति द्वारा उत्पन्न होते हैं । इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एक कोश के प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ । धीरे-धीरे उसी के विलक्षण परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव हो गया । यह मत विकासवाद के नाम से प्रसिद्ध है । आगे के कुछ पृष्ठों में इसपर विचार किया गया है ।

विकासवाद

भारत के इतिहास में विकृतियों का एक प्रमुख कारण विकासवाद या सतत प्रगतिवाद का भ्रामक मत है । आधुनिक काल में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है । वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचारधाराओं में उसका प्रवेश हो गया है । वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता दी जाती है, और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है । साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है ।

विकासवाद के अनुसार प्राणी अथवा जीवन-तत्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ । पहले जल-मिट्टी-वायु आदि के संयोग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी । उसी से पुनः जल-वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्त कर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्षों आदि का क्रमशः विकास हुआ । कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्वप्रथम जल में ही एक दूसरी जीवनशाखा चली । आरम्भ में अमीबा (Amaeba=एक कोश का प्राणी) की भाँति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए । धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वराह, रीछ, बन्दर, वनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बन गया । आदिकालीन एक कोश के प्राणी से

मनुष्य तक पहुँचने के लिए मध्य में जीवन के न जाने कितने स्तर पार किये गये। तब कहीं लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य अपने वर्तमान रूप में आया।

इस विचार के अनुसार यदि हम मनुष्य की उत्पत्ति एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हैकल की 'History of Creation' के पृष्ठ २९५ में लिखी हुई प्राणियों की कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष का समय दें तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक लगभग बाईस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में डॉक्टर गैडो (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीतीं'। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव को आज २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह भी माना जाता है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २५ करोड़ वर्ष हो गये। इस प्रकार यह अवधि विकासवादियों की निश्चित की गयी अवधि (दस करोड़ वर्ष) से बहुत आगे निकल गयी है।

आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुँच जाता है। उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके विकास और परिवर्तन का कारण बनती हैं। प्राणरक्षा की भावना प्राणिमात्र में नैसर्गिक है। उस भावना से विवश होकर प्राणी को जो क्रिया बारम्बार करनी पड़ती है, धीरे-धीरे उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और फिर धीरे-धीरे क्रिया को करने में समर्थ अंग का विकास हो जाता है। दूसरी ओर प्राणरक्षा के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती, उनका अभ्यास नहीं रहता। अभ्यास न रहने से वह अंग अशक्त हो जाता है और अन्त में एक दिन उसका लोप हो जाता है। भोजन के लिए प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्ष एवं शत्रुओं से रक्षा के लिए प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है। उनमें से जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सके, वे बच गये। जो उन संघर्षों में अपने को आवश्यकतानुसार परिवर्तित न कर सके, वे नष्ट हो गये। इन्हीं कारणों से शरीर में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा और प्राणी विभिन्न योनियों में बँट गया। आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्कताजन्य इच्छा तथा उसको पूरा करने के लिए किये गये चिरकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप होनेवाले आकृति-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में अफ्रीका के मरुदेश में पाये जानेवाले लम्बी गर्दनवाले जिराफ़ नामक पशु का उल्लेख किया जाता है। कहते हैं, यह पहले ऐसा नहीं था, जैसा आज देखा जाता है। जिराफ़ ने जब वृक्षों पर नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा हुई। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह गर्दन उठा-उठाकर प्रयत्न करने लगा। चिरकाल तक ऐसा करते रहने से उसकी गर्दन लम्बी हो गयी।

परन्तु परिस्थिति के अनुरूप आवश्यकतावश आकृति-परिवर्तन की मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। बकरी जब नीचे के पत्ते चुग लेती है तब तने पर या टहनियों पर अगले पैर टिकाकर पत्ते चुग लेती है। लाखों वर्षों से वह इसी तरह अपना पेट भरती आ रही है, परन्तु आज तक न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ, और न उसके लिए चारे की कमी हुई। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गर्दन बढ़ाने के बजाय जिराफ़ में बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का विकास क्यों नहीं हुआ? न जाने कब से मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैंड जैसे शीतप्रधान देशों में बसा हुआ है, किन्तु शीत से बचने

की इच्छा तथा आवश्यकता के होते हुए भी उसके शरीर पर रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हुए। इतना ही नहीं, जैसे लम्बे बाल राजस्थान की तपती मरुभूमि में रहनेवाली भेड़ के होते हैं, वैसे ही हिमालय के शीतप्रधान देश में रहनेवाली भेड़ के होते हैं। अफ्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में दीर्घरोमा रीछ और रोमरहित गैंडा एक साथ रहते हैं। अपने ही देश में एक जैसी परिस्थिति में रहनेवाली गाय और भैंस में इसके विपरीत अन्तर देखा जाता है। भैंस का चर्म पतला, चिकना और लघु-रोम होता है। इसके विपरीत गाय का चर्म अपेक्षाकृत कठोर और रोमबहुल होता है। विकासवाद के अनुसार आत्मरक्षा की भावना के कारण हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं। क्या आत्मरक्षा के लिए सींगों की आवश्यकता नर को ही होती है, मादा को नहीं? जंगली पशुओं की अपेक्षा मनुष्य द्वारा पालित व सुरक्षित गाय-भैंस आदि को कम खतरा होता है फिर क्या कारण है कि उनमें नर-मादा दोनों के सींग होते हैं। फिर, कोयल के मधुर कण्ठ और मोर के सुन्दर पंखों का प्राणरक्षा से क्या सम्बन्ध है? फिर भी ये दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं। कौए को क्या अपनी काँव-काँव अच्छी लगती होगी और मोर के सुन्दर पंख देखकर क्या मोरनी को ईर्ष्या नहीं होती होगी?

भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं, पर बहन के मुँह पर दाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में रहते हैं, पर हथिनी के मुँह में बाहर को निकले बड़े दाँत नहीं होते। 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' हाथी पर ही लागू होता है, हथिनी पर नहीं। मोर और मयूरी और इसी प्रकार मुर्गा और मुर्गी एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते, पलते और बढ़ते हैं, पर मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलगी नहीं होते, जो मोर और मुर्गे के होते हैं।

भारत में व्याघ्र, सिंह व हाथी होते हैं, पर इंगलैण्ड आदि देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ्रीका में, कंगारू आस्ट्रेलिया में और मोर भारत में होता है। यूरोपवासियों द्वारा वहाँ पहुँचाए जाने से पहले आस्ट्रेलिया में खरगोश नहीं होता था। स्पष्ट है कि जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और सन्तति का विस्तार न करे, तब तक कोई प्राणी आप-ही-आप वहाँ पैदा नहीं होता।

मनुष्यों को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उनके बालों में, पैदा होने से मृत्युपर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है, परन्तु न चाहते हुए भी मनुष्य के बाल रंग बदलते रहते हैं। जितने पशु हैं, पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। मनुष्य का तथाकथित पूर्वज बन्दर भी पैदा होते ही तैरने लग जाता है। यहाँ तक कि राजस्थान की वह भैंस भी, जिसने जीवन में कभी तालाब के दर्शन भी नहीं किये होते, अवसर मिलने पर झट तैरने लग जाती है, परन्तु सदा नदी या समुद्र के तट पर रहनेवाला मल्लाह का बेटा भी तैरना सीखे बिना नहीं तैर सकता। प्राणरक्षा की भावना के होते हुए भी जंगली मनुष्यों के सिर में सींग नहीं निकले और न नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में स्वतः तैरने की शक्ति का विकास हुआ। अनादिकाल से कछुआ पृथिवी पर चलता आ रहा है, किन्तु उसके पेट की कोमलता में अन्तर नहीं आया। दूसरी ओर उसकी पीठ पत्थर की तरह कठोर है, जबकि वह एक दिन भी धरती पर रगड़ी नहीं गयी। विकासवाद के अनुसार इसके विपरीत होना चाहिए था। प्राणिमात्र में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह प्रवृत्ति पतंगे में भी होनी चाहिए। दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही वह जल जाता है। न जाने कब से जलता आ रहा है, परन्तु उसने कभी भी उससे बचने का प्रयास नहीं किया। इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता। दीपशिखा से तनिक दूर रहने का अभ्यासमात्र करना था, किन्तु लाखों, करोड़ों वर्षों में वह इतना भी नहीं कर पाया।

मनुष्य को विकासक्रम में अन्तिम श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। तब मनुष्य की तुलना में चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का और कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है? प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से मधुमक्खी को आदर्श क्यों माना जाता है? प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक काल तक जीना चाहता है। विकास के किसी भी स्तर पर उसने इस इच्छा का परित्याग नहीं किया होगा। तब, मनुष्य की अपेक्षा कहीं निम्न स्तर के प्राणी कछुआ, साँप आदि क्यों दीर्घजीवी होते हैं? थोड़े काल में अधिक मार्ग तय करने के लिए मनुष्य मोटरों, वायुयानों आदि का आविष्कार और विकास कर रहा है, तब, उसने चीते की तेज गति को छोड़ना कब चाहा होगा? कुत्ते की घ्राण-शक्ति और गृध्र की दूरदृष्टि को भी उसने जानबूझकर खोना कभी नहीं चाहा होगा। अनुपयोगी जानकर उसने उनकी उपेक्षा कर दी होती, तो आज अपराधियों को पकड़ने के लिए कुत्तों की सहायता क्यों लेता?

बया नामक छोटी-सी चिड़िया जैसा सुन्दर घर बनाती है, वैसा मनुष्य से केवल एक पीढ़ी नीचे माना जानेवाला बन्दर नहीं बना सकता, पर यह भी सत्य है कि जैसा घर वह लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनाती थी, आज भी वैसा ही बनाती है। मकड़ी जाला बनाती है। मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग लाकर और उसे मधु बनाकर उसमें एकत्र करती है, किन्तु इन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखी नहीं, ये उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। उन्होंने ये अपनी कलाएँ अन्य प्राणियों को सिखाई भी नहीं। जिसको जो आता है और जैसा आता है, वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करने चाहे। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा करता रहा। पर बिना पूँछ के चूहे पैदा न हुए। हिन्दुओं के लड़के-लड़कियाँ लाखों वर्षों से कान छिदवाते आ रहे हैं; हज़रत इब्राहिम के समय से यहूदी और मुसलमान ख़तना कराते आ रहे हैं, चीनी स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटे करने का प्रयास कर रही हैं, परन्तु न हिन्दुओं के घरों में कनछिदे बच्चे पैदा हुए, न मुसलमानों के यहाँ ख़तना की हुई सन्तान पैदा हुई और न चीनी घरों में छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुई।

मोटर आदि का, विकासक्रम में उपलब्ध, अन्तिम रूप (Latest Model) ही बनता है। जब मनुष्य जैसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी तैयार हो गया तो निचले स्तर के सभी पशु-पक्षियों का सर्वथा लोप हो जाना चाहिए था, परन्तु हम देखते हैं कि आज भी मछली-से-मछली, भेड़-से-भेड़ और कुत्ते-से-कुत्ते ही पैदा हो रहे हैं। यहाँ तक कि जिस बन्दर से मनुष्य बना कहा जाता है, उससे भी बन्दर ही पैदा हो रहे हैं, मनुष्य नहीं। फिर, विकास तो विकास है, उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं आ सकती। तो फिर, विकास का क्रम कैसे रुक गया? मनुष्य से आगे अन्य कुछ क्यों नहीं बना?

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो विकासवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः जो योनियाँ जिस प्रकार की हैं, वे सदा से वैसी ही हैं और भविष्य में वैसी ही बनी रहेंगी। आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास एवं वातावरण या परिस्थिति के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में अनेक जातियाँ नष्ट भले ही हो जाएँ, पर उनमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता, जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्यों ने हीनमस्तिष्क प्राणियों से विकसित होकर उन्नति नहीं की, प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत एवं विकसित थे।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा क्या ?

उत्तर—अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है, क्योंकि **'मनुष्या ऋषयश्च ये; ततो मनुष्या अजायन्त'** यह यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण में लिखा है । इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों-सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी यही निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक माँ-बाप के सन्तान हैं ।

विज्ञान कहता है कि सर्वप्रथम एक कोश का प्राणी उत्पन्न हुआ, पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया कि एक कोश का प्राणी कैसे हो गया ? अमीबा नाम का प्राणी एक कोश का देह है । ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोशयुक्त प्राणिदेह की रचना करते हैं, ऐसा विज्ञान के लिए भी सिद्ध करना कठिन है । यदि एक कोश का प्राणी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है, अथवा जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल (Cell) का अमीबा उत्पन्न हो सकता है, उसी शक्ति से मनुष्य-शरीर की रचना होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती । वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉक्टर बीरबल साहनी से पूछा गया—"आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गये । आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-धीरे उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुँच गया जिसको विज्ञान आज पहुँचा हुआ है । तब आप यह तो बताइए कि—"Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning ?" अर्थात् प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया ? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता ।" डॉक्टर साहनी ने उत्तर में कहा, "इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया । हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था—"With this we are not concerned as to where from life came in the very beginning or wherefrom knowledge came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased." इससे स्पष्ट है कि विकासवाद, जिसका इतना शोर है और जिसे अर्धशिक्षित जन अन्तिमेत्थम् के रूप में मानते चले जा रहे हैं, युक्ति के सामने नहीं ठहर सकता । सच तो यह है कि जब जड़ पदार्थों में स्वयं संचालन (self direction) तथा सम्प्रयोग (Co-ordination) की शक्ति है ही नहीं, तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार अरबों वर्षों में भी जड़ परमाणुओं में इस प्रकार संचालन कि अन्ततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, असम्भव है । इसी प्रकार यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन-शक्ति के साहचर्य से होता है तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है ।

मानव-बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है । बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है । मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती ।

अनेक पैदा हुए—जिन जीवों के कर्म अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के थे, वे सभी सृष्टि के आदि में हुए । सृष्टि को देखने से यह भी निश्चय होता है कि सब मनुष्य एक माँ-बाप की सन्तान नहीं हैं । अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । मुण्डकोपनिषद् (२।१।७) में पाठ है—**'तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः**

प्रश्न—आदिसृष्टि[1] में मनुष्य आदि की बाल्य, युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में ?

उत्तर—युवावस्था में, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती। इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है।

साध्या मनुष्याः पशवो वयाँसि', अर्थात् परमात्मा ने बहुत-से देव, ज्ञानी, साध्य, मनुष्य तथा पशु-पक्षी उत्पन्न किये। अन्यत्र (यजुः० ३१।६ व ३१।८) में भी सभी पदों के बहुवचनान्त होने से स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि में सभी प्राणियों के अनेक जोड़े उत्पन्न हुए। इसी कारण सृष्टि में इतना वैविध्य दीख पड़ता है। उपनिषद् के यहाँ उद्धृत सन्दर्भ में पशु-पक्षियों के अतिरिक्त तीन कोटि के उच्च जीव अभिप्रेत हैं। जो पूर्वजन्म में साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणों को प्राप्त कर उत्पन्न हुए, वे 'देव' कहलाये। जिन्होंने साधना द्वारा इस जन्म में दिव्य गुण प्राप्त किये वे 'साध्य' और जो साधारण गुणोंवाले हैं, वे 'मनुष्य' कहलाये। ये मनुष्यों की ही तीन श्रेणियाँ हैं। निश्चय ही इनमें से प्रत्येक की पर्याप्त संख्या रही होगी। सृष्टि के आदि में विभिन्न वर्गों के प्राणियों की उत्पत्ति का एक साथ उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि सब पृथक् और स्वतन्त्र जातियाँ थीं—कोई किसी का विकसित रूप नहीं था।

उत्पत्ति युवावस्था में—सृष्टि के आदि में प्राणी (विशेषतः मनुष्य) युवावस्था में उत्पन्न हुए। बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन-पोषण के लिए अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती, किन्तु अमैथुनी सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न नहीं उठता। नौ-दस मास माता के गर्भ में संवर्धित होकर जन्म लेने के बाद भी मानव-शिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वतः अपना पालन-पोषण व संरक्षण करने में समर्थ नहीं होता। यदि वृद्धावस्था में प्राणी का जन्म हो तो वह आगे साजात्यप्रजनन में असमर्थ होगा, अतः आदि सृष्टि में प्राणी का प्रादुर्भाव देह की ऐसी स्थिति में सम्भव है जब वह अपने पालन-पोषण व संरक्षण के लिए परमुखापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि में नियमानुसार साजात्यप्रजनन में समर्थ हो। जहाँ तक मानव की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, वह स्थिति २२-२३ वर्ष की अवस्था के आसपास होनी चाहिए। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट के विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष डॉ० क्लार्क के अनुसार 'Man appeared able to think, walk and defend himself' मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में हुआ, जब वह चल सकता था, सोच सकता थ और अपनी रक्षा कर सकता था।

पशु-पक्षियों की सन्तान जन्म के कुछ ही दिनों के बाद अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ हो जाती है। उनका बहुत-सा काम नैसर्गिक ज्ञान और सामर्थ्य के सहारे चलता है। मनुष्य के समान उन्हें बहुत सी बातें सीखनी नहीं पड़तीं। इसलिए आदिकाल में भी जन्म के समय उनका युवावस्था में पैदा होना आवश्यक नहीं।

---

१. सृष्टेरादिः आदिसृष्टिः सृष्ट्यादिर्वा। **'धर्मादिषूभयम्'** (अ० २।२।३१ वा०) से दोनों का पूर्वनिपात होता है। अर्थ होगा—सृष्टि की आदि। पाणिनी ने भी **आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च** (३।४।७१) में **'कर्मण आदौ'** अर्थ में **'आदिकर्मणि'** पद का निर्देश किया है। ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इसी अर्थ में 'आदिसृष्टि' **शब्द** का बहुधा तथा क्वचित् 'सृष्ट्यादि' का प्रयोग किया है। दोनों प्रयोग व्याकरण के उक्त नियम से साधु हैं।

[सृष्टि प्रवाह से अनादि है]

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रारम्भ है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन, तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि, तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसकी आदि वा अन्त नहीं, किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि और अन्त होता रहता है, क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव और जगत् का उपादानकारण, तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि है।

जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता। ऐसे व्यवहारों को '**प्रवाहरूप**' जानना चाहिए। जैसे परमेश्वर के गुण कर्म-स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति-प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

[कर्मानुसार विविध योनियाँ]

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण-गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंगादि जन्म दिये हैं। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उत्तर—पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। कर्म के विना जन्म देता, तो पक्षपात आता।

प्रवाह से अनादि—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस प्रकार वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में उसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक दूसरे के अनन्तर आवर्तमान रहती हैं। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। **'कथमसतः सज्जायते'** (छान्दोग्य०) तथा **'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)। इसलिए यदि पहले न रहा होता तो कहाँ से आ जाता ? इसी प्रकार **'नाभावो विद्यते सतः'** जो है, वह मिट नहीं सकता। इसलिए वह आगे भी रहेगा, परन्तु वह सदा अपने वर्तमानरूप में नहीं बना रहेगा। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और इनके गुण-कर्म-स्वभाव भी अनादि हैं। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व आदि गुण स्वाभाविक हैं। यदि संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो उसके इस गुण का भी उच्छेद हो जाए। गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का नाश हो जाने पर स्वयं ईश्वर का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। इसलिए दिन के बाद रात और रात के बाद दिन के क्रम की भाँति सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय के पर्याय से आवर्तमान रहने से सृष्टि का प्रवाह से अनादित्व सर्वथा उपपन्न है।

आर्य और दस्यु—पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में आये आर्य तथा दास या दस्यु जैसे शब्द

[मनुष्यों की प्रथम सृष्टि]

प्रश्न—मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसको 'तिब्बत' कहते हैं।

प्रश्न—आदिसृष्टि में एक जाति थी, वा अनेक ?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् **'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'**

—यह ऋग्वेद (१।५१।८) का वचन है।

श्रेष्ठों का नाम **'आर्य'** विद्वान्, देव, और दुष्टों के **'दस्यु'** अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से **आर्य** और **दस्यु** दो नाम हुए। **'उत शूद्र उतार्ये'** वह अथर्ववेद (१९।६२।१) का वचन है। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज=विद्वानों का नाम **'आर्य'** और मूर्खों[1] का नाम **शूद्र** और **'अनार्य'** अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।

भिन्न-भिन्न जातियों के बोधक हैं। उनका कहना है कि आर्यलोग भारत के मूल निवासी नहीं हैं। यहाँ के आदिवासी तो कोल, द्रविड़, भील, सन्थाल आदि हैं, जिन्हें वेद में दास या दस्यु के नाम से अभिहित किया गया है। आर्यों का धर्म, सभ्यता, रंग-रूप, आकृति, भाषा सब-कुछ भिन्न थे। यहाँ के आदिवासियों के साथ उनका सदा युद्ध हुआ करता था। वे प्रायः आदिवासियों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपना दास बना लेते थे। अंग्रेजी राज्य की जड़ें मज़बूत करने और अन्ततः भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाई गयीं। वस्तुतस्तु जिस भाषा और साहित्य से आर्य शब्द लिया गया है, उसमें कहीं भी इस शब्द का प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं मिलता। आर्य और दस्यु दोनों गुणवाचक शब्द हैं। आर्यत्व प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने की वस्तु है, जाति की भाँति स्वतः प्राप्त होनेवाली नहीं—**'कृतेन हि भवेदार्यः'** मनुष्य अपने चरित्र एवं आचरण से आर्यत्व को प्राप्त करता है। श्री अरविन्द का निश्चित मत है कि 'ऋग्वेद में जिस युद्ध और विजय का उल्लेख हुआ है, वह कोई भौतिक युद्ध या लूटमार नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है। मनुष्यों की आदिसृष्टि, आर्यों के आदिदेश, आर्यावर्त्त आदि के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का मत कितना युक्तियुक्त है, इसे सिद्ध करने के लिए हमने यहाँ इसपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। (और अधिक जानकारी के लिए देखें हमारी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता।)

विकासवाद के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे अनादि काल से अपने वर्त्तमान रूप में हैं। भौगोलिक विभागशास्त्र के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे प्राणी, जो शारीरिक भेद के साथ अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी एक भूमिभाग से जुड़े रहने के कारण एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे—आस्ट्रेलिया का दीर्घकाय घोड़ा नेपाल का छोटा टट्टू एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। रूप वैचित्र्य भले ही हो, पर एक जाति दो भिन्न मार्गों से विकसित होकर एक रूप में नहीं आई। यह कभी नहीं हुआ कि बंगाल के मोर, ऊँट, हाथी, चीता, कौवा और साँप होते हुए विकसित हुए हों और गुजरात के मोर, चींटी, नेवला, लोमड़ी, बिल्ली से गिरगिट होते हुए मोर बने हों और अब दोनों देशों के मोरों में परस्पर यौनसम्बन्ध होने से उनके सन्तान होने लगी हो। अलग-अलग कई वंशों से किसी प्राणी का

---

१. मूर्ख अर्थात् अविद्वान्।

विकास नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पिता की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्य का भी समझना चाहिए।

बिना बीज के जड़ और निर्जीव रेत से वृक्षों के अंकुर नहीं फूटते। बीज भी आप-ही-आप नहीं निकलता, किन्तु खोज करके लाया जाता है और अनुकूल स्थान में बोया जाता है—जहाँ जलवायु पौधे के अनुकूल होता है, उसका खाद्य बहुतायत से मिलता है और जहाँ आँधी-ओले से उसे सुरक्षित रक्खा जा सकता है। माली पहले एक क्यारी में पौध तैयार करता है। फिर वहाँ से पौधे ले-लेकर यथास्थान सारी फुलवारी में रोपता है और आवश्यकतानुसार बाहर भी भेजता है। तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र नहीं पैदा होता, एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है। इसी बीज-क्षेत्र न्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान पर पैदा हुआ और फिर संसारभर में फैल गया। प्रारम्भ में मनुष्य भी किसी ऐसे स्थान पर पैदा हुआ होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो, खाद्य सामग्री सुलभ हो और जहाँ वह अधिक-से-अधिक सुरक्षित रह सके। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि के लिए भी ऐसा ही स्थान उपयुक्त होगा। इस प्रकार आदि सृष्टि के लिए स्थान वह उपयुक्त होगा—

(१) जो संसार में सबसे ऊँचा हो, (२) जहाँ सर्दी और गर्मी जुड़ती हों, (३) जहाँ मनुष्य के खाद्य फल वनस्पति प्रचुरता से उपलब्ध हों, (४) जिसके आसपास सब रूप-रंगों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण हो और (५) जिसका नाम सबके स्मरण का विषय हो।

ये सभी लक्षण हिमालय पर घटते हैं—

(१) हिमालय निर्विवादरूप से सबसे ऊँचा है। कहते हैं कि पहले सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न थी। उस जल से सबसे पहले वही भूमि निकली, उसी में वनस्पति उत्पन्न हुई और उसी पर सबसे पहले मनुष्यादि प्राणियों की सृष्टि हुई।

(२) संसार में ऋतुएँ चाहे कितनी कही जाएँ, पर सर्दी और गर्मी दो उनमें मुख्य हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के देश कहे जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से बने पाये जाते हैं, तो भी दो में से एक की प्रधानता रहती है। कश्मीर, नेपाल, भूटान और तिब्बत आदि देश बसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि वहीं सर्दी और गर्मी मिलती हैं। इसलिए मानव-सृष्टि के लिए हिमालय ही सर्वाधिक उपयुक्त स्थान ठहरता है। वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के आदि युग में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र शीतोष्ण जलवायु से युक्त था। भारतीय साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) मनुष्य का स्वाभाविक प्रधान खाद्य दूध और फल है—**पयः पशूनां रसमोषधीनाम्**। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से मिलते हैं। जब मनुष्य दूध और फल के बिना और पशु वनस्पति के बिना नहीं रह सकते तो मनुष्य ऐसे देश में उत्पन्न नहीं हो सकता जहाँ ये पदार्थ उपलब्ध न हों। विकासवाद के अनुसार भी वह ऐसे स्थान में पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले वहाँ बन्दर होना चाहिए और बन्दर निश्चित रूप से फलाहारी है। हिमालय ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य के लिए अपेक्षित समस्त पदार्थ सहज उपलब्ध हैं।

कतिपय विद्वानों ने ध्रुव प्रदेश को मनुष्यजाति का उत्पत्ति-स्थान माना है। बहुत दिन हुए, वार्न साहब ने 'Paradise Found or the Cradle of Human Race at the North Pole' नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने आदि मानव-सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश बताया था। इसी पुस्तक के आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'Arctic Home in the Vedas' लिखी, जिसमें उन्होंने ध्रुव प्रदेश को ही आर्यों का मूल निवास स्थान सिद्ध किया था, परन्तु जब डॉ० काला ने बताया कि तीन लाख वर्ष में पृथिवी की केन्द्रच्युति

तीन बार हुई है और उत्तर ध्रुव प्रदेश में तीन बार हिमपात का तूफ़ान भी आया है, तब से यह माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में मानवजाति की आदि सृष्टि नहीं हो सकती। ध्रुव प्रदेश में वनस्पति भी नहीं होती। मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल भी नहीं होते। इसके विपरीत पसीना निकलनेवाले छोटे-छोटे रोम होते हैं। इसलिए वह अतिशीत प्रदेश में रहनेवाला प्राणी नहीं है। पूना के पावगी साहब ने यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि ध्रुव प्रदेश में मनुष्य सम्बन्धी जो चिह्न पाये गये हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ मनुष्य तब पहुँचा है जब अन्यत्र रहते हुए वह काफी उन्नति कर चुका था। इन सब तथ्यों के होते हुए उत्तर ध्रुव में आदिकाल में मनुष्योत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

(४) मूल स्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि होनी चाहिए जहाँ सब रंग-रूपों के विकास की स्थिति हो और जहाँ रहकर मनुष्य संसारभर में रहने की योग्यता प्राप्त करके पृथिवी में सर्वत्र फैल सके। हिमालय के साथ लगता भारत ऐसा देश है जहाँ सब छहों ऋतुएँ वर्तमान रहती हैं। इस सर्वगुणसम्पन्न देश में सब रंग-रूप के आदमी निवास करते हैं। ऐसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिमालय पर ही मनुष्यों की आदि सृष्टि हुई।

(५) सभी देशों में बसनेवाले लोगों को किसी-न-किसी रूप में हिमालय की स्मृति बनी हुई है। भारतीय आर्यों को हिमालय से और ईरानी आर्यों को भारत से आने की स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। चरकसंहिता के प्रमाण से सिद्ध है कि आर्यलोग हिमालय से ही भारत में आये थे और बीमार होकर एक बार फिर अपने मूलनिवास हिमालय को लौट गये थे। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद उनके फिर लौटकर भारत में बसने का भी उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान ४।३) में लिखा है—

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वा समितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्व-किन्नरानुचरितमनेक रत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभवं ब्रह्मर्षिसिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपति-गुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥

बहुत दिन तक आर्य लोग हिमालय पर रहे। फिर उन्होंने हिमालय से उतरकर भूमि तलाश की। जिस रास्ते से वे आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। यहाँ आकर वे कुछ दिन तो रहे, पर जलवायु, खानपान आदि के दोष से बीमार होकर फिर अपने मूलनिवास हिमालय को लौट गये, परन्तु कुछ काल पश्चात् वे फिर वहाँ आये। अबकी बार उन्होंने यहाँ के जंगलों को काटकर देश को बसनेयोग्य बनाया और हरद्वार, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से लेकर सदानीरा तक जंगलों को जलाकर वहाँ बस गये और इस आबाद क्षेत्र का नाम आर्यावर्त्त रक्खा।[१]

मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और यहाँ से ईरान गये थे।[2] इसका एक कारण अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना है जो संस्कृत में नहीं

१. तर्हि विदेघो माथवऽआस। सरस्वत्यां स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः। स इमाः सर्वा नदीरतिददाह, सादनीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति तां हैव नातिददाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति। —शतपथ १।४।१।१४

2. Chips from a German Workshop, 1967, P. 85-86.

आर्यों का भारत में आगमन]

प्रश्न—फिर वे यहाँ कैसे आये ?

उत्तर—जब आर्य और दस्युओं में, अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई-बखेड़ा हुआ किया। जब बहुत उपद्रव होने लगा, तब आर्यलोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर वसे। इसी से इस देश का नाम **'आर्य्यावर्त्त'** हुआ।

मिलते, पर ईरान से आगे की भाषाओं में मिलते हैं। व्याख्यासहित उन शब्दों की सूचि भी मैक्समूलर ने दी है।[1] ईरान में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों से भी आर्यों के ईरान में जाकर बसने की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—कुछ हज़ार साल पहले आर्यलोग हिमालय से[2] उतरकर आये और यहाँ का जलवायु अनुकूल जानकर यहाँ बस गये। ईरान के बादशाह सदा अपने नाम के साथ 'आर्यमेहर' की उपाधि लगाते रहे हैं। फ़ारसी में 'मेहर' सूर्य को कहते हैं। ईरान के लोग अपने को सूर्यवंशी आर्य मानते रहे हैं।

ईरानी साहित्य तथा पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि असुरों और उनकी भाषा का मूल भारत ही था। स्वयं अवेस्ता में त्वष्टा के वशंजों को 'आर्यव्रज' (आर्यावर्त्त=आर्यनवेजो—Airyana Vaejo=आर्यनिवास) से पलायन का उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार देवों के भय से ईरानी १६ देशों में मारे-मारे फिरते रहे। सर्वप्रथम उनका निवास आर्यावर्त्त=आर्यवीजो=आर्यनवेजो ही में था। यहीं से उन्होंने अन्य देशों को प्रस्थान किया। अनेक जातियाँ हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं—भारतीय आर्य 'मेरु', जेन्दभाषावाले 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिण तुर्किस्तानवाले 'मेरुव', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुरव' कहते हैं।

(५) हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश बहुतायत से पाये जाते हैं। पृथिवी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो हिमालयस्थित प्राणियों के शेषांगों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पहले उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन के आधार वृक्ष और गौ आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गये थे, अतएव हिमालय आदिसृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वैदिक इण्डिया में लिखा है—"आर्यों का आदिदेश कश्मीर ही है।"[3] एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री की साक्षी से टेलर ने लिखा है—"मनुष्यजाति की जन्मभूमि स्वर्गतुल्य कश्मीर ही है।"[4] आर्यों के विशुद्ध रूप-रंग के लोग कश्मीर में आज भी बसते हैं। आदि मनुष्य और आर्य

---

1. Maxmueller : Selected Essays on Language, Mythology and Religion, 1881, P. 227-78.

२. चन्द हज़ार साल पेश जमाना माजीरा बजुर्गी अज़ निज़ाद आर्या अज़ कोहहाय कफ़ काज़ गुज़िश्तः बर सर ज़मीने की इमरोज़ मस्कने मास्त क़दम निहादन्द। ब चूं आबो हवाय ई सर ज़मीरा मुआफ़िक तब'अ खुद याफ्तन्द दरीं जा मस्कने गुज़ीदन्न ब आंरा बनाम खेश ईरान ख़यादन्द। —देखो—जुग़राफ़िया पंज क़ितअ बनाम तदरीस रहसल पंजुम इब्तदाई, सफ़ा ७८; कालम १, मतब अ दरसनहि तिहरान, सन् हिजरी १३०६, सीन अव्वल व चहारम अज़ तर्फ़ विज़ारत मुआरिफ़ व शरशुदः।

3. That this mountaneous Country (Kashmere) and the plains of Saptasindhu were the Cradle of Aryan race. —Rigvedic India, P. 155

Adelung, the father of comparative philology, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmere which he identified with paradise. —Tailors Origin of the Aryans, P. 9

एक ही हैं। इसलिए बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदिसृष्टि हिमालय पर हुई। नाना पावगी ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यावर्त्तीतील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि हिमालय ही हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्मस्थान है।[1] इसी प्रकार दास बाबू ने लिखा है "वेद में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों से ही देखा था।"[2]

आर्यों के आदिदेश के रूप में सप्तसिन्धव की कल्पना करनेवाले विद्वानों ने सरस्वती की घाटी से लेकर सिन्धु तक के प्रदेश को तथा उससे भी पर्याप्त पश्चिम तक के प्रदेश को आदिदेश बताया है, पर इसमें भी सात नदियों के भाग को मुख्य मानकर विचार करें तो सरस्वती से सिन्धु तक के प्रदेश में आर्यों की बस्तियाँ रही होंगी, ऐसा मानना होगा। जब पानी बरसता है तो वह नदियों में बहता ही है। कहीं भी देखकर सामान्यरूप से सब जगह बहने का कथन किया जा सकता है। तब, जैसाकि सम्पूर्णानन्दजी कहते हैं, किसी एक स्थान पर रहते हुए व्यक्ति के लिए आकाश से मूसलाधार बरसते पानी का 'सात' नदियों में बहना दृग्विषय कैसे हो सकता है? या तो उस प्रदेश में जितनी नदियाँ थीं, सबको ठीक-ठीक गिनकर उतनी संख्या का निर्देश किया जाना चाहिए था अथवा सामान्यरूप से कहने पर संख्या का निर्देश अनपेक्षित था। विशिष्ट संख्या का निर्देश ऐसे स्थान का निर्देश करता है जहाँ सात नदियाँ एक-दूसरे के आसपास बहती हों। तभी बादलों का गरजना, बिजली का कड़कना और बरसते जल का सप्तसिन्धुओं (सात नदियों) में बहना किसी का दृग्विषय हो सकता है। ऐसा स्थान कहाँ है? सरस्वती से सिन्धु तक फैले प्रदेश का—जिसमें पंजाब व कश्मीर सम्मिलित हैं—उससे सामंजस्य नहीं हो सकता।

हिमालय नाम से अभिहित भूभाग पर्याप्त विस्तृत है। इसमें आर्यों अथवा मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव कहाँ हुआ; इसका निश्चय करना आसान नहीं। इतने समस्त विस्तृत प्रदेश में मानव का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं लगता। वेद के आधार पर सप्तसिन्धव की कल्पना इसी भावना से की जाती है कि वह आर्यों का सर्वप्रथम निवासस्थान है। यदि यह कहा जाए कि वेदों का वर्णन उस समय का है, जब आर्य इतने विस्तृत प्रदेश में फैल गये थे, तब इतने प्रदेश को आदिदेश नहीं कहा जा सकता। आदिदेश उसी को कहना ठीक होगा, जहाँ सर्वप्रथम आर्यमानव का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रदेश का विस्तार अपेक्षाकृत काफ़ी छोटा होना चाहिए।

सर्वप्रथम जिस देश में आर्यजन अथवा मानव का प्रादुर्भाव हुआ या जिसे उनका मूल अभिजन कहना चाहिए, प्राचीन भारतीय साहित्य में उसका नाम 'देवलोक' बताया है। **'उत्तरो वै देवलोकः .... उत्तरयैव देवलोकमवरुन्धे'** (शतपथ १२।६।३।७)—उत्तर ही देवलोक है, उत्तर दिशा में ही देवलोक को सीमित करता हूँ। सायण ने अपने अथर्ववेद (१६।३६।८) के भाष्य में लिखा है—**"हिमवच्छरप्रदेशेव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धः।"** कोशों में स्वर्ग और त्रिविष्टप पर्यायवाची पढ़े हैं। यह उत्तर दिग्विभाग का वही

---

१. या प्रमाणें सदरीं नमूद केलेल्या सर्वप्रमाणांवरून, हा हिमाचल आमच्या देवादिकांचीही जन्मभूमि होऊन राहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्ष्यांत सहजी येईल।—आ.आ. जन्मभूमि, पृ. २७२।

2. On the other hand, if it refers to the constellation of 'Ursha major' which is most prominent in the northern parts of India and particularly in the high table-land north of Kashmere and the peaks of Himalaya from which the Vedic bardmay have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon. —Rigvedic India, P. 376

[आर्यावर्त्त की प्राचीन सीमा]

प्रश्न— आर्य्यावर्त्त की अवधि कहाँ तक है ?

उत्तर— **आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।**
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥१॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशमार्य्यावर्त्तं[1] प्रचक्षते ॥२॥ —मनु० २।२२

प्रदेश है जहाँ कैलास मानसरोवर के आसपास सात नदियों का उद्‌गम स्थान है। वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड ४३।११-१४) तथा महाभारत में कई स्थालों पर बिन्दुसर का तथा उससे निकलनेवाली सात नदियों का उल्लेख हुआ है। मानसरोवर का ही पूर्व अथवा अपर नाम बिन्दुसर प्रतीत होता है, परन्तु इस प्रदेश का सप्तसिन्धु नाम कभी नहीं रहा। जब हम वर्तमान हिमालय के विस्तृत मध्य भाग पर दृष्टि डालते हैं तो हमें छोटी सीमाओं में ही एक प्रदेश दिखाई देता है, जहाँ सात बड़ी नदियाँ अधिक-से-अधिक समीप हैं। उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों का उद्‌गम हिमालय के एक थोड़े से भाग में सीमित है। वे सात नदियाँ हैं—सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, गंगा, यमुना, शारदा (पर्वतीय भीतरी भागों में 'काली' नाम से प्रसिद्ध) और ब्रह्मपुत्र। इन नदियों के उद्‌गमस्थानों की अधिक-से-अधिक दूरी वर्तमान काल में लगभग १५० मील के भीतर सीमित है। यदि सिन्धु से लगाकर ब्रह्मपुत्र तक प्रत्येक नदी के उद्‌गमस्थान को छूते हुए एक रेखा खींची जाए तो उसकी आकृति घोड़े के नाल जैसी बन जाएगी। प्राचीनतम काल में वहाँ छोटा-सा समुद्र अथवा पर्याप्त बड़ा सर रहा होगा। भारतीय साहित्य में उसी का नाम बिन्दुसर या ब्रह्मसर मिलता है। वर्तमान में यही प्रदेश मानसरोवर और उसके आसपास का क्षेत्र है। हिमालय के उतने प्रदेश में उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों के उद्‌गमस्थान हैं, जिनका जल पूर्वी और पश्चिमी समुद्र में जाकर गिरता है। अब भले ही वहाँ ऐसी बड़ी झील न हो जिसे हम ऊपर से देख सकें, परन्तु उस प्रदेश की धरती में अनन्त जलराशि के भण्डार हैं, जिससे उक्त नदियों के स्रोत सूख नहीं पाते।

अनन्तर काल में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण उस प्रदेश की परिस्थिति में बड़ा भारी अन्तर आया। सरस्वती के प्रवाह की दिशा बदल गयी और कुछ दूर चलकर वह गंगा में विलीन हो गयी। इस प्रकार कैलास-मानसरोवर के आसपास के क्षेत्र में ही मानवजाति का प्रादुर्भाव हुआ। वही आर्यों का मूल अभिजन था। कालान्तर में वहीं से आर्यजन बढ़ते-बढ़ते हिमलाय की निम्न पर्वतश्रेणियों के पश्चिमी और दक्षिणी मैदान प्रदेश में आ गये। तब उन प्रदेशों के आर्यावर्त्त एवं भारतवर्ष आदि नाम प्रचलित हुए। प्राचीनकाल में ही कभी आर्यावर्त्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।[2]

हिमालय से उतरकर आर्यलोग सीधे वर्तमान में भारत नाम से अभिहित भूखण्ड में आकर बस गये। जिस रास्ते से वे यहाँ आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। अपने इस निवासस्थान का नाम उन्होंने आर्यावर्त्त या ब्रह्मावर्त्त रक्खा। मनुस्मृति २।२ में आर्यावर्त्त की सीमाओं का इस प्रकार निर्देश किया गया है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥

---

१. मनु० में **'ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते'** है। २. मनुस्मृति २।१७-२२, पातंजल व्याकरणमहाभाष्य २।४।१० व ६।३।१०६।

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र ॥१॥ तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी; पूर्व में दृषद्वती, जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको 'ब्रह्मपुत्रा' कहते हैं, और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको 'आर्य्यावर्त्त' इसलिए कहते हैं कि यह आर्य्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से **'आर्य्यावर्त्त'** कहाया है ॥२॥

अर्थात्—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र-पर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में इस श्लोक का निर्देश कर आर्यावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने प्रदेश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश देवों और विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया।" आजकल विन्ध्याचल को उत्तर और दक्षिण भारत को पृथक् करनेवाला पर्वत माना जाता है। वास्तव में यह पूर्वी और पश्चिमी घाट नामक पर्वतमाला का नाम है। तभी ग्रन्थकार ने 'रामेश्वरपर्यन्त' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें वाल्मीकि रामायण की यह साक्षी है—

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः ॥

—कि० का० ६०।७

अर्थात्—प्रसन्न पक्षियों के झुण्डों से भरपूर कन्दराओं से परिपूर्ण दक्षिण समुद्र के तट पर यह निश्चित ही विन्ध्याचल है।

इससे स्पष्ट है कि पुरातन काल में विन्ध्याचल उस पर्वतमाला का नाम था, जिसे आजकल पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट कहते हैं।

वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (अध्याय ४) में लिखा है—

भारतवर्षे मध्यात्प्रागादिविभाजिताः देशाः ।
अथ दक्षिणेन लङ्काकालाजिनसौरिकीर्णतालीकटाः ॥

अर्थात्—भारतवर्ष में मध्य से पूर्वादिदेशों का विभाग है और दक्षिण में लंका, कालाजिन, सौरिकीर्ण तथा कालीकट देश हैं। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में भारतवर्ष के विषय में लिखा है—

सहस्रयोजनो बदरिकासेत्वन्तः । द्वारिकादिपुरुषोत्तमसालग्रामान्तः सप्तशतयोजनः । तत्रापि रैवतकविन्ध्यसह्यकुमारमलयश्रीपर्वतपरियात्राः सप्त कुलाचलाः । गंगा सरस्वती कालिन्दी गोदावरी कावेरी ताम्रपर्णी कृतमालाः कुलनद्यश्च ॥—७९।८२

अर्थात्—बदरिका से लेकर सेतुबन्ध (रामेश्वर) तक हज़ार योजन है। द्वारिका से लेकर पुरुषोत्तम सालग्राम (पुरी) तक सात सौ योजन है। उसमें रैवतक, विन्ध्य, सह्य, कुमार, मलय, श्रीपर्वत तथा पारियात्र ये सात कुलपर्वत हैं, और गंगा, सरस्वती, कालिन्दी, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी तथा कृतमाला कुल सात नदियाँ हैं। इसपर विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त की सीमा कहाँ तक है। इस प्रकार आर्यावर्त्त और भारत अभिन्न हैं, एक हैं।

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था ? और इसमें कौन वसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में वसते थे, क्योंकि आर्यलोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर वसे थे ।

मनुस्मृति (२।१७) में ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा बताते हुए लिखा है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

यहाँ सरस्वती और दृषद्वती नदियों को 'देवनदी' कहा है, जो देवलोक से निःसृत होने का संकेत करता है । वहीं ब्रह्मावर्त्त प्रदेश को 'देवनिर्मित' कहा गया है, जो इस बात का संकेत कर रहा है कि 'देवलोक' (कैलास-मानसरोवर) से फैलते-फैलते जो आर्य (देव) यहाँ बस गये थे, उन्हीं के द्वारा यह प्रदेश बसाया गया है । यह उसके प्रति आदरभाव व प्रतिष्ठा का द्योतक है ।

ब्रह्मावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करने के लिए सरस्वती और दृषद्वती नदियों की स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन आवश्यक है । नन्दूलाल दे ने 'प्राचीन और मध्यकालिक भारत का भौगोलिक कोश' नामक पुस्तक में सरस्वती के विषय में लिखा है—"सरस्वती नदी शिवालक की पहाड़ियों से निकलती और 'आदबद्री' के पास—जिसे हिन्दू पवित्र मानते हैं—समतल भूमि पर प्रवेश करती है । यह नदी छलौर गाँव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य हो गयी है । भवानीपुर के पास फिर दिखाई देती है । इसी प्रकार बालछप्पर के पास फिर अदृश्य होकर बरखेड़ा में फिर दिखने लगती है और पेहोवा के पास उरनई में मारकण्डा नदी के साथ मिल जाती है । आगे भी इसका नाम सरस्वती रहता है, और अन्त में यह घग्घर में मिल जाती है ।"[1]

सरस्वती अपने अविरल प्रवाहकाल में जिस पश्चिमी समुद्र में मिलती थी, उसका उत्तर-पश्चिमी संकीर्ण तट वर्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी सीमा भागों तक रहा, यह भौगोलिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है । उस समय राजस्थान का यह प्रदेश समुद्रजल से आप्लावित था और अरब सागर से मिला हुआ था । इस समुद्र का उत्तर-पश्चिमी तट वर्तमान भूगोल के अनुसार उस स्थान के आसपास था जहाँ बीकानेर, बहावलपुर एवं भटिण्डा आदि की सीमाएँ आपस में मिलती हैं । सरस्वती तटवर्ती निवासियों के लिए यही पश्चिमी समुद्र था, जहाँ सरस्वती समुद्र में मिलती थी । प्राचीन वाङ्मय में इस प्रदेश का 'विनशन' नाम से अनेकत्र उल्लेख हुआ है ।[2] महाभारत के वर्णनों से यह निश्चय होता है कि सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी—

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ।

—महा० वन० ८०।६३

---

1. The river Sarsawati rises in the hills of Sirmoor and emerges into the plains at Ad Badri, deemed sacred by the Hindus. It disappears for a time in the sands near the village Chhalaur and reappears near Bhawanipur. At Umai near Pehove it is joined by the Markanda, and the united river bearing the name of Sarswati ultimately joins the Ghaggar.

२. ताण्ड्य० २५।१०।१।१६; महा० वन० ८२।१११, ८४।११२; मनु० २।२१ ।

समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम् ।
आराध्यत देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि ॥

—महा० शल्य० ३६।३३

जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, उस समय वर्तमान राजस्थान का अधिकांश भाग समुद्रजल से आप्लावित था।[1] ऐसी स्थिति में वर्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भाग के समुद्रतट में कहीं सरस्वती आकर मिलती थी, जिसका उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख हुआ है। महाभारत के वर्णनों से स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध से बहुत पहले सरस्वती विलीन हो चुकी थी। सरस्वती के नष्ट होने का उल्लेख शतपथब्राह्मण (१।४।१।१७) में उपलब्ध है।

सरस्वती के समान दृषद्वती भी आज एक अपरिचित-सी नदी है। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। आजकल भारत की उपलभ्यमान नदियों के नामों में दृषद्वती नाम किसी का नहीं पाया जाता। या तो वह भी सरस्वती की तरह नष्ट हो गयी है, या उसके किसी दूसरे नाम के अधिक प्रसिद्ध है। जाने से उसका नाम विस्मृत हो गया है। अर्थात् उसका अस्तित्व तो है, किन्तु किसी अपर नाम से जाना जाता है।

नन्दूलाल दे ने घग्घर नदी को दृषद्वती बताया है जो शिमले की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला और सरहिन्द होती हुई राजस्थान की मरुभूमि में अन्तर्हित हो जाती है।[2] परन्तु महाभारत के वर्णनों के अनुसार दृषद्वती नदी सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर होनी चहिए। वहाँ सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना स्वर्गसमान बताया है।[3] यह उल्लेख तभी सम्भव है जब सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानी जाए। वर्तमान घग्घर नदी की स्थिति उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्घर को दृषद्वती मानना असंगत होगा। मैकडानल और कीथ द्वारा संगृहीत 'वैदिक इण्डैक्स' में बताया गया है कि दृषद्वती कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर बहकर उसमें

---

१. अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह है कि इस विशाल क्षेत्र में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं जिनका जल समुद्र के समान खारा है। जिनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तैयार होता है। इनमें सबसे बड़ी झील सांभर है, जिसकी अधिक-से-अधिक लम्बाई २० मील और चौड़ाई दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ६० वर्गमील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में प्रतिवर्ष ३५ लाख मन से अधिक नमक तैयार किया जाता है। यह झील कभी के जयपुर और जोधपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त डीडवाना, पंचभद्रा, छापर, लूणकरनसर और काणोद आदि स्थानों में अनेक छोटी-बड़ी झीलें हैं, जिनमें समुद्री जल के भण्डार हैं। इससे प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्री जल से आप्लावित था। कभी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्त्तन से समुद्र उछलकर पीछे हट गया, पर यत्र-तत्र उसका प्रभाव बना रह गया।

२. दृषद्वती—The Ghaggar which flowed through Ambala and Sirhind, now lost in the sands of Rajputana. —Elphinston and Tod quoted in Geographical Dictionary by Nandu Lal De.

३. **दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥** महा० वनपर्व ८१।४, पद्मपुराण आदिखण्ड (२८।८६) में इस प्रकार पाठ है—**दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥** इस पाठ का महाभारत के पाठ से कोई विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि सरस्वती के दोनो तटों का प्रदेश (कुरुक्षेत्र)स्वर्ग के समान है।

मिल जाती है ।[१] परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि सरस्वती नदी के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती बहती थी ।

महाभारत में उपलब्ध संकेतों के अनुसार वर्तमान गंगा का नाम दृषद्वती था । एक नदी के दो नाम होने में कोई असामंजस्य नहीं है । ऋग्वेद में उल्लिखित आर्जीकीया और विपाट् दोनों नाम विद्वानों ने वर्तमान व्यास नदी के माने हैं । कालान्तर में आर्जीकीया नाम तो बिल्कुल ही जाता रहा तथा विपाट् (विपाश) का विकृत नाम व्यास आज भी चल रहा है । इसी प्रकार दृषद्वती नाम तो भुला दिया गया और उसका अपर नाम गंगा प्रसिद्धि प्राप्त करता गया । परन्तु जिस अत्यन्त प्राचीन काल में गंगा का नाम दृषद्वती था, उस समय गंगा का स्रोत, ऐसा नहीं था, जैसा आज है । तब अवश्य यमुना के आगे गंगा (दृषद्वती) सरस्वती की सहायक नदी रही होगी ।

महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १५८) में वर्णन है कि युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर बन्धुबान्धवों तथा इष्ट-मित्रों के नष्ट हो जाने से खिन्न होकर राज्यपालन के स्थान पर संन्यास लेने को तैयार हो गया, पर अपने भाइयों तथा श्रीकृष्ण आदि के समझाने पर अन्ततः हस्तिनापुर जाकर उसने अपना राज्य सँभाल लिया । तब प्रजा की अनुमति से राज्याभिषिक्त हो युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की प्रेरणा से भीष्म के पास राजनीति का उपदेश लेने के लिए अपने भाइयों तथा कृष्ण आदि के साथ जाता है । ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकाल को हस्तिनापुर लौट आते हैं । अगले दिन प्रातःकाल फिर भीष्म के पास उपदेश लेने के लिए जाते हैं । उसी दिन सायंकाल को पुनः वापस आने पर सब व्यक्तियों के दृषद्वती में स्नान करने और वहीं पर सन्ध्योपासन आदि के अनन्तर हस्तिनापुर लौट आने का उल्लेख है—

श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः ।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्य मङ्गलाः ।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥

—महा० शान्ति० ५८।२८-३०

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि इस वर्णन के अनुसार भीष्म के समीप से जल देने के अनन्तर हस्तिनापुर के समीप वे सब लोग आकर दृषद्वती में स्नानादि करते हैं । यात्रा की थकावट को दूर करने के लिए निवास पर या निवास के समीप आकर स्नान करना उचित प्रतीत होता है । इससे यह धारणा दृढ़ होती है कि हस्तिनापुर के निकटतम कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए । वर्तमान मेरठ जिले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि हस्तिनापुर इसी नदी के दाहिने तट पर बसा है ।

महाभारतकाल में, वर्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर (कस्बा) और उसके आसपास का प्रदेश ही कुरुक्षेत्र न था, प्रत्युत यह एक पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र का नाम रहा होगा । युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातःकाल भीष्म

१. दृषद्वती—Stony is the name of a river which flows into the Sarsvati after running for a time parallel to it.

के पास उपदेश के लिए जाना और सायंकाल तक हस्तिनापुर लौट आना इस बात को प्रकट करता है कि भीष्म के शरविद्ध हो जाने के अनन्तर चिकित्सा के लिए तत्कालीन कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत हस्तिनापुर से बहुत दूर नहीं रक्खा गया होगा। वर्तमान कुरुक्षेत्र नगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग सौ मील है। निश्चित रथमार्गों से आने-जाने पर और अधिक पड़ेगा। प्रतिदिन इतनी दूर रथों या घोड़ों पर आने-जाने पर शिक्षाग्रहण करने में पर्याप्त समय लगता होगा। भीष्म की मृत्यु हो जाने पर उनके निवास के समीप ही चिता बनाए जाने का उल्लेख महाभारत में है। वहीं पर भीष्म पितामह का दाहसंस्कार किया गया। दाह के अनन्तरसमीप ही गंगा में जाकर स्नान आदि करने का उल्लेख किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि जहाँ शरशय्या पर भीष्म लेटे थे, वह स्थान गंगा से बहुत दूर नहीं था। महाभारत के इस प्रसंग में दृषद्वती नाम का उल्लेख नहीं है, गंगा व भागीरथी आदि पदों का प्रयोग है।

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र (वन० ८१।६५-६६) दृषद्वती और कौशिकी नामक नदियों के संगम का उल्लेख मिलता है—

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

उक्त श्लोक में कौशिकी और दृषद्वती नदियों के संगम-स्थल में स्नान करने के माहात्म्य का उल्लेख है। कौशिकी बिहार की कोसी नदी है, जो नेपाल के पर्वतीय प्रदेश से चलकर उत्तर से सीधी दक्षिण को बहती हुई हज़ारीबाग के पास गंगा में मिलती है। यहाँ दृषद्वती नाम से गंगा का ही उल्लेख किया गया है। ऋषिकेश और हरद्वार के बीच गंगा से प्रतिवर्ष लाखों टन पत्थर निकालकर ढोया जाता है, और यह काम हज़ार-लाखों साल से चला आता है। दृषद्वती (Stony) नाम का यही कारण है। सरस्वती और दृषद्वती का उद्गम स्थान 'देवलोक' होने के कारण इनको 'देवनदी' कहा गया है। हिमालय के सर्वोच्च शिखर को अपने भीतर समेटता हुआ ऊपर उत्तर की ओर का कैलास-मानसरोवर का विस्तृत भूभाग पुराणों में देवलोक नाम से अभिहित किया गया है।

जब से यह मान्यता जोर पकड़ने लगी है कि भारतीय आर्यों के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ से, उनकी किसी कथा-कहानी से या उनकी किसी भी बात से यह नहीं पाया जाता कि वे किसी गैर देश से आये, तब से आर्यों के मूल देश के कश्मीर तथा हिमालय के आसपास होने की मान्यता बल पकड़ रही है।

महाभारत में लिखा है —

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः ॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम ॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

अर्थात्—संसार में पवित्र हिमालय है। इसमें आधा योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरेवाला 'मेरु' है, जहाँ मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश में आदि सृष्टि होने का वर्णन है। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय में मिले हैं, जिनसे अमैथुनी सृष्टि के हिमालय में होने का निश्चय होता है। जिस मेरु स्थान का महाभारत के उक्त श्लोकों में निर्देश किया गया है, उसी के पास **'देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्ध-सेवितम्'** अर्थात् देविका के निवास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है जो तिब्बत के अन्तर्गत है। स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश में लिखा था—"मनुष्यों की

१. अनुशासनपर्व, अध्याय १६६।६७

आदिसृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्यलोग सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश (भारत) में आकर बसे। इसके पूर्व इस देश का कोई भी नाम नहीं था, और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे।"

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे स्वामी दयानन्द के कथन की पूरी तरह पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर मैक्समूलर ने लिखा है—"यह निश्चित हो चुका है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बातें हैं, सबकी सब हमें पूर्व से ही मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब हम पूर्व की ओर जाएँ तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।"[1]

फ्रांस के महान् सन्त एवं विचारक क्रूजे (Cruiser) ने बलपूर्वक लिखा है—"यदि कोई देश वास्तव में मनुष्यजाति का पालक होने अथवा उस आदि सभ्यता का, जिसने विकसित होकर संसार के कोने-कोने में ज्ञान का प्रसार किया, स्रोत होने का दावा कर सकता है, तो निश्चय ही वह देश भारत है।"[2] क्रूजे की इस भारत-स्तुति का कारण स्पष्ट करते हुए विलियम दुराँ (William Durant) ने कहा है—"भारत मनुष्य-जाति की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपियन भाषाओं की जननी है, वह हमारे दर्शन की जननी है, अरबों के माध्यम से हमारे गणित की जननी, बुद्ध के माध्यम से ईसाइयत में निहित आदर्शों की जननी, ग्राम-पंचायत के माध्यम से स्वायत्त शासन और लोकतन्त्र की जननी। वास्तव में भारतमाता अनेक रूपों में हम सबकी जननी है।"[3] इस प्रकार जिस भारत को विश्वभर का आदिदेश होने का गौरव प्राप्त है, उसका आर्यों का आदिदेश होना तो स्वतः सिद्ध है।

देश का प्राचीनतम नाम—एक देश को छोड़कर दूसरे देश में बसनेवाली जातियों को शताब्दियों तक अपनी मूल की स्मृति बनी रहती है। भारत में बसे हुए पारसियों को लगभग एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी अपने मूल स्थान की स्मृति बनी हुई है। प्राचीन मिस्र देशवासियों तथा फिनिशियनों को अपने-अपने मूल के देशों का स्मरण है, भले ही वे उनकी ठीक-ठीक स्मृति न बता सकें, परन्तु वैदिक आर्यों को भारत के बाहर अपने मूल-निवास की कोई स्मृति नहीं है। वे सदा से इसी देश को अपना देश मानते आये हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अपने-आपको यहाँ के मूल-निवासी कहनेवाले द्रविड़ों आदि की भाषा में अन्य सब-कुछ होते हुए भी इस देश का नाम आर्यावर्त्त ही है। आर्यों (हिन्दुओं) के किसी भी मांगलिक कार्य के आरम्भ में परम्परागत स्तोत्र (संकल्प) का उच्चारण **(आर्यावर्त्ते भरतखण्डे)** इत्यादि शब्दों से होता है। आर्यावर्त्त से पुराना नाम इस देश का कहीं नहीं मिलता।

---

1. We all come from the East—all that we value most has come to us from the East, and 'old home' full of memories, if only we can read them.—India : What Can it Teach us ? p. 29

2. If there is a country which can rightly claim the honour of being the cradle of human race or at least the scene of primitive civilisation, the sucessive developments of which carried into all parts of the ancient world, and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man, that country assuredly is India.

3. India was the Motherland of our race and Sanskrit the Mother of Europeon languages; she was the Mother of our philosophy; Mother, through the Arabs, of much of our mathematics; Mother, through the Budha, of the ideals embodied in Christianity; Mother, through the village community, of self-government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all.

वैदिक साहित्य प्राचीनतम साहित्य है। यदि आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बसे तो क्या कारण है कि जहाँ कहीं से भी वे आये, उस देश में उनका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। वहाँ उसके कुछ अंश तो मिलने चाहिए थे। यह कहना कि आर्यों के मस्तिष्क का विकास यहाँ आकर हुआ, युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारतस्थित आर्यों में से ही कुछ लोग बाहर गये। वे ऐसे साधारण लोग थे जिनका सांस्कृतिक विकास साधारण स्तर का था, अतः वहाँ जाकर बसे लोगों को वे उच्च स्तर का साहित्य व संस्कृति नहीं दे सके।

संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं का स्रोत है। दक्षिण भारत (जहाँ के लोगों को आर्यों के आने से पहले यहाँ का मूल निवासी बताया जाता है) की भाषाओं में ६५ से ९० प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। यदि संस्कृत बाहर से आकर यहाँ बसनेवाले लोगों की भाषा है तो उनके आने से बहुत पहले से ही बसे हुए यहाँ के मूल निवासियों की भाषा में ६५ से ९० प्रतिशत संस्कृत शब्द कहाँ से आ गये?

हमारे पास इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि आर्यलोग इस देश के मूल निवासी हैं और उनसे पहले यहाँ और कोई जाति नहीं रहती थी। जहाँ कहीं भी मनुष्यों का वास होता है, उस भूखण्ड को किसी-न-किसी नाम से अवश्य जाना जाता है। आर्यों के आने (?) से पूर्व यदि यहाँ द्रविड़ों का वास रहा होता तो उनकी भाषा और साहित्य में इस देश का कोई-न-कोई नाम अवश्य उपलब्ध होता। इस प्रकार कोई संकेत न पाये जाने से सुस्पष्ट है कि आर्यों के इस देश पर आक्रमण की बात सर्वथा कपोलकल्पित है। इस देश का सबसे प्राचीन नाम आर्यावर्त्त है, क्योंकि आदिकाल से यहाँ के निवासी आर्य थे।

पाश्चात्यों के अनुसार ऋग्वेद ईश्वरप्रदत्त ज्ञान न होकर भारत में आकर बस गये आर्यों की रचना है। संसार में कौन ऐसी जाति है जिसने अपने साहित्य में अपनी विजय की गौरव-गाथा न लिखी हो। रामायण में राम की लंका पर विजय का और महाभारत में पाण्डवों की कौरवों पर विजय का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। फिर, क्या कारण है कि आर्यों ने द्रविड़ों पर अपनी विजय का उल्लेख ऋग्वेद जैसे महान् ग्रन्थ में नहीं किया? इससे भी स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आये और न यहाँ के तथाकथित मूल निवासी द्रविड़ों से उनका कोई संघर्ष हुआ। यह 'फूट डालो और राज्य करो' (Divide and Rule) की नीति को अपनानेवाले विदेशी शासकों की कूटनीतिक चाल थी।

यूरोप की किसी भाषा में आर्य शब्द का कोई विकृत रूप देखने में नहीं आता। यदि वहाँ कहीं आर्यों का मूल स्थान रहा होता तो उनकी भाषा में 'आर्य' से मिलता-जुलता कोई शब्द अवश्य मिलता।

ग्रन्थकार के स्वर-में-स्वर मिलाकर निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वान् म्यूर ने कहा है—

"I must, however, begin with the candid admission that, so far as I know, none of the Sanskrit books,not even the most ancient, contains any distinct reference or allusion to the foreign origin of Aryans. There is no evidence or indication in the Rigveda of the words Dasa, Dasyan, Asura etc. having been used for non-Aryans or original inhabitants of India."

—Muir : Original Sanskrit Texts, Val. II

अर्थात् यह निश्चित है कि किसी भी संस्कृतग्रन्थ में, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो, आर्यों के विदेशमूलक होने का उल्लेख नहीं मिलता है। ऋग्वेद में जिन दास, दस्यु एवं असुर जैसे नामों का उल्लेख है, वे अनार्यमूलक अर्थात् आदिम जातियों के लिए प्रयुक्त किये गये हों—इस प्रकार का कोई प्रमाण या संकेत उपलब्ध नहीं है।

विश्व विख्यात इतिहासविद् एलफशटन ने भी ग्रन्थकार के मन्तव्य की इन शब्दों में पुष्टि की है—

"Neither in the code of Manu, nor in the Vedas, nor in any book which is older then the code of Manu, is there any allusion to the Aryan's prior residence in any country outside India."

—Elphinston : History of India, Vol. I

अर्थात्—न मनुस्मृति में, न वेदों में और न मनुस्मृति से पूर्वकालीन किसी अन्य ग्रन्थ में (भारत में आने से पूर्व) आर्यों के भारत से बाहर अन्य किसी देश में रहने का उल्लेख है ।

T. Burrow जैसे विश्व विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता ने लिखा है—

"The Aryan invasion of India is recorded in no written document and it cannot be traced archaeologically."—Quoted from 'The Early Aryans', published by Clarandon Press, Oxford 1975.

अर्थात्—आर्यों के भारत पर आक्रमण का न कोई प्रमाण है और न इसे पुरातत्त्व की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है ।

इस प्रसंग में प्रायः सिन्धुघाटी की हड़प्पा संस्कृति का राग अलापा जाता है । हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में इस निमित्त किये गये उत्खनन (Excavations) में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह दावा किया जाता रहा है कि यह इस देश की प्राचीनतम संस्कृति है । इसके पतन के बाद ही यहाँ आर्यों का आगमन हुआ था । इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त एक सील मुद्रा की फोटोस्टेट प्रतिकृति दे रहे हैं, जो स्वयं अपनी कहानी कहती प्रतीत होती है—

Photostat or plate no. CXII, Seal no. 387 from the excavations at Mohenjo-daro (From Mohenjo-daro and the Indus Civilization, edited by Sir John Marshall, Cambridge, 1931)

यहाँ एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे दिखाई दे रहे हैं जिनमें से एक फल खा रहा है, जबकि दूसरा केवल देख रहा है ।

ऋग्वेद का एक मन्त्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥—ऋ० १।१६४।२०

इस मन्त्र का भाव यह है कि एक (संसाररूपी) वृक्ष पर दो (लगभग एक जैसे) पक्षी बैठे हैं। उनमें एक उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरा बिना उसको भोगे उसका निरीक्षणमात्र कर रहा है।

स्पष्ट है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त चित्र में जो कुछ दिखाया गया है, उसका आधार ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र है। यह निर्विवाद है कि संसार में ऋग्वेद से पुरानी कोई पुस्तक नहीं है। कलाकार द्वारा बनाये गये चित्र से पहले ऋग्वेद का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में इस चित्र के पाये जाने से वेदों का (कम-से-कम ऋग्वेद का) तथाकथित हड़प्पा संस्कृति से पूर्ववर्ती होना सिद्ध है। वेद आर्यों के ग्रन्थ हैं, इसलिए सबसे पूर्व आर्यों का होना प्रमाणित है।

इसी प्रसंग में (Indian Express, New Delhi, 3-8-85) में प्रकाशित यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"Dr. Vishnu Shridhar Vakankar, former Head of the Archaeology Department of Vikram (Ujjain) University, claimed here on Thursday that he had successfuly made a break through in solving the mystery of the writing of the seals found in the Indus Valley Civilization of Harappa and Mohanjodaro. He claimed that the Indus Valley civilization was original to India and its roots are found in the Aryan Civilization.

He challanged foreign claims that the Indian Valley Civilization was non-Aryan by stating that recent results were based on computers."

डॉ० वाकणकर ने अपने दूसरे वक्तव्य में, जो 'Times of India (Ahmedabad, 22-12-85) में प्रकाशित हुआ, कहा—"His survey (conducted by 30 experts drawn from different disciplines like archaeology, geology, history, folklore etc.) when completed might even drastically change the popular conception among historions that Aryans invaded India from Central Asia, etc."

अर्थात्—विक्रम (उज्जैन) विश्वविद्यालय में पुरातत्त्वविभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० विष्णुश्रीधर वाकणकर ने ३० विशेषज्ञों के सहयोग से सिन्धु घाटी की सभ्यता से सम्बन्धित सामग्री का २० वर्ष तक अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि हड़प्पा की सभ्यता का मूल आर्यसभ्यता में था, अर्थात् हड़प्पा सभ्यता से आर्यसभ्यता पुरानी थी। उनके मत में हड़प्पा आर्यसभ्यता का ही अंग थी। यह निष्कर्ष उन्होंने कम्प्यूटर की सहायता से निकाला था। डॉ० वाकणकर का यह भी कहना है कि जब उनकी खोज का काम पूरा हो जाएगा तो वह आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने की मान्यता को मिथ्या सिद्ध कर देंगे।

कुछ वर्ष हुए यूनेस्को के तत्त्वावधान में होनेवाली एक अन्तर्राष्ट्रिय गोष्ठी में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करनेवाले सात सदस्यीय दल ने एकमत से आर्यों के ईरान से आकर भारत में बसने विषयक मान्यता का प्रतिवाद किया था। इस सन्दर्भ में Hindustan Times के ३१ अक्तूबर १९७७ के अंक में प्रकाशित यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"There is no conclusive evidence of Aryan immigration into India from outside, according to Indian historians, linguists and archaeologists who participated in the international seminar in Dushambe, the capital of Soviet Republic of Tajikistan. Dr. N.R. Banerjee, Director of National museum and a member of the Indian delegation, said that Indian scholors made out this point at the seminar and the papers presented by them were very much appreciated. The seminar was held under the **aegies** of UNESCO to discuss the problem of ethnic movement during the second millenium B.C. Ninety delegates from the Sovet union, West Germany, Iran,

[आर्य-दस्यु-युद्ध]

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है। इसके पूर्व यहाँ जंगली लोग वसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्यलोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है, क्योंकि—

वि जा॑नीह्यार्या॑न् ये च॒ दस्य॑वो ब॒र्हिष्म॑ते रन्धया॒ शास॑दव्र॒तान् ॥

—ऋ० मं० १। सू० ५१। मं० ८

उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्ववेद यह का प्रमाण है।

यह लिख चुके हैं कि **'आर्य'** नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषों का, और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम 'आर्य' और शूद्र का नाम **'अनार्य्य'** अर्थात् अनाड़ी है॥

Pakistan and India attended. The Seven member delegation was led by Prof. B.B. Lal, Director of Advanced studies. It was pointed out by Indian scholars that the archaeological material associated with Aryans in different regions and periods in India did not show any links with archaeological survival of Aryans in Afghanistan, Iran and Central Asia."

तात्पर्य यह है कि पुरातत्व के आधार पर इस बात की कोई साक्षी नहीं मिली, जिससे आर्यों का कहीं बाहर—ईरान, अफ़गानिस्तान, या मध्य एशिया से आकर भारत पर बलात् अधिकार कर यहाँ बस जाना सिद्ध हो।

विजानीह्यार्यान्—(बर्हिष्मते) उत्तम सुखादि गुणों के उत्पन्न करनेवाले व्यवहार की सिद्धि के लिए (आर्यान्) सर्वोपकारक धार्मिक विद्वान् मनुष्यों को (विजानीहि) जानो और (ये) जो (दस्यवः) परपीड़ा करनेवाले अधर्मी दुष्ट मनुष्य हैं, उनको (रन्धय) मारो।

इस प्रकार इस मन्त्र में आर्य पद दस्यु के विलोम अर्थ में आया है और दस्युओं के लिए विशेषणरूप में 'अव्रत' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः वेदों में जहाँ कहीं भी आर्य शब्द आया है, सर्वत्र शुभ गुणों से युक्त मनुष्य का वाचक है।

'उत शूद्रे उतार्ये' अथर्ववेद का यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ —अथर्व० १९।६२।१

इस मन्त्र के साथ निम्न दो मन्त्रों पर भी विचार करना उपयोगी होगा—

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ —अथर्व० १९।३२।८

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ —यजुः० २६।२

इन तीनों मन्त्रों में समाज के चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्णन किया गया है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है। तब निश्चय ही परिशेषन्याय से 'अर्य' पद परवर्ती वैश्य के स्थान पर आया है। 'उत+अर्ये', 'च+अर्याय' तथा 'अर्य' शब्द प्राप्त होता है। पाणिनि ने

जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित कथन **को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं** मान **सकते** । और 'देवासुरसंग्राम' में आर्यावर्त्तीय अर्जुन[1] तथा महाराजा **दशरथ[2] आदि, हिमालय पहाड़** में आर्य **और** दस्यु, म्लेच्छ असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें देव अर्थात् **आर्यों की रक्षा और असुरों के** पराजय **करने** को सहायक हुए थे ।

इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त के बाहर चारों ओर **जो हिमालय के** पूर्व-आग्नेय, दक्षिण-नैर्ऋत्य, पश्चिम-वायव्य, उत्तर-ईशान देश में मनुष्य रहते हैं, **उन्हीं का नाम 'असुर'** सिद्ध होता है, क्योंकि जब-जब हिमालय प्रदेशस्थ आर्यों पर लड़ने को चढ़ाई **करते थे, तब-तब यहाँ के** राजा-महाराजा लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्यों के सहायक होते थे **और जो श्री रामचन्द्रजी से दक्षिण** में **युद्ध** हुआ है, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' नहीं है, किन्तु उसको **राम-रावण अथवा आर्य और राक्षसों का संग्राम** कहते हैं ।

किसी संस्कृतग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्यलोग ईरान से आये, **और यहाँ के जंगलियों को लड़कर**, जय पाके, निकालके इस देश के राजा हुए । पुनः विदेशियों **का लेख माननीय कैसे हो सकता** है ? और—

आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः[3] ॥१॥ —मनु० १०।४५
म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२॥ —मनु० २।२३

जो आर्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं, वे **'दस्युदेश'** और **म्लेच्छदेश'** कहाते **हैं** । **इससे भी यह सिद्ध होता है** कि आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईरान, उत्तर, वायव्य और **पश्चिम देशों में रहनेवालों का** नाम **'दस्यु'** और **'म्लेच्छ'** तथा **'असुर'** है ।[4] और नैर्ऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय **दिशाओं में आर्यावर्त्त देश** से **भिन्न** देशों में रहनेवाले मनुष्यों का नाम **'राक्षस'** है । अब भी देख लो, **हबशी लोगों का स्वरूप** भयंकर **जैसा** राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है ।

अष्टाध्यायी (३।१।१०३) में कहा है—**'अर्यः स्वामिवैश्ययोः'** । अन्यथा **अर्थ करने पर प्रथम तो चार वर्णों में से शूद्र** वर्ण का लोप हो जाएगा, दूसरे 'आर्य' और 'शूद्र' को दो विभिन्न **जातियों के रूप में ग्रहण किया** जाएगा। यदि आर्य एक जाति मानी जाएगी तो ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) **और शूद्र को आर्यों से अतिरिक्त भिन्न** जाति मानना होगा ।

आर्यवाचः—यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥. —मनु० १०।४५

---

१. अर्जुन ने इन्द्र की आज्ञा से उसके शत्रु निवातकवच नामक दानवों से युद्ध किया था । द्र०—**महा० वनपर्व** अ० १६८।७१ **से अध्याय** १७५ तक ।

२. द्र० वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग ११, श्लोक १८॥

३. **मनु०** १०।४५॥ वहाँ **'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः'** पाठ है ।

४. ये म्लेच्छ देश ही उत्तरकालीन इतिहास में दैत्य और दानवदेश कहाये । **इनपर दिति और दनु माताओं के सन्तानों** का राज्य रहा । इन्हें ही 'असुर-देश' कहते हैं । भ०द०

५. **असीरिया'** इन्हीं असुरों का देश था ।

और आर्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहनेवालों का नाम **'नाग'** और उस देश का नाम **'पाताल'** इसलिए कहते हैं कि वह देश आर्यावर्त्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग के तले है। और उनके नागवंशी अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव तक[1] सर्वभूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार

अर्थ—(लोके) लोक में (मुख-बाहु-ऊरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) श्रेष्ठकर्म न करने के कारण बहिष्कृत जो जातियाँ हैं (म्लेच्छवाचः च आर्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छ भाषाएँ बोलती हों या आर्यभाषाएँ (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं।

मद्रास यूनिवर्सिटी के श्री वी.आर. रामचन्द्र दीक्षितार ने २९-३० नवम्बर १९४० को मद्रास यूनिवर्सिटी में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे, जो ऐडियार लायब्रेरी से १९४७ में 'Origin and Spread of the Tamils' नामक पुस्तकरूप में प्रकाशित हुए। श्री दीक्षितार ने लिखा है—

"The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus-Dravadians inhabited the Panjab and the Ganges Valley at the time of the so called Aryan invasion of India and, overcome by the latter, they fled to South India and adopted it as their home cannot stand."

—Origin and spread of Tamils by V. R. Ramchandra Dikshitar, P. 14.

सत्य तो यह है कि (जातीय भेद की दृष्टि से) दस्यु आर्येतर नहीं थे। यह मत कि दस्यु और द्रविड़ लोग पंजाब और गंगा की घाटी में रहते थे और जब आर्यों ने आक्रमण किया तो आर्यों से पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये और उसी को अपना घर बना लिया—युक्तियुक्त नहीं है।

म्यूर महोदय ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"I have gone over the names of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with a view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin, but I have not observed what appeared to be of this character".

—Origenal Sanskrit Texts, Vol.II, P-387

अर्थात् मैंने ऋग्वेद में आये दस्यु और असुर नामों पर इस दृष्टि से विचार किया कि उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों से उत्पन्न समझा जा सकता है? किन्तु मुझे इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।

सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् प्रिंसपल पी.टी. श्री निवास अय्यङ्गर ने अपनी पुस्तक 'Dravadian Studies' में लिखा है—

"The Aryas and Dasyus are referred to not as indicating different races. These word refer to cult and not to race. The Dasyas are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without rites etc. Thus the difference between the Aryas and Dasyas is not of race, but of cult."

अर्थात आर्य और दस्युओं के भेद को जातिय न मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानना ठीक है।

उनके इस वक्तव्य का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रतीत होता है—

---

१ भारत के प्राचीन इतिहास पर ग्रन्थकार ने पूना में ६ व्याख्यान दिये थे। द्र० पूना-प्रवचन, प्रवचनसंख्या ८-१३।

आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहा। तथा इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश, इनके स्वायंभुवादि सात राजा, और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा, जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए, जिन्होंने यह आर्यावर्त्त बसाया है।[1]

[भारत में विदेशी शासन का कारण]

अब अभाग्योदय से, और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहानी, किन्तु आर्यावर्त्त में आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुवम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥ —ऋ०८।७०।११

यहाँ दस्यु के विशेषण (अन्यव्रतम्) सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि से विरुद्ध संकल्पवाला (अमानुषम्) मानवीय व्यवहार न करनेवाला (अदेवयुवम्) दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों की कामना न करनेवाला इत्यादि कहे हैं। इनसे किसी जाति या वर्ग विशेष के प्रति घृणा या विद्वेष की प्रतीति नहीं होती।

विराट्—'स विराजमसृजत्प्रभुः' (मनु० १।३२), अर्थात् ब्रह्मा ने विराट को उत्पन्न किया। मनुजी पुनः कहते हैं—

तपस्तप्त्वासृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां विज्ञाय सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ —मनु०१।३३

अर्थात्—तप तपकर विराट् पुरुष ने जिसको बनाया है, हे ब्राह्मणो! वह मुझे जानो। मैं इस समस्त संसार का रचयिता हूँ।

मनु के दस पुत्र या प्रजापतियों की उत्पत्ति—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ —मनु० १।३५

अर्थात्—मरीचि, अत्रि, अंगिर, पुलस्त्य, पुलह क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु तथा नारद।

स्वारोचिश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ —मनु० १।६२

अर्थात्—स्वारोचिः, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, महातेजस्वी वैवस्वत—

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽऽपुश्चराचरम् ॥ —मनु० १।६३

तथा स्वायंभुव इन सात महातेजस्वी मनुष्यों ने अपने-अपने सृष्टिकाल में इस समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करके उसका पालन किया।

'अन्य देशों में.....पादाक्रान्त हो रहा है "—गुप्त वंश के शासनकाल में वर्त्तमान इंडोनेशिया तक आर्यों का राज्य था। लंका, ब्रह्मदेश (बर्मा); स्याम (थाईलैण्ड) ईरान, ईराक़, अफ़ग़ानिस्तान आदि तक भारत के अधीन थे। ग्रन्थकार उन दिनों की याद करके दुःखी मन से कह रहे हैं—'जो कुछ है वह भी विदेशियों

१ द्र०—पूना-प्रवचन, प्रवचन ८।

[स्वराज्य की महत्ता]

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है, परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिए जो कुछ वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था या इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।'

द्वारा पादाक्रान्त हो रहा है'। यहाँ 'जो कुछ है' से देसी रियासतें, अभिप्रेत हैं। यद्यपि इन रियासतों पर भी ए०जी०जी० (Agent to the Governor General) के द्वारा ब्रिटिश सरकार का, अंकुश था, तथापि कुछ अंशों में वे स्वतन्त्र ही थे। इसमें सन्देह नहीं कि देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग इन रियासतों में रहता था। इसलिए रियासतों में सुधार होने पर देश का सुधार करने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती थी। उदयपुर में रहते श्री मोहनलाल विष्णुलालपाण्ड्या से उन्होंने कहा था—"मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन कर लें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा कर लें। फिर भारतभर में, आप सुधार हो जाएगा

ग्रन्थकार की दृष्टि में भारत में **विदेशी राज्य का सबसे बड़ा कारण** 'परस्पर का विरोध' था। दशम समुल्लास में लिखा है—"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद आदि हैं .... जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी (बिल्लियों के झगड़े में बन्दर की भांति—भा०) तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" आपस की फूट से ग्रन्थकार का हृदय अत्यन्त दुखी था। रह-रहकर कई स्थलों में उन्होंने उसका उल्लेख किया है—"आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, परन्तु अब तक भी यही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाके दुःख-सागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के मार्ग में आर्यलोग, अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।" कितना मार्मिक चित्रण है आपस की फूट का और उसके कारण से हमारी एक हज़ार वर्ष की दासता का।

स्वराज्य का महत्त्व—भारत में अंग्रेज़ व्यापारी बन कर आये। व्यापार के लिए उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। धीरे-धीरे यही कम्पनी भारत में अंग्रेज़ी राज्य का आधार बन गई। उसकी अपनी सेना थी। इस सेना और भारतीय रियासतों के परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप किसी भी एक पक्ष के सैनिक-बल की सहायता से वह देश पर अधिकार करती गई। १८४६ में पंजाब की विजय के साथ उसका यह अभियान पूरा हो गया और समूचे देश में यूनियन जैक फहराने लगा, परन्तु विज्ञान का नियम है— 'To every action there is an equal and opposite reaction' अर्थात् प्रत्येक क्रिया की उतनी ही ज़ोरदार और विरोधी प्रतिक्रिया होती है। भारतीयों के भीतर विद्रोह की आग सुलगने लगी, और १० मई १८५७ को ज्वाला बनकर भड़क उठी और देश के कोने-कोने में फैल गई। परन्तु कुछ ही दिनों में यह आग ठण्डी पड़ गई और भारतीय खून का घूंट पीकर रह गये। इस क्रिया की प्रतिक्रिया भी अवश्यभावी थी। ब्रिटिश सरकार ने कूटनीति का सहारा लिया। महारानी विकटोरिया ने एक घोषणापत्र (Proclamation) जारी किया।

उसकी भाषा बड़ी लुभावनी थी। पर एक व्यक्ति इस कूटनातिक चाल को भाँप गया। उसने घोषणा की कि 'मतमतान्तर.... विदेशियों का राज्य सुखदायक नहीं होता।'

सुराज्य भी स्वराज्य का विकल्प नहीं होता—'Good government is no substitute for self-government.' इसके उद्घोषक ग्रन्थकार दयानन्द ने अपनी प्रार्थना पुस्तक (Prayer book) 'आर्याभिविनय' के माध्यम से अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे प्रतिदिन प्रार्थना किया करें कि "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम पराधीन कभी न रहें।" भारत के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि यह पूरी तरह वही घोषणा थी जिसके द्वारा ८ अगस्त १९२६ को महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' और ३१ दिसम्बर १९२६ को लाहौर में उसके लिए संघर्ष करने की घोषणा की थी। इससे पूर्व १९१६ में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे' इस उद्घोष के साथ भारतीय जनता का युद्ध के लिए आह्वान किया था। इससे पूर्व १९०६ में दादाभाई नौरोजी उच्चारण किया था। किन्तु स्वामी दयानन्द ने १८७५ में जब स्वराज्य का विचार भी किसी के मस्तिष्क में भी नहीं उपजा या पूर्ण स्वराज्य ही नहीं. चक्रवर्ती साम्राज्य की घोषणा की थी। आज जबकि अँग्रेज़ भारत छोड़ कर जा चुके हैं और हम स्वाधीनता का रसास्वादन कर रहे हैं तो कितने लोग हैं जो यह जानते हैं कि एक बार एक अंग्रेज़ कलक्टर ने स्वामीजी (ग्रन्थकार का भाषण सुनने के बाद कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जाएँ तो इसका परिणाम यह होगा कि हमें अपना बधना बोरिया बाँधना पड़ेगा।"

ग्रन्थकार के वचनों तथा भावनाओं का गम्भीर अध्ययन करनेवाले १९११ की जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर ब्लण्ट ने लिखा था—

"Dayanand was not merely a religions reformer, he was also a great patriot. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform."

—Consus Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chap. IV, P. 135

अर्थात् दयानन्द केवल सुधारक नहीं थे, वे एक महान् देशभक्त भी थे। यह कहना ठीक ही होगा कि उन्होंने धार्मिक सुधार को राष्ट्रिय सुधार के साधनरूप में ही अपनाया था।

ग्रन्थकार की स्वराज्यसम्बन्धी भावना का आधार वेद थे। अथर्ववेद १०।७।३१ के अनुसार स्वराज्य के सम्बन्ध में कहा है—**'यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्'**—जिससे बढ़कर संसार में कुछ नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८०वें सूक्त में १६ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में कहा है— **'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'**—हम स्वराज्य की अर्चना करें। ऋग्वेद (५।६६।६) में कहा है—'हम अनेक लोगों की सहायता से चलनेवाले (लोकतन्त्रात्मक) स्वराज्य के लिए यत्न करें'।

एकता के साधन—राष्ट्र की एकता के लिए यहाँ मुख्यतः तीन बातों पर बल दिया है—परस्पर विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक भाषा, वैचारिक एकता के लिए एक-सी शिक्षापद्धति, तथा समान आचारसंहिता। **विरोध** तो मानसिक रोग है। मानसिक रोग को शान्त करने में बाह्य उपचारों से सहायता भले ही मिल जाए किन्तु वे रोग को नष्ट नहीं कर सकते। उनसे पथ्य का काम लिया जा सकता है, ओषधि का नहीं। ग्रन्थकार ने आगे दशम समुल्लास में लिखा है—"खाना-पीना एक होने से सुधार नहीं हो सकता, जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते, अच्छी बातें नहीं करते, तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।" प्रतिदिन होनेवाली घटनाएँ ग्रन्थकार के इस कथन को पुष्ट करती हैं। बिरादरी के आधार पर रोटी-बेटी एक रखनेवालों में सिर फुटौवल होता है। एक ही थाली में भोजन करनेवाले सहोदरों में झगड़े होते हैं। यूरोप आदि में रोटी-बेटी के विषय में कोई भेद-भाव नहीं है। तिस पर भी वहाँ परस्पर झगड़ों

[सृष्टि-उत्पत्ति का काल]

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?[1]

उत्तर—एक अरब छानवे क्रोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका* में लिखा है, देख लीजिए। इत्यादि प्रकार सृष्टि के बनाने और बनने में हैं।

का अभाव नहीं है। ग्रन्थकार लिखते हैं—"जब तक एक मन, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।———जब सर्वभूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब बहुत-से मत वाले होने से बहु-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब बुद्धिमान् लोग विचारकर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें।"

एक दिन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने ग्रन्थकार से पूछा कि "भगवन् ! भारत का पूर्ण हित कब होगा ? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी ?" ग्रन्थकार ने उत्तर दिया—"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाए, वहाँ, सागर में नदियों की भाँति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लगते हैं।"

एकता का व्यापारस्थल मन है, इसलिए वेद के एकता (संगठन) सूक्त में **'समानं मनः', 'समानो मन्त्रः', 'समानमस्तु वो मनः', 'सं वो मनांसि जानताम्', 'समाना हृदयानि वः', 'समानी व आकूतिः'** इत्यादि पर इतना बल दिया है।

थियोसोफिस्ट नेता मैडम ब्लेवत्सकी के ८ अक्तूबर १८८० के पत्र के उत्तर में ग्रन्थकार ने अपने २३ नवम्बर १८८० के पत्र में लिखा था—"अन्य देशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसाकि स्वदेशियों के समाज में होता है—यह बात मैंने उस समय भी कही थी, अब भी कहता हूँ और आगे भी कहूँगा, परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि **'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे'** अर्थात् जिसका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी परस्पर जितनी प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिए, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपियन महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।"

सृष्टि तथा वेदोत्पत्ति का काल—ग्रन्थकार ने लिखा है—"इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय) में लिखा है, देख लीजिए।" सो हम यहाँ ऋ.भा.भू. से एतद्विषयक लेख को अविकलरूप में उद्धृतकर उसपर अपना भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यतः यह विवाद

---

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति—विषय को देखो। द०स०

---

१. यहाँ प्रश्न अधूरा है। उत्तर में दो विषयों का निर्देश किया है। एक—सृष्टि को उत्पन्न हुए कितना समय व्यतीत हुआ ? और दूसरा—सृष्टि कैसे बनी ? इस कारण यहाँ प्रश्न का स्वरूप इस प्रकार होना चहिए—'जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ? [और यह जगत् किस प्रकार बना ?] यहाँ कोष्ठान्तर्गत पाठ छूट गया प्रतीत होता है।

और यह भी है कि सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पाँच द्व्यणुक की पृथिवी, अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु, और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।

का विषय है, अतः हमने इसका विस्तृत विवेचन किया है। पहले ऊपर संस्कृत तथा आर्यभाषा में ग्रन्थकार का लेख है, नीचे हमारा भाष्य है। इस सबसे पाठकों को अपना मत बनाने अथवा और अधिक विचार करने में सहायता मिलेगी।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोटयोऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते[1] इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति। कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह—अस्यां वर्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्तमानत्वादस्मात् पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा—स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवश्वतस्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त च, एते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति। तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन् ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्यं रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन् ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्तते। तत्रास्य वर्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततिमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं[2] (१९३३) संवत्सरं वदन्ति। अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥१॥
चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥२॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥३॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥४॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥५॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥६॥
यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं वैदिकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीडन्निव तत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८॥

—मनु० अध्याये १।६८-७३, ७६-८०

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किंचित् किंचिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते। अत्रैवं संख्यातव्यम्—

---

१. मनु में 'तावतीं रात्रिमेव च' पाठ भी मिलता है।
२. १९३३ तमे वैक्रमाब्दे।

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥१॥
वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं परार्द्ध्यं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥२॥[1]

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । **'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि'** (य० अ० १५, मं० ६५) **'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि'** (श० कां० ७ अ० ५)[2] । सर्वस्य जगतः सहस्रमिति नामास्ति, कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्तमानत्वात् सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतम्, अद्यपर्यन्तमपि क्रियते, प्रतिदिनमुच्चार्यते, ज्ञायते च, अतः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति, नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्यैर्नित्यम् **'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासदिनक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च'**[3] इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वाद्, इतिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्तमानत्वात् सर्वत्रैकरसत्वाद् अशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते, तत्र द्रष्टव्यम् ।

वेदों के नित्य होने से वेदोत्पत्तिकाल से यहाँ वेदों के वर्तमान सर्ग में प्रादुर्भूत होने का काल अभिप्रेत है । ग्रन्थकार ने सृष्ट्युत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल माना है । इसलिए यहाँ सृष्ट्युत्पत्ति से मानवोत्पत्ति अभिप्रेत है । वेद की आवश्यकता मनुष्य के लिए है, पशु-पक्षी या जड़ जगत् के लिए नहीं । ब्राह्मदिन का आरम्भ तो उसी क्षण से हो जाता है जबसे परमाणुओं का संयोगविशेष प्रारम्भ होता है, किन्तु व्यावहारिक संवत् मानवोत्पत्ति से आरम्भ होता है । सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ होने के पश्चात् मानव की उत्पत्ति होने तक पर्याप्त समय लगा होगा । सृष्टिरचना का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में लिखा है—"परम सूक्ष्म तत्त्वों का प्रथम ही जो संयोगारम्भ है, संयोगविशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को, सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनते विचित्र रूप बनी है । इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है ।'' 'बनते-बनते बनी' इन शब्दों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार के मत में यह विराट्, विचित्र तथा वैविध्यपूर्ण सृष्टि मुसलमानों के अनुसार 'कुन' (होजा) शब्द का उच्चारण होते ही पलभर में बनकर खड़ी नहीं हुई ।

जैवी सृष्टि से पूर्व जीव के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक था । ग्रन्थकार ने इसका संकेत सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में किया है । वहाँ "मनुष्य की सृष्टि पहले हुई या पृथिवी आदि की ?" इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है 'पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता ।'' इस व्यवस्था के अनुसार पहले वनस्पति, फिर पश्वादि (कृमि से हस्ती पर्यन्त) और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए । प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे । इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था । यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार **'संभृतं पृषदाज्यम् । पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये'** अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करनेवाले पक्षियों, सिंह-व्याघ्रादि वनैले पशुओं और नगरों तथा गाँवों में रहनेवाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न

१. अनुपलब्धम् ।
२. शत० ७।४।२।१३
३. प्रतिदिनमार्यावर्ते ब्राह्मणैः सन्ध्यादिकर्मसु पठ्यमानः संकल्प इह संक्षेपेणोदाहृतः ।

किया। इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की और चेतन में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई। पशु-पक्षी का जीवन नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता था। मनुष्य का काम केवल नैसर्गिक ज्ञान के सहारे नहीं चल सकता था। उसे वेद के रूप में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार मानवसृष्टि और वेदोत्पत्ति का एक ही काल ठहरता है।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छह मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छह तो बीत गये हैं और ७ सातवाँ वैवस्वत वर्त रहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्तन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सत्ययुग रक्खा है (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बाँधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे-ऐसे छह मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष व्यतीत हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पाँच लाख, बत्तीस हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरहवाँ है, जिसको आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवाँ संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रिसंज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम "ब्राह्मदिन" रक्खा है, और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम "ब्राह्मरात्रि" रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं, और (२३३३२२७०२४) दो अरब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवाँ वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गतवर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिए, जैसे आज पर्यन्त घटाते-बढ़ाते आये हैं।

ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की

है इसीलिए इनका नाम **ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि** है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिए लिख चुके हैं, सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की "दैवयुग" संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है, अनेक बार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा।

क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिए यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बाँधी है और मन्वन्तर के परिवर्त्तन में सृष्टि के नैमितिक गुणों का भी कुछ परिवर्तन होता है इसीलिए मन्वन्तर संज्ञा बाँधी है। वर्तमान सृष्टि की कल्प संज्ञा और प्रलय की विकल्प संज्ञा की है।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिए कि **(एकं दश शतं चैव०)** एक (१), दश (१०), शत (१००), हज़ार (१०००), दश हज़ार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म की (१०००००००००००००००००), और परार्द्ध्य (१००००००००००००००००००), और दश दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित की सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है।

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्र संज्ञा की जाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्तमान है। सो हे परमेश्वर ! आप इस हज़ार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करनेवाले हो।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्यलोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं, अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते, लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है, क्योंकि आर्यलोग नित्यप्रति **'ओं तत् सत्'** परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं और बहीखाते की नाई लिखते-लिखाते, पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है, और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं, उतने ही मध्याह्न में रहे हैं, इसीलिए यह लेख है—**(श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०)**।

यह वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवाँ कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह[1] बात हमने लिखी है। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्यलोग बालक से वृद्धपर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिती डालते हैं, वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते-घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्यलोग तिथिपत्र[2] में भी वर्ष, मास और दिन

१. अर्थात् वेदोत्पत्ति की कालगणना।
२. अर्थात् पञ्चांग।

आदि लिखते चले आते हैं और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एक-सा वर्तमान हो रहा है[1] और सब पुस्तकों[2] में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिए इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती, वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक-ठीक आर्य्यलोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य्यलोग ही बड़े-बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे, तब आर्य्यलोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया, और जो पुस्तक शास्त्र के बच गये हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं, इनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है। इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता।

यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिए लिखा है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सबको विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें, परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिए बिगाड़ रक्खा है, यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तक व्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट-बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहाँ देख लेना चाहिए, यहाँ इसका प्रसंग नहीं है इसलिए नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलरादिभिर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति, श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति, तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः।

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है। इसी प्रकार जिन-जिनने अपनी-अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन-उनका भी व्याख्यान मिथ्या है, क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्यलोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है। नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जैसा प्रथम लिख आये हैं, जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत

१. अर्थात् सर्वत्र देश में एक-सा ही पाठ पढ़ा जाता है।
२. समस्त पञ्चांगरूपी पुस्तकों में भी यही कालगणना लिखी जाती है।

न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे ॥[1]

इति वेदोत्पत्तिविचारः

यह कहा जा सकता है कि यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति का प्रसंग ही नहीं है। प्रकरण का शीर्षक है—**'अथ वेदोत्पत्तिविषयः'** और प्रश्न भी **'वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?'** है। वेदोत्पत्ति संवत् को बलात् सृष्टिसंवत् मानना असंगत है, परन्तु इसके लिए यदि कोई दोषी है तो स्वयं ग्रन्थकार जिन्होंने उत्तर में यह कह दिया—**'एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्च'**। जब तक इस वाक्यांश को प्रक्षिप्त सिद्ध न किया जाए तब तक यहाँ वेदोत्पत्तिकाल के साथ सृष्ट्युत्पत्तिकाल भी उपपन्न रहेगा। वस्तुतः ग्रन्थकार दोनों को एक मानते थे, इसलिए उन्होंने ऐसा कहा। जैसाकि हम आगे देखेंगे उन्होंने सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में केवल जगत् की उत्पत्तिविषयक प्रश्न के उत्तर में भी यही संवत् लिखा है।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार का "सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके—पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं।" तथा "बहीखाते में—कहना ही क्या है ?" यह लेख विचारणीय है। वर्षों की गिनती करते जाने और बहीखाते की तरह लिखने-पढ़ने का काम मनुष्य ही कर सकता था। इस लेख से यह भी स्पष्ट है कि सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ही कालगणना आरम्भ हो गयी। इससे भी मानवोत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल सिद्ध होता है।

---

१. इस भाषा के लेख से यह भ्रान्ति होती है कि ग्रन्थकार प्रति मन्वन्तर अवान्तर प्रलय नहीं मानते, परन्तु यह ध्यान रहे कि यह लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

रहा अवान्तर प्रलय का प्रश्न। इस विषय में ग्रन्थकार का मत स्पष्ट है। वे महाप्रलय और अवान्तर प्रलय दोनों मानते हैं। इसके लिए सत्यार्थप्रकाश का निम्न सन्दर्भ देखना चाहिए—

"जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है तब अग्न्यादि क्रम से और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।"

—सत्यार्थ प्र. समु. ८, पृष्ठ २३१ सं. ८

यहाँ स्पष्ट ही महाप्रलय और खण्डप्रलय का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। 'जहाँ-जहँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि उत्पत्ति होती है' वाक्य अवान्तर प्रलय वा खण्डप्रलय का ही बोधक है। महाप्रलय में तो सम्पूर्ण स्थूल जगत् का लय हो जाता है। प्रकृति साम्यावस्था तक पहुँच जाती है। महाप्रलय और अवान्तर प्रलय मे वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया में शास्त्रकारों ने भेद माना है। महाप्रलय के पीछे ऋषियों के हृदय में परमेश्वर द्वारा वेद प्रेरित होते हैं और अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्धन्याय से वेदों का प्रकाश होता है, अर्थात् मनुष्य जिस ज्ञान से युक्त रात्रि में सोता है वह ज्ञान उसे दूसरे दिन प्रातः उठने पर भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार मन्वन्तर के अन्त में जिनको वेदों का ज्ञान था वह ज्ञान उन्हें अगले मन्वन्तर के आरम्भ में स्वतः प्राप्त होता है। महाप्रलय की स्थिति पुनर्जन्म के सदृश होती है। जैसे पुनर्जन्म में माता-पिता आदि से पुनः ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में नये रूप में परमेश्वर से ज्ञान प्राप्ति की अपेक्षा होती है।

—युo मीo

रोज़नामचे की भाँति हम इसमें हर रोज़ एक दिन बढ़ाते चले आये हैं और घण्टे, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष से लेकर युगों, चतुर्युगियों तथा मन्वन्तरों में काल को विभक्त कर हिसाब करते आये हैं, अतः युगों की गणना के द्वारा निर्धारित सृष्टिसंवत् ऐतिहासिक होने के कारण प्रामाणिक एवं सर्वथा विश्वसनीय है और मनुष्य की जन्मतिथि नियत करने का एकमात्र विश्वसनीय साधन है। हमें वैज्ञानिक उपकरणों तथा परीक्षणों द्वारा उसका निश्चय करने की आवश्यकता नहीं है। जिनकी जन्म-पत्री या स्कूल का सार्टिफिकेट नहीं होता, या जिनका नाम-पता नगरपालिका के रिकार्ड (जन्म-मृत्यु-पंजिका) में नहीं मिलता उसी की आयु का निश्चय करने के लिए आयुर्वैज्ञानिक परीक्षण की आवश्यकता होती है।

सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में हम पढ़ते हैं—

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अरब छानवे करोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों का प्रकाश होने में हुए हैं।"

वहाँ वेदोत्पत्ति का प्रसंग न होने पर भी सृष्ट्युत्पत्ति का वही काल निर्धारित किया है जो ऋ०भा०भू० में वेदोत्पत्ति के प्रकरण में दिया है और यह भी लिखा है कि "इसका व्याख्यान मेरी बनाई हुई 'भूमिका' में लिखा है, देख लीजिए।" ऋ०भा०भू० में प्रश्न वेदोत्पत्तिकाल के विषय में था, परन्तु उत्तर वेदोत्पत्ति तथा सृष्ट्युत्पत्ति दोनों को लक्ष्य कर दिया गया। सत्यार्थप्रकाश में प्रश्न सृष्ट्युत्पत्ति को लक्ष्य कर पूछा गया, परन्तु उत्तर में सृष्टि तथा वेद दोनों का काल बताया गया। इससे तीन बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—

१. ग्रन्थकर्ता के मत में सृष्ट्युत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल है।

२. सृष्ट्युत्पत्ति से मानवोत्पत्ति अभिप्रेत है।

३. प्रत्येक अवस्था में ग्रन्थकार को एक अरब छानवे करोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष सृष्टि-संवत् के रूप में अभिमत हैं।

परन्तु भुक्तकाल १९६०८५२९७६ और भोग्यकाल २३३३२२७०२४ वर्ष मानकर दोनों का योग करने पर सृष्टि की पूर्ण आयु ४२९४०८०००० वर्ष बनती है, जबकि एक कल्प या ब्राह्मदिन में ४३२०००००० वर्ष होते हैं।

वस्तुतः सृष्ट्युत्पत्ति का काल वह है जब सृष्टिरचना का क्रम पूरा हो जाता है। 'अमुक मकान कब बना ?' इस प्रश्न के उत्तर में उस दिन का निर्देश किया जाता है जिस दिन मकान बनकर तैयार होता है, उस दिन का नहीं जब वह बनना शुरू होता है। बनकर तैयार होने पर ही गृहस्वामी उसमें प्रवेश करता है। जिस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना मृत्यु है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा का संयुक्त होना जन्म कहाता है। ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार आत्मा योनि के द्वारा गर्भाशय में स्थित हो दस मास तक (ऋ० ५।७८।८-९; अथर्व० १।११।६) वहाँ पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। उसी को जन्म लेना कहते हैं। यद्यपि शरीर से आत्मा का संयोग ९-१० मास पूर्व हो चुका होता है, तथापि पूर्ण विकास को प्राप्त होकर बाहर आने को ही बालक का जन्मकाल माना जाता है। मानव की आयु गर्भावस्था से नहीं, जन्मदिन से ही मानी जाती है। दिन का आरम्भ सूर्योदय से माना जाता है। यद्यपि अर्धरात्रि से ही शनैः-शनैः सूर्य का प्रकाश आरम्भ हो जाता है और एक डेढ़ घण्टा पहले तो पर्याप्त प्रकाश हो जाता है, तथापि पूर्ण प्रकाश होने पर अर्थात् सूर्य के उदय=दर्शन होने पर ही दिन का आरम्भ माना जाता है। इसी प्रकार मानवोत्पत्ति के साथ सृष्टिरचना पूर्ण होने के समकाल सृष्ट्युत्पत्ति का काल माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर के ईक्षण द्वारा क्षोभ होने पर जब प्रकृति की साम्यावस्था भंग होकर वह व्यक्तावस्था की ओर

अग्रसर होती है तो सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, तथापि सृष्ट्युत्पत्ति तभी मानी जाती है जब मानवोत्पत्ति के साथ सृष्टि की रचना पूर्ण हो जाती है। इसी न्याय से सृष्ट्युत्पत्ति और वेदोत्पत्ति का काल एक माना गया है।

परन्तु, जैसाकि पहले कहा गया है, सृष्ट्युत्पत्ति का काल एक अरब छानवे करोड़ आदि मानने पर सृष्टि की कुल आयु ४२६४०८०००० वर्ष बनती है, जबकि इसका ४३२०००००००० वर्ष होना सर्वसम्मत है। इन दोनों की संख्याओं में २५६२०००० का अन्तर है जो ६ चतुर्युगियों के काल के बराबर है (४३२००००x६=२५६२००००)। एक ब्राह्मदिन का परिमाण १००० चतुर्युगी है। ब्राह्मदिन में १४ मन्वन्तर होते हैं और एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं। इस प्रकार एक ब्राह्मदिन में ६६४ (१४ x ७१=६६४) चतुर्युगी होती हैं। इस प्रकार भी ६ चतुर्युगियों का सामंजस्य अपेक्षित है। यहीं पर विद्वानों में मतभेद है। एक पक्ष ६ चतुर्युगियों के बराबर काल को प्रारम्भ में जड़सृष्टि की रचना में लगाता है और दूसरा पक्ष सृष्टिसंवत् १९६७२९४९०७६ मानकर इस समस्या का समाधान करता है और १४ मन्वन्तरों के सन्धिकाल में ६ चतुर्युगियों के बराबर समय का समावेश करता है।

'मानवोत्पत्ति से पूर्व जगत् की रचना में ६ चतुर्युगियों के बराबर समय लगता है' इस मान्यता का पोषक कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार का यह लिखना कि 'एक ब्राह्मदिन में १४ मन्वन्तर (=६६४ चतुर्युगियाँ) 'भोग्यकाल हैं' यह संकेत करता है कि यह काल भोक्ता जीवों की अपेक्षा से है। जब जैवी सृष्टि से पूर्व भोग्य सामग्री का होना निर्विवाद है और उसकी रचना में पर्याप्त समय भी अपेक्षित है तो उसमें ६ चतुर्युगियों के बराबर समय लगना सम्भव है। इस प्रकार यह मत अपेक्षित प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी तर्कसंगत कहा जा सकता है।

एक अरब सत्तानवें करोड़ कई लाख कई सहस्र वर्ष सृष्टिसंवत् माननेवाले विद्वानों का मुख्य आधार 'सूर्यसिद्धान्त' है। वहाँ लिखा है—

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते। कृताब्दसंख्यया तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दशः। कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः॥
कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः। वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः॥

—सूर्यसिद्धान्त १।१८, १९, २२

अर्थात्—इकहत्तर चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। उसके अन्त में सत्ययुग की अवधि के वर्षों (१७२८०००) के समान एक सन्धिकाल होता है। इस प्रकार की १५ सन्धियों सहित १४ मन्वन्तर एक कल्प या सृष्टि में होते हैं।

सूर्यसिद्धान्त के प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है कि गणना करनेवाले ने भुक्त और भोग्य मन्वन्तरों की वर्षसंख्याओं का ही योग किया है। इस गणना में भुक्तकाल में ७ तथा भोग्यकाल में ८ सन्धियों का काल जोड़ना रह गया है। ग्रन्थकार के मतानुसार ब्राह्मदिन में १००० चतुर्युग होते हैं। यह भी निर्विवाद है कि एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं। इस प्रकार १४ मन्वन्तरों में (७१x१४) कुल ६६४ चतुर्युग बनते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ६ चतुर्युगों की न्यूनता है। यह ६ चतुर्युग परिमित काल सूर्यसिद्धान्त आदि आर्षग्रन्थों के अनुसार एक कल्प की १५ सन्धियाँ हैं। एक मन्वन्तर सन्धि का काल कृतयुग (१७२८००० वर्ष के बराबर होता है। इस सन्धिकाल को १५ से गुणा करने पर सन्धिकाल के कुल २५९२०००० वर्ष होते हैं। यह काल अवशिष्ट ६ चतुर्युगों के ४३२००००x६=२५९२०००० वर्ष के बराबर ही होता है। इस प्रकार ७१ चतुर्युग

परिमाण के १४ मन्वन्तरों की ६६४ चतुर्युग संख्या में १५ सन्धियों के ६ चतुर्युग काल को जोड़ने से ब्राह्मदिन की १००० चतुर्युग संख्या उपपन्न हो जाती है।

इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट व्यतीत १९६०८५२९७६ वर्ष संख्या में विगत ७ सन्धियों के (एक सन्धिकाल १७२८००० x ७ = १२०९६००० वर्ष जोड़ने से विगत वेदोत्पत्ति या विगत सृष्टि का शुद्धकाल (१९६०८५२९७६+१२०९६००० =) १९७२९४८९७६ वर्ष उपपन्न होता है। इसी प्रकार भोग्यकाल की २३३३२२७०२४ की वर्ष संख्या में भोग्य काल की ८ सन्धियों की १३८२४००० वर्ष संख्या जोड़ने से शुद्ध भोग्य काल की २३४७०५१०२४ वर्ष संख्या उपलब्ध होती है। अन्ततः शुद्ध भोग्य काल में शुद्ध भुक्तकाल जोड़ने से ४३२००००००० वर्ष का कल्प या ब्राह्मदिन सिद्ध हो जाता है। अन्यथा १५ सन्धियों का काल न जोड़ने पर न तो १००० चतुर्युगों की संख्या पूरी होती है और न कल्प या ब्राह्मदिन की नियत वर्ष संख्या उपलब्ध होती है।

इस मत के विरोधियों का कहना है कि यह ठीक है कि ग्रन्थकार ने सूर्यसिद्धान्त की गिनती ज्योतिष के प्रामाणिक ग्रन्थों में की है, परन्तु वह वसिष्ठमुनिकृत सूर्यसिद्धान्त है (**ज्योतिषं वसिष्ठाद्युक्तम्**) जो अब उपलब्ध नहीं है। सन्धिकाल को मानकर सृष्टि की आयु निकालने की बात मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त में लिखी है। इसलिए वह मान्य नहीं है।

वेदोत्पत्तिकाल के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने मनुस्मृति के श्लोकों के बाद सूर्यसिद्धान्त से दो श्लोक उद्धृत किये हैं—**'इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते।'** वर्तमान में प्राप्य मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त में ये श्लोक हैं नहीं और वसिष्ठमुनिकृत सूर्यसिद्धान्त का लोप हो चुका है। फिर, ग्रन्थकार ने ये श्लोक कहाँ से उद्धृत किये? खोज करने पर पता चला कि ये दोनों श्लोक ब्रह्माण्डपुराण के हैं। इन श्लोकों को **'शब्दकल्पद्रुम'** तथा **'वाचस्पत्यभिधान'** नामक कोशों में 'संख्या' शब्द के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड पुराण के नाम से उद्धृत किया गया है। वहाँ द्वितीय श्लोक के द्वितीय पाद में **'शंखः पद्मं च'** के स्थान पर **'शंखपद्मौ'** पाठ मिलता है। ऋ०भा०भू० में 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' के अन्तर्गत वसिष्ठादि विरचित ज्योतिष ग्रन्थ को प्रामाणिक तथा **'शीघ्रबोध'** व **'मुहूर्तचिन्तामणि'** आदि को अप्रामाणिक माना है। मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त का कहीं विधान नहीं तो निषेध भी नहीं किया है, पर पुराणों की सर्वत्र घोर निन्दा करते हुए भी ग्रन्थकार ने ब्रह्माण्डपुराण का वचन प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, परन्तु उन्होंने इसे सूर्यसिद्धान्त मूलक बताया है—यह अन्वेष्य है।

वेदोत्पत्तिकालसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने एक दो शब्दों में न देकर विस्तारपूर्वक सारा हिसाब फैलाकर एक अरब छानवे करोड़ इत्यादि निश्चित किया है। इतने महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन करते हुए गणित की प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर इस विसंगति की ओर ग्रन्थकार का ध्यान नहीं गया—यह बात भी समझ में नहीं आती।

कुछ विद्वानों के मत में तीन चतुर्युगियों का काल भुक्तकाल से पहले और तीन चतुर्युगियों का काल भोग्यकाल के बाद जोड़कर छह चतुर्युगियों के अन्तर की समस्या का समाधान हो जाता है, परन्तु इस मान्यता का पोषक न कोई प्रमाण उपलब्ध है और न यह युक्तिसंगत है। इसके समर्थम में एक वेदमन्त्र प्रस्तुत किया जाता है जो इस प्रकार है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०।९७।१) तथा यजुर्वेद (१२।७५) में आता है। इसके आधार पर कहा जाता है कि

वनस्पतियाँ मनुष्योत्पत्ति से तीन दिव्ययुग (महायुग) पूर्व उत्पन्न हुई थीं, परन्तु इस मन्त्र का यह अर्थ किसी भी वेदभाष्यकार ने नहीं किया। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के दसवें मण्डल का भाष्य नहीं किया, परन्तु यजुर्वेद के १२वें अध्याय में उन्होंने इस मन्त्र का भाष्य किया है। वहाँ उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में पदार्थ करने के अनन्तर भावार्थ में लिखा है—

"मनुष्य— जो पृथिवी और जल में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं जब वे तीन वर्ष पुरानी हो जाती हैं तब उन्हें ग्रहण करके वैद्यकशास्त्र की विधि से सेवन करते हैं। वे सेवन की हुई सब मर्मस्थानों में व्याप्त होकर रोगों को हटाकर शारीरिक सुखों को शीघ्र उत्पन्न करती हैं।"

ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र का ऋषि **'भिषक्'** और देवता (प्रतिपाद्य विषय) **'वैद्य'** बताते हुए लिखा है—

"मनुष्यैरवश्यमौषधसेवनं कृत्वाऽरोगैर्वर्तितव्यमित्याह।"

ऋग्वेद में इस मन्त्र का ऋषि 'भिषगाथवर्णः' **तथा देवता** 'ओषधीस्तुतिः' लिखा है। स्पष्ट है कि इस मन्त्र का सम्बन्ध वैद्य, ओषधि तथा रोगोपचार से है। वेदोत्पत्तिकाल (=सृष्ट्युत्पत्तिकाल) का निर्धारण करने में इसका विनियोग या उपयोग नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने बाकी हैं। इस वाक्य से स्पष्ट है कि यह समय भोगकाल का है। इतने वर्ष बीतते ही सृष्टि का अन्त हो जाएगा। ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है—"जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब तक ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे।" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य, उसके भोग्य जगत् तथा उसके लिए अपेक्षित ज्ञान सबका एक साथ अन्त होगा अर्थात् सर्गकाल अथवा ब्राह्मदिन का अवसान हो जाएगा। ऐसी अवस्था में बाद में तीन चतुर्युगियों के जोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सृष्टिसंवत् अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने की पवित्र भावना से मिल बैठकर **(सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्)** इस विषय पर विचार करना विद्वानों का कर्त्तव्य है।

'वेदोत्पत्तिविषय' के अन्तिम भाषाभाग से **'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे'** आदि संकल्पपाठ की प्रतीक देकर कालनिर्देश का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"अर्थात् जैसे विक्रम संवत् १६३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष षष्ठी शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है।" 'यह बात' से यहाँ 'वेदोत्पत्तिकाल निर्धारण' अभिप्रेत है। ऐसा निर्देश प्रस्तुत प्रसंग के संस्कृत लेख में नहीं है। इससे पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के आरम्भ में ग्रन्थलेखनसम्बन्धी श्लोक में लिखा है—

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥

अर्थात् विक्रम के संवत् १६३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा रविवार (२० अगस्त १८७६) के दिन मैंने वेदभाष्य का आरम्भ किया है। यहाँ वेदभाष्य का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक ग्रन्थविशेष है।

ग्रन्थ प्रारम्भ करने के और प्रस्तुत भाषाभागीय लेख में साढ़े पाँच महीने से पाँच दिन अधिक का अन्तर है। इससे यह समझ लिया जाता है कि इतना समय ग्रन्थकार को ग्रन्थ लिखना आरम्भ करने से 'वेदोत्पत्तिविषय' तक लिखने में लगा। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें २०-२५ पृष्ठ लिखने में लगभग छह मास लगे। यह ठीक नहीं है, वास्तव में ग्रन्थकार ने पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखकर पूरा किया

[पृथिवी का धारक परमात्मा, शेष तथा उक्षा का सत्यार्थ]

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है ? **कोई** कहता है—शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर

जिसमें साढ़े पाँच मास लगे। उसके अनन्तर उन्होंने भाषाभाग लिखाना प्रारम्भ किया। भाषाभागीय कालनिर्देशन प्रसंग तक पहुँचने में पाँच-छह दिन और लगे होंगे। इस प्रकार निर्दिष्ट काल, प्रारम्भ से लेकर वेदोत्पत्तिविषय तक लिखने का न होकर, पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ के संस्कृत में लिखे जाने और तदनन्तर प्रारम्भ से लेकर भाषाभागीय काल निर्देशन प्रसंग तक भाषा में लिखे जाने तक का है, क्योंकि यह भाषालेखन-काल है, अतः इस निर्देशन का संस्कृत में न होना स्वाभाविक है।

पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा गया, इसमें ग्रन्थ के भीतर ही प्रमाण उपलब्ध हैं, जैसे—

१. उपासनाप्रकरण में **'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्'** इत्यादि सन्दर्भ के आगे **'एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते'** यह लिखा है।

२. पुनः **'नाविरतो दुश्चरिता०'** इत्यादि संस्कृतभाग की समाप्ति पर लिखा है—**'अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ।'**

इससे सिद्ध है कि संस्कृतभाग लिखा जाने के अनन्तर ही भाषार्थ लिखा गया है। यदि संस्कृत के साथ भाषार्थ लिखा गया होता तो यहाँ भविष्यत्काल की क्रिया के वाचक **'वक्ष्यते'** और **'प्रकाशयिष्यते'** न लिखकर वर्तमानकालिकक्रिया का प्रयोग करते।

भूमिका के संस्कृतलेखन के अनन्तर भाषालेखन के प्रारम्भ का काल विक्रम संवत् १६३३, फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष प्रारम्भ होंने के साथ बताया है। तत्पश्चात् ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ होने का काल विक्रम संवत् १६३४, मार्गशीर्ष, शुक्लपक्ष, षष्ठी तिथि, मंगलवार लिखा है। इस प्रकार भूमिका के भाषालेखन के प्रारम्भकाल और ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भकाल में लगभग साढ़े नौ मास का अन्तर है। इतना समय भूमिका का भाषाभाष्य लिखने में लगा प्रतीत नहीं होता। यह सम्भव है कि इस अन्तराल काल में कुछ समय भाषाभाष्य पूरा करने में लगा हो और शेष अन्यान्य व्यस्तताओं में बीता हो। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के महत्त्व को देखते हुए ग्रन्थकार ने उसमें कई बार परिवर्धन व परिष्करण किया। परोपकारिणी सभा के संग्रह में भूमिका के छह हस्तलेख विद्यमान हैं, जो उत्तरोत्तर परिष्कृत वा परिवर्धित हुए हैं। भाषाभाष्य पूरा होने के अनन्तर कुछ समय इन परिवर्धित तथा परिष्कृत हस्तलेखों के तैयार होने में भी अवश्य लगा होगा।

ऋग्वेदभाष्य प्रारम्भकाल विक्रम संवत् १६३४ मार्गशीर्ष शुक्ला, षष्ठी मंगलवार है। यजुर्वेदभाष्य प्रारम्भकाल विक्रम संवत् १६३४, पौष शुक्ला त्रयोदशी, गुरुवार लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदभाष्य प्रारम्भ करने के लगभग सवा महीने के बाद यजुर्वेदभाष्य भी प्रारम्भ हो गया था। दोनों वेदों के भाष्य साथ-साथ चलते रहे। अल्पकलेवर होने से यजुर्वेदभाष्य यथासमय पूर्ण हो गया। ऋग्वेदभाष्य चलता रहा।

यजुर्वेदभाष्य के अन्त में भाष्यसमाप्तिकालद्योतक पंक्ति मुद्रित है—**'विक्रमी संवत् १६३६, मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, शनिवार ।'** इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यजुर्वेदभाष्य पूरा होने में लगभग पाँच वर्ष लगे। इसके अनन्तर ऋषि का जीवन लगभग ग्यारह मास और रहा। ऋग्वेदभाष्य सप्तम मण्डल, ६१ सूक्त की दूसरी ऋचा तक हो पाया था कि विक्रम संवत् १६४०, कार्तिक अमावास्या (३० अक्तूबर १८८३) को ऋषि का परलोकवास हो गया।

सृष्टि का धारक—प्रलयकाल में समस्त भौतिक जगत् अपने मूलकारण सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति में

पृथिवी है। **दूसरा** कहता है कि—बैल के सींग पर। **तीसरा** कहता है—किसी पर नहीं। **चौथा** कहता है कि—वायु के आधार पर। **पाँचवाँ** कहता है—सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित। **छठा** कहता है कि—पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है, इत्यादि में किस बात को सत्य मानें ?

उत्तर—जो शेष, सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है, उसको पूछना चाहिए कि सर्प और बैल के माँ-बाप के जन्म-समय किसपर थी ? तथा सर्प और बैल आदि किसपर हैं ? बैलवाले मुसलमान तो चुप ही कर जाएँगे, परन्तु सर्पवाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर, और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिए कि ये सब किसपर हैं ? तो अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर।

जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किस का बच्चा है ? कहेंगे शेष कश्यप कद्रू, और बैल गाय का। कश्यप मरीची का, मरीची मनु का, मनु विराट् का और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहले पाँच पीढ़ी हो चुकी हैं, तब किसने धारण की थी ? अर्थात् कश्यप के जन्म-समय में पृथिवी किसपर थी ? तो 'तेरी भी चुप मेरी भी चुप', और लड़ने लग जाएँगे।

इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है, उसको **'शेष'** कहते हैं। सो किसी कवि ने **'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्'** ऐसा कहा कि 'शेष' के आधार पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझकर सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिए परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से 'बाकी अर्थात् पृथक् रहता है, इसी से उसको **'शेष'** कहते हैं, और उसी के आधार पृथिवी है।

'सत्येनोत्तभिता भूमिः' । —यह ऋग्वेद (१०।८५।१) का वचन है।

'सत्य' अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि, आदित्य और सब लोकों का धारण किया है॥

'उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्' । —यह भी ऋग्वेद का वचन है।[1]

इसी **'उक्षा'** शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा। क्योंकि **'उक्षा'** बैल का नाम भी है, परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहाँ से आवेगा ? इसलिए **'उक्षा'** वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से सूर्य का नाम है। उसने अपने आकर्षण

विलीन हो जाता है और समस्त जीव अपने-अपने शरीर का परित्याग करके मूर्च्छित जैसे सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। तब केवल परमात्मा बचा रह जाता है। इसलिए उसका नाम 'शेष' है। जो प्रलयकाल में बचा रह जाता है उसी के लिए कहा है कि सर्गकाल में **'समवर्त्तताग्रे'** अर्थात् जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्त्तमान था। जो प्रलयकाल में सबके पीछे बचा रह गया था, सर्गकाल में सबसे पहले वही होगा। वही द्यौः, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को धारण किये रहता है। (यजुः० ३२।६)। वह **'हिरण्यगर्भ'** कहाता है, क्योंकि प्रलयकाल में वह प्रकृति की अव्यक्तावस्था में उसे धारण किये रहता है। **'शेषाधारा पृथिवी'** में पृथिवी समस्त भौतिक जगत् का उपलक्षण है।

१ ऋग्वेद में **'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति'** (१०।३१।८) यह पाठ है। अथर्ववेद में **'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्'** (४।११।१) यह पाठ है।

से पृथिवी को धारण किया है, परन्तु सूर्यादि का धारण करनेवाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

[सब लोक-लोकान्तरों का धारक ईश्वर ही है]

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा ?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कण के तुल्य भी नहीं है, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् **'विभूः प्रजासु'** यह यजुर्वेद का वचन है। वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाई, मुसलमान, पुराणियों के कथनानुसार विभू[1] न होता, तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता, क्योंकि बिना प्राप्ति के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता।

कोई कहे कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारित होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है ? उनको यह उत्तर देना चाहिए कि यह सृष्टि अनन्त है वा सान्त ? जो अनन्त कहे, तो आकारवाली वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकती। और जो सान्त कहें, तो उनके पर-भाग सीमा अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहाँ किसके आकर्षण से धारण होगा ? जैसे **समष्टि** और **व्यष्टि** अर्थात् जब सब समुदाय का नाम वन रखते हैं, तो **समष्टि** कहाता है और एक-एक वृक्षादि को भिन्न-भिन्न गणना करें, तो **व्यष्टि** कहाता है, वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् कहें, तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं। इसलिए जो सब जगत् को रचता है, वही—

'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'। —यह यजुर्वेद (१३।४) का वचन है।

जो पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोकलोकान्तर पदार्थ तथा सूर्यादि प्रकाशसहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण परमात्मा करता है, जो सबमें व्यापक हो रहा है, वह सब जगत् का कर्त्ता और धारण करनेवाला है॥

[पृथिवी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण]

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर हैं ?

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है, और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है, सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाए।

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं, क्योंकि वेद में लिखा है कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ —यजुः० अ० ३। मं० ६॥

पृथिवी आदि का घूमना—इस विषय को कुछ अधिक विस्तारपूर्वक ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है। यहाँ हम उस अंश को वहाँ से उद्धृत कर उसपर अपनी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

[1] 'विभु' समानार्थक 'विभू' स्वतन्त्र शब्द है।

पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते—वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव। तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

—यजुः० अ०३।मं.६

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम्।

(आयं गौः) अयं गौः[1] पृथिवीलोकः सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि। तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति। एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम्। अत्र प्रमाणानि—

गौः ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ[2]।

तथा च—स्वः, पृश्निः नाक इति षट्सु साधारणनामसु ॥[3] पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते।[4] **'गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।'** —निरु०अ० २। खं० ५

'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥'—निरु० अ० २। खं० १४

'सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥'—निरु० अ० २। खं० ६

'स्वरादित्यो भवति ॥'—निरु० अ० २ खं० १४

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी। **'अद्भ्यः पृथिवी'**ति तैत्तिरीयोपनिषदि। यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति, तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम्। एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥१॥

भाषार्थ—अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा

१. मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुंल्लिङ्गनिर्देशो लोकशब्दापेक्षया ज्ञेयः। तेन पुंल्लिगप्रयोगात् पृथिव्याः परिभ्रमणे नास्य मन्त्रस्य प्रमाणं सम्भवतीति यत्कैश्चिद् उच्यते, तदपाकृतं भवति। एतदेव चाभिप्रेत्य ग्रन्थकृताऽपि विशेषतः **'पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येव'** इत्युक्तम्।

२. निघण्टु १।१॥ यास्कीयनिरुक्तस्य व्याख्येयरूपो निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम्। साम्प्रतिका बहवो विद्वांसो निघण्टुमिमं यास्कप्रोक्तं न मन्यन्ते। एतेषां मतस्यनिराकरणं पण्डित-भगवद्दत्तेन 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थस्य 'वेदों के भाष्यकार' नाम्नि भागे विस्तरेण कृतम् (पृष्ठ १८१-१९५), तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. निघण्टु १।४ ॥

४. पृश्निरन्तरिक्षस्य नामेति निरुक्ते न क्वचित् साक्षात् पठ्यते, तथापि पूर्वोद्धृतस्य निघण्टुपाठस्य व्याख्याने (२।१३-१४) स्वरादय आदित्यस्य० दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तम् यास्केन। तत्र 'दिव्' शब्देनान्तरिक्षं गृह्यते इति भगवद्दयानन्दस्य मतम्। तथैव च भगवता स्ववेदभाष्ये बहुत्र पृश्निशब्दस्यान्तरिक्षरूपो ऽर्थो व्याख्यातम्। निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः (१।४) प्राक् अन्तरिक्षनामानि पठ्यन्ते। तस्माद् आदित्येन सह साधारणनामत्वेन 'दिव्'शब्देन अन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं सम्भवति।

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है। इसलिए भूमि घूमा करती है ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

—यजुः० अ० ३३ । मं० ४३॥

जो **'सविता'** अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणि-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा, और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को

जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य आदि सब लोक घूमते हैं। इस विषय में यह प्रमाण है—

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का। अपनी-अपनी परिधि में, वे सब अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उसके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रामण होता है, तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रामण और पालन कर रहा है ॥१॥

या गौर्वर्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
साप्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥२॥

—ऋ. अ. ८ । अ. २ । व. १० मं. १

भाष्यम्—(या गौर्वर्तनिं०[2]) या पूर्वोक्ता गौर्वर्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती, पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गम्? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम्। (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती, तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्तत इति ॥२॥

भाषार्थ—(या गौर्व०) जिस-जिसका नाम 'गौ' कह आये हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिसके घूमने के लिए जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह

---

१. अर्थात् सूर्यमण्डल।

२. अथ मन्त्रः प्राधान्येन पृथिवीभ्रमणमाचष्टे 'या गौः' इति स्त्रीलिंग निर्देशात्। इयं पृथिवी सूर्यस्य परितो भ्रमति, न सूर्योऽस्याः परित इत्यस्यार्थस्य निर्देश आचार्यवर्यैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः स्वकीये यजुर्वेदभाष्यविवरणे 'आयं गौः' (३।६) मन्त्रव्याख्याने विस्तरेण विहितः। स तत्रैव द्रष्टव्यः।

दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता ॥

वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड[1] में एक सूर्य प्रकाशक, और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं। जैसे—

'दिवि सोमो अधि श्रितः' । —अथर्व० का० १४। अनु० १। मं० १॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं, परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि पृथिव्यादि लोक का घूमकर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन, और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है तो उतने में रात, अर्थात् उदय-अस्त, सन्ध्या-मध्याह्न, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देशदेशान्तरों में सदा

गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥२॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

—ऋ०अ०६।अ०४।व०१३।

भाष्यम्—त्वं सोम० अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति ।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यग् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित् सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः । अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि ।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते' इति मन्त्रवर्णार्थाद् द्यौः, सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥

॥ इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः ॥

भाषा—(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥३॥

॥ इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

वैदिक संहिताओं में ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, परन्तु वह सब इतने रहस्यपूर्ण व आलंकारिक ढंग से लिखा गया है कि आज के युग में उस पद्धति को जानना व समझना अत्यन्त कठिन है, और अब यदि उन उपलब्धियों पर आज के विद्वान् एकमत नहीं हो पाते तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिन बातों को आज का विज्ञान जान पाया है, वे ही नहीं, अपितु जिनको अभी तक वह नहीं जान पाया है, वे भी वेदों में विद्यमान हैं।

ऋग्वेद (१।११५।१; २।४०।४) में विश्व को तीन लोकों में विभक्त किया गया है—पृथिवी अन्तरिक्ष तथा

वर्त्तमान रहते हैं, अर्थात् जब आर्यावर्त्त में सूर्योदय होता है, उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है और जब आर्यावर्त्त में अस्त होता है, तब पाताल देश में उदय होता है। जब आर्यावर्त्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

[पृथिवी के भ्रमण में हेतु]

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं, क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते, अर्थात् सूर्य का नाम **'ब्रध्न'**[1] है। वह पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और क्रोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती, और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन-रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं और जो

द्यौः। इसके पश्चात् पुनः प्रत्येक के तीन भाग किये हैं। आकाश (अन्तरिक्ष) का सम्बन्ध बादल, विद्युत्, वायु से है तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और तारों का सम्बन्ध द्युलोक से है। पृथिवी की द्युलोक से दूरी अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग ढंग से बताई गयी है।

ऋग्वेद में पृथिवी का आकार वर्तुलाकार कहा गया है (१।३३।८) और बताया गया है कि पृथिवी अपने आप हवा में स्वतन्त्ररूप से विद्यमान है (४।५३।३)। शतपथब्राह्मण ने इसे स्पष्टरूप से **'परिमण्डल'** संज्ञा दी है। पृथिवी के विस्तार के विषय में भी कल्पना की गयी है। प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य तथा डॉ० एकेन्द्रनाथ घोष का मत है कि वेद में पृथिवी की दोनों गतियों—पृथिवी का अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर कक्षागति (Axial Rotation, Orbital Rotation) के प्रमाण उपलब्ध हैं। ये गतियाँ सूर्य के कारण उत्पन्न हुई हैं। लुडविग ने बहुत पहले बताया था कि ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही है। ऋग्वेद (७।५८।२) में लिखा है कि पृथिवी की दोनों प्रकार की गति के कारण ही सूर्य दिन, रात, मास और वर्ष बनानेवाला है। ऋतुओं का जनक भी वही है। वायु को गति देनेवाला भी वही है (ऐत० ब्रा० २।७)। वहाँ यह भी लिखा है कि सूर्य न कभी उदय होता है और न अस्त। पृथिवी की गति के कारण ही वैसा प्रतीत होता है।

ऋग्वेद (१।४१।४) के अनुसार वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग निर्मित किया है जिसे 'ऋत' कहते हैं। उसी के निमित्त से वहाँ आदित्य ब्रह्मचारी के मार्ग का निर्देश किया है। यहीं राशिचक्रसम्बन्धी पट्टी (Zoadical Belt) का उल्लेख है। लुडविग का विचार है कि ऋग्वेद में रविमार्ग का पृथिवी की भूमध्य रेखा (१।११०।२ तथा धुरी (१०।८६।४) के साथ सम्बन्ध का वर्णन है। मोटे तौर पर सूर्य (पृथिवी) की वार्षिक गति दो अर्द्धभागों—उत्तरायण और दक्षिणायन में विभाजित है। रविमार्ग (Ecliptic) बारह भागों या बारह राशिचक्रों में विभाजित है। परिणामस्वरूप एक वर्ष में बारह महीने होते हैं। सूर्य प्रत्येक महीने में पृथक्-पृथक् राशि से गुज़रता है। प्रत्येक राशि से गुज़रता हुआ सूर्य पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा जाता है जिससे बारह आदित्यों की परिकल्पना की गयी है।

'आयं गौरिति' मन्त्र के शब्दार्थ में निम्न प्रमाण हैं—यास्कीय निघण्टु में 'गौ' शब्द पृथिवी के पर्यायवाची शब्दों में पढ़ा गया है। निरुक्त में **'गौ'** का अर्थ **'पृथिवी'** इसलिए पढ़ा गया है, क्योंकि (क) सूर्य से दूर-दूर गति करती है। (ख) अथवा इसमें सब प्राणी गति करते हैं। निरुक्त में 'सूर्य' का नाम भी 'गौ' लिखा है, क्योंकि यह (क) रसों को ले-जाता है, और (ख) स्वयं अन्तरिक्ष में गति करता है।

---

१ **'असौ वा आदित्यो ब्रध्नः'**। —शत० १३।२।६।१॥

इसी प्रकार निरुक्त में **'द्युलोक'** का नाम भी **'गौ'** आया है, क्योंकि वह (क) पृथिवी से बहुत दूर गया हुआ है, (ख) और इसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक गति करते हैं। निरुक्त में **'स्वः'** नाम भी आदित्य का आया है, क्योंकि वह (क) पूर्णतया अन्धकार को दूर भगानेवाला है, (ख) वह रसों के ग्रहणार्थ गया हुआ है, (ग) चन्द्र तथा पृथिव्यादिक ज्योतिर्लोकों के प्रकाश के प्रति गया हुआ है अर्थात् उन्हें प्रकाशित करता है, (घ) दीप्ति से संगत है अर्थात् वह दीप्तिमान् है। निरुक्त में **'पृश्नि'** नाम अन्तरिक्ष का आया है, क्योंकि उसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक रहते हैं।

पृथिवीभ्रमण के पोषक प्रमाण वैदिक वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। जैसे—

१. **यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।**
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥

—अथर्व० १२।१।५२

'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता'—वार्षिक गति से (वर्षभर में) पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्र काटकर लौट आती है। **'अहोरात्रे विहिते'** प्रतिदिन की गति भी इसी से सिद्ध है।

२. **प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।**
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश॥

—ऋ०८।१०१।१४

सूर्य बहुत बड़ा है और सबके मध्य में स्थित है। पृथिव्यादि उसके चारों ओर घूमते हैं।

३. ऋग्वेद (१०।२२।१४) में बिना हाथ-पाँव के पृथिवी सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है—ऐसा प्रतिपादन किया है।

४. यजुर्वेद ८।६ में लिखा है-

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥

मैं सूर्य को दोनों ओर देखता हूँ, पूर्व भी तथा पश्चिम भी अर्थात् सूर्य पूर्व या पश्चिम जाता है या घूमता है, यह बात नहीं। अपितु वह घूमता है, ऐसा मैं समझता हूँ। घूमते देखना या प्रतीत होना मेरे दृष्टिदोष से सम्बन्ध रखता है, वस्तुतः सूर्य घूमता नहीं।

५. यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसके पिछले आधे भाग में सदा अन्धकार तथा सामने आधे भाग में सदा प्रकाश बना रहता है। बीच में सब पदार्थ हैं। यह पृथिवी माता के समान सबकी रक्षा करती है।

—ऋग्वेद १।१६४।१७

६. सूर्य चक्र को पैदा करता है, अर्थात् सूर्य पृथिवी आदि के चक्रोत्पन्न होने में हेतु है, स्वयं चक्र नहीं करता।

वेद के समान ही ब्राह्मणग्रन्थों से भी पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना सिद्ध है। ऐतरेयब्राह्मण अध्याय १४, खण्ड ६ तथा गोपथब्राह्मण उत्तरार्द्ध ४।१० में स्पष्ट लिखा है—"यह सूर्य न कभी उदय होता है न अस्त। उसे जो पश्चिम में अस्त या पूर्व में उदय होना मानते हैं, वे अपने आपको भूल में डाल रहे हैं।"

वेद की इस (ब्राह्मणोक्त) व्याख्या के अनुसार तो इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। आदित्य-गति माननेवालों के लिए ही 'सूर्य पश्चिम में जाकर अस्त हो गया अथवा अब पूर्वदिशा में उदय

हो रहा है'—मुख्यवृत्ति से ऐसा व्यवहार हो सकता है। पृथिवीभ्रमणवादी तो गाड़ी में बैठे पीछे दौड़ते हुए वृक्षों को 'वृक्ष दौड़ रहे हैं' इस व्यवहार के समान उपचार से ही कहते हैं, न कि वस्तुतः। उनका ऐसा कहना उपचार से बनता है या अज्ञानवश। इससे वृक्षों का दौड़ना सिद्ध नहीं हो जाता।

महान् ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट ने भी पृथिवीभ्रमण की पुष्टि की है। 'आर्यसिद्धान्त' में आये 'अनुलोमगतिर्नौस्थः,' का अभिप्राय यह है कि जैसे चलती हुई नाव में बैठे मनुष्य को नाव स्थिर और किनारे के पेड़, घर आदि उल्टी दिशा में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, इसी प्रकार नक्षत्रचक्र अचल होने पर भी घूमनेवाली पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्य को पश्चिम की ओर घूमता हुआ देख पड़ता है। 'आर्यसिद्धान्त' में आगे लिखा है—"सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बार-बार अपनी धुरी पर घूमकर प्रतिदिवस इनके उदयास्त का सम्पादन करती है।"

पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ घूमता है तो उसका वेग अपने केन्द्रस्थान (ठीक बीच) की अपेक्षा दूरतर स्थान में अधिक होता है। इसीलिए यदि कोई वस्तु बहुत ऊँचे स्थान (मीनार आदि) से गिराई जाए तो वह वस्तु कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी, जहाँ से गिराई गयी है, उस स्थान के ठीक नीचे नहीं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है।

ग्रन्थकार ने जो **'आयं गौः'** इस मन्त्र के व्याख्यान में अन्य लोकों का भ्रमण कहा है, वह गो शब्द से भूगोलादि के उपलक्षण से तथा **'अयं'** इस पुल्लिंग-प्रयोग से सब ठीक है। वहाँ सूर्य का अपनी कक्षा में तथा अन्यों का सूर्य के चारों ओर भ्रमण यथाक्रम समझना चाहिए।[1]

'पृथिवीसूक्त' के नाम से प्रसिद्ध अथर्ववेद के १२वें काण्ड के पहले सूक्त में विस्तारपूर्वक बताया है कि

१. सूर्य अपनी धुरी पर एकचक्कर २५ दिन, ६ घण्टे ७ मिनट में पूरा करता है। इस विषय में विस्तार से जानने के लिए पं० श्री ब्रह्मदत्तजिज्ञासु द्वारा सम्पादित महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य, प्रथम भाग में इस मन्त्र का भाष्य देखें।

"Once men thought that the sun remained perfectly still, while the planets and their moons moved round them. But we have learned that that is not true. The sun has two movements. Like the earth, the sun spins, or rotates, upon itself, and in the same direction as the earth. Thus, we can notice a sun-spot appear at one side of the sun, travel across its face, disappear for several days, and then reappear where we saw it first. But, besides this movement of rotation, the sun has a movement of translation, as it is called—that is, an actual bodily movement from place to place.

We do not doubt that all other stars are in motion too. It used to be impossible to see any sort of arrangement or order in the movements of the sun and the other stars. But now a German astronomer, Professor Kapteyn and others following him seem to have shown that the stars consist of two great hosts, which are streaming through or past each other in opposite directions and at different speeeds, and they think that our sun belongs to one of these groups of stars. Of cours, where the sun moves he carries all his family with him—planets, moons, comets and so on together with everything that is born and borne upon them; but neither astronomer nor other scientist can say where the sun is carrying us, nor what the result will some day be."

—The Book of Knowledge P. 1678

सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे ज्योतिर्विद्यावित् नहीं, क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता, तो एक राशि=स्थान से दूसरी राशि अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता और गुरु पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता।

और जो जैनी कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे-नीचे चली जाती है, और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं, वे तो गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं, क्योंकि जो नीचे-नीचे चली जाती, तो चारों और वायु के चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न-भिन्न होती और निम्नस्थलों में रहनेवालों को

पृथिवी हम सबकी माता है और इस नाते हमारा सब प्रकार से पालन-पोषण करते हुए अनेक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है।

यह सर्वविदित है कि चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है। घूमते हुए जब कभी वह पृथिवी और सूर्य के बीच में आ जाता है तो चन्द्रमा की ओट में हो जाने से कुछ काल के लिए सूर्य पृथिवी से दिखाई देना बन्द हो जाता है। इसी को सूर्यग्रहण कहा जाता है। चन्द्रमा के पृथिवी के चारों ओर और पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने से ही यह स्थिति आती है।

तैत्तिरीयब्राह्मण (५।२।१) से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों ने बिना किसी यन्त्र की सहायता के अपनी नंगी आँखों से सूर्य के साथ उदित और अस्त होनेवाले तारों की सहायता से सूर्य की गति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद (५।४०।६) में तुरीय उपकरण की सहायता से सूर्य के पूर्ण ग्रहण के निरीक्षण का उल्लेख मिलता है। प्राचीन आर्य सूर्यग्रहण के आरम्भ, अवधि तथा समाप्तिकाल की गणना कर सकते थे। अथर्ववेद (१९।९।१०) के अनुसार सूर्यग्रहण राहु द्वारा लगा करता है। सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा होता है।

सूर्य की ऊर्जा से ही पृथिवी पर जीवन है। पृथिवी के लगभग ७० प्रतिशत क्षेत्र में जल है। सूर्य की ऊर्जा और पृथिवी के जल से वाष्प बनती है, जो आकाश में जाकर मेघमण्डल का रूप धारण करती है, जिससे वर्षा होती है। इसी से अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण, अन्नादि पृथिवी पर उत्पन्न होकर प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं। इसलिए पृथिवी के लिए सूर्य पिता के समान है। सूर्य की पूर्ण ऊर्जा की बहुत कम मात्रा पृथिवी पर पहुँचती है। सूर्य के भीतर एक सैकिण्ड में जितनी ऊर्जा पैदा होती है उसका भी जीव अपने करोड़ों वर्षों के जीवन में उपयोग नहीं कर सके हैं। यदि सूर्य के अन्दर कोयला होता तो कुछ ही वर्षों में जलकर समाप्त हो गया होता। इससे पता चलता है कि सूर्य की ऊर्जा का स्रोत कुछ और है। सूर्य से प्रति सैकण्ड ४० लाख टन के द्रव्यमान के परिमाण में ऊर्जा निकलकर आकाश में विकिरण हो रही है। सूर्य के अन्दर विभिन्न तत्त्वों के परमाणु हैं। उनमें हाइड्रोजन गैस के परमाणु सबसे अधिक हैं। हाइड्रोजन के परमाणुओं का संयोग होता है तो ऊर्जा उत्पन्न होती है और एक दूसरा तत्त्व हीलियम पैदा हो जाता है। इन परमाणुओं का विघटन होने पर फिर ऊर्जा पैदा होती है। इस प्रकार परमाणुओं के संयोग और वियोग से पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा पैदा होती है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस क्रिया को **'नाभिकीय चैन क्रिया'** कहते हैं। परिकलनों के आधार पर सूर्य के प्रकाशमण्डल का औसत तापक्रम ६३००° सेण्टीग्रड है। सूर्य के प्रकाशमण्डल के चारों ओर जो द्रव्य वर्णमण्डल और किरीट के रूप में है उसका तापमान भी ३०००° के बराबर है। इतने ऊँचे तापक्रम पर कोई भी द्रव्य ठोस अथवा द्रव अवस्था में नहीं रह सकता, अतः सूर्य में वह अवश्य ही वाष्परूप में परिणत हो गया होता। सूर्य वाष्प अथवा वायुरूप में है। इसी से वायु को सूर्य का पिता कहा है। इन सब लोकों को नियमपूर्वक अपने-अपने मार्ग में चलानेवाली शक्ति का नाम परमेश्वर है, जिसमें सब शक्तियाँ केन्द्रित हैं।

लगभग ४५० वर्ष पूर्व तक पाश्चात्य लोग यही मानते थे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। यह सिद्धान्त भूकेन्द्रित था। ईसाई मत की मान्यताएँ इसी आधार पर टिकी थीं। जिन वैज्ञानिकों ने इस मान्यता का विरोध किया उन्हें कठोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, परन्तु गैलिलियो, कैपलर और कापरनिक्स आदि वैज्ञानिकों की साहसपूर्ण खोजों के प्रकाश में आने के बाद ईसाई धर्मगुरुओं को विवश होकर मानना पड़ा कि यह जगत् सूर्यकेन्द्रित है और पृथिवी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। सन् १९१७ तक यही समझा जाता था कि सूर्य तारों से पूर्ण इस विश्व के केन्द्र में है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि यह सम्पूर्ण विश्व उत्केन्द्र स्थिति में है।

इस ब्रह्माण्ड में सूर्य का अपना एक परिवार है, जिसे सौरमण्डल कहते हैं। इस परिवार में ९ ग्रह हैं जो सूर्य की दीर्घ वृत्ताकार परिधि में परिक्रमा करते हैं। ३० उपग्रह हैं जो अपने-अपने ग्रहों के गिर्द घूमते हैं। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है और इसका भौगोलीय परिकाल २९$\frac{१}{२}$ दिन है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब अपनी-अपनी धुरी पर लट्टू की तरह घूमते हैं, परन्तु सबका घूर्णनकाल अलग-अलग है।

असंख्य तारों के समूह को अंग्रेजी में गैलेक्सी या मिल्की वे (Galaxy or Milki way) कहते हैं। हमारे यहाँ इसे आकाशगंगा के नाम से अभिहित किया गया है। सप्त-ऋषि आदि की तरह सूर्य भी एक तारा होने से हमारी आकाशगंगा का सदस्य है। आकाश में कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं जो बादल के टुकड़ों के समान दिखाई पड़ती हैं। इन्हें नीहारिका कहते हैं। ये भी हमारी आकाशगंगा के समान असंख्य तारों का समूह हैं। इस तरह की अनगिनत निहारिकाएँ इस ब्रह्माण्ड में हैं। आकाशगंगा के अन्दर के सारे पिण्ड आकाशगंगा के नाभिकीय केन्द्र का चक्कर लगाते रहते हैं।

सूर्य १५० मील प्रति सैकण्ड की गति से वृत्ताकार पथ में आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। अपनी धुरी पर सूर्य २७ दिनों में एक चक्कर पूरा करता है जिसका प्रमाण सूर्य की सतह पर पाये जानेवाले धब्बे हैं जो सूर्य के पश्चिमी भाग से उसके पूर्वी भाग की ओर चलते प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये धब्बे अपनी जगह पर बने रहते हैं, परन्तु सूर्य में घूर्णन गति के कारण घूमते से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सभी लोक-लोकान्तर चलायमान हैं।

यूरोप में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो (Galileo) ने यह कहा था कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है तो धार्मिक लोगों ने उसके विरुद्ध आन्दोलन किया, क्योंकि बाइबल के अनुसार पृथिवी के गिर्द सूर्य परिक्रमा करता है। इसे अपराध मानकर दण्ड दिया गया और उसके फलस्वरूप उसे जेल में रहना पड़ा। इसी प्रकार जब उसने सूर्य में धब्बे होने की बात कही तो लोगों ने कहा कि या तो गैलिलियो की आँखों में दोष है या उसकी दूरबीन (**Telescope**) ख़राब है। जिस ईश्वर ने सृष्टि बनाई, यदि बाइबल में उसी का दिया ज्ञान होता तो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातें न लिखी होतीं। ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी पर वेद ही खरा उतरता है।[1]

एतेषु हीदम्—'सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं' का अभिप्राय यह है कि जिन लोकों में मानवादि प्राणी नहीं हैं, वे भी वास का हेतु अर्थात् बसाने में सहायक होने के

1. What Galileo taught appeared to the members of the Inquisition to be in direct contradiction to the Bible, which spoke of the Sun rising and setting. We know now that the sun does not really rise and set, but that the earth goes round. But the men who tried Galileo did not know this, and in their belief the Bible was to be taken in its literal sense in all departments of human knowledge. They could not bring themselves to agree with Galileo when the old man urged, with some humour and cleverness, that the Bible was intended to teach how to go to heaven, and not how the heavens go. As a result of this trial, Galileo was condemned as 'vehemently suspected of heresy' and was ordered to be imprisoned.—The Book of knowledge, page 3612

वायु का स्पर्श न होता, नीचेवालों को अधिक होता, और एक-सी वायु की गति होती। दो सूर्य, चन्द्र होते तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिए एक भूमि[1] के पास एक चन्द्र और अनेक चन्द्र तथा अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

[अन्य लोकों में भी प्राणी है]

प्रश्न—सूर्य-चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं? और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोल लोक, और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। क्योंकि—

'एतेषु हीदँ सर्वं वसु हितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति' ॥

—शत० का० १४।६।९।४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका **'वसु'** नाम इसलिए है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं, और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिए वास के=निवास करने के घर हैं, इसलिए इनका नाम **'वसु'** है॥

जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु है, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या

कारण 'वसु' कहाते हैं। यथा—चन्द्रमा में प्राणियों का वास न होने पर भी वह पृथिवीलोक के प्राणियों के जीवन-निर्वाह में सहायक है। **'सोम ओषधिनामधिपतिः'**—चन्द्रमा के कारण ही ओषधि-वनस्पति आदि में रस उत्पन्न होता है और इस प्रकार वह अन्न, फल आदि प्रदान करके प्राणियों को बसाता है। सूर्य अग्निरूप है। इस कारण पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियों का उसमें बसना सम्भव प्रतीत नहीं होता। तथापि वह सूर्य समस्त चराचर जगत् के जीवन का हेतु है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**। सूर्य न हो तो वर्षा के अभाव में न पीने को जल मिले, न अन्न आदि उत्पन्न हों और न साँस लेने के लिए शुद्ध वातावरण हो। इस प्रकार वस्तुमात्र इन वसुओं में निहित हैं। पृथिवी का एक नाम 'वसुधा' भी है। प्राणियों को अन्न, जल, तेल, कोयला और अनेक प्रकार की धातु आदि सब-कुछ उसी से मिलता है। इस प्रकार इन्हीं वस्तुओं के आश्रय से जीव बसते हैं।

न्यायदर्शन (३।१।२७) के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—**'आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि'** अर्थात् लोकान्तर में जल, अग्नि और वायु के शरीर होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लोकान्तर में केवल अग्नि, जल अथवा वायु के शरीर होते हैं अपितु उसका यह अर्थ है कि लोकान्तर में अग्नि, वायु, जलतत्वप्रधान आग्नेय, जलीय तथा वायव्य शरीर होते हैं, जैसे पृथिवी लोक में पृथिवीतत्त्व-प्रधान पार्थिव शरीर। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे शरीर केवल पृथिवी से बने हैं और उनमें अग्नि, जल, वायु का अत्यन्ताभाव है। जैसे पृथिवी पर रहने के कारण हमारे शरीरों में पृथिवीतत्व प्रधान है, वैसे ही नभचर प्राणियों के शरीर में वायुतत्व प्रधान तथा जलचरों के शरीरों में जलतत्व प्रधान तथा गर्म देश में रहनेवाले प्राणियों के शरीरों में अग्नितत्त्व प्रधान होता है, दूसरे तत्त्व गौणरूप से विद्यमान रहते हैं।

इसी के अनुसार अन्यान्य लोकों में आग्नेय (तैजस), जलीय, वायव्य शरीरों की सम्भावना हो सकती है। उनमें से यदि कहीं जलीय आदि शरीरों का होना सम्भव है, वहाँ भी अन्य भूतों के संयोग-सहयोग को

---

१ यहाँ 'भूमि' शब्द ग्रह का वाचक है, और 'चन्द्र' उपग्रह का। किसी-किसी ग्रह के एक से अधिक भी उपग्रह हैं।

सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता । तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है ।

[लोकान्तरों के प्राणियों में आकृति-भेद सम्भव]

प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति, अवयव है, वैसे ही अन्य लोकों में भी होंगी, वा विपरीत ?

उत्तर—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है । जैसे इस देश में चीन, हबशी और आर्यावर्त्त यूरोप में अवयव, रंग-रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं, परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है । जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं । क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

—ऋ० म० १० । सू० १९०। मं० ३

नकारा नहीं जा सकता । पुरुष के भोग, अपवर्ग आदि प्रयोजन जहाँ, जिस रूप में सम्पन्न होने सम्भव हों, उसी के अनुकूल शरीर आदि की रचना उपयुक्त रहती है ।

आम धारणा यह है कि आधुनिक विज्ञान पृथिवी से अतिरिक्त लोकों में जैवी सृष्टि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, परन्तु अद्यतन अध्ययन एवं अनुसन्धानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अभी तक अन्य लोकों में जैवी सृष्टि होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है, तथापि वहाँ जीवन की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । इस सन्दर्भ में कैलिफ़ोर्निया के Pasadena नगर में सम्पन्न अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों तथा खगोलशास्त्रियों की गोष्ठी का यह विवरण द्रष्टव्य है—

"Scientists searching for intelligent life in outer space say the odds, if not the evidence tell them extraterrestrials exist. 'I would be willing to bet one hundred dollars that between now and the time I die, we'll find evidence of intelligent life', said Al Hibbs, a retired space scientist at the National Aeronautics and Space Administration's jet propulsion laboratary.

Carl Sagan, a famous Cornell University astronomer said that "in a universe of 100 billion galaxies, each of which has a few hundred billion stars, the idea that our sun is the only star with an inhabited planet is laughable. Where do we come off to imagine we are the only kind of life in the Universe ?", he asked.

The speakers agreed that there has as yet to be a single confirmed report of an unidentified flying object. or U.F.O. from another planet, but most of them said they believed intelligent life must exist beyond earth.

Because there is evidence planets may exist around a dozen nearly stars and because the chemical evolution that produced life on earth exists throughout the known universe, the probability for intelligent life elsewhere is 100 percent, said Frank Drake, Dean of Natural Sciences at the University of Calafornia's Santa Cruz campus. Drake said it is possible extraterrestrial tourists view earth as 'a zoo'. They are already here but choose not to reveal their presence.

'धाता'=परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुखविशेष पदार्थ पूर्वकल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं। भेद किंचिन्मात्र नहीं होता ॥

[वेदों का प्रकाश अन्य लोकों में भी]

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है, वा नहीं ?

"We are, as best we can tell, the result of completely normal processes. Therefore life should be abundant in the universe", said Drake who is also President of the Search for Extraterrestrial Intelligence Institute, a NASA—Funded effort to search from radio signals for alien civilizations.

According to Drake in our galaxy alone, 'once a year a new species of intelligent creatures emerges."—Indian Express, 7.4.1987

Life possible on Jupiter

There could be life forms on the moon of Jupiter and Saturn, even though the conditions prevailing there were drastically different from those of Earth, according to the Director of Indian Institute of Astrophysics, Bangalore, Dr. J.C. Bhattacharya.

Talking to P.T.I. Dr. Bhattacharya said it would be erroneous to assume that life forms could exist only in an Earth-like atmosphere where the content of oxygen was a plenty and the temperature moderate.

For instance, even on Earth, there were some micro-organisms which thrived in total absence of oxygen like the titanus virus which lived in anerobic conditions.

"In Galapagos island near Pacific Ocean, there are places where the temperature of water is as high as 350° C and even in such places becterias have been found to survive, Dr. Bhattacharya added."

Dr. Bhattacharya, alongwith over 300 space scientists, were in the city recently in connection with a national space science symposium, organised by the Indian Space Research Organisation (ISRO) and the Nagpur University on 16.3.90

इस प्रसंग में दिल्ली से प्रकाशित 'नवभारत टाइम्स' के २४ मार्च १९९० के अंक में प्रकाशित यह विवरण भी द्रष्टव्य है—

हमारी दुनिया यह नही मानती कि उसके अलावा और भी दुनिया हैं। पृथिवी का आदमी अपनी दुनिया से इतना आश्वस्त है कि वह अन्य ग्रहों या आकाशगंगाओं पर बुद्धिमान् प्राणियों की मौजूदगी की बात पर विश्वास ही नहीं कर सकता। वह सोचता है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि उस जैसे आदमी या उससे भी अधिक बुद्धिमान् प्राणी अन्यत्र हो सकते हैं। लेकिन वैज्ञानिकों की दुनिया में आएँ तो हमें विश्वास होने लगता है कि हाँ, अन्यत्र भी प्राणी हो सकते हैं।

हमारी पृथिवी पर आई उड़नतश्तरियों और उनमें से निकले प्राणियों की बात हम यहाँ नहीं लेते, हालाँकि ग्रहों पर जीवन की सचाई का यह एक शक्तिशाली मुद्दा हो सकता है। अनेक लोगों ने इन अजीब प्राणियों को देखा है, लेकिन अभी तक ये आमने-सामने नहीं हुए हैं। इसलिए कह नहीं सकते कि इनमें कितनी बुद्धि है और ये किस हाड़-मांस के बने हैं।

अब तो खगोलविदों ने ऐसे विशाल रेडियो-टेलिस्कोप फिट कर दिये हैं कि वे अन्य ग्रहों से आये सन्देशों को पकड़ सकते हैं। अमेरिका की राष्ट्रिय अन्तरिक्ष एजेंसी 'नासा' तथा केलिफोर्निया के कुछ इंजीनियरों का कहना है कि अन्य ग्रहों पर बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का काम जारी रखना चाहिए, चाहे इसमें सफलता की सम्भावनाएँ कम ही क्यों न हों। दूर अन्तरिक्ष में सभ्यताओं के सन्देश प्राप्त करने के लिए हमें पूरी तरह तैयार रहना चाहिए। नासा ने कहा है कि सन्देश प्राप्त करने या 'सुनने' के असली प्रयत्न कोलम्बस दिवस (अक्टूबर १९९२) पर शुरू होंगे। उस समय क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज की ५००वीं वर्षगाँठ मनाई जाएगी। अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के काम में दस साल लगेंगे और इसपर कम-से-कम नौ करोड़ ५० लाख डॉलर खर्च आएगा। कोलम्बस समारोह से पहले भूलोक के अलावा बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का कार्यक्रम 'सेटी' कई साल से चल रहा है। अब इस कार्यक्रम में तेजी शुरू हो गयी है। समय-समय पर पूरे आकाश का 'स्कैनिंग' किया जा रहा है। उस संकेत की तलाश है जो पृथिवी के आदमी को दगा दे रहा है। पता नहीं कब पकड़ में आ जाए।

सान फ्रांसिस्को से दक्षिण में सिलिकन घाटी में नासा के एम्स रिसर्च सेंटर में 'सेटी' का सदरमुकाम है। प्रोजेक्ट की निर्देशिका डॉ० जिल टारटर का कहना है—'यह महत्त्वपूर्ण है कि इस देश को अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के लिए कुछ करना चाहिए।' जिल कहती हैं कि हम अरबों फ्रीक्वेंसी में से किसी पर सन्देश सुन सकते हैं। यदि कोई सन्देश सुना गया तो ब्रह्माण्डीय प्राणियों से बात करना मुश्किल नहीं होगा। उनकी भाषा समझ ली जाएगी, क्योंकि भाषाओं के सैकड़ों स्वरूप तैयार कर लिए गये हैं। रेडियो सन्देश प्रकाश की गति से जाते हैं, फिर भी हमारे सौरमण्डल के पास के किसी पिंड से संकेत के आने-जाने में दस वर्ष लग जाएँगे।

एक बात बड़ी अजीब है। वैज्ञानिक कहते हैं हमें अभी तक कोई संकेत नहीं मिला है, लेकिन यह भी नहीं मानना चाहिए कि अन्य ग्रहों पर प्राणी नहीं होंगे। अभी यन्त्रों को ठोका-बजाया जा रहा है और देखा जा रहा है कि उन्हें कैसे इस्तेमाल किया जाए। एक यन्त्र-प्रणाली ऐसी है, जो एक साथ एक करोड़ चैनलों पर सन्देश ग्रहण कर सकती है। इसमें एक बहुचैनल वर्णक्रम विश्लेषक लगा है। इस यन्त्र को मोहावे रेगिस्तान में नासा के गोल्ड स्टोन टोही केन्द्र से जोड़ दिया गया है, जहाँ २६ मीटर व्यास का डिश ऐंटीना लगा है। यदि कोई संकेत पकड़ में आ जाता है तो यह किसी विकसित सभ्यता का सन्देश हो सकता है जो किसी अन्य प्राणी की तलाश में अपना सन्देश भेज रही है। वे कह सकते हैं—'सुनो मैं यहाँ हूँ, सुनो, सुनो—।' हो सकता है यह कोई जटिल सन्देश हो, जो मानवीय मस्तिष्क या सबसे विकसित कंप्यूटर की समझ से भी बाहर हो।

अनेक वर्षों से वैज्ञानिक मानते आये हैं कि पृथिवी के अलावा भी बुद्धिमान् प्राणी हैं। खगोल विद्या ने हमें पाठ पढ़ाया है कि साधारण कार्बन-आधारित अणु सारे ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। पृथिवी पर जीवन के ऐसे ही रासायनिक निर्माण-अणु हैं। कहा जाता है कि हमारी आकाशगंगा में ही बुद्धिमान् प्रजातियों की संख्या एक से एक करोड़ तक हो सकती है। लेकिन यह गणना करना मुश्किल हो रहा है कि इनमें से कौन सी प्रजाति कब तक उतनी विकसित होती है जब वह संकेत भेज सकती है। अभी यह भी नहीं मालूम कि इन प्रजातियों का अलग-अलग जीवनकाल कितना है।

सवाल उठ सकता है कि अब तक आकाशगंगा की जीवित विकसित सभ्यताओं ने अपनी तकनीकी प्रगति के आधार पर हमें संकेत क्यों नहीं भेजे ? यदि भेजे होते तो हमें अवश्य मिलते। हो सकता है कि आकाशगंगा की

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

[जीव और प्रकृति ईश्वर के अधीन हैं]

प्रश्न—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इनपर न होना चाहिए, क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए।

उत्तर—जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं, और राजा के अधीन प्रजा होती है, वैसे परमेश्वर के अधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनाने, जीवों के कर्मफलों के देने, सब का यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो अल्पसामर्थ्य जीव और जड़ पदार्थ उसके अधीन क्यों न हों ? इसलिए जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं। वैसे ही वह सर्वशक्तिमान् सृष्टि संहार और पालन सब विश्व का करता है।

इसके आगे विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष के विषय में लिखा जाएगा। यह आठवाँ समुल्लास पूरा हुआ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयेऽष्टमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥८॥

ये शक्तियाँ पृथिवी के आदमी को अपने सम्पर्क से दूर रख रही हैं। हो सकता है कि उनकी संचार प्रणाली रेडियो नहीं है, कोई और प्रणाली है जो मानवीय वैज्ञानिकों की कल्पना से परे है।

अब अन्य सभ्यताओं की खोज के लिए यह दशक महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। यदि हमसे अधिक विकसित सभ्यताओं के चिह्न मिल गये तो आदमी का अहम् दूर हो जाएगा। वह मान लेगा कि उसकी दुनिया के अलावा और भी दुनिया है।

ईश्वर का अधिकार—**'महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'** (यजुः० २३।३)—**स्वमहिम्ना एव जगतो राजा बभूव** अर्थात् परमेश्वर अपनी महिमा=अनन्त सामर्थ्य के कारण जगत् का स्वामी है। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न तथा राग-द्वेष से युक्त है। इसकी तुलना में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा निर्विकार है। ईश्वर सच्चिदानन्द है जबकि जीव केवल सच्चित् है। इस प्रकार अपने गुणोत्कर्ष के कारण परमेश्वर जीवों तथा जड़ पदार्थों का अधिपति है। जैसे राजा और प्रजा बहुत बातों में समान होते हैं तो भी अपने सामर्थ्याधिक्य के कारण राजा प्रजा पर शासन करता है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता तथा असंख्य जीवों की यथावत् रक्षा करता तथा उनके कर्मफल की समुचित व्यवस्था करता है। इसी कारण उसे **ब्रह्म=बड़ा** कहते हैं।

अथ नवमसमुल्लासारम्भः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

[विद्या और कर्म से मोक्ष की प्राप्ति]

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

—यजुः० अ० ४० । मं० १४

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-ही-साथ जानता है, वह '**अविद्या**' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके '**विद्या**' अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

विद्यां चाविद्यां च—इस मन्त्र के गूढार्थ को समझने के लिए इससे पहले के दो मन्त्रों और उनमें निहितार्थों का जानना आवश्यक है । वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

इन तीनों मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

(ये) जो (अविद्याम्) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म की (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धन्तमः) घोर अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । (ततः) उससे भी (भूय इव) अधिक अन्धकार में (ते) वे (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये उ) जो केवल (विद्यायाम्) विद्या अर्थात् शब्दार्थसम्बन्धज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या में (रताः) लीन रहते हैं ।

(विद्यया) केवल ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञानमात्र से प्राप्त होनेवाला फल (अन्यदेव) कुछ और (आहुः) कहते हैं, (अविद्यया) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म से मिलनेवाला फल (अन्यदेव) कुछ और ही (आहुः) बताते हैं । (इति) ऐसा (धीराणाम्) उन विद्वानों से (शुश्रुम) हमने सुना है (ये) जिन्होंने (नः) हमारे लिए (तत्) इसकी (विचचक्षिरे) व्याख्या की है ।

(विद्याम्) ज्ञान अथवा आत्मविद्या को (च) और (अविद्याम्) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म को (यः) जो मनुष्य (तद् उभयं सह) उन दोनों को साथ-साथ (वेद) जानता है, (सः) वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्)मृत्यु को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुत) प्राप्त करता है ।

यहाँ प्रथम मन्त्र में विद्या और अविद्या के पार्थक्य से जो फलश्रुति कही है उससे स्पष्ट प्रतीत होता

है कि अविद्या से विद्या कहीं अधिक निकृष्ट कोटि की वस्तु है, क्योंकि उसका फल अधिक अँधेरे में गिरना बताया है। आपाततः देखने से यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, अतएव यहाँ पहले विद्या और अविद्या के स्वरूप का विवेचन आवश्यक है।

'विद्या' ज्ञान का पर्याय है, यह निर्विवाद है। 'अविद्या' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक पारिभाषिक और दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः अविद्या का पारिभाषिक अर्थ मिथ्याज्ञान लिया जाता है, जैसे—**'इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या, तद् दुष्टं ज्ञानम्'** (वैशे० ६।२।१०, ११)। प्रस्तुत मन्त्रों में अविद्या का यह पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं जान पड़ता। यह अर्थ अभीष्ट होता तो सब अनर्थों की जड़ 'अविद्या' को मृत्यु से पार करनेवाला न कहा गया होता। मिथ्याज्ञान या विपर्यय को तो बन्धन में डालनेवाला कहा गया है—**'बन्धो विपर्ययत्'** (सांख्य० ३।२४)।

'अविद्या' का यौगिक अर्थ है—विद्या से भिन्न अर्थात् जो यथार्थ ज्ञान नहीं है। जो विद्या या ज्ञान नहीं है, वह क्या है? 'अविद्या' का अर्थ विद्या का अभाव नहीं हो सकता। वस्तुतः विद्या के अभाव के अर्थ में अविद्या शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं, क्योंकि अभाव की न उपासना हो सकती है और न अभाव की उपासना से मृत्यु को तरनेवाली बात तर्कसंगत हो सकती है। अविद्या शब्द का वही अर्थ करना होगा जो शब्दार्थ की दृष्टि से भी ठीक हो और प्रकरणसंगत भी हो।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का देवता या प्रतिपाद्य 'आत्मा' है। आत्मा ईश्वर और जीव दोनों का वाचक है। इसलिए इस अध्याय को आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पृथक् रूप में ईशोपनिषद् (जो यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है) इसका प्रसिद्ध नाम है। इस नाम का गूढ़ार्थ भी यही है कि इसमें ईश की विद्या=ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है। शुक्लयजुर्वेद की संहिता होने से इसे वाजसनेयीसंहितोपनिषद् भी कह दिया जाता है।

वेदार्थ करने में वेदाङ्ग परम सहायक हैं और, जैसाकि महाभाष्य का कथन है, वेदांगों में व्याकरण मुख्य है—**'षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्'**। और जब प्रधानता का निश्चय हो जाए तो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए—**'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** (महाभाष्य ३।१।१)। वैसा करने पर ही सफलता मिलती है—**'प्रधाने च कृतः प्रयत्नः फलवान् भवति।'** एवं 'अविद्या' का अर्थ निर्धारित करने में व्याकरण की व्यवस्था जाननी चाहिए। अविद्या शब्द में दो समास हो सकते हैं—बहुव्रीहि और नञ्तत्पुरुष। बहुव्रीहि समासवाला अविद्या शब्द **'नास्ति विद्या—यथार्थज्ञानं यस्यां सा'** अर्थात् जिसमें यथार्थज्ञान नहीं है, उस उल्टे ज्ञान को कहता है। आगे योगसूत्रस्थ अविद्या के लक्षण में बहुव्रीहि समास अभिप्रेत है। बहुव्रीहि समासवाला यह अर्थ प्रस्तुत मन्त्रों में अभीष्ट नहीं है, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। आद्युदात्त होने से मन्त्रगत 'अविद्या' शब्द में नञ्तत्पुरुष समास है—न विद्या=अविद्या। व्याकरणमहाभाष्य के अनुसार नञ्तत्पुरुष उत्तरपद का निषेध करते हुए तत्सदृश अर्थ का बोधक होता है—**'नञ्विवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'** (महाभाष्य ३।१।१२)। जैसे—**'अब्राह्मण को लाओ'** ऐसा कहने पर ब्राह्मण से भिन्न, किन्तु ब्राह्मण-सदृश, क्षत्रियादि को लाया जाता है, गाय-भैंस या मिट्टी के ढेले को नहीं। इसी प्रकार 'अनश्वमानय' ऐसा आदेश मिलने पर अश्वसदृश सवारी के योग्य चतुष्पाद् प्राणी को लाया जाता है। इस प्रकार 'अविद्या' का कुछ ऐसा अर्थ होना चाहिए जो विद्यासदृश तो हो, पर विद्या न हो।

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों मन्त्रों को एक साथ पढ़े बिना न उनकी संगति लग सकती है और न उनसे अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है। ६वें मन्त्र में विद्या और अविद्या दोनों को अनर्थकारी बताया है। इस प्रकार वहाँ विद्या और अविद्या दोनों की ही निन्दा की गयी प्रतीत होती है, परन्तु ११वें मन्त्र तक पहुँचने पर स्थिति

[बन्ध के कारणभूत 'अविद्या' का लक्षण]

'अविद्या' का लक्षण—

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' ॥

—यह योगसूत्र २।५ का वचन है ॥

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा-सुना जाता है, वह सदा रहेगा, सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना **अविद्या का प्रथम भाग** है। 'अशुचि' अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के शरीर, और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र-बुद्धि **दूसरा**। अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुख-बुद्धि आदि **तीसरा**। अनात्मा में आत्मबुद्धि करना **अविद्या का चौथा भाग** है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान **'अविद्या'** कहाती है॥

[विद्या का लक्षण]

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख और सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना **'विद्या'** है, अर्थात् **'वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या'**। **'यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या'** जिससे पदार्थों का यथार्थ रूप बोध होवे वह **'विद्या'**, और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह **'अविद्या'** कहाती है।

[मन्त्रस्थ 'अविद्या' शब्द का अर्थ]

अर्थात् कर्म और उपासना **'अविद्या'** इसलिए है कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविशेष का नाम है, ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता, अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति, और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

बदल जाती है। वहाँ अविद्या को मृत्यु से पार करनेवाला और विद्या को मोक्ष प्राप्त करनेवाला बताया है अर्थात् दोनों को उपयोगी बताकर दोनों की स्तुति की गयी है। यदि दोनों में दोष होता तो दोनों के मिल जाने पर तो वह दुगुना हो जाता। इससे स्पष्ट है कि यहाँ निन्दा निन्दा के लिए नहीं, अपितु स्तुत्य की स्तुति करने के लिए की गयी है। तब यह अविद्या क्या है जो विद्या के साथ मिलकर हितकर हो जाती है ? शास्त्रों में विद्या और कर्म का सहभाव कहा है—**'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'** (बृहद० उप० ४।४।२ व निरुक्त १४।७)। इस प्रकार यहाँ अविद्या शब्द से विद्या से भिन्न तत्सदृश 'कर्म' का ग्रहण होता है। तब विद्या और अविद्या परस्पर विरोधी न रहकर एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं और ग्रन्थकार के शब्दों में मनुष्य 'अविद्या' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। वस्तुतः वैदिक धर्म अथ से लेकर इति पर्यन्त ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक है।

अनित्याशुचि—जैसाकि पहले कहा जा चुका है, यहाँ 'अविद्या' के लक्षण में बहुव्रीहिसमास अभिप्रेत है। **'अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या'**—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न समझकर अन्यथा अर्थात् उसके

विपरीत समझना अविद्या है। सूत्रान्तर्गत ख्याति पद का अर्थ है—ज्ञान अर्थात् जानना या समझना। इस पद का सम्बन्ध नित्य, शुचि तथा सुख पदों के साथ भी जान लेना चाहिए। सूत्र में 'अविद्या' शब्द लक्ष्य है, शेष सब लक्षण। इसके दो भाग हैं—एक सप्तम्यन्त —'**अनित्या०.....नात्मसु**' और दूसरा प्रथमान्त—'**नित्य.....आत्मख्यातिः**'। इन दोनों भागों में जो पद हैं वे यथाक्रम एक-दूसरे के विरोधी अर्थ को कहते हैं, जैसे—अनित्य-नित्य, अशुचि-शुचि, सुख-दुःख, अनात्मा-आत्मा।

मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म के बिना नहीं रहता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —गीता ३।५

मुक्ति निमित्त से—वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है। स्वभाव के न रहने पर वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता न रहने पर उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा। यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाएगा तो कभी मुक्त नहीं होगा। इसी प्रकार यदि वह स्वभाव से मुक्त माना जाएगा तो कभी बद्ध नहीं होगा। मुक्ति के पूर्व बन्धन होना आवश्यक है, क्योंकि यदि कोई बँधा हुआ नहीं है तो छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार बन्धन में आने से पूर्व मुक्ति आवश्यक है, क्योंकि जो मुक्त नहीं उसके बाँधने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार मुक्ति और बन्धन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि जीव स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त।

कोई जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में कब से आया ? यदि अनादि काल से है तो वह अनन्त काल तक इसमें फँसा रहेगा। तब मोक्ष सम्भव न होगा। क्या इस चक्र में पड़ने से पहले जीव मुक्त था ? यदि भविष्य में मुक्ति सम्भव है तो अतीत में भी कभी-न-कभी अवश्य मुक्त रहा होगा। निश्चय ही दो बार मोक्ष के अन्तरल में जन्म-मरण का चक्र और दो जन्म-मरण के चक्रों के अन्तराल में मोक्ष की अवस्था माननी होगी। इस प्रकार बन्धन और मोक्ष का भी एक विराट् चक्र स्वीकार करना होगा। जीवात्मा स्वतः शुद्ध है, किन्तु वह अल्पज्ञ और कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन में पड़ जाता है और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नहीं होता। जैसे धूल-मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता है और जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह, मिथ्यात्वादि हेतुओं से राग-द्वेष के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है।

यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाएगा तो उसके लिए मोक्ष पाने के निमित्त कुछ भी करना आवश्यक न होगा, क्योंकि स्वाभाव से बद्ध आत्मा का मोक्ष सम्भव न होने से उसे उपदेश देना व्यर्थ होगा। असम्भव कार्य के लिए किसी को कहने अथवा उसके सम्पादन के लिए प्रयास करने का कोई लाभ नहीं। गुण, गुणी के आश्रित होने से स्वाभाविक गुण का तब तक नाश नहीं हो सकता जब तक गुणी विद्यमान है। जीवात्मा नित्य है, अतः यदि बन्धन उसका स्वाभाविक गुण होगा तो सदा उसके साथ रहेगा। जो सदा रहनेवाला है उसे हटाने के लिए विधि-निषेध का निर्देश करना व्यर्थ है।

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥

यदि आत्मा स्वभाव से मैला, गंदला तथा विकारयुक्त है तो जन्म-जन्मान्तर तक यत्न करने पर भी उसकी मुक्ति नहीं होगी, किन्तु अनादि काल से मनुष्य में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा, तदर्थ प्रयत्न, आप्तपुरुषों

[बन्ध-मोक्ष विषयक नवीन वेदान्त-मत की समीक्षा]

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती ?
उत्तर—जो बद्ध है।
प्रश्न—बद्ध कौन है ?
उत्तर—जो अधर्म-अज्ञान में फँसा हुआ जीव है।
प्रश्न—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से ?
उत्तर—निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता, तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।
प्रश्न—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥

—यह श्लोक माण्डूक्योपनिषद् २।३२ पर है।

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आया, न जन्म लेता, न बद्ध है और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है। न छूटने की इच्छा करता, और न इसकी कभी मुक्ति है, क्योंकि जब परमार्थ से बद्ध ही नहीं हुआ, तो मुक्ति क्या ?

उत्तर—यह नवीन वेदान्तियों का कहना, सत्य नहीं, क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होनेरूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल-भोगरूप बन्धन में फँसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छूटने की इच्छा करता, और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

[आत्मा के निर्लेपत्व का खण्डन]

प्रश्न—ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं, क्योंकि जीव तो पाप-पुण्य से रहित साक्षी-मात्र है। शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, आत्मा निर्लेप है।

उत्तर—देह और अन्तःकरण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण-प्राप्ति और भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि

तथा शास्त्रों का उपदेश आदि सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। इन सबके होते हुए जीवात्मा को न स्वभाव से बद्ध माना जा सकता है, न मुक्त।

अल्प—जीव ज्ञानसामर्थ्य और परिमाण आदि की दृष्टि से परमात्मा की अपेक्षा अल्प है। 'उसको स्पर्श करता' अर्थात् शरीर धारण करता है, तभी उस शरीर को.....।

अन्तःकरकरणचतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतन्त्र तत्व नहीं हैं, अपितु एक मन की विभिन्नशक्तियुक्त कार्य करने की स्थितिविशेष के बोधक हैं। विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए एक कार्यालय के विभिन्न विभागों की भाँति उसके विभिन्न नाम पड़ गये हैं, अर्थात् मन मननात्मक स्थिति (संकल्प-विकल्प), बुद्धि = विवेचनात्मक स्थिति (निश्चय), चित्त = चेतनात्मक स्थिति (स्मरण) और अहंकार=स्व की स्थिति (अभिमान अथवा धृति)। मनस्तत्व का एक भाग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है। इसे 'मन' कहते हैं। इसी मनस्तत्व के दूसरे भाग को, जो मस्तिष्क में रहकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कर तदनुसार आवश्यक कार्य करने का आदेश देता है, 'बुद्धि' कहते हैं। इसी अन्तःकरण के एक भाग में

प्राणी उसका स्पर्श करता है[1], उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं, न उनको भूख न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष-शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि—इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि-विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करनेवाला जीव दण्ड और मान्य का भागी होता है।

जैसे तलवार से मारनेवाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता-भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करनेवाला जीव है, वही कर्मों में लिप्त होता है; वह ईश्वर साक्षी नहीं।

ज्ञानक्षेत्र के अनुभव तथा कर्मक्षेत्र के संस्कार अंकित होते हैं और समय आने पर स्मृति रूप में उभरते रहते हैं। अन्तःकरण का यह भाग 'चित्त' कहाता है। ये तीन विभाग व्यापृत मन के हैं, क्योंकि इसकी क्रियाएँ आत्मा के नियन्त्रण में प्रकटरूप से होती रहती हैं। इसीलिए इसे उद्‌बुद्ध मन भी कहते हैं। इसी मनोमय तत्त्व अथवा अन्तःकरण का चौथा भाग 'धृति' अथवा अहंकार कहाता है। इस विभाग द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं जिनका आत्मा को प्रत्यक्षरूप में ज्ञान नहीं होता। आत्मा से एक बार स्थायी आदेश (Standing instructions) मिल जाने के पश्चात् अभ्यास के कारण ये कार्य स्वतः होते रहते हैं। हर समय आदेश लेते रहना नहीं पड़ता। इस प्रकार **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**—एक ही मन के विभिन्न कार्यों में हेतु होने से उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोगसामग्री बाह्य जगत् में उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से सुख-दुःख प्राप्त होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है। बाहर उसकी गति रहती है। इसलिए उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए सम्पर्क अधिकारी की आवश्यता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए एक ऐसे सहायक तत्त्व की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों, अर्थात् जो आत्मा की भाँति अभौतिक और शरीर की भाँति भौतिक हो, तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी का कार्य कर सकता है। स्थूलभूतों का विकार न होने से मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता। इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है, परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह (भौतिक) प्रकृति का विकार है। इस प्रकार अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है और भौतिक होने के कारण इन्द्रियों के निकट है। इस कारण वह आत्मा और शरीर दोनों के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिरकारी को 'मन' कहते हैं, परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्यसम्पादन के लिए उसे भी ऐसे सहायकों की अपेक्षा होती है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हों। इन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। पंचभूतों से उत्पन्न न होने पर भी भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण इन्द्रियाँ भौतिक कहाती हैं।

---

१. उसका स्पर्श करता, अर्थात् उस शरीर से युक्त होता है, तभी उस शरीर को.......

[जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं]

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने-फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जब तक वह अन्तःकरणोपाधि है। जब अन्तःकरण नष्ट हो गया, तब जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है, क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकारवाले हैं, और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हों, तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

भोक्ता—मूल प्रकृति से लेकर पंचभूतपर्यन्त जितने तत्व हैं, सब जड़ प्रकृति के परिणाम हैं। इन्हीं में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी मन प्रकृति का ही विकार है। द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता होने के लिए चेतना चाहिए। जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नहीं हो सकती, अतः मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधन के रूप में की गयी है, ज्ञाता के रूप में नहीं।

आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नहीं है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। आत्मा चेतना का आश्रय है। आत्मा के अत्यन्त निकट होने से मन, इन्द्रिय आदि में भी चेतना की चमक उत्पन्न हो जाती है। तत्वतः इनका निर्माण प्रकृति से होने के कारण ये भौतिक एवं जड़ हैं। इनमें जो चेतना की झलक दीख पड़ती है वह आत्मा के सान्निध्य—उसकी समीपता के कारण है—जैसे स्फटिक मणि में समीपस्थ फूल का रंग अथवा लोहे में चुम्बक की शक्ति।

अन्तःकरण के द्वारा जितने ज्ञान तथा अनुभव होते हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा है। अन्तःकरण इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जड़ होने से साधनमात्र हैं, जिनका उपयोग आत्मा करता है। ये ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता नहीं। इन्द्रियों तथा मन में प्रकाश है अवश्य परन्तु वैसा नहीं जिसे चैतन्य कहा जा सके। सूर्य में प्रकाश है और वह अपने प्रकाश से वृक्ष को प्रकाशित भी कर देता है, परन्तु जड़ होने से यह नहीं जानता कि 'यह वृक्ष है'। इसी प्रकार मन और इन्द्रियाँ संसार के पदार्थों को प्रकाशित तो कर देती हैं, परन्तु उन्हें जान नहीं पातीं। जानने की शक्ति जीव में है, जिसमें स्वयं अपना प्रकाश अथवा चैतन्य है। सूर्य के प्रकाश में चक्षु के द्वारा वृक्ष को देखकर जीवात्मा कहता है—'यह वृक्ष है'। ऐसा न सूर्य कह सकता है और न चक्षु, क्योंकि अनुभव का आश्रय जो आत्मा का चैतन्य है, वह न सूर्य में है और न चक्षु में।

चेतन होने से जीवात्मा ही देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरणादि साधनों के द्वारा कर्त्ता और भोक्ता है—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** (कठ०)। जैसे श्रोत्रादि बहिष्करणों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों को ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान का करनेवाला जीवात्मा ही पाप-पुण्य का कर्त्ता तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता होता है। वही शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा तथा हर्ष-शोक को अनुभव करता है। जिस प्रकार तलवार का मारनेवाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं, उसी प्रकार देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से पाप-पुण्य का कर्त्ता जीव ही सुख-दुःख का भोक्ता है, जड़ अन्तःकरणादि नहीं।

प्रतिबिम्ब—अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म और जीव में भेद की प्रतीति अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान के कारण है, वस्तुतः दोनों एक हैं। जिस प्रकार जल के भीतर होनेवाले सूर्य और चन्द्रमा प्रतिबिम्बमात्र हैं, यथार्थ नहीं हैं, अथवा जिस प्रकार अनेक दर्पणों में एक ही मुख अनेकरूप में दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार

प्रश्न—देखो, गम्भीर स्वच्छ जल में निराकार और व्यापक आकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में परमात्मा का आभास है। इसलिए इसको '**चिदाभास**' कहते हैं।

उत्तर—यह बालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है, क्योंकि आकाश दृश्य नहीं, तो उसको आँख से कोई भी क्योंकर देख सकता है ?

प्रश्न—यह जो ऊपर को नीला और धूँधलापन दीखता है, वह आकाश नीला दीखता है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह क्या है ?

उत्तर—अलग-अलग पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है वह अधिक जल, जोकि वर्षता है, सो वही नील दीखता है, जो धूँधलापन दीखता है, वह पृथिवी से धूली उड़कर वायु में घूमती है, वह दीखती है और उसी का प्रतिबिम्ब जल वा दर्पण में दीखता है, आकाश का कभी नहीं।

जीवात्माएँ एक ही यथार्थसत्ता के प्रतिबिम्बमात्र हैं। यथार्थसत्ता तो केवल ब्रह्म है। '**अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्**'—वेदान्तपरिभाषा।

प्रतिबिम्बविषयक अलंकार की शाब्दिक व्याख्या करें तो हमें एक ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच में रोकती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले माध्यम की आवश्यकता है, जो विक्षेपक से भिन्न हो। एक आकृतिविहीन वस्तु प्रतिबिम्ब नहीं डाल सकती। सूर्य अथवा मुख आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में अन्यथासिद्ध है, क्योंकि ये पदार्थ स्थूल, सावयव, सरूप हैं। सूर्य व जल और इसी प्रकार मुख व दर्पण सभी आकारवाले हैं। इसलिए साकार सूर्य का साकार जल में और साकार दर्पण में साकार मुख का प्रतिबिम्ब सम्भव है। सर्वथा निरवयव, नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का हो सकता है। यदि जीवात्मा प्रतिबिम्ब है तो वह वस्तु जिसका वह प्रतिबिम्ब है, प्रक्षेपक से भिन्न होनी चाहिए। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं तो प्रतिबिम्ब किसमें होगा ?

बोलचाल के आकाश को दार्शनिक आकाश का पर्याय मानकर इस प्रतिपत्ति की स्थापना करना सर्वथा असंगत है कि निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता देखा जाता है। वस्तुतस्तु आकाश में रूप-स्पर्शादि नहीं हैं। इसलिए वह नेत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। दार्शनिक आकाश एक द्रव्य है जो निराकार एवं सर्वव्यापी है। सामान्यतया जिसे आकाश कहा जाता है, वह वास्तव में आकाश न होकर दूर तक फैले अग्नि, जल और पृथिवी के त्रसरेणुओं का संघातमात्र है। जल में उसी की छाया पड़ती है। नीला-नीला मेहराब सा दीखनेवाला दार्शनिक आकाश नहीं है। वह तो सर्वथा निराकार व्यापक तत्त्व है। न वह किसी को दीख सकता है और न उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।

आकाश के नीला दीखने की व्याख्या हमारे समय में सबसे पहले टिण्डाल (Tyndal) ने की। उसने बताया कि जब सूर्य के प्रकाश की किरणें (तरंगें) वायु में स्थित सूक्ष्म परमाणुओं से टकराती हैं तो प्रकाश का ध्रुवीकरण हो जाता है। उसी को बोलचाल में आकाश का नाम दे दिया जाता है और जल में अथवा दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

घटाकाशादि—घटाकाश आदि के महदाकाश से अनन्यत्व का दृष्टान्त ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं घटता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते हैं वैसे ब्रह्म के नहीं हो सकते। उपनिषदों

[उपाधिभेद से ब्रह्म के ईश्वर और जीव नाम नहीं]

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं, वैसे ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होता है। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महाकाश ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है, क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं। कोई नहीं कहता कि घड़े का आकाश लाओ। इसलिए यह बात ठीक नहीं।

[ब्रह्म के कारण अन्तःकरणों में चैतन्य नहीं]

प्रश्न—जैसे समुद्र के बीच में मच्छी, कीड़े और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाकाश ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से, जैसाकि अग्नि से लोहा उष्ण होता है, वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे वे चलते-फिरते और आकाश तथा ब्रह्म निश्चल है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई दोष नहीं।

उत्तर—यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं, क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण उसमें होते हैं वा नहीं ? जो कहो कि आवरण होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत्त और खण्डित है वा अखण्डित ? जो कहो कि अखण्डित है, तो बीच में कोई भी पड़दा नहीं डाल सकता। जब पड़दा नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं ?

जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ चलता-सा है, स्वरूप से नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्तःकरण जितना-जितना पूर्व-प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहाँ-जहाँ सरकता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ब्रह्म भ्रान्त, अज्ञानी होता जाएगा और जितना-जितना छूटता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ज्ञानी, पवित्र और मुक्त होता जाएगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ा करेंगे और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण में हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे-सुने का स्मरण न होता, क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह नहीं रहा। इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक्-पृथक् हैं।

में जहाँ कहीं आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गयी है, वहाँ विभुत्व के सम्बन्ध से है, न कि उपाधि के प्रसंग में। आकाश जड़ है। घटाकाश को स्वयं यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि के कारण तंग आ गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ बैठते हैं, परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वयं यह अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं विभु हूँ और अन्तःकरण के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ। घड़े की दीवारें अपने भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित नहीं कर पातीं। फिर अन्तःकरण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणों—सर्वज्ञता, पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर सकती हैं ? घड़े की दीवारें सत्य होने पर भी आकाश के गुणों को दबाने में असमर्थ हैं तो अन्तःकरण की मायावी उपाधियाँ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं ? जीव के अल्पज्ञ होने से उसका शरीर की सीमाओं से प्रभावित होना तो समझ में आ सकता है, किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ में नहीं आती। वस्तुतः आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में हम 'घड़ा' तो कहते हैं, 'घड़े का आकाश' नहीं कहते। इसी प्रकार हम 'अन्तःकरण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं, परन्तु 'अन्तःकरण ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ

आदि की उपाधियों से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भाँति अन्तःकरण भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न होना माना जाए तो भी जैसे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म को अन्तःकरणों से और अन्तःकरणों को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माननी पड़ेंगी। जो व्याप्य है वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्तःकरणों में व्यापक होते हुए भी ब्रह्म अन्तःकरणाकार न होकर उनसे सर्वथा भिन्न है।

बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा अद्वैतवादी भी अपने को बन्धन में जानता और उससे मुक्त होने की चेष्टा करता है और दूसरों को भी तदर्थ प्रेरित करता है। प्रत्येक देहधारी अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अविद्यादि क्लेशों से अभिभूत जीव के रूप में देखता है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** की रट लगानेवाले भी सामान्य जनों की तरह व्यवहार करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने जीव होने का पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल अज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को जीवरूप में देखते हैं। घड़ा जड़ पदार्थ है, उसमें कोई कूड़ा-करकट भर सकता है। उसके दूषित आकाश का प्रभाव दूसरे घड़ों के आकाश पर नहीं पड़ता। परन्तु ब्रह्म तो **'चेतनश्चेतनानाम्'** है, जबकि उसे विभक्त करनेवाले अन्तःकरण जड़ हैं। इसलिए उस ब्रह्म के एक भाग को सुखी या दुःखी करने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है? सत्य तो यह है कि जितने भी तथाकथित अन्तःकरणाऽकार ब्रह्म हैं, देहधारी होने के कारण सभी त्रिविध दुःखों से सन्तप्त हैं और ऐसा इसलिए है कि वे सब वास्तव में जीव हैं। यदि मिट्टी से बने वास्तविक घड़ा आदि न होते तो अज्ञानी जीव को भी घटाकाश आदि के व्यापक आकाश से भिन्न होने का भ्रम न होता और यदि ब्रह्म की भाँति आकाश ही एकमात्र सत्ता होती और वह होती भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तो वह कभी अपने को घट, करक, गिरिगुहा आदि की उपाधि में न डालती। फिर, जब ईश्वर से अतिरिक्त जीव नाम की कोई सत्ता ही नहीं तो मिथ्या बुद्धि का आश्रय ब्रह्म से इतर कौन हो सकता है? किन्तु यह स्थिति अद्वैतवादी को भी मान्य नहीं, अतएव जीव की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही समस्त शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान सम्भव है।

अग्नि से लोहे के गर्म होने के समान यदि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव बना होता तो परमेश्वर के समान प्रत्येक जीव में सर्वज्ञत्व आदि गुण पाये जाते, परन्तु देखने में ऐसा नहीं आता। यदि यह कहा जाए कि अन्तःकरणों की भिन्नता के कारण सर्वज्ञता नहीं आती तो ब्रह्म का विघटित होना मानना पड़ेगा। अन्तःकरण स्वयं जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह माना जाए कि केवल ब्रह्म को या केवल अन्तःकरण को ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है तो भी अन्तःकरण के द्वारा चेतन को ही ज्ञान की प्राप्ति होगी।

यदि आवरण को सर्वज्ञता में बाधक माना जाए तो आवरण के कारण ब्रह्म खण्डित हो जाएगा, क्योंकि आवरण सदा दो के बीच में होता है। आवरण के दोनों ओर कुछ-न-कुछ होना अनिवार्य है। अतएव जब तक ब्रह्म के दो भाग न किये जाएँ अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कम-से-कम एक अन्य तत्त्व (जीव) की सत्ता न मानी जाए तब तक तीसरे आवरण का प्रश्न ही नहीं उठता। मोक्ष के सन्दर्भ में जब हम यथार्थदर्शन में बाधक आवरण की बात करते हैं तो हम तत्त्वत्रय की सत्ता को स्वीकार करते हैं—यथार्थसत्ता के रूप में ब्रह्म की, द्रष्टा के रूप में जीव की तथा आवरण के रूप में प्रकृति की। जब जीव प्रकृति से पराङ्मुख होकर परमात्मा की ओर प्रवृत्त होता है तब उसे मोक्षलाभ होता है। इस प्रकार माया या अविद्या के आवरण की कल्पना अद्वैतवाद के विरुद्ध त्रिवाद की सिद्धि में सहायक है।

[ब्रह्म में अध्यारोप का खण्डन]

प्रश्न—यह सब अध्यारोपमात्र है, अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना **'अध्यारोप'** कहाता है। वैसे ही ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है, वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

प्रश्न[1]—अध्यारोप का करनेवाला कौन है ?

उत्तर—जीव

प्रश्न—जीव किसको कहते है ?

उत्तर—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन को।

प्रश्न—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन दूसरा है, वा वही ब्रह्म ?

उत्तर—वही ब्रह्म है।

प्रश्न—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत की झूठी कल्पना कर ली ?

उत्तर—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि ?

अध्यारोप—अन्य वस्तु में अन्य की प्रतीति करना अध्यारोप या अध्यास कहाता है, जैसे—रज्जु में सर्प की, सीप में चाँदी की अथवा बालू में जल की। दूसरे शब्दों में यह **'अन्यथाख्याति'** अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति है। यह ऐसा ज्ञान है जिसका कालान्तर में प्रत्याख्यान हो जाता है। इसलिए यह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। प्रचलित भाषा में इसे भ्रम या भ्रान्ति कहते हैं। जब हम भूल से रस्सी को साँप समझ बैठते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि 'यह साँप है' तो हमारे समक्ष दो अवयव होते हैं —एक 'यह' (रस्सी) जो इन्द्रियों के सामने है और एक 'वह' (साँप) जिसे हम 'यह' कहते हैं। पिछला उस वृत्ति या आकृति का वर्णन करता है जिसके रूप में हम प्रस्तुत वस्तु का बोध करते हैं। निर्णय पर पहुँचने में भूल व्याख्या के अवयव के कारण है, अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचार ऊपर से आरोपित करता है। 'यह' का अवयव अथवा जो कुछ वस्तुतः हमारे सामने रहता है, भ्रान्ति होने के पश्चात् भी विद्यमान है, केवल दूसरे अवयव 'साँप' का लोप हो जाता है।

वास्तविक सत्य और असत्य होने का बोध अनन्तर काल में होनेवाली परीक्षा पर आधारित है। जैसे रज्जु में सर्प है, वैसे ही कभी-कभी सर्प में रस्सी का भ्रम भी हो जाता है। इसलिए यदि वह हमारी कल्पना के अनुरूप है तो वह ज्ञान सत्य है। यदि वह हमारी कल्पना के विपरीत है अर्थात् रज्जु के स्थान पर सर्प और सर्प के स्थान पर रज्जु सिद्ध होता है तो वह मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि 'सर्प है' या 'रज्जु है' यह ज्ञान सर्वत्र-सर्वदा असत्य नहीं होता। सादृश्य एवं प्रकाश न्यून होने से उत्पन्न भ्रम का निवारण अपेक्षित प्रकाश होने पर हो जाता है। वस्तुतः अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ न हो, वही सत्य है—**'अबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्'** (वेदान्तपरिभाषा), **'अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्'** (भामती १।१।४)। एक बोध केवल इसलिए यथार्थ नहीं है कि वह किसी पदार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिस रूप में वह वस्तुतः है और न वह केवल इसलिए असत्य है कि वह वस्तु को अन्य रूप में प्रस्तुत करता है, किन्तु वह इसलिए यथार्थ है कि अन्त में जाकर इसके विषय का निराकरण हो गया। सीधी छड़ी जल में पड़ी झुकी हुई प्रतीत होती है।

---

१. यहाँ से आगे ६ प्रश्न उत्तरपक्ष के हैं, और उत्तर नवीन वेदान्ती के हैं।

प्रश्न—जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो मन, वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

प्रश्न—फिर मन, वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या बोलनेवाला ब्रह्म कल्पित और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं ?

उत्तर—हो, हमको इष्टापत्ति है।

वाह रे झूठे वेदान्तियो ! तुमने सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, परमात्मा को मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है ? किस उपनिषद्, सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासंकल्प[1] और मिथ्यावादी है ? क्योंकि जैसे किसी चोर ने कोतवाल को दण्ड दिया अर्थात् **'उलटि चोर कोतवाल को दण्डे'** इस कहानी के सदृश तुम्हारी बात हुई। यह तो बात उचित है कि कोतवाल चोर को दण्डे, परन्तु यह बात विपरीत है कि चोर कोतवाल को दण्ड देवे। वैसे ही तुम मिथ्यासंकल्प और मिथ्यावादी होकर वही अपना दोष ब्रह्म में व्यर्थ लगाते हो। जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी, मिथ्यावीदी, मिथ्याकारी होवे, तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाए, क्योंकि वह एकरस है, सत्यस्वरूप, सत्यमानी, सत्यावादी और सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं।

जल के अन्दर उसका टेढ़ापन आँख के लिए उतना ही यथार्थ है जितना स्पर्शेन्द्रिय के लिए उसका सीधापन, किन्तु स्पर्श आँख के मिथ्या निर्णय को सुधार देता है।

शंकराचार्य ने अध्यारोप के प्रसंग में रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से विश्व की पहेली को समझाने का प्रयास किया था, परन्तु सुलझने के स्थान पर वह और उलझकर रह गयी। राधाकृष्णन ने इस प्रसंग में लिखा है—

'Why does the rope appear as a snake ?' is a question which school boys raise and philosophers fail to answer., Indian Philosophy, Vol. II, P. 570

अर्थात्—'रज्जु सर्प कैसे प्रतीत होती है' ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लड़के उठाते हैं और दार्शनिक उत्तर देने में असफल होते हैं। वस्तुतः अध्यारोप के स्वरूप को न समझकर ही इस दृष्टान्त का दुरुपयोग हुआ है। **'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'**—पूर्वदृष्ट का अन्यत्र आभास स्मृतिरूप है। अध्यारोप या अध्यास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं —पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति और परत्र। हमने कभी वास्तविक सर्प को प्रत्यक्ष देखा—यह हमारा 'पूर्वदृष्ट' है। हमारे भीतर उसका संस्कार रहा जो समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आगया। वर्तमान में रज्जु 'परत्र' जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास हुआ। रज्जु में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने, वहाँ न सही, कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी वास्तविक सर्प देख रक्खा हो। तब सर्प को असत् या अवस्तु नहीं माना जा सकता। यदि कभी-न-कभी और कहीं-न-कहीं सर्प का सद्भाव न होता तो **'नासतो विद्यते भावः'** इस न्याय के अनुसार कहाँ से आ जाता ? तब न उसका संस्कार रहता और न उसकी स्मृति। एक व्यक्ति एक स्थान पर था, वहाँ से अन्यत्र चले जाने पर उसे असत् या मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ईश्वरीय कल्पना—यदि जगत् को कल्पनामात्र माना जाए तो भी कल्पना के करनेवाले ब्रह्म के नित्य होने से उसकी कल्पना जगत् का नित्य और इस प्रकार सत्य होना स्वतः सिद्ध है। यदि यह जगत् भ्रान्ति है तो इस भ्रान्ति को अन्य वस्तु में अन्य को आरोपित करनेवाला ब्रह्म है। इस प्रकार के कल्पित जगत्

---

१. यहाँ 'मिथ्यासंकल्प' में बहुव्रीहि समास जानना चाहिए, अर्थात् मिथ्या है संकल्प जिसका वह परमेश्वर।

जिसको तुम विद्या कहते हो वह अविद्या है और तुम्हारा अध्यारोप भी मिथ्या है, क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना यह मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है ? जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न, अज्ञान[1] नहीं होता और बन्ध में कभी नहीं गिरता, क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न, एकदेशी, अल्प, अल्पज्ञ जीव होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म नहीं ।

[मुक्ति और बन्ध का विवेचन]

अब मुक्ति और बन्ध का वर्णन करते हैं–

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर—**'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः'**, जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम **'मुक्ति'** है ।

प्रश्न—किससे छूट जाना ?

उत्तर—जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं ।

का विचार हमारा अपना नहीं है, अपितु ब्रह्म द्वारा हमारे मस्तिष्कों में डाला गया है । यदि कल्पना ही जगत् का कारण है तो यह कल्पना सार्वभौम एवं सार्वकालिक है । ऐसी स्थिति में भ्रान्ति और यथार्थ में भेद करना सम्भव नहीं । इसलिए जगत् को कल्पना या भ्रान्तिमात्र बताना संगत नहीं है ।

जिस प्रकार 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् का अभाव नहीं हो सकता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता) । यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाए अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादानकारण माना जाए अथवा ब्रह्म को ही जगद्रूप में परिणत माना जाए तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । जैसे ब्रह्मरूप नित्य है वैसे ही जगद्रूप नित्य है । दोनों के नित्य होने पर एक सत्य है और दूसरा मिथ्या—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता । वस्तुतः जगत् को परिणाम मानने पर ये दोनों अवस्थाएँ—ब्रह्मरूप व जगद्रूप—ब्रह्म की ही मानी जाएँगी । तब ब्रह्म के सत्य होने पर दोनों अवस्थाएँ समान-रूप से सत्य होंगी । **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'**—तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में, अतः यदि **'ब्रह्म सत्यम्'** है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । अद्वैतमत के अनुसार, यदि कार्य का कारण से अनन्यत्व है तो कारण के सत्य होने पर उसके कार्य को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? मैक्समूलर ने ठीक लिखा है—

"Brahma, though himself immaterial, is said to be the material cause of the world. And yet the world, of which he is the cause, is considered unreal, while at the same time cause and effect are held to be identical in substance. If cause and effect be realy identical, how could unreal world be the effect of real Brahma ?"

कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जाएगा तो स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जाएगा, किन्तु ब्रह्म का सत्य होना निर्विवाद है, इसलिए उसके कार्यरूप जगत् का सत्य होना स्वतः सिद्ध है ।

मुक्ति का प्रयोजन—**'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'**—प्राणिमात्र दुःख से छुटकारा चाहता है । दुःख के समस्त प्रकारों का तीन वर्ग में समावेश किया गया है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख वह है जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है । शरीर के वात-पित्त-कफ आदि की विषमता तथा काम-क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि मनोविकारों से उत्पन्न होनेवाले दुःख

---

१. अर्थात् अज्ञानी ।

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

उत्तर—दुःख से ।

प्रश्न—छूटकर किसको प्राप्त होते, और कहाँ रहते हैं ।

उत्तर—सुख को प्राप्त होते, और ब्रह्म में रहते हैं ।

[मुक्ति और बन्ध के कारण]

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होता है ?

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसंग-कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित, न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने, और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति, और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा-भंग करने आदि काम से बन्ध होता है ।

आध्यात्मिक दुःख हैं । आधिभौतिक दुःख वह होता है जो हमें दूसरे प्राणियों के द्वारा प्राप्त होता है । वर्षा, धूप, आँधी, भूकम्प आदि दैवी आपदाओं के कारण होनेवाला दुःख आधिदैविक दुःख कहाता है । सांख्यदर्शन मोक्षशास्त्र है । उसके पहले सूत्र में मोक्ष के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा है—**'त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'** —तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) के दुःखों की अतिशय निवृत्ति मोक्ष है ।

विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपवर्ग या मोक्ष का विविध रूपों में उल्लेख किया है । तद्यथा—

चार्वाक—मृत्यु अर्थात् देह का नष्ट होना ।

माध्यमिक (शून्यवादी बौद्ध)—विज्ञानरूप आत्मा का उच्छेद होना ।

योगाचार (आदि अन्य बौद्ध)—समस्त दुःख-वासनाओं का उच्छेद होने पर विषयाकार विज्ञानसन्तति का उदय **न** होना ।

शांकर वेदान्त—जीवात्मा का अपने सच्चिदानन्दरूप में एकाकार हो जाना ।

मोक्ष का अर्थ केवल दुःखों से छूट जाना नहीं, अपितु दुःखों से छूटकर मोक्षसुख की प्राप्ति करना है । दुःखों का कारण शरीर है । यदि केवल दुःखों से छुटकारा ही मोक्ष माना जाए तो **'कारणाऽभावात् कार्याभावः'** शरीर के छूट जाने अर्थात् मृत्यु हो जाने को मोक्ष समझ लेना चाहिए । गाढ़ निद्रा में दुःखों की अनुभूति नहीं होती, किन्तु वस्तुतः सुषुप्ति में दुःखों का मात्र तिरोभाव होता है, अत्यन्ताभाव नहीं । उस अवस्था में न दुःखों का भान होता है, न सुखों का, किन्तु मोक्ष दुःख के अभाव का ही नहीं, सुख के भाव का नाम है, पर दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति के बिना सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं, अतः मोक्ष का वास्तविक स्वरूप दुःख की निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति है, परन्तु मानव-शरीर प्राप्त होने पर ही मनुष्य उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ हो पाता है, जिनके फलस्वरूप आनन्दप्राप्ति सम्भव है ।

सांसारिक साधनों से भी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, किन्तु वह अधिक काल के लिए नहीं होता, न उनमें नैरन्तर्य की स्थिति आ पाती है, क्योंकि—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति ॥

अर्थात् जितने समय के लिए कोई दुःख दूर होता है, उसके अन्तराल में दूसरा दुःख आ खड़ा होता

[मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं]

प्रश्न—मुक्ति में जीव का लय होता है, वा विद्यमान रहता है ?

उत्तर—विद्यमान रहता है ।

प्रश्न—कहाँ रहता है ?

उत्तर—ब्रह्म में ।

प्रश्न—ब्रह्म कहाँ है ? और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है ?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं । विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है ।

है, अतः मोक्ष की अवस्था वह मानी जाएगी जिसमें तीनों प्रकार के दुःखों की अधिक-से-अधिक समय के लिए निवृत्ति हो और उसमें नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे ।

मुक्ति में जीव की स्थिति—छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।३) में कहा है—**"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"**—जीवात्मा कभी भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता । वह जो कुछ करता है, अपने स्वरूप में स्थित रहकर करता है । तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया है—**'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (२।७)—ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उसे पाकर जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है । उस अवस्था में वह **"शृण्वन् श्रोत्रं भवति . . . मन्वानो मनो भवति ।"** जब सुनना, देखना, सूँघना चाहता है तब संकल्प से वैसा कर सकता है ।

ग्रन्थकार ने इस उद्धरण के पते में केवल 'शतपथ काण्ड १४' लिखा है । पं० भगवद्दत्तजी ने स्वसम्पादित संस्करण में 'काण्ड १४' के आगे कोष्ठक में [२।२।१७] पाठ बढ़ाया है । परन्तु न यह पता प्रपाठक के अनुसार ठीक है और न अध्याय के अनुसार । स्वामी वेदानन्दजी द्वारा सम्पादित संस्करण में लिखा है—"आजकल मुद्रित उपनिषदों में यह पाठ इस प्रकार मिलता है —

"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक् , पश्यंश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रं, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्म्मनामानि" । पता इसका भी 'शत० १४।२।२।१७' ही दिया है परन्तु वहाँ ऐसा कुछ नहीं है । हो सकता है, किसी अनुपलब्ध संस्करण में ये पाठ रहे हों । अर्थ में कोई अन्तर नहीं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

—तै० उ० ब्रह्मबल्ली १।१

अर्थात्—हृदयाकाश में स्थित अविनाशी, चेतनस्वरूप तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जो जान लेता है, वह ब्रह्म का साथी हो जाता है और साथी रहते हुए सब प्रकार से तृप्त रहता है । परन्तु—

लय नहीं होता—तत्वज्ञान से अविद्या का नाश होने पर जीव मोक्षलाभ करता है । वह स्वरूप से अविनाशी है । ब्रह्म की भाँति जीव अनादि तत्व है । अनादि होने से वह अनन्त है । लोप, विलय या नाश होने पर वह सान्त हो जाएगा और सान्त होने पर वह अनादि नहीं रहेगा । अनादि न रहने पर किसी के द्वारा निर्मित होगा । निर्मित होने पर वह सावयव होगा और उसका कोई उपादान भी होगा । इस प्रकार जीव का सारा स्वरूप बिगड़ जाएगा । यदि मोक्ष का अर्थ मर जाना है तो इसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करते रहना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? यदि मोक्षावस्था में दुःखों के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाना है तो उसे पाने का क्या लाभ ? यह तो 'न मर्ज़ रहा, न मरीज़'—वाली बात हुई । मोक्ष पानेवाला

[मुक्ति में जीव स्वाभाविक शक्तियों से आनन्द भोगता है]

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूलशरीर होता है, वा नहीं ?
उत्तर—नहीं रहता।
प्रश्न—फिर वह सुख अर्थात् आनन्द-भोग कैसे करता है ?

ही न रहा तो मोक्षलाभ किसे हुआ ? ऐसे मोक्ष को दुःखों का नाश या निवृत्ति न कहकर जीव का उच्छेद अथवा आत्महत्या की चेष्टा कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मुण्डकोपनिषद् ३।२।८ में लिखा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

अर्थात्—जैसे नदियाँ बहती-बहती नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में जा मिलती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम और रूप से छूटकर परात्परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यहाँ नदियों के समुद्र में मिल जाने से समझा जाता है कि परमात्मा को प्राप्त होने पर जीवात्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यथार्थ में ऐसा नहीं है। प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उस वस्तु का बाह्यरूप—उसका आकार-प्रकार, रंग-रूपादि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्व कहते हैं। नाम रूप शरीर के होते हैं, जीव के नहीं। शरीर के नाम रूप ही जीव का बाह्यरूप है। उन्हीं को छोड़ने की बात यहाँ पर कही गयी है। उपनिषद् का भाव यह है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गंगा-यमुना नाम खो बैठती हैं उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्यरूप—शरीर और यज्ञदत्त, देवदत्त आदि नामों को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त होता है।

यद्यपि नदियों का नामरूप नहीं रहता तथापि समुद्र में मिलने पर भी उसका वस्तुतत्व जल नष्ट नहीं होता। वह समुद्र में मिलकर उसके जल की मात्रा को बढ़ा देता है। जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा न होता। इसी प्रकार अपने नाम रूप को खोकर भी मुक्त जीव का वस्तुतत्त्व (आत्मा) नष्ट नहीं होता। वह परमेश्वर के साथी के रूप में सदा वर्त्तमान रहता है।

मुक्तात्मा का ठिकाना—ऋग्वेद (९।११३।९) में कहा है—**"यत्रानुकामं चरणं ..... तत्र माममृतं कृधि"** अर्थात् जहाँ मुक्तात्मा विचरण करते हैं, वहाँ मुझे भी मुक्त करदे। वस्तुतः मोक्षकाल में जीवात्मा कामचारी होता है। ग्रन्थकार ने उसे अव्याहतगति कहा है।

मुक्तात्मा का शरीर नहीं—त्रिविध दुःखों से छूटने का नाम मोक्ष है, किन्तु शरीर के रहते यह सम्भव नहीं। छान्दोग्य (८।१२।१) में कहा है—**"सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामात्तः"**—इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखों से घिरे रहना अनिवार्य है। मोक्षावस्था में इनका पूर्ण उच्छेद (अत्यन्त निवृत्ति) हो जाता है। फलतः उस दशा में स्थूल शरीर का होना सम्भव नहीं। इसलिए उपनिषद् में कहा—**"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"** अर्थात् मोक्षदशा में अशरीर जीवात्मा को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते। वहाँ प्राकृत शरीर, इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु मननात्मक शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति बराबर बनी रहती है। छान्दोग्य के अनुसार ही **"मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते"** (८।१२।)—मुक्तात्मा मन से अर्थात् मननात्मक शक्ति से ही सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द में मग्न रहता है।

संकल्प से आनन्दभोग—आनन्द की अनुभूति मुक्तात्मा का ऐश्वर्य-भोग है। आत्मा का यह संकल्प

उत्तर—उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता। जैसे—

'शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति' ॥

—शतपथ कां० १४ ॥[1]

मोक्ष में भोतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त, और अहंकार के अर्थ अहंकाररूप अपनी स्व-शक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है, और संकल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

[चौबीस प्रकार के जीव के सामर्थ्य]

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की, और कितनी है ?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन **२४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे** मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।

स्वसामर्थ्यरूप है, जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है। वेदान्तसूत्र (४।४।८) में कहा है—**'संकल्पादेव तच्छ्रुते'** अर्थात् श्रुति से प्रमाणित है कि मुक्तात्मा की कामना संकल्पमात्र से सिद्ध हो जाती है। सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद से स्पष्ट है कि संकल्प के अतिरिक्त उसे शरीर-इन्द्रियादि किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु यह संकल्प अन्तःकरण की संकल्पात्मक वृत्ति न होकर उससे सर्वथा भिन्न आत्मा की अनुभूति है। इसी सन्दर्भ में छान्दोग्य (८।२।१०) में कहा है—**"यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते"** अर्थात् जिस प्रदेश व कामना की वह अभिलाषा करता है वह उसके संकल्पमात्र से उद्भूत हो जाती है। उससे सम्पन्न होकर वह आनन्दित रहता है। इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ न रहने पर वह जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के लिए चक्षु, स्वाद के लिए रसना, निश्चय के लिए बुद्धि और स्मरण के लिए चित्त हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मोक्ष में श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि मुक्तात्मा अपने शक्तिरूप संकल्प से भावना के अनुरूप वैसा अनुभव करने लगता है।

अभावमिति०—इस सूत्र से पूर्व ग्रन्थकार मुक्तात्मा के ब्रह्म में लय होने का खण्डन कर रहे हैं। निश्चय ही अपने विलयविरोधी मत की पुष्टि में उन्होंने यह प्रमाण दिया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सूत्र का अर्थ यह बनता है कि बादरि (पराशर) मोक्षदशा में मन, प्राणों तथा इन्द्रियों का अभाव मानते हैं, अर्थात् आत्मा तथा मनस् का लय नहीं मानते। मोक्षप्रकरणों में यथावसर 'मनस्' पद से आत्मा की

---

१. अनुपलब्धमूल। भ० द० संस्करण में यहाँ 'का० १४' के आगे कोष्ठक में [२।२।१७] पाठ बढ़ाया है। न यह पता प्रपाठक के अनुसार ठीक है, और न अध्याय के अनुसार। टिप्पणी में 'शतपथ के पाठ से तुलना करो' का भी अभिप्राय ज्ञात नहीं होता।

जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता ? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। देखो वेदान्त शरीरक सूत्रों में—

[मुक्ति में जीव तथा मन आदि का अस्तित्व]

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥४।४।१०॥

जो बादरि व्यासजी का पिता है, वह मुक्ति में जीव का, और उसके साथ मन का भाव मानता है। अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते और इससे भिन्न इन्द्रिय आदि पदार्थों का अभाव हो जाता है। वैसे ही—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥४।४।११॥

और जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्मशरीर, इन्द्रियों और प्राण आदि को भी विद्यमान मानते हैं, अभाव नहीं ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं अर्थात् शुद्धसामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है, अपवित्रता, पापाचरण, दुःख-अज्ञानादि का अभाव मानते हैं ॥

स्वाभाविक शक्ति अभिप्रेत है, संकल्प-विकल्पात्मक मन नहीं। मोक्ष में सुख-दुःख नहीं रहते, इसलिए आवश्यक है कि वहाँ इन्द्रियादि न हों। यदि वहाँ इन्द्रियादि का अस्तित्व होता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ हो जाता है।

भावमिति०—यहाँ 'मन के समान सूक्ष्म शरीर' से तात्पर्य शुद्ध संकल्पशक्ति तथा इन्द्रियों से अभिप्राय इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति से है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने लिखा है—'वैसे ही शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। सामान्य अर्थों में इन्द्रियों और प्राणों की मुक्तिदशा में विद्यमानता कोई नहीं मानता। जैमिनि भी मोक्षदशा में जीव का भाव मानते है, लक्ष्य नहीं।

द्वादशाहवदिति०—सूत्रगत 'द्वादशाहवद्' पद का अर्थ रह गया है। ऋ.भा.भू. में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है। उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से कुछ भाव भी बना रहता है।" सूत्रकार बादरायण द्वादशाह की तरह दोनों मानता है। शास्त्र मोक्ष में आत्मा के साथ शरीर-इन्द्रिय आदि का सहयोग नहीं बतलाता, यह ठीक है और यह भी ठीक है कि उस दशा में जीवात्मा विविध ऐश्वर्य भोग सकता है। शास्त्र के दोनों कथन आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। केवल इतना समझ लेना है कि आत्मा का ऐश्वर्यभोग अथवा ऐश्वर्यानुभव संकल्पमात्र से होता है। वह संकल्प आत्मा का स्वसामर्थ्यरूप है। उसी के द्वारा आत्मा यथाकाम ऐश्वर्यानुभूति कर सकता है। इसके लिए उस दशा में इन्द्रियादि सर्वथा अनपेक्षित हैं। शास्त्र में जैसे मोक्षदशा को स्पष्टतः अशरीर बताया है (छां. ८।१२।१), वैसे सशरीर व सेन्द्रिय होने का कहीं उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग (छां. ७।२६।२) में भी ऐसा कोई निर्देश नहीं है। अशरीर होते हुए अनेकविध ऐश्वर्यानुभूति की सम्भावना का शास्त्रीय निर्देश ऐसे ही समझना चाहिए, जैसे 'द्वादशाह' इष्टि के विषय में सत्र और अहीन दोनों प्रकार का निर्देश है।

'द्वादशाह' संज्ञक क्रतु सत्र और असत्र अर्थात् अहीन दोनों प्रकार का होता है। बौधायनश्रौतसूत्र (११।३) के अनुसार **'द्विरात्रप्रभृतयोऽहीना द्वादशाहपर्यन्ताः'**—जो याग दो दिन से लेकर बारह दिन तक

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

—यह उपनिषद् २।३।१० का वचन है ॥

जब शुद्धमनयुक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं, और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् '**मोक्ष**' कहते हैं ॥

किये जाते हैं, वे 'अहीन' कहाते हैं। '**द्वादशाहः प्रभृतीनि सत्राणि**' (बौ० श्रौ० ११।४)—बारह दिनों में अथवा उससे अधिक दिनों में सम्पन्न होनवाले यज्ञ 'सत्र' कहाते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त (बौ० श्रौ० ११।३-४) के अनुसार 'द्वादशाह' इष्टि की सत्र और अहीन दोनों में गिनती हो जाती है, इसलिए कात्यायनश्रौतसूत्र (१२।१।४) में बताया है—'**द्वादशाहः सत्रमहीनश्च**'। इस प्रकार मोक्ष में आत्मा के अशरीर होने पर भी संकल्पमात्र से ऐश्वर्यानुभूति के आधार पर उसे सशरीर अथवा सेन्द्रिय कहना चाहें तो भले ही कह लें, पर वहाँ प्राकृतिक शरीर—इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहता, यह निश्चित है।

'शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है' इन शब्दों से स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शन के इन सूत्रों के उद्धरण ग्रन्थकार ने मोक्षावस्था में जीव के लय न होने के प्रमाण में दिये हैं। तदनुसार किया गया अर्थ ही युक्तियुक्त है।

यदा पञ्चेति—ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करनेवाली हैं, अतः साध्य-साधन में अभेदोपचार से उन्हें ज्ञान कहा गया है। परमगति मोक्ष का पर्याय है। मोक्ष में सूक्ष्मशरीर नहीं रहता, किन्तु यहाँ ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि की सत्ता बनी हुई है, अतः यह जीवन्मुक्ति की अवस्था का वर्णन है। विदेह-मुक्ति इससे उत्तरावस्था है। उसकी प्राप्ति में यह साधनरूप है। यहाँ भी साध्य-साधन में अभेदोपचार से जीवन्मुक्ति को विदेहमुक्ति=परमगति अर्थात् मोक्षनाम से अभिहित किया है। मुक्ति मनुष्य को जीवनकाल में ही प्राप्त होती है। मुक्ति का अर्थ है—अब आगे और जन्म न होना। इसलिए यदि जीवन में मुक्ति प्राप्त न हो तो मरने के बाद तो उसकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध न रहने से तदर्थ कोई प्रयत्न सम्भव न होगा। जीवन्मुक्त की स्थिति उस व्यक्ति के समान होती है जिसे योग्यता के आधार पर उपयुक्त अधिकारी मानकर नियुक्तिपत्र दे दिया गया हो किन्तु पदभार सँभालने के लिए नियत तिथि पर पहुँचना शेष हो, जैसे 'You have been selected for the post, but you will be considered on duty from the date of joining, after relinquishing charge of your present post.' जीवन्मुक्त आत्मा एकत्र स्थित होता हुआ, योगाभ्यास से शुद्धान्तःकरण के द्वारा आनन्दानुभूति के साथ अनेक दैहिक व्यापार करने में समर्थ रहता है। जीवन्मुक्त दशा में यद्यपि आनन्दानुभूति के लिए शरीर-इन्द्रियादि का कोई उपयोग नहीं होता, फिर भी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी उठते-बैठते, खाते-पीते, आते-जाते साधारण दैहिक व्यापार करते हुए भी आनन्द की अनुभूति में लीन रहता है। वस्तुतः जीवन्मुक्त से अभिप्राय है परम मोक्ष का पूर्ण अधिकारी—जिसे मोक्षप्राप्ति के लिए अब कुछ और करना शेष नहीं रहा। सांख्यदर्शन (५।७६) में कहा है—'**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**' अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता—त्रिविध दुःखों से निवृत्ति होकर आनन्दानुभूति होती है। सुषुप्ति की मुक्ति शरीरसहित, किन्तु ज्ञानरहित होती है; समाधि और जीवन्मुक्त की मुक्ति शरीरसहित और ज्ञानसहित होती है; मरने के पश्चात् मुक्ति शरीररहित और ज्ञानसहित होती है। यह तभी प्राप्त होती है जब कोई पहले समाधि और जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति

—छां० ८।७।१

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥
य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥ —छां० ८।१२। ५,६
मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

—छान्दो० ८।१२।१

स वा एष—यह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा । मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । —छां० ८।१२।५

(अथ यः वेद) अब जो यह सोचता है कि (इदं मन्वानि) इसपर चिन्तन-मनन करूँ (इति स आत्मा) ऐसा जाननेवाला तो आत्मा है । (मनः) मन तो (अस्य) जीवात्मा का (दैवं चक्षुः) दिव्य चक्षु=ज्ञानसाधन है । (सः वै एषः) वह ही यह आत्मा (एतेन दैवेन चक्षुषा मनसा) इस दिव्य नेत्र मन से (एतान् कामान्) इन काम्य भोगों को (पश्यन्) देखता हुआ (रमते) विचरण करता है ।

मोक्षावस्था में न स्थूल शरीर रहता है और न सूक्ष्म । मन तथा इन्द्रियाँ भी प्राकृत एवं जड़ होने से यहीं रह जाते हैं । तब शुद्ध संकल्प से जीवात्मा को मन प्राप्त होता है । देवों=इन्द्रियों का स्वामी होने से मन की दैव संज्ञा है **(यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्)** । इसी से इसको **'दैवचक्षुः'** कहा जाता है । यह भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों के विषय को मनन करने मे समर्थ है । आत्मस्वरूप में स्थित आकाश की तरह निर्मल मुक्तावस्था में इसी के द्वारा सब कामनाओं का भोक्ता होता है । सूर्य के प्रकाश में जैसे सब कुछ प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म में रमण करता हुआ आत्मा मुक्ति के सब सुखों को अनुभव करता है ।

य एतं इति—उस अवस्था में भी मुक्तात्मा परमात्मा की उपासना करते हैं, जिसके फलस्वरूप सब लोक-लोकान्तर उनके वश में होते हैं । इसलिए ब्रह्मलोक में स्थित मुक्तात्मा को संकल्पमात्र से समस्त कामनाएँ और लोक प्राप्त होते हैं । ब्रह्म तो सर्वव्यापक है । छान्दोग्य (७।२५।२) में कहा है—**"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"**—अर्थात् वह इच्छानुसार सब लोको में संचरण करता है । संचरण अथवा गति का अर्थ है किसी पदार्थ का 'जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है, वहाँ को जाना—'A thing moves from where it is to where it is not'. ' संचरण का कथन असंगत है । निश्चय ही उपनिषद् का यह कथन मुक्तात्मा के लिए है जिसे इतने अंश में ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है कि वह अव्याहतगति हो जाता है, अर्थात् जहाँ चाहे जा सकता है । संचरण का कथन किये जाने से यह स्वतः सिद्ध है कि मुक्तावस्था में भी वह सर्वव्यापक नहीं हो जाता और 'स्वेन रूपेण' ही गति करता है । उपनिषद् के उक्त कथन से जहाँ यह प्रमाणित होता है कि मुक्तात्मा मोक्षदशा में जहाँ चाहे बेरोक-टोक जा सकता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने स्वरूप को खोकर ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, ब्रह्मस्थ अवश्य हो जाता है ।

मघवन्निति—(मघवन्) हे इन्द्र (इदं शरीरम्) यह शरीर (वै) निश्चय ही (मर्त्यम्) मरणधर्मा है । इसी

जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सर्व-पाप-जरा-मृत्यु-शोक-क्षुधा-पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है। जो परमात्मा को जानके मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है ॥

सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है ॥ जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्षसुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा का जोकि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं। उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है। और वे मुक्त जीव स्थूलशरीर छोड़कर **संकल्पमय शरीर** से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं, क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते ॥

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा कि—'हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है। और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस मरण और शरीररहित जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीरसहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है'॥

कारण यह (मृत्युना) मृत्यु से (आत्तम्) गृहीत है (तत्) वह शरीर (अमृतस्य) अमर नहीं है। (अशरीरस्य आत्मनः) अशरीरी जीवात्मा का (अधिष्ठानम्) भोगाधिष्ठान है। इसी हेतु (सशरीरः) शरीरोपाधिसहित जीवात्मा (प्रियाप्रियाभ्याम्) सुख और दुःख से (आत्तः) गृहीत है, क्योंकि (सशरीरस्य सतः) शरीरोपाधि-विशिष्ट जीवात्मा के रहते (प्रियाप्रिययोः) सुख-दुःख का (न वै अपहतिः) नाश नहीं (अस्ति) होता। किन्तु (अशरीरम्) शरीररहित (सन्तम्) विद्यमान आत्मा को (प्रियाप्रिये) सुख-दुःख (न वाव) कदापि नहीं (स्पृशतः) स्पर्श=प्रभावित करते।

पत्र और विज्ञापन (ग्रन्थकार के पत्रों का संग्रह, पं० भगवद्दत्तजी बी.ए. द्वारा सम्पादित) के पृष्ठ ३५८ पर जीव के विषय में वर्णन करते हुए लेख है—"हाँ, मुक्तावस्था में जिस ओर उसका ज्ञान होगा उस दूरस्थ पदार्थ को भी अपने ज्ञान से जान लेता है। नहीं तो **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** इस न्यायशास्त्र के सूत्र का अर्थ ही नहीं घट सकेगा। जो एक क्षण में एक पदार्थ को जाने, अनेक को नहीं, उसी को मन कहते हैं। वही मन मुक्तावस्था में भी रह जाता है।" इससे प्रतीत होता है कि ऋषि ने मुक्तावस्था में जीव के अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश के प्रस्तुत प्रकरण में इससे विपरीत भाव प्रकट किया है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर 'पत्र और विज्ञापन' के उक्त सन्दर्भ से यह अर्थ निकलता है कि ऋषि का यह लेख आत्मा की जीवन्मुक्त अवस्था के विषय में है। दूर और समीप का व्यवहार स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के सम्पर्क में अधिक सम्भव है। फिर न्यायसूत्र की संगति का जो उल्लेख है, वह इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है कि यह वर्णन उस अवस्था का है, जब मन बाह्य इन्द्रियों के साथ सम्पर्क के द्वारा ज्ञान के ग्रहण करने में साधन बनता है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णयोगी आत्मज्ञानी भी मन, इन्द्रिय आदि साधनों के द्वारा एककाल में एक ही विषय को ग्रहण कर सकता है। न्यायसूत्र की संगति का प्रश्न उसी अवस्था में उठता है, जब आत्मा पूर्ण समाधि द्वारा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर चुका है,

[मुक्ति से पुनरावृत्ति]

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं ? क्योंकि—

'न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति' ॥ —उपनिषद्-वचनम् ॥ छा० ८।१५।१

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' ॥ —शारीरकसूत्र वे० ४।४।२२

'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' ॥ —भगवद्गीता १५।६

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता ।

पर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध अभी बना हुआ है। आत्मा की यह अवस्था जीवन्मुक्त की ही सम्भव हो सकती है। फलतः यह सन्दर्भ इसी अवस्था के विषय में उल्लेख करता है, सत्यार्थप्रकाश के वाक्यों के साथ इसके विरोध की कल्पना निराधार है। यहाँ का मुक्तिविषयक वर्णन शरीरादिरहित आत्मा की मोक्षावस्था का है। **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते'** इत्यादि कठोपनिषद् के सन्दर्भ की व्याख्या में परमगति अर्थात् मोक्ष का वर्णन है, परन्तु वहाँ भी मोक्ष में जीव के साथ शुद्ध मनयुक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन होने से स्पष्ट है कि यह भी जीवन्मुक्ति का वर्णन है।

बन्ध और मोक्ष पर्यायक्रम से होते हैं। संसार में नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है। दैनिक काम-काज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है। उस अवस्था में बाह्यविषयों से असम्पृक्त होने के कारण उसके दुःखों का तिरोभाव हो जाता है। इसी आधार पर सुषुप्ति की अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है। प्रातःकाल होते ही वह पुनः सांसारिक व्यवहाररूप बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन का होना प्रत्यक्ष है। जैसे सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति तथा दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का आना अवश्यम्भावी है, वैसे ही मुक्ति के पश्चात् बन्धन और बन्धन के पश्चात् प्रयत्न करने पर मुक्ति का आना अनिवार्य है। जिस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है, उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी निरन्तर बना रहता है। दो मुक्तियों के अन्तराल में बन्धन और दो बन्धनों के अन्तराल में मुक्ति का यह सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस सन्दर्भ में दो में से एक स्थिति का होना आवश्यक है—या तो जीवात्मा अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा चला आ रहा है, या किसी कालविशेष में इस चक्र का प्रारम्भ हुआ। यदि इस चक्र को अनादि माना जाए तो बन्धन आत्मा का स्वाभाविक गुण हो जाएगा; उस अवस्था में न कभी उसका अन्त होगा और न मोक्ष की सिद्धि सम्भव होगी, क्योंकि जिस भावरूप पदार्थ का आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं। तब, मोक्ष की सिद्धि के निमित्त अनिवार्यतः यही मानना होगा कि जन्म-मरण का क्रम किसी नियत काल में प्रारम्भ हुआ। किसी नियत काल में प्रारम्भ होने अर्थात् जीवात्मा के बन्धन में आने से पूर्व उसका मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही कैसे उठता ? इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो जीवात्मा इस समय बन्धन में है और भविष्य में कभी मुक्त होगा, वह जन्म-मरण के वर्त्तमान क्रम के चालू होने से पूर्व मुक्त था। इस आधार पर वर्त्तमान बन्धन का दो मुक्तियों के अन्तराल में आना स्वतः सिद्ध है। यदि वर्त्तमान बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् जीवात्मा बन्धन में पड़ सकता था तो कोई कारण नहीं कि वर्त्तमान बन्धन के पश्चात् प्राप्त होनेवाली मुक्ति

के बाद बन्धन में नहीं आएगा। जो नीचे गिरकर ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता कि बन्धन से मुक्ति में तो चला जाए, किन्तु मुक्ति से बन्धन में न आए। इस प्रकार दो मुक्तियों के बीच बन्धन और दो बन्धनों के बीच मुक्ति के क्रम का न कभी आदि था, न अन्त होगा। न सदा बन्धन रहेगा, न मुक्ति।

यह कहा जा सकता है कि जब मुक्ति से लौटकर आना निश्चित है तो उसके लिए इतना प्रयास क्यों किया जाए ? जन्म-जन्मान्तर की अनवरत साधना के फलस्वरूप मोक्षलाभ होता है। इतना श्रमसाध्य होने पर भी यदि मोक्ष अनित्य है तो उसके लिए इतना श्रम क्यों ? परन्तु यह जानते हुए भी कि जीवन क्षणभंगुर है, क्या हम जीते रहने के लिए प्रयत्न नहीं करते ? इतना ही नहीं, यह जानते हुए भी कि प्रातःकाल भोजन करने पर कुछ घण्टों के बाद ही भूख फिर सताने लगती है, हम क्षुधानिवृत्ति के साधनों से उपराम नहीं होते, अपितु उसके निवारणार्थ अपेक्षित साधनोपायों को जुटाने में प्रवृत्त रहते हैं। जब हम क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए किये गये श्रम को व्यर्थ नहीं समझते तो इकतीस नील दस खरब चालीस अरब वर्षों तक रहनेवाले मोक्षसुख के लिये किये गये श्रम को व्यर्थ कैसे माना जा सकता है ?

प्रश्न—जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मोक्ष है, अतः मुक्तात्मा के फिर से जन्म-मरण के चक्र में फँसने का प्रश्न नहीं रहता। उपनिषद् आदि ग्रन्थों में अनेकत्र इसके पोषक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्ट शब्दों में मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध किया है। जैसे—

१. **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।** —न्याय० १।१।२२
२. **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।** —सांख्य० १।१
३. **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।** —वे० ४।४।२२
४. **तेषां न पुनरावृत्तिः।** —बृहद० ६।२।१५
५. **तस्मान्न पुनरावर्त्तते।** —प्रश्न० १।१०
६. **यस्माद् भूयो न जायते।** —कठो० ३।१०
७. **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते।** —छां० ८।१५।१
८. **एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते।** —छां० ४।१५।५
९. **यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते।** —गीता० १५।६

उत्तर—जिसका आदि है उसका अन्त अनिवार्य है। जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही मुक्ति भी ऐसी नहीं हो सकती जिसका आदि तो है, पर अन्त कभी नहीं होगा। वस्तुतः पूर्वोद्धृत वचनों में मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का किंचित् भी विरोध नहीं है। प्राचीन ऋषियों के कथन की शैली को ठीक-ठीक न समझकर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

मीमांसा के **'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'**—इस न्याय का अन्यत्र व्याख्यासहित उल्लेख हो चुका है। तदनुसार **'अपशवो वाऽन्ये गो-अश्वेभ्यः'** इत्यादि वाक्य को गो-अश्व से भिन्न पशुओं के पशुत्वाभव के प्रख्यापन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अन्य पशुओं की अपेक्षा गो-अश्व की प्रशंसा करनामात्र अभीष्ट है। इसी प्रकार **'न च पुनरावर्त्तते'** आदि का तात्पर्य मुक्ति से पुनरावृत्ति के निषेध में नहीं है, अपितु मुक्ति के पूर्णकाल-पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है, अर्थात् बीच में नहीं लौटता—यह तात्पर्य है। दर्शन, उपनिषद्, गीता आदि में जहाँ कहीं इस प्रकार के वाक्य मिलें वहाँ उनका यही अभिप्राय समझना चाहिए।

मीमांसा के **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) इस सूत्र के अनुसार इसे दूसरे रूप में भी समझा जा

उत्तर—यह बात ठीक नहीं क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥१॥
अ॒ग्नेर्व॒यं प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥२॥

—ऋ० म० १। सू० २४। मं० १-२॥

'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः' ॥३॥ —सांख्य सू० १।१६०

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि, सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है ॥२॥

सकता है। ब्राह्मण-वचन है—**'पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति'** इसपर विचार करके **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** सूत्र से समाधान किया है कि पूर्णाहुति से प्राप्त जितना फल है, उतना ही सर्वत्र यहाँ विवक्षित है। मीमांसा के इस अधिकरण के अनुसार उपर्युक्त वचनों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—"उक्त वचनों में जो पुनरावर्त्तन का निषेध किया है, वह आत्यान्तिक निषेध न होकर प्रकृत मुक्ति-विषय से सम्बद्ध है अर्थात् मुक्ति का जितना काल शास्त्रों में लिखा है उस काल के मध्य मुक्त जीव का संसार में पुनरावर्त्तन नहीं होता; कभी पुनरावर्त्तन नहीं होता, यह अभिप्रेत नहीं है।

यह आवश्यक नहीं कि 'अत्यन्त' पद सर्वत्र नितान्त अन्तहीनता का वाचक हो। **'नाभावो विद्यते सतः'** सत् का अभाव नहीं होता। किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव अथवा तिरोभाव होता है, उत्पत्ति या विनाश नहीं। **'अत्यन्त' दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्तते'** का इतना ही तात्पर्य है कि इस मनुष्य को अत्यधिक दुःख वा सुख है। महाकवि कालिदास जब **"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"** में अत्यन्त शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अभिप्राय सुख-दुःख के नैरन्तर्य से होता है। न्याय तथा सांख्यदर्शन के उक्त सूत्रों में 'अत्यन्त' पद अतिशय का बोधक है उसका अभिप्राय 'बहुत काल तक' से अधिक कुछ नहीं।

आचार्य शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ (८।१५।१) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति है तब तक जीव वहीं रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता।"[1] ब्रह्म तो अनादि है, ब्रह्मलोक भी सदा वर्त्तमान रहता है, अतः ब्रह्मलोक की आयु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म का प्राप्त होना ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, अतः यहाँ **'यावदायुषम्'** शब्द ब्रह्मलोक में जीव के रहने की अवधि के लिए आया है। शंकर की व्याख्या से स्पष्ट है कि जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति का काल है, तब तक मुक्त आत्मा का प्रत्यावर्त्तन नहीं होता, किन्तु स्थितिकाल की समाप्ति पर आवर्त्तन में कोई बाधा नहीं। छान्दोग्य के द्वितीय सन्दर्भ (४।१५।५) की व्याख्या में भी शंकराचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा कि "देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव-आवर्त

---

१. यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः।

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता। किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ॥३॥

प्रश्न— **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** ॥ —न्याय० १।१।२२

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' ॥

—न्यायसू० १।१।२

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है, वही **'मुक्ति'** कहाती है ॥

क्योंकि जब मिथ्याज्ञान=अविद्या, लोभादि दोष, विषय— दुष्ट-व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है, जोकि सदा बना रहता है ॥

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि **'अत्यन्त'** शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। जैसे **'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्त्तते'** बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है। इसी प्रकार यहाँ भी 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

(मनुसम्बन्धी सर्ग अथवा मानुषी मैथुनी सृष्टि) में नहीं लौटते।"[1] इसकी टीका करते हुए आनन्दगिरि ने कहा कि "यहाँ जो 'इमम्' विशेषण है इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा इस कल्प नें नहीं लौटता, किन्तु कालान्तर में लौटता है।"[2] छान्दोग्य (५।१०) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"एक श्रुति कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव लौटता है, दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प में नहीं लौटता—क्या इनमें परस्पर विरोध नहीं है ?" इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि "यहाँ 'इमम्' विशेषण से स्पष्ट है कि मात्र इस कल्प में पुनरावृत्ति का निषेध किया है।"[3]

पुनः बृहद्० के अन्तर्गत **'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति न तेषां पुनरावृत्तिः'** (६।२।१५) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा—'अनेकसंवत्सर पर्यन्त वहाँ निवास करते हैं। अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक वहाँ रहते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त कर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।"[4] शंकराचार्य ने यहाँ **'संवत्सरानेकान्'** (अनेक वर्ष) तथा 'अनेकान् कल्पान् (अनेक कल्प) कहकर मुक्ति के नियत कालविशेष का स्पष्ट निर्देश कर दिया। वर्षों और कल्पों से निर्दिष्ट मुक्ति निरवधि नहीं हो सकती। तब 'न लौटने' का अर्थ 'अवधि में न लौटने' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर आगे कहते हैं—**'अस्मिन् संसारे न पुनरागनम्'** ('इह' इति शाखापाठात् अर्थात् दूसरी शाखा में 'इह' पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवों का प्रत्यागमन) 'इस' संसार में नहीं होता। उपर्युक्त पाठ यजुर्वेदीय काण्व शाखा के शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् का है, परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथब्राह्मण (१४।६।१।१८) में **'तेषामिह न पुनरावृत्तिः'** यह 'इह' पदघटित पाठ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं कि "यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो, तो 'इह' पद का प्रयोग

---

१. एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनोसम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्तन्ते।

२. इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तर एवावृत्तिरिति सूच्यते।

३. न च पुनरावर्त्तन्त इतीमं मानवमावर्त्तन्त इत्यादि श्रुतिविरोध इति। इमं मानवमिति विशेषणात् तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति।

४. पराः परावृतः प्रकृष्टाः समा संवत्सरानेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोक गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः॥

[मुक्ति का काल]

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है, तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है ?

उत्तर—**'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥'**

—यह मुण्डक उपनिषद् ३।२।६ का वचन है ॥

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोगके पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़के संसार में आते हैं ॥

इसकी संख्या यह है कि तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का **'परान्तकाल'** होता है। इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिए। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

[मुक्ति से पुनरावृत्ति न होने में अनेक दोष]

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे पुनः जन्म-मरण में कभी न आवें।

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं। इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिएँ।

प्रश्न—जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है, इसलिए निश्शेष नहीं होते।

उत्तर—जो ऐसा होवे, तो जीव अनित्य हो जाएँ, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है। फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट हो जाएँ, तो मुक्ति अनित्य हो गयी और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का हो जाएगा, क्योंकि वहाँ आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा।

व्यर्थ हो जाए।"[1] इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए शंकराचार्य ने लिखा कि "इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है।[2] इस प्रकार दर्शनों, उपनिषदों और उनपर आधारित गीता आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ मुक्ति से अनावृत्ति का प्रसंग मिले, वहाँ-वहाँ 'मुक्ति के लिए नियत अवधि में पुनरावृत्ति नहीं होती' यही तात्पर्य समझना चाहिए।

वेदान्तदर्शन **'अनावृत्तिः शब्दात्'** (४।४।२२) का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि शब्दप्रमाण से 'मुक्ति की अवधि में' अनावृत्ति सिद्ध है। अनावृत्ति का जो अर्थ श्रुति को मान्य है, वही ब्रह्मसूत्र को भी स्वीकार्य है, अर्थात् मुक्ति की नियत अवधि में, अथवा इस कल्प में, अथवा इस मानुषी (मैथुनी) सृष्टि में मुक्तात्मा का पुनरागमन नहीं होता। लोक में किसी व्यक्ति को सेवा में स्थिर या स्थायी करने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि अब वह मृत्युपर्यन्त सेवा से मुक्त नहीं किया जाएगा। इसका तात्पर्य इतना ही होता है कि

---

१. **यदि हि नावर्त्तन्त एवं इह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्।**

२. **तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते।**

और दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो तो मधुर क्या, जो मधुर न हो तो कटु क्या कहावे ? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे कोई मनुष्य मीठा=मधुर ही खाता-पीता जाए, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगनेवाले को होता है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए। जो जितना भार उठा सके, उतना उसपर धरना बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मन भर उठानेवाले के शिर पर दश मन धरने से भार धरनेवाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवाले जीव पर **अनन्त सुख** का भार धरना ईश्वर के लिए ठीक नहीं।

उसे सेवानिवृत्ति के लिए नियत आयु (५५-६०) से पूर्व नहीं हटाया जा सकेगा। इसी प्रकार आजीवन कारावास का अभिप्राय यही होता है कि दण्डित व्यक्ति को आजीवन कारावास की नियत अवधि (प्रायः २० वर्ष) तक कारागर में रहना होगा, यह नहीं कि अब वह मृत्युपर्यन्त कभी जेल से बाहर नहीं आएगा।

शब्दप्रमाण की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि है, अतः इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

'प्रमाणं परमं श्रुतिः'—वेद के इन मन्त्रों में मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।

अवतारवाद में विश्वास रखनेवाले के मत में तो स्वयं परमेश्वर अनेक बार शरीर धारण करके पृथिवी पर अवतरित होते हैं। यदि स्वरूपतः कभी जन्म न लेनेवाला, नित्यमुक्त परमात्मा समय-समय पर शरीर धारण कर सकता है तो असंख्य बार जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले जीवात्मा का मनुष्यरूप में पुनर्जन्म क्यों नहीं हो सकता ? अद्वैतवाद के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में फँसने से पूर्व वर्त्तमान शरीरधारी जीवात्मा ब्रह्म ही था अथवा ब्रह्म में लीन था। कारण कुछ भी रहा हो, एक समय आया जब वह जीवरूप होकर अथवा ब्रह्म के अंश के रूप में शरीर धारण करके संसार में आ गया और जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँस गया। जब एक बार ऐसा हो गया तो फिर क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भी मुक्त जीव के मोक्ष से प्रत्यावर्त्तन की सम्भावना बनी रहती है।

मोक्ष से प्रत्यागमन मानने पर जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है। यदि अविद्योपाधि के कारण ही जीवात्मा का अस्तित्व है और उसके दूर हो जाने पर तथाकथित जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, तो उसका पुनः जीवरूप होकर देहधारण करना कैसे संगत हो सकता है ? जो नदियाँ एक बार समुद्र में मिल जाती हैं वे फिर कभी उससे बाहर निकलकर नहीं बहतीं। यदि साक्षात्कार होने पर जीवात्मा का सरित्सागरवत् ब्रह्म में विलय हो जाना अथवा उसके साथ तादात्म्य हो जाना मोक्ष है तो उसका बार-बार जीवरूप में देहधारण करना सम्भव नहीं। जो बार-बार अविद्या में ग्रस्त होकर शरीर धारण करता है और मुक्त हो जाने पर भी संसार में लौट आता है, वह जीव ही हो सकता है, ब्रह्म नहीं। मुक्ति से पुनरावृत्ति के साथ **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** का सामञ्जस्य नहीं हो सकता।

यदि आत्माओं की बराबर मुक्ति होती रहे और उनमें से कोई कभी लौटकर न आये, तो एक दिन संसार का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोष क्यों न हो, निरन्तर कम-ही-कम होने पर कभी-न-कभी समाप्त हो जाता है, किन्तु आज तक संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं हुआ। प्रवाह से अनादि सृष्टि की रचना प्रत्येक कल्प में होती है। यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक निर्बाधरूप

---

१. **यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्।**

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है, तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं, वह चुक जाएगा, क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोश हो, परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी-न-कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिए यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना, वहाँ से पुनः आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारागार से जन्म-कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फाँसी को कोई अच्छा मानता है ? जब वहाँ से आना ही न हो, तो जन्म-कारागार से इतना ही अन्तर है कि वहाँ मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

[जीव ईश्वर के सदृश कभी नहीं होता]

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त, पूर्ण सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा, तो कोई भी दोष नहीं आवेगा।

से चलता रहता है। प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजन का लक्षण है—जिस अर्थ को लक्ष्य कर कोई प्रवृत्त होता है वह अर्थ प्रयोजन कहाता है। इस प्रकार परमेश्वर द्वारा बार-बार सृष्टि-रचना का भी कोई-न-कोई प्रयोजन है। वह प्रयोजन **'तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य'** इस सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। स्पष्ट है कि जीव के निमित्त ही बार-बार सृष्टि की रचना होती है। तब, यदि सृष्टि प्रवाह से अनादि है तो जीवात्मा की मुक्ति भी प्रवाह से अनादि माननी होगी। जीव के मोक्ष में जाकर प्रत्यावर्त्तन होने में ही यह सम्भव है।

यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के लिए जीव की अपेक्षा है—इस तर्क से मुक्तात्माओं के मुक्ति से पुनरावर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। जीवात्माओं के न लौटने पर संसार का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि मुक्तात्माओं के स्थान पर नये जीव उत्पन्न करके सृष्टिक्रम को चालू रक्खा जा सकता है। सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर ऐसा करने में समर्थ है, परन्तु परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह जो चाहे कर सकता है। 'सर्वशक्तिमान्' होने का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर को अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती। जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना परमेश्वर का काम है, जीवों को उत्पन्न करना नहीं। यदि दुर्जनतोषन्याय से परमेश्वर द्वारा जीवों का उत्पन्न होना मान लिया जाए तो इन जीवों का अनादि न होने से अनित्य होना स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जब जीव ही अनित्य हो गया तो उसकी मुक्ति कैसे नित्य होगी ? फिर, जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा ? जीव के न रहने पर दो ही पदार्थ शेष रह गये—ईश्वर और प्रकृति। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर में से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? इसी प्रकार जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति भी असम्भव है। वस्तुतः अनुच्छित्तिधर्मा-अविनाशी जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

जीव ईश्वर के सदृश नहीं

राग-द्वेषादि से युक्त होकर कालान्तर में मुक्त हुआ जीव नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमेश्वर के सदृश कैसे हो सकता है ? मुक्त हो जाने पर भी जीव अल्पज्ञ और परिमित गुणकर्मस्वभाववाला ही रहेगा। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कभी नहीं हो सकता। ब्रह्म तो स्वभाव से आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा निमित्त से आनन्दमय होता है। जैसी स्थिति अग्नि के सम्पर्क से प्रकाश-उष्णतायुक्त एवं रक्तवर्ण

उत्तर—परमेश्वर अनन्तस्वरूप-सामर्थ्य-गुण-कर्म-स्वभाववाला है, इसलिए वह कभी अविद्या और दुःख-बन्धन में नहीं गिर सकता । **जीव मुक्त होकर भी** शुद्धस्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाववाला ही रहता है, वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता ।

[मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं]

प्रश्न—जब ऐसी बात है, तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश है । इसलिए श्रम करना व्यर्थ है ।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं, क्योंकि जब तक ३६,००० (छत्तीस सहस्र) वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना क्या छोटी बात है ? जब आज खाते-पीते हो, कल भूख लगनेवाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो ? जब क्षुधा-तृषा, क्षुद्र धन, राज्य-प्रतिष्ठा, स्त्री-सन्तान आदि के लिए उपाय करना आवश्यक है, तो मुक्ति के लिए क्यों न करना ? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है, तथापि उसका उपाय करना अत्यावश्यक है ।

बने लोहे की होती है, वैसी ही ब्रह्म के सम्पर्क से आनन्दयुक्त जीव की है । कुछ काल के लिए लोहा रक्तवर्ण हो जाता है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं बन जाता । इसी प्रकार जीव कुछ काल तक आनन्दयुक्त हो जाने पर भी वह आनन्दस्वरूप नहीं हो जाता । जो निमित्त से आनन्दमय है, वह नित्य आनन्दस्वरूप के समान कैसे हो सकता है ? **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** को लेकर कोई यह कहे कि ब्रह्म को जाननेवाला सचमुच ब्रह्म हो जाता है तो भी यहाँ **'भवति'** (हो जाता है) क्रियापद से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ । एक 'है' दूसरा 'होता है' । 'है' से नित्य का बोध होता है, 'होता है' से अनित्य का । नित्य और अनित्य में सादृश्य कैसे सम्भव है । शंकर और रामानुज दोनों के मत में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीवात्मा को मुक्ति में भी प्राप्त नहीं हो सकते । दोनो में ऐकात्म्य अथवा सादृश्य कभी नहीं हो सकता ।

मुक्ति का काल

छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में लगनेवाले समय के बराबर मुक्ति की अवधि होती है । एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होने में आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष लगते हैं । इस प्रकार छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय में ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष लगेंगे । इसे दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है । ४३ लाख २० हज़ार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हज़ार चतुर्युगियों का एक (ब्राह्म) अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रों का एक मास, ऐसे १२ मासों का एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षों का एक परान्तकाल होता है । इतने काल तक किसी प्रकार का दुःख न होकर आनन्द-ही-आनन्द में रहना छोटी बात नहीं है । इसे जन्म-मरण के सदृश कैसे कहा जा सकता है ?

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' जो उत्पन्न हुआ है, समय आने पर उसकी मृत्यु निश्चित है—यह जानते हुए भी मनुष्य जीना चाहता है और तदर्थ प्रयत्न करता है । खाने के कुछ समय पश्चात् भूख फिर लगेगी —यह जानते हुए भी मनुष्य बार-बार भोजन करता है । तब मुक्ति में इतने दीर्घकाल तक दुःखों से छूटकर आनन्दोपभोग करना क्या साधारण बात है कि उसके लिए प्रयास न किया जाए ?

मुक्ति के साधन—विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व—ये चार मुक्ति के साधन हैं । 'विवेक' के अन्तर्गत पाँच कोषों की व्याख्या के अनन्तर तीन अवस्थाओं का उल्लेख करके तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन किया गया है, परन्तु इसी प्रसंग में तीसरे कारण शरीर की व्याख्या के अनन्तर एक और 'चौथे' शरीर

[साधन-चतुष्टय' अर्थात् मुक्ति के चार साधन]

प्रश्न—मुक्ति के क्या साधन हैं ?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं। परन्तु विशेष उपाय ये हैं— जो मुक्ति चाहे वह जीवन्मुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पापकर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे, क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।

का उल्लेख करना असामंजस्यपूर्ण प्रतीत होता है। इसलिए स्वामी वेदानन्दजी ने स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में 'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है' इस वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर अवस्था पद रखने और उसकी व्याख्या 'तीन शरीर हैं' इस वाक्य से पूर्व लिखी जाने की सम्मति दी है। फिर भी 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद रख देने से असामंजस्य वैसा ही बना रहता है, क्योंकि मूलग्रन्थकार ने स्वयं पहले 'तीन अवस्था' कही हैं, तब चार का वर्णन कैसे ? प्रतीत होता है, टिप्पणीकार का ध्यान माण्डूक्य उपनिषद् में वर्णित आत्मा की चार अवस्थाओं की ओर गया है, वहाँ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के वर्णन के अनन्तर एक और अवस्था का वर्णन है, जिसको 'चतुर्थ' अर्थात् 'तुरीय' अवस्था कहा जाता है।

इसपर विचार करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह प्रकरण मुक्ति के विशेष उपाय बताने के लिए प्रारम्भ किया गया है। इस प्रसंग में ऋषि ने ऐसे चार उपाय बताये हैं—विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुता। प्रथम विवेक के वर्णन में यह सब पाँच कोश, तीन अवस्था और तीन शरीरों का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थकार यह बताना चाहता है, कि जीवात्मा इन कोश आदि से सर्वथा पृथक् तत्व है, यह जान लेना मोक्षमार्गी व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा चेतन तत्त्व है और ये जड़ हैं और उसी की विशिष्ट स्थिति को प्रकट करते हैं, आत्मा को इनसे पृथक् जानना, मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए सर्वप्रथम उपाय है। इसी का नाम 'विवेक' है, अर्थात् आत्मा को कोशादि से विविक्त रूप में जान लेना। प्रस्तुत प्रसंग का निगमन करते हुए ऋषि ने स्वयं लिखा है 'इन सब कोश, अवस्थाओं से जीव पृथक् हैं' और आगे लगभग दस पंक्तियों में इसी का विवरण है। अभिप्राय यह है कि कोश, अवस्था आदि मुमुक्षु आत्मा के लिए हेय कोटि में हैं, वे आत्मा का उपादेय रूप नहीं, परन्तु माण्डूक्योपनिषद् में जिस चतुर्थ अवस्था का वर्णन है, वह मोक्ष का स्वरूप है, उसकी प्राप्ति तो आत्मा का लक्ष्य है। विवेक की व्याख्या में आत्मा को उन्हीं अवस्थाओं से पृथक् बताना अपेक्षित है, जो आत्मा के बन्ध का स्वरूप है, ऐसी स्थिति में यहाँ आत्मा की तीन अवस्थाओं का ही वर्णन अपेक्षित था, जैसा कि मूलग्रन्थकार ने किया है।

इसके अतिरिक्त स्वयं ऋषि का लेख इस बात को पुष्ट करता है कि 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद की कल्पना नहीं की जा सकती। 'तुरीय शरीर' के वर्णन का मूलपाठ इस प्रकार है—'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं। इसी समाधिसंस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।' यदि पहले वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर, 'अवस्था' पद रख दिया जाए, तो यह दूसरा वाक्य असंगत हो जाएगा, जो उसी अर्थ का अतिदेश कर रहा है। इसलिए 'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है' इस वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद रखना सर्वथा अनेपक्षित है। तब इसका विवेचन होना चाहिए, कि 'तीन शरीर हैं' कहकर चौथे शरीर का वर्णन किस आधार पर किया गया है।

वस्तुतः ऋषि ने तीन शरीरों का ही वर्णन किया है—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर।

[मुक्ति का प्रथम साधन-विवेक]

सत्पुरुषों के संग से **'विवेक'** अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्माऽधर्म, कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, पृथक्-पृथक् जाने । और शरीर अर्थात् जीव **पञ्चकोशों** का विवेचन करे -

[पञ्चकोश—] एक **'अन्नमय'**—जो त्वचा से लेकर अस्थि-पर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है । दूसरा **'प्राणमय'**—जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता; 'अपान' जो बाहर से भीतर आता; 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता; 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता है ; 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है । तीसरा **'मनोमय'**—जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक् पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं । चौथा **'विज्ञानमय'**—जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका —ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है । पाँचवा **'आनन्दमयकोश'**— जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द और आनन्द का आधार कारणरूप प्रकृति है । ये **पाँच कोश** कहाते हैं । इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है ।

सूक्ष्मशरीर के दो भेद बताये हैं—एक भौतिक दूसरा अभौतिक । अभौतिक सूक्ष्मशरीर के विषय में ऋषि का लेख इस प्रकार है—'दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं । यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है । इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है ।' इस वर्णन की 'तुरीयशरीर' के वर्णन के साथ तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि ने सूक्ष्मशरीर के अभौतिक भेद को ही 'तुरीय शरीर' के रूप में पृथक् भी वर्णित कर दिया है, इस प्रकार यह शरीर का अतिरिक्त भेद नहीं है, सूक्ष्मशरीर के द्वितीय भेद का यह विवरणमात्र है ।

गम्भीरतापूर्वक विवेचन से यह ज्ञात होता है, कि अन्य शरीर के समान यह कोई अतिरिक्त शरीर नहीं है; यह आत्मा का स्वाभाविक गुणरूप है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप से यह कोई भिन्न वस्तु नहीं । यह गुणरूप सामर्थ्य आत्मा में स्वाभाविक है, अर्थात् यह आत्मा का स्वरूप ही है, पर इसका प्रादुर्भाव आत्म-साक्षात्कार होने पर सम्भव है । इसीलिए ऋषि ने इसको 'समाधिसंस्कारजन्य शुद्ध शरीर' पदों से व्यवहृत किया है । यही आत्मरूप अतिशय सामर्थ्य मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कराने में साधन है । ऋषि ने अनेक स्थलों पर आत्मा की इसी स्थिति का 'संकल्पमात्र शरीर' अथवा संकल्पमय पदों से उल्लेख किया है, तथा इसी का आत्मा की अनेक शक्ति के रूप में वर्णन है । ऋषि ने मुक्त आत्मा के विषय में लिखा है—"(पूर्व०) मुक्त जीव का स्थूलशरीर होता है वा नहीं ? (उत्तर० 'उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, ... इससे मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है ।'

इन सब विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि जैसे स्थूल आदि शरीर जड़तत्त्व हैं और आत्मा से अतिरिक्त हैं; 'तुरीयशरीर' ऐसा नहीं है; वह आत्मा की ही एक विशेष स्थिति है, जो आत्मसाक्षात्कार होने पर प्रकाश में आती है, व्यवहार के लिए उसी स्थिति का वर्णन 'तुरीयशरीर' अथवा 'अभौतिक शरीर'आदि के रूप में ऋषियों ने किया है । इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश का यह शरीर सम्बन्धी वर्णन स्पष्ट हो जाता है, इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है ।

सूक्ष्मशरीर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"दूसरा पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि—इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है ।" यहाँ सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव सत्तरह गिनाये गये हैं, यह निरूपण वेदान्तशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार है । सांख्य-ग्रन्थों में सूक्ष्मशरीर के

तीन अवस्था हैं—एक **'जाग्रत'**; दूसरी—**'स्वप्न'**; और तीसरी—**'सुषुप्ति'** अवस्था कहाती है।

तीन शरीर हैं—एक **'स्थूल'** जो यह दीखता है। दूसरा- **पाँच प्राण**, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सतरह तत्वों का समुदाय **'सूक्ष्मशरीर'** कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। **इसके दो भेद हैं**— एक **भौतिक** अर्थात् जो सूक्ष्मभूतों के अंशों से बना है। दूसरा **स्वाभाविक,** जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा **'अभौतिक'** शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा **'कारण'**—जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। चौथा **'तुरीय'** शरीर —वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते है। इसी समाधि-संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

घटक अवयव—दस बाह्य इन्द्रिय (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय), तीन अन्तःकरण—मन, अहंकार, बुद्धि और पाँच सूक्ष्मभूत मिलाकर—अठारह बताये हैं, अहंकार का बुद्धि में समावेश कर लेने से इनकी सत्तरह संख्या भी कतिपय आचार्यों ने मानी है। जैसाकि प्रस्तुत ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है।

सांख्य में पाँच प्राणों की अतिरिक्त गणना इस शरीर के घटक अवयवों में नहीं की गयी, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पाँच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर दस बाह्य करण तथा तीन अन्तःकरणों को लेकर—तेरह करण और पाँच सूक्ष्मभूत को सूक्ष्मशरीर का घटक माना गया है। प्राण वस्तुतः समस्त करणों के सामान्य वृत्तिमात्र हैं। जैसे चक्षु का विशेष व्यापार 'दर्शन' एवं त्वक् आदि का 'स्पर्शन' आदि हैं। इसी प्रकार समस्त करणों का सामान्य व्यापार प्राण हैं, स्थूलशरीर में करणों की विद्यमानता में ही प्राणरूप व्यापार अपने अस्तित्व का लाभ करता है। सूक्ष्मशरीर एक प्रकार से जीवात्मा का आवेष्टन है, जब जीवात्मा स्थूलशरीर को छोड़ जाता है, तब भी वह सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है। परन्तु अपान, व्यान, उदान आदि के रूप में प्राणों का अस्तित्व केवल स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध रहने की अवस्था में रहता है तब आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर परित्याग कर देने पर प्राण, अपान आदि के रूप में विद्यमान प्राण का अस्तित्व न रहने से सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवरूप में इनका माना जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवात्मा स्थूलशरीर की अविद्यमानता में भी सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है, आत्मा के साथ यह आवेष्टन आदिसर्ग से प्रलयपर्यन्त अथवा आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त सम्बद्ध रहता है। सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवों में जहाँ प्राणों का उल्लेख है, वहाँ भी वृत्ति से वृत्तिमान् का कथन मान लेने पर इन लेखों में विरोध की आशंका करना व्यर्थ होगा।

तीसरे 'कारणशरीर' का लक्षण इस प्रकार किया है—'तीसरा 'कारण' जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।'

पाँच कोष और तीन शरीरों का वर्णन आत्मा की बन्ध-स्थिति को स्पष्ट करता है। शरीरों में तीसरा 'कारणशरीर' है, जिसका वर्णन ऊपर की पंक्तियों में किया गया है। कारणशरीर के सम्बन्ध में यहाँ तीन बातें बताई गयीं—

१. जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है।
२. वह (कारणशरीर) प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु है।
३. सब जीवों के लिए एक है।

इस वर्णन के आधार पर 'कारणशरीर' के स्वरूप अथवा स्थिति का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण नहीं हो पाता—विशेषरूप से यह बात—कि 'कारणशरीर' प्रकृतिरूप है, विभु है और सब जीवों के लिए एक है—और

इन सब कोश और अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि यह सब को विदित है कि अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि जब मृत्यु होता है, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता-भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है, क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ, इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

भी अधिक जिज्ञासा में डाल देती है। ऐसे शरीर का क्या स्वरूप होगा, परिच्छिन्न आत्मा के लिए उसका किस प्रकार उपयोग होगा? क्या वह शरीर प्रकृतिरूप होने से महाप्रलयकाल में भी बना रहता है? इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न जिज्ञासु पाठक के सम्मुख उपस्थित होते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमें यह सन्दर्भ समझने का यत्न करना चाहिए।

'कारणशरीर' के सम्बन्ध में ऋषि ने जो उपर्युक्त तीन बातें प्रस्तुत की हैं, यथाक्रम प्रत्येक के विषय में यहाँ प्रकाश डालने से पूर्व हमें यह जान लेना अत्यन्त अपेक्षित है, कि 'कारणशरीर' के विषय में अन्य प्राचीन आचार्यों का क्या विचार है? सम्भवतः इस बात की जानकारी हमें ऋषि के उक्त सन्दर्भ को समझ लेने में पर्याप्त सहायक होगी।

स्थूलशरीर के अतिरिक्त जिन अन्य शरीरों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उनके तीन नाम पाये जाते हैं—सूक्ष्मशरीर, लिंगशरीर और कारणशरीर। सूक्ष्मशरीर का वर्णन ऋषि ने स्वयं यहीं पिछली पंक्तियों में किया है। वहाँ सूक्ष्मशरीर के सत्रह घटक अवयवों का उल्लेख है, इस विषय को अभी पिछली टिप्पणी में अपेक्षित रूप से स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार कतिपय आचार्यों ने सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवों की संख्या अठारह मानी है, जो अहंकार का बुद्धि में समावेश मान लेने से यहाँ सत्रह बताई गई है। उन अवयवों में तेरह करण (दस बाह्यकरण—पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरणमन—मन, अहंकार, बुद्धि) और पाँच तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत हैं। इनमें तेरह करणों की रचना 'अध्यात्मसृष्टि' कही जाती है, जिसका आत्मा के साथ अधिकाधिक समीप सम्पर्क रहता है। तन्मात्र की रचना अधिभूतसृष्टि है, जो समस्त स्थूल जगत् का मूल अथवा आदिरूप है। अध्यात्मसृष्टि में अन्तिम रचना बाह्यकरणों (दस इन्द्रियों) की है। अधिभूत जगत् के साथ सीधा सम्पर्क इन्हीं करणों अथवा इन्द्रियों का रहता है। यदि ये अन्तरालवर्ती इन्द्रियरूप करण अथवा साधन न हों, तो आत्मा का बाह्य जगत् के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता और न आत्मा को इनके बिना बाह्य जगत् का किसी प्रकार का ज्ञान हो पाता है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि बाह्य जगत् के साथ आत्मा का सम्पर्क इन करणों के द्वारा ही सम्भव होता है, और ये करण अपने व्यापार द्वारा इस बात के ज्ञापक होते हैं, कि इन सबके पीछे एक चेतन तत्त्व आत्मा बैठा हुआ है, क्योंकि अस्तित्व में ही स्थूलशरीर के आश्रय से इनका व्यापार (भोग आदि का प्रस्तुत करना) सम्भव हो सकता है। इसीलिए इन करणों को 'लिंग' कहा जाता है, ये छिपे हुए आत्मतत्त्व के अस्तित्व का बोधन करा देते हैं (**लीनमन्तर्हितमर्थं गमयतीति लिंगम्**)। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर के घटक इन तेरह अवयवों (तेरह करणों) का 'लिंग' नाम से भी व्यवहार होता है। शेष पाँच अवयव जो तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूतरूप हैं, उनकी ऐसी स्थिति नहीं है। इसके अतिरिक्त ये पाँच तन्मात्र, सूक्ष्मशरीर की रचना में उपादानतत्त्व का कार्य करते हैं, अर्थात् ये (तन्मात्र या सूक्ष्मभूत) सूक्ष्मशरीर की रचना के लिए मूल प्रकृतिरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मशरीर की रचना पाँच तन्मात्र से होती है। उन अठारह

जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता, और बुरे कर्मों में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

अवयवों में ये आधारभूत हैं और शेष तेरह करण आधेय हैं, अर्थात् पञ्चतन्मात्रपरिणत आधारभूत सूक्ष्मशरीर में ये तेरह आश्रित होकर रहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर के अठारह अवयव दो भागों में विभक्त हैं—

१. लिंग, आश्रित अथवा आधेयभूत तत्त्व तेरह करण।

२. अलिंग, आश्रय अथवा आधारभूत तत्त्व, शरीर के उपादान-प्रकृति पाँच तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत।

इसी आधार पर सूक्ष्मशरीर के प्रथम भाग को 'लिंगशरीर' तथा द्वितीय भाग को 'कारणशरीर' भी कहा जाता है, क्योंकि वह भाग इस शरीर में उपादानकारणरूप अथवा प्रकृतिरूप से उपस्थित है, इसी सूक्ष्म-शरीर का जब करणों की प्रधानता को दृष्टि में रखकर निर्देश किया जाता है, तब उसके लिए 'लिंगशरीर' पद का भी प्रयोग आचार्य करते हैं, और जब व्यवहार में तन्मात्र की प्रधानता अपेक्षित होती है, तब इसे 'कारणशरीर' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में ऋषि ने 'कारणशरीर' का जो वर्णन किया है, उसके साथ इसका सन्तुलन करना अपेक्षित है, जिससे यह निश्चय हो सके, कि यहाँ जो 'कारणशरीर' का वर्णन किया गया है, वह यही सम्भव हो सकता है या नहीं ? ऋषि ने 'कारणशरीर' की उपर्युक्त तीन विशेषता बताई हैं। पहली का स्वरूप है—'जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है।' अब देखना चाहिए, कि सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा का स्वरूप अथवा उसकी स्थिति क्या है ?

इस विचार को समस्त आचार्य एकमत से स्वीकार करते हैं, कि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों और बुद्धि का अथवा समस्त करणों का विशेष व्यापार कोई नहीं रहता। इन्द्रियों के विशेष व्यापार हैं—जैसे चक्षु का देखना, श्रोत्र का सुनना, मन का संकल्प करना, बुद्धि का निश्चय करना आदि; सुषुप्ति में इन सब व्यापारों अथवा वृत्तियों का अभाव रहता है। पर इन समस्त करणों का सामान्य व्यापार 'प्राण' हैं, वह व्यापार बराबर बना रहता है, सुषुप्ति अवस्था भी उसमें बाधक नहीं होती, क्योंकि तन्मात्र-रूप 'कारणशरीर' समस्त करणों का मुख्य आधार है, उस अवस्था में करणों का अपने गोलकों के साथ सम्बन्ध न रहकर वे अपने आश्रयभूत शरीर (तन्मात्ररूप, कारणशरीर) में अवस्थित रहते हैं। यह अवस्थिति करणों की विशेष वृत्ति (विशेष व्यापार) की अवरोधक है। यही अवस्था सुषुप्ति की है। इस प्रकार गोलकों से हटकर अपने आश्रयभूत शरीर में करणों का अवरुद्ध रहना सुषुप्ति का प्रयोजक है। इसी बात को ऋषि ने इन शब्दों में लिखा है—'जिसमें' सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। ऐसा शरीर 'कारणशरीर' कहाता है।

दूसरी विशेषता इस शरीर की ऋषि ने बताई, कि 'वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु' है। यह अभी स्पष्ट किया गया है, कि उपर्युक्त सूक्ष्मशरीर में पाँच 'तन्मात्र' उस शरीर के उपादानभूत अथवा प्रकृतिरूप तत्त्व हैं। इसीलिए वे अन्य तेरह करणरूप अवयवों के आधार हैं, यही कारण है कि ऋषि ने इस शरीर को प्रकृतिरूप बताया है। 'विभु' कहने का यही तात्पर्य है, कि वह शरीर प्रत्येक उस स्थान में रहता है, जहाँ आत्मा का अस्तित्व है। वस्तुतः यह आत्मा का एक नियत आवेष्टन है, जो ईश्वर की प्रेरणा आदि निमित्तों से सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रत्येक आत्मा के साथ आबद्ध हो जाता है और प्रलयकालपर्यन्त उसकी वही स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार प्रलयकाल के प्रारम्भ में अथवा सर्ग के अन्तरालकाल में भी

इस प्रकार जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को गुण-कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा-पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना सृष्टि से उपकार लेना वह 'विवेक' कहाता है । यह मुक्ति का प्रथम साधन है ।

आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर आत्मा को उससे छुटकारा मिलता है । साक्षात्कृतधर्मा आत्मा मोक्ष में चले जाते हैं, शेष आत्मा प्रलयकाल में सुप्त के समान अन्धकारमय अवस्था में रहते हैं । पुनः सर्गकाल उपस्थित होने पर पहले के समान सूक्ष्मशरीरों से आवेष्टित हो जाते हैं और संसारचक्र पूर्ववत् चालू रहता है । इस चक्र-परिवर्त्तन में प्रत्येक जीव न जाने कहाँ से कहाँ जाता है । इस प्रकार अनन्त जीवात्माओं से यह अखिल ब्रह्माण्ड भरा हुआ है । जहाँ आत्मा है, वहाँ सूक्ष्मशरीर अवश्य है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर में आधारभूत तत्त्व 'तन्मात्र' हैं, इसी आशय से 'कारणशरीर' रूप में उनको 'विभु' कह दिया गया है । इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिए, कि वह शरीर व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्यापक है, ऐसे शरीर की कल्पना किया जाना अशक्य है ।

इसी कारण वह 'सब जीवों के लिए एक है' इस तीसरी विशेषता के बताये जाने में प्रयुक्त 'एक' पद का अर्थ 'समान' है । इसका अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक जीवात्ममात्र के साथ जो सूक्ष्मशरीर उसके आवेष्टनरूप में आबद्ध हैं, वे सब रचना की दृष्टि से सर्वथा समान हैं । व्यक्तिरूप से भेद होने पर भी उनकी रचना व स्थिति में ईश्वरीय रचना है, इसमें भौतिक सम्बन्ध से अनुप्रेरित जीवात्माओं का कोई सहयोग नहीं रहता । स्थूलशरीर की रचना में जीवात्माओं का सहयोग रहता है, प्रत्येक जाति के शरीरों में यद्यपि प्रायः समानता रहती है, पर उनके अवयवभेद के कारण उन शरीरों को एक दूसरे से भिन्नरूप में स्पष्टतया पहचाना जा सकता है, और समस्त लोक-व्यवहार इस आधार पर चलता है । यह बात सूक्ष्मशरीरों की रचना में नहीं रहती, क्योंकि उनमें इस प्रकार का भेद अभिलक्षित नहीं होता, इसी कारण उनकी इस समानता को 'एक' पद से कह दिया गया है । इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह शरीर सब जीवों का एक व्यक्तिरूप है, अर्थात् सब जीवों का व्यक्तिरूप से एकमात्र वही शरीर होता है । फलतः इस समस्त सन्तुलन से अब निर्बाधरूप में इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है, कि ऋषि ने 'कारणशरीर' का जो वर्णन किया है, वह वही 'कारणशरीर' सम्भव हो सकता है, जिसका विवरण ऊपर की पंक्तियों में दिया गया है । सत्यार्थप्रकारश की इन पंक्तियों का ऐसा ही अभिप्राय समझना उपयुक्त होगा ।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है, कि यदि सूक्ष्मशरीरों की रचना सर्वथा समान है, तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी सब आत्माओं के साथ समान होने चाहिएँ, उनकी रचना में किसी प्रकार का भेद माना जाना अयुक्त होगा, परन्तु इसके विपरीत लोक में यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि सब मानवों अथवा सब प्राणियों में इन्द्रिय, मन, बुद्धि की स्थिति समान नहीं होती । इन आधारों पर विभिन्न जातियों और प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य देखा जाता है ।

इस विषय में गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि संसार में जो इन्द्रिय, बुद्धि आदि के आधार पर भेद देखा जाता है, उसका आधार इन्द्रियादि के गोलक हैं, स्वतः इन्द्रियों की रचना या स्थिति ऐसी नहीं है । जब किसी इन्द्रिय के कार्य या व्यापार में कोई न्यूनता, बाधा अथवा शिथिलता देखी जाती है, तब लोक में इन्द्रिय की दुर्बलता या बिगाड़ का जो व्यवहार होता है, वह वस्तुतः गोलक की दुर्बलता या शिथिलता है । गोलक शरीर का वह अंग है, जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने व्यापार को सम्पन्न

[मुक्ति का द्वितीय साधन]

दूसरा साधन **'वैराग्य'**—अर्थात् जो विवेक से सत्याऽसत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य' है ।

[मुक्ति का तृतीय साधन]

तत्पश्चात् तीसरा साधन **'षट्क-सम्पत्ति'**—अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना । एक **'शम'**—जिससे

करती है, गोलक के विकृत होने पर अनेक भौतिक अथवा यौगिक क्रियारूप साधनों से उनको विकार रहित बनाये जाने का प्रयत्न बराबर किया जा सकता है ।

शरीर की यह रचना बड़ी अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक है । इसमें अनेक ऐसी ग्रन्थियाँ और संस्थान हैं, जो ऐसे रसों का निर्माण करते हैं, जिनसे समस्त अंगों को पोषण मिलता है, और इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि भी अपने व्यापार को सम्पन्न करने में निर्बाध एवं समर्थ रहती हैं । अन्तःकरण के व्यापार को सुसम्पन्न एवं सुचारुरूप में संचालित रखने के लिए विशेष रसों के निर्माण में ज्ञानग्रन्थि अथवा भाग्यग्रन्थि (पिट्युटरी बॉडी) और चुल्लिकाग्रन्थि (थाईरायड् ग्लेण्ड्स्) का सहयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है । इन ग्रन्थियों के किसी प्रकार के भी विकार व्यक्ति के बुद्धिमान्य आदि की न्यूनाधिकता को प्रकट कर देते हैं । फलतः यह भेद करणों के रचनाभेद पर आश्रित न रहकर उनके गोलकों अथवा उनके व्यापार में सहायक शरीरांगों पर आधारित रहता है । इस प्रकार करणों में किसी प्रकार के रचनाभेद की कल्पना निराधार है और उनका यह अतिसमान अथवा एकरूप निर्माण ही उन्हें एक कह देने का आधार है ।

ऋषि ने 'तुरीयशरीर' का जो वर्णन किया है, इस विषय में पहले लिखा जा चुका है, कि यह सूक्ष्मशरीर के ऋषिप्रदर्शित अभौतिक भेद का विवरणमात्र है, अथवा उसको अतिरिक्त दिखाने के लिए चौथी संख्या पर दिया गया है । तीन शरीरों के वर्णन की प्रतिज्ञा कर ऋषि ने जो तीन शरीरों (स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर) का वर्णन किया है, वह आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक तीन शरीर हैं । उनमें सूक्ष्मशरीर चाहे लिंगशरीर नाम से व्यवहृत हो अथवा कारणशरीर नाम से, वह भौतिक अथवा प्राकृत है, और आत्मा की बन्धस्थिति का द्योतक है, केवल सूक्ष्मता की साधारण समानता के आधार पर ऋषि ने अभौतिक भेद के रूप में शरीर नाम से आत्मा की उस स्थिति का उल्लेख कर दिया है, जो स्थिति वस्तुतः मुक्त आत्मा की है । निश्चित ही वह आत्मा की बन्ध स्थिति नहीं है । सूक्ष्मशरीर के प्रसंग में इस प्रकार अनायास उसका उल्लेख हो जाने पर सम्भवतः इसी कारण ऋषि ने 'तुरीयशरीर' के रूप में उसका पृथक् वर्णन किया है । क्योंकि वे तीन शरीर आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक हैं, यदि केवल उनके वर्णन के मध्य में यह वर्णन रहता, तो इसमें अप्रासंगिक होने की आशंका की जा सकती थी, इसलिए आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक उन तीन शरीरों का वर्णन करने के अनन्तर आत्मा की स्थिति का 'तुरीयशरीर' के रूप में वर्णन कर दिया गया है, जहाँ वह बन्ध स्थिति से बाहर है, और मोक्ष-आनन्द का अनुभव करता है ।

षट्कसम्पत्ति—**'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्'** (शत० १४।७।२।८) अर्थात् इसलिए ऐसा ज्ञानी शान्त (शमवाला), दान्त (दान्तवाला), उपरत (उपरतिवाला), तितिक्षु (तितिक्षावाला) तथा श्रद्धायुक्त होकर आत्मा में परमात्मा का और परमात्मा में आत्मा के दर्शन करे । बृहदारण्यक (४।४।२३) में लिखा है—**'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति'** । अर्थ पूर्वोद्धृत सन्दर्भ जैसा है । शतपथ में 'समाधान' का वर्णन नहीं है, क्योंकि वह इन पाँच

अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा **'दम'**—जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा **'उपरति'**—जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। चौथा **'तितिक्षा'**— चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। पाँचवाँ **'श्रद्धा'**—जो वेदादिसत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छठा **'समाधान'**—चित्त की एकाग्रता —ये छः मिलकर 'साधन तीसरा' कहाता है।

[मुक्ति का चतुर्थ साधन]

चौथा [साधन] **'मुमुक्षुत्व'**—अर्थात् जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्नजल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना, ये चार साधन हैं।

[अनुबन्ध-चतुष्टय]

और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं—

प्रथम **'अधिकारी'**— इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का 'अधिकारी' होता है।

दूसरा **'सम्बन्ध'**—ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादिशास्त्र प्रतिपादक को यथावत् समझकर अन्वित करना।

तीसरा **'विषयी'**—सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम 'विषयी' है।

चौथा **'प्रयोजन'**—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्तिसुख का होना, ये **'चार अनुबन्ध'** कहाते हैं।

[श्रवण-चतुष्टय]

तदनन्तर **'श्रवणचतुष्टय'**। एक **'श्रवण'**— जब कोई विद्वान् उपदेश करे, तब शान्त, ध्यान देकर सुनना। विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है।

सुनकर दूसरा **'मनन'** एकान्त देश में बैठके सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शङ्का हो पुनः पूछना और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना।

तीसरा **'निदिध्यासन'**—जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जाए, तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना-समझना कि वह जैसा सुना था, विचारा था, वैसा ही है वा नहीं, ध्यान-योग से देखना।

चौथा **'साक्षात्कार'**—अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो, वैसा याथातथ्य जान लेना। यह **'श्रवणचतुष्टय'** कहाता है।

का फल है। बृहद० में श्रद्धा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि इसके बिना शेष पाँच का अनुष्ठान सम्भव नहीं। वेदान्तदर्शन (३।४।२७) में कहा है—**'शमदमाद्युपेतस्स्यात्'**।

मैत्री—**'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'** (योग० १।३३)–

[मुक्ति के अन्य साधन]

सदा **'तमोगुण'**=अर्थात् क्रोध मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, **'रजोगुण'**=अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके, **'सत्त्व'**=अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या-विचार आदि गुणों को धारण करे। **'मैत्री'**=सुखीजनों में मित्रता, **'करुणा'**=दुःखीजनों पर दया, **'मुदिता'**=पुण्यात्माओं से हर्षित होना, **'उपेक्षा'**=दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना। नित्यप्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।

[आत्मा शरीर से पृथक् है]

देखो, अपने चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं, क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं। वैसे ही इन्द्रियाँ प्राण आदि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता, और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता[1], धारणाकर्षणकर्त्ता, और सबसे पृथक् हैं।[2] जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्रकर्त्ता इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।

मैत्री, दया, मुदिता (हर्ष) और उपेक्षा की, सुख, दुःख, पुण्य, पाप विषयोंवाले व्यक्तियों के प्रति भावना से चित्त को साधक प्रसन्न-स्वच्छ-निर्मल रक्खे। इससे राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त-मलों को दूर करने में सहायता मिलती है।

इन्द्रियाँ, प्राण आदि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता—आपाततः नेत्रादि बाह्येन्द्रियों तथा आन्तरेन्द्रिय मन को द्रष्टा, श्रोता, स्मरणकर्त्ता आदि माना जाता है, परन्तु ये सब तो साधनमात्र हैं। वास्तव में तो ये सब चेतन आत्मा के धर्म हैं, भौतिक इन्द्रियों के नहीं। यही कारण है कि नेत्रों से आम के रूप को देखकर ही उसके स्वाद और गन्ध का ज्ञान हो जाता है, जबकि ये रसना तथा घ्राण से ज्ञेय हैं। इस विषय में न्यायदर्शन के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं—३।१।१२, १४, १५

एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता—यह सर्ववादीसम्मत है कि मन और इस कारण आत्मा एक काल में एक अर्थ को ही जान सकता है। इसमें **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** (न्याय० १।१।१६ तथा पूर्वनिर्दिष्ट ३।१।१२, १४, १५) प्रमाण हैं। मन का एक समय में एक से अधिक अर्थों का ग्रहण न कर सकना उसकी सत्ता में हेतु है। इसलिए यहाँ पाठ कुछ इस प्रकार होना चाहिए—'एक काल में अनेक इन्द्रियों से एक अर्थ का वेत्ता'। इसमें न्यायदर्शन ३।१।१ का प्रमाण है—**'दर्शनस्पर्शाभ्यामेकार्थग्रहणात्'**—लोक में व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत अर्थ अन्य इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। एक व्यक्ति अनुभव करता है—जिस आम को मैंने चक्षु से देखा उसी को हाथ में लेकर त्वक् से छू रहा हूँ और उसी को रसनेन्द्रिय से चख रहा हूँ। यहाँ देखने, छूने और चखने का विषय एक है तथा इनका कर्त्ता भी एक है जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान का प्रतिसन्धान करता है; कोई एक इन्द्रय कर्ता हो तो विभिन्न

---

१. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है। शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि एक काल में आत्मा एक अर्थ को ही जान सकता है। **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'** (न्याय १।१।१६.) के अनुसार मन की सत्ता का यही हेतु है, अतः हमारे विचार में यहाँ पाठ इस प्रकार होना चाहिए— 'एक काल में अनेक इन्द्रियों से एक अर्थ का वेत्ता।' इसमें न्यायदर्शन ३।१।१ का प्रमाण है—**'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्**,

२. द्र०—'शरीरदाहे पातकाभावात्'। न्यायदर्शन ३।१।४॥ यह मृत शरीर की दृष्टि से है, यतः उससे आत्मा पृथक् हो गया, अतः उसके दाह में पातक नहीं होता।

[पाँच प्रकार के क्लेश]

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः[1] ॥

—योगशास्त्रे पादे २ सू० ३

इनमें, से 'अविद्या' का स्वरूप कह आये। पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना **'अस्मिता'**[2], सुख में प्रीति **'राग'**, दुःख में अप्रीति **'द्वेष'**, और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूँ, मरूँ नहीं, मृत्यु-दुःख से त्रास **'अभिनिवेश'** कहाता है। इन **'पाँच क्लेशों'** को योगाभ्यास और विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए।

[तथाकथित मुक्तियों की आलोचना]

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता। देखो, जैनी लोग मोक्षशिला वा[3] शिवपुर में जाके चुपचाप बैठे रहना। ईसाई चौथा आसमान, जिसमें विवाह, लड़ाई, बाजे-गाजे, वस्त्रादिधारण से आनन्द भोगना। वैसे ही मुसलमान सातवें आसमान, वाममार्गी श्रीपुर, शैव कैलाश, वैष्णव वैकुण्ठ, और गोकुलिये गोसाईं गोलोक आदि में जाके उत्तम स्त्री, अन्न-पान, वस्त्र, स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं।

ज्ञानों का एकत्र प्रतिसन्धान होना असम्भव है। इसलिए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत एक विषय के विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान (Co-ordination) करनेवाला इन्द्रियों से अतिरिक्त एक चेतन तत्त्व होना चाहिए—वही आत्मतत्व है।

अविद्या—इससे पूर्व यजुर्वेद (४०।१४) मन्त्र का उल्लेख करके विद्या और अविद्या के द्वारा क्रमशः मोक्ष और ऐहिक सुख की प्राप्ति होना बताया है। समुल्लास के प्रारम्भ में ही स्वयं ग्रन्थकार ने 'अविद्या अर्थात् कर्मोपासना' लिखा है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"कर्म और उपासना अविद्या इसलिए है कि यह बाह्य और आन्तर क्रियाविशेष का नाम है, ज्ञानविशेष नहीं।" 'अविद्या का स्वरूप कह आये' से स्पष्ट है कि यहाँ पूर्वकथित अर्थ ही विवक्षित है। 'अविद्या' पद के अर्थ 'कर्मोपासना' में समस्त वर्णाश्रमधर्म और विविध अधिभूतविषयक जानकारी का समावेश हो जाता है। संसार में जीवन को सुखमय बनाने के जितने साधन हैं, वे सब इसी के अन्तर्गत हैं। उनके अनुष्ठान से भावना का शुद्ध एवं पवित्र होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा ये अनुष्ठान जीवन को सुखमय न बनाकर दुःख एवं विनाश के कारण बन जाते हैं। पवित्रता के साथ अनुष्ठित ये साधन संसार में तो जीवन को सुखमय बनाते ही हैं, उसके अतिरिक्त वे अध्यात्ममार्ग में प्रवृत्त साधक को जीवन्मुक्त करके मोक्षलाभ करने में सहायक होते हैं।

शास्त्रों में प्रायः अध्यात्मविषयक जानकारी के लिए 'ज्ञान' तथा अधिभूतविषयक जानकारी के लिए ...ान' पद का प्रयोग होता है। प्रस्तुत मन्त्र में 'विद्या' और 'अविद्या' पद यथाक्रम इन्हीं अर्थों को कहते ...। इसी कारण 'अविद्या' (सांसरिक) दुःख से पार उतरने के लिए नौका के समान है और 'विद्या' भवसागर के पार ले-जाकर मोक्षधाम में प्रवेश करने के लिए है। प्रस्तुत प्रसंग में योगसूत्र-प्रतिपादित 'अविद्या' उपर्युक्त मन्त्रार्थ में असंगत है।

---

१. कहीं-कहीं सूत्र में 'पञ्च' शब्द नहीं मिलता है।

२. सं० २ में 'अभिनिवेश' अपपाठ है।

३. 'मोक्षशिला वा शिवपुर' का निर्देश आगे बारहवें समुल्लास में 'जैनों की मुक्ति का वर्णन, प्रकरण में किया है।

पौराणिक लोग **'सालोक्य'**=ईश्वर के लोक में निवास, **'सानुज्य'**=छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना। **'सारूप्य'**=जैसी उपासनीय देव की आकृति है वैसा बन जाना, **'सामीप्य'**=सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना, **'सायुज्य'**=ईश्वर से संयुक्त हो जाना —ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं। वेदान्ती लोग ब्रह्म में लय होने को मोक्ष समझते हैं।

उत्तर—जैनी १२ बाहरवें, ईसाई १३ तेरहवें, और १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेष कर लिखेंगे। जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियाँ मिलना, मद्य-मांसादि खाना-पीना, रङ्ग-राग भोग करना मानते हैं, वह यहाँ से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृतिवाले, पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना यहाँ के धनाढ्य राजाओं से अधिक इतना ही लिखते हैं कि—'वहाँ रोग न होंगे, और युवावस्था सदा रहेगी'। यह उनकी बात मिथ्या है, क्योंकि जहाँ भोग वहाँ रोग, और जहाँ रोग वहाँ वृद्धावस्था अवश्य होती है।

चार प्रकार की मुक्ति—'सालोक्य', 'सानुज्य', 'सारूप्य', 'सामीप्य' तथा 'सायुज्य' कुल पाँच प्रकार की मुक्तियों का 'ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं' इस वाक्य से सामंजस्य नहीं होता। आगे 'उत्तर' में 'सारूप्य' का उल्लेख न होने से मुक्ति चार प्रकार की ही रह जाती है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पौराणिक 'सारूप्य' का निर्देश करते हैं, 'सानुज्य' का नहीं। स्वामी वेदानन्दजी ने नारायणशतक की टीका में श्रीमद्भागवत का श्लोक उद्धृत करके लिखा है—**"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवनं जनाः। इति मुक्ते पाञ्चविध्यं श्रीभागवतोक्तं, तत्र एकत्वस्य सायुज्यमुक्तेः भक्तैरनादराच्चतस्त्र इत्युक्तम्"** (पृ० ३८, ३९, श्लोक ४३ की टीका) अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि (सानुज्य), सामीप्य, सारूप्य तथा एकत्व (सायुज्य) रूप में दी जाती हुई मुक्तियों को लोग मेरी सेवा के बिना ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार श्रीभागवत के अनुसार मुक्ति के पाँच प्रकार हैं तथा सायुज्य (एकत्व) रूप मुक्ति के प्रति भक्तों का अनादर होने से (नारायणशतक के मूल श्लोक में) 'चार मुक्तियाँ' ऐसा कहा है।

ग्रन्थकार ने स्वरचित 'वेदविरुद्धमतखण्डन' में 'सारूप्य' से भिन्न चार प्रकार की मुक्तियों का ही निर्देश किया है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार के वहाँ के लेख को हम यहाँ अविकलरूप में उद्धृत कर रहे हैं—

"चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो? एक लोक में जीव और ईश्वर का निवास होना 'सालोक्य मुक्ति' इत्यादि अर्थ लेते हैं—यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह (सालोक्य) मुक्ति सिद्ध है और सब पदार्थों में अन्तर्यामिरूप से व्यापक होने से ईश्वर सबके समीप में वर्त्तमान है, इससे 'सामीप्य' मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। और 'सानुज्य' मुक्ति भी सब जीवों को स्वतः सिद्ध ही है, क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं। और 'सायुज्य' मुक्ति भी सब जीवों को साधारण सिद्ध ही है, क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों के उसमें व्याप्य होने से व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है। इसलिए यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त यही है कि मुक्ति एक ही है, अन्य नहीं। जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात्

और पौराणिकों से पूछना चाहिए कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वतःसिद्ध=प्राप्त है, क्योंकि ये जितने लोक हैं, वे सब ईश्वर के हैं। इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिए **'सालोक्य'** मुक्ति सबको अनायास प्राप्त् है। **'सामीप्य'** ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिए **'सामीप्य'** मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। **'सानुज्य'** जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है, इससे **'सानुज्य'** मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं, इससे **'सायुज्य'** मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। और जो अन्य साधारण नास्तिक[1] लोग मरने से तत्वों में तत्व मिलकर परममुक्ति मानते हैं, वह तो कुत्ते, गदहे आदि को भी प्राप्त है।

ये मुक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार का बन्धन है, क्योंकि ये लोग शिवपुर वा मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थानविशेष मानते हैं। जो वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाए, इसलिए जैसे १२ बारह पत्थर के भीतर[2] दृष्टिबन्ध[3] होते हैं, उसके समान बन्धन में होंगे। मुक्ति तो यही है कि जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होवे।

जो जन्म है वह **उत्पत्ति** और मरना **प्रलय** कहा है, समय पर जन्म लेते हैं।

[पूर्व जन्मों का स्मरण क्यों नहीं होता]

प्रश्न—जन्म एक है, वा अनेक ?

उत्तर—अनेक।

निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्म-मरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति 'मुक्ति' कहाती है। इससे आपकी मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो।''

ईसाइयों की मुक्ति में विवाहादि—योहन्ना से प्रकाशित 'सुसमाचार' नामक इंजील के अध्याय १६, पायत ७ में स्वर्ग में मेम्ना (ईसा) के विवाह होने का उल्लेख है। यथा—"और मेम्ना का विवाह आ पहुँचा और उसकी स्त्री ने अपने को तैयार किया है"। इसके १२।६ में स्वर्ग में युद्ध का उल्लेख है, यथा—"और स्वर्ग में युद्ध हुआ।'' मीखायेल और उसके दूत अजगर से लड़े और अजगर और उसके दूत लड़े"। बाजे के लिए योहन्ना ८।७ आदि में देखो।

पुनर्जन्म

देहदात्मनो निष्क्रमणं मृत्युः ॥१॥

शरीर से जीवात्मा का निकल जाना मृत्यु है।

चालू शरीर में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर शरीर का पतन हो जाता है। तब केवल देह का नाश हो जाता है, आत्मा देह को छोड़ जाता है। देह का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है—**'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु'** (ऋ० १०।१६।३) किन्तु आत्मा बना रहता है, क्योंकि वह **'अनुच्छित्तिधर्मा'** होने से **'न**

---

१. चारवाक आदि मतानुयायी।

२. नगर की बाहरी-सीमा-निदर्शक पत्थर। यह एक प्रकार का मुहावरा है। राजस्थान में प्रायः प्रयुक्त होता रहा है।

३. अर्थात् नज़रबन्द।

प्रश्न—जो अनेक हों, तो पूर्वजन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं ?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिए स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिए, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जाग्रत् वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जाग्रत् आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ?

हन्यते हन्यमाने शरीरे' शरीर के नाश होने पर भी नहीं मरता। बस समय आने पर शरीर को छोड़कर चल देता है। इस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना ही मृत्यु है ॥१॥

इसी प्रकार—

संयोगश्च जन्म ॥२॥

(आत्मा का शरीर से) संयुक्त होना जन्म है।

जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु में चला जाता है—**'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा'** (ऋ० १०।१६।३) फलभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है। इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप-पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से युक्त आत्मा, पूर्वशरीर को छोड़कर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है। तदन्तर ईश्वर की प्रेरणा से योनि के द्वारा गर्भाशय में स्थित हो, दस मास तक (ऋ० ५।७८।८।६, अथर्व० १।११।६) वहाँ पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। इसी को जीवात्मा का जन्म लेना कहते हैं। शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध में ऋग्वेद (५।७८।६) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले ॥२॥

पुनर्जन्म की परिभाषा कहते हैं—

प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः ॥३॥

यहाँ से जाकर फिर होना पुनर्जन्म है।

जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे फिर प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तरप्राप्ति को पुनर्जन्म कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति होने पर निश्चित समय के अन्तराल को छोड़कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त ॥३॥

जन्म-मरण के अनुक्रम का कारण बताते हुए कहा—

पुनर्जन्मसिद्धिः आत्मनित्यत्वात् ॥४॥

आत्मा के नित्य होने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

आत्मा को नित्य मानने पर ही शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम सम्भव है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट होनेवाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया—**'मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति'** (बृहद्० ३।६।२८) जब वृक्ष को काट

और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पाँचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था ? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस ओर, किस प्रकार का था ? और मन में क्या विचार था ? तो कुछ न बता सकोगे । जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करनी केवल लड़केपन की बत है और जो स्मरण नहीं होता है, इसी में जीव सुखी है । नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता । जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है । यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं ।

गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खड़ा होता है, परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है ? जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा—वह मूल आत्मा है जो स्वरूप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है । **"सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः"** (कठ० १।६) मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है ॥४॥

वेदादिशास्त्रों में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

शास्त्रवचनाच्च ॥५॥

शास्त्रों के वचनों से भी पुनर्जन्म सिद्ध है ।

वैदिक धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखा के प्रमाणग्रन्थों में सर्वत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । जैसे—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ —अथर्व० ११।४।१४

मनुष्य गर्भ के अन्दर साँस लेता है और छोड़ता है । हे प्राण ! जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है तो वह फिर उत्पन्न होता है ।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ।
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ —यजुः० ४।१५

मुझे मन फिर से प्राप्त हुआ है, प्राण भी फिर से मिला है, मेरा देहयुक्त आत्मा भी फिर से मिला है, मुझे आँख और कान फिर से मिले हैं । अतएव मेरा जीवन मुझे फिर से मिला है । सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वरक्षक और पापों से बचानेवाला भगवान् दुराचार और पाप से हमें बचाए ।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ —अथर्व० ७।६७।१

मुझे इन्द्रियों का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्यदेह बार-बार प्राप्त हो । मन, जीव और देह तथा धन व ब्रह्मज्ञान भी बार-बार प्राप्त हो । अग्निहोत्रादि में समर्थ हम लोग जैसे पूर्वजन्मों म शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि, उत्तम शरीर और इन्द्रियों के स्वामी थे, वैसे ही इस जन्म में भी हों ।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥

—अथर्व० ५।१।२

[पूर्वजन्म के विस्मृत कर्मों का फल देना निरर्थक नहीं]

प्रश्न—जब जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं, और ईश्वर इसको दण्ड देता है, तो जीव का सुधार नहीं हो सकता, क्योंकि जब उसको ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल है, तभी वे पाप-कर्मों से बच सके।

उत्तर[1]—तुम ज्ञान कै प्रकार का मानते हो ?

प्रश्न[2]—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

उत्तर—तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में प्राप्त राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्र्य, निर्बुद्धि मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते ? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता और अविद्वान[3] नहीं जान सकता। उसने वैद्यक विद्या पढ़ी है, और दूसरे ने नहीं, परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख-दुःख आदि की घटती-बढ़ती देखके पूर्वजन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते ?

जो प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर-धारण के कारणरूप कर्मों को प्राप्त करता है और उन कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और देह-धारण करने की इच्छा से प्रथम गर्भ में प्रविष्ट होता है और वही बिना उपदेश की हुई वाणी को अपने पूर्वजन्म के संस्कारों से जानता है।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥

—निरुक्त अ० १३।१९।१,२,७

मैं मरकर पैदा हुआ, पैदा होकर फिर मरा, अनेक योनियों में मैंने जन्म लिया। अनेक प्रकार के मैंने भोजन किये, अनेक स्तनों से मैंने दूध पिया। अनेक प्रकार के माता-पिता और मित्रों को देखा। गर्भ में नीचे सिर और ऊपर पैर इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं को सहन करके अनेक जन्मों को धारण किया।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ॥ —गीता २।२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।

महाभारत में एक स्थान पर (शां० पर्व १५।५६) एक घर को छोड़कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है। एक अमेरिकन लेखक ने यही कल्पना पुस्तक पर नई जिल्द बाँधने का दृष्टान्त देकर भी व्यक्त की है। गीता में ही अन्यत्र (२।१३) कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

---

१. यह सिद्धान्ती का वचन है। २. यह पूर्वपक्षी का वचन है। ३. अविद्वान् अर्थात् अवैद्य।

और जो पूर्वजन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है, क्योंकि विना पाप के दारिद्र्यादि दुःख, और विना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धिमत्ता उसको क्यों दी ? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है ।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय । जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता, उखाड़ता और किसी की रक्षा करता, बढ़ाता है । जिसकी जो वस्तु है, उसको वह चाहे जैसे रक्खे । उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं, जो उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर किसी से डरे ।

उत्तर—परमात्मा जिसलिए न्याय चाहता करता, अन्याय कभी नहीं करता, इसीलिए वह पूजनीय और बड़ा है । जो न्याय-विरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं । जैसे माली युक्ति के विना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे ।

जैसे शरीर धारण करने पर जीवात्मा को इस देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है वैसे ही (मरने पर) दूसरा शरीर प्राप्त हो जाता है ।

बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में वर्णित पुनर्जन्म की कल्पना को उन्होंने अपने धर्म में पूरी तरह अपनाया है । इस्लाम और ईसाईमत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते, तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पोषक वचन उपलब्ध हैं । यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे निकाल नहीं पाये । बीसवीं शताब्दी में 'ईश्वर मर गया' का नारा देनेवाले निरीश्वरवादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा । उसने लिखा—"कर्मशक्ति के जो रूपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है । इसलिए कहना पड़ता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी-न-कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं और इसी से कर्मचक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है । यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है ।" (Complete works of Nitetsche Vol. XVI P. 235-236) मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्मशरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की बात कही है ॥५॥

पुनर्जन्म न मानने से ईश्वर की न्याय व्यवस्था नष्ट हो जाएगी—

पापपुण्ययोर्विपाकार्थं पूर्वापरजन्मधारणम् ॥६॥

पाप-पुण्य के विपाक के लिए पूर्वापर जन्म धारण करना आवश्यक है ।

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य है । कर्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' प्राणी कर्म से बँधा हुआ है । **'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३।५) बिना कर्म किये कोई मनुष्य पलभर भी नहीं रह सकता और बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता । पूर्वापर जन्म न मानने से **'कृतहानि'** तथा **'अकृताभ्यागम'** का दोष आता और ईश्वर भी 'नैर्घृण्य' एवं 'वैषम्य' का दोषी बनता है । जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले कृतहानि का दोष पड़ता है; क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जाएँगे जबकि प्राणिमात्र को सिद्धान्ततः अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता ही है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** । इसीलिए 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है । कर्म किये बिना सुख-दुःखरूप फल का पाना

परमेश्वर के लिए न्याययुक्त काम करना आवश्यक है, क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे, तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा, और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता ? इसलिए ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसी से किसी से नहीं डरता।

[कर्मानुसार ही भोगादि]

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिए जितना देना विचारा है उतना देता, और जितना काम करना है, उतना करता है।

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे।

'अकृताभ्यागम' दोष कहाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है। एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बनकर जीवनभर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों ? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे-बिठाये बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों ? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिए इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार **'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः'**—परमेश्वर न किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को; अपितु सबको अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल देता है। तब यदि पूर्वजन्म न माना जाए (जिसमें उसने पाप किया हो) तो बिना अपराध के किसी को दण्ड देना उसपर अत्याचार करना है— यही नैर्घृण्य है। संसार में व्याप्त वैषम्य भी इस सन्दर्भ में चिन्त्य है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी। यदि यह निर्हेतुक है तो ऐसा करनेवाला न दयालु है, न न्यायकारी। पुण्यकर्म के बिना सुख देना और पापकर्म के बिना दुःखरूप फल देना—दोनों ही अनुचित हैं। इन सब दोषों का एकमात्र समाधान पूर्वापर जन्म मानने से होता है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्यायकारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते ॥६॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

उद्यानार्थञ्च ॥७॥

उन्नति के लिए भी।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाए तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि इस देह के साथ एक दिन हमारा भी अन्त हो जाएगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रह जाएगा ? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सच्चाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** के अनुसार जीवन बिताना ही श्रेयस्कर होगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार करके अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढ़ने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढ़ने का अवसर नहीं। एक ही जन्म में किये कर्मों

प्रश्न—बड़े छोटों को एकसा ही सुख-दुःख है। बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी। जैसे किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—'देखो, पुण्य-पाप का फल। एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है, और दूसर विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठाकर ले जाते हैं' परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता, और कहारों को आनन्द होता जाता है। जब कचहरी में पहुँचते हैं, तब सेठजी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (वकील) के पास जाऊँ वा सरिश्तेदार के पास ? आज हारूँगा वा जीतूँगा, न जाने क्या होगा ? और कहार लोग तमाखू पीते, परस्पर बातें-चीतें करते हुए प्रसन्न होकर आनन्द में सो जाते हैं। जो वह जीत जाए तो कुछ सुख, और हार जाए तो सेठजी दुःखसागर में डूब जाए और वे कहार जैसे-के-वैसे रहते हैं।

का फल भोगते रहने के लिए सदा के लिए नरक में छोड़ देना कहाँ का न्याय है ? और मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। इसीलिए गीता में कहा—**'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** (६।४५) जन्म-जन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाए तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्मका पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं होगा। आत्मा अमर होने से इस जन्म के संस्कार ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहाँ उसका अभ्यास छूटा है वहाँ से आगे प्रारम्भ करने के लिए उसे फिर अवसर मिलेगा। इतना ही नहीं, उसे अनुकूल परिस्थितियाँ देने के लिए—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥ —गीता ६।४१, ४२

उसका जन्म श्रेष्ठ कुल में होगा। **'नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः'** (मनु० ४।१३७) एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिए। यह तभी सोचा जा सकता है जब फिर भी अवसर मिलना निश्चित हो। ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता—मोक्ष की प्राप्ति होने तक बार-बार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलेगा। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपड़े इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिए हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके॥७॥

जैसे कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होना आवश्यक है वैसे ही पुनर्जन्म के लिए पूर्वजन्म में किये कर्मों का होना अनिवार्य है, क्योंकि—

पूर्वकृतफलानुबन्धाज्जात्यायुर्भोगाः॥८॥

पहले किये कर्मों के फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोग होते हैं।

कोई घटना अकारण नहीं घटती। कर्म ही जाति, आयु और भोग में कारण है, अतः जो जाति, आयु अथवा भोग इस जन्म के कर्मफलरूप नहीं हैं उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म होगा। ईश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है। संसार में वैचित्र्य एवं वैविध्य तो प्रत्यक्ष है, किन्तु वह अव्यवस्थित न होकर किसी

इसी प्रकार जब राजा सुन्दर, कोमल बिछौने में सोता तो है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती। और मजूर कंकर, पत्थर और मट्टी, ऊँचे-नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट ही निद्रा आती है। ऐसे ही सर्वत्र समझो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा, और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा, तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं, और कहार साहूकार बनना चाहते हैं। जो सुख-दुःख बराबर होता, तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊँच बनना दोनों न चाहते।

देखो, एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता, और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख, और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है, तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नड़ीछेदन, दुग्धपानदि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है, तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिए नौकर-चाकर खिलौना, सवारी, उत्तम स्थानों में भ्रमण, और लाड़ से आनन्द प्राप्त होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिए जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घूँसा-थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्त्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता। इत्यादि जीवों को विना पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के सुख-दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

विधि-विधान के अनुसार है। माली उपवन का व्यवस्थापक होते हुए भी किसी युक्ति से ही वृक्ष लगाता, काटता और उनका संवर्धन करता है। संसार में स्पष्ट दृष्टिगोचर होनेवाला स्थितिभेद संग-प्रसंग भेद से हुआ नहीं माना जा सकता, क्योंकि संग-प्रसंग भेद की कल्पना जहाँ नहीं की जा सकती ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है वह भी सबके लिए समान नहीं होती। पेट में होते हुए भी एक जीव के लिए सुख होता है और दूसरा वहीं क्लेश पाता है। एक धर्मात्मा के पेट से जन्म लेता और दूसरा पापी के पेट से। ईश्वर न्यायकारी होने से पक्षपात नहीं कर सकता, अतः जात्यायुर्भोगात्मक भेद का कारण आत्मा के अपने कर्म ही हो सकते हैं।

जन्म का नाम 'जाति' है—जैसे मनुष्य, गौ, घोड़ा, कीट, पतंग, पक्षी आदि। उस देहविशेष का स्थिति काल 'आयु' कहाता है। सुख-दुःख के हेतु विषयों की प्राप्ति का नाम 'भोग' है। इन तीनों का कारण पूर्वजन्म में किये कर्म हैं। यदि ऐसा न होता तो समस्त आत्माओं की स्थिति एक समान होती। जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं वैसे ही शरीरविशेष के साथ संयुक्त होने अर्थात् योनिविशेष में जन्म लेने में भी पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं। इसीलिए एक आत्मा को मनुष्य का, दूसरे को हाथी का, तीसरे को शेर का, चौथे को चिड़िया का और पाँचवें को चींटी का शरीर मिलता है। इसी प्रकार एक के जन्म लेते ही मर जाने, दूसरे के ३५ वर्ष तक जीवित रहने और तीसरे के सौ वर्ष पार कर जाने में भी पहले जन्म के किये कर्म ही कारण हैं। एक जीव रानी के गर्भ में आता है और दूसरा घसियारी के। राजपुत्र को गर्भकाल में भी सुख, जन्मते समय सुख और आगे भी जीवनभर सुख ही प्राप्त होता है। जब वह पैदा होता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ी-छेदन आदि होता है। जब दूध पीना चाहता है, अविलम्ब यथेष्ट मिलता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए चारों ओर नौकर-चाकर खड़े रहते हैं। दूसरे का जन्म जंगल में होता है। जन्मते समय किसी प्रकार की सुविधा नहीं। बाल्यावस्था में यथेष्ट खानपान का

दूसरा—जैसे विना किये कर्मों के सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे नरक-स्वर्ग भी न होना चाहिए क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दुःख दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में, और जिसको चाहे नरक में भेज देगा। पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जाएँगे, धर्म क्यों करें ? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है, जैसी उसकी प्रसन्नता होगी वैसा करेगा, तो पापकर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जाएगा। इसलिए पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

अभाव और जीवनभर की ठोकरें। इस सुख-दुःख का कारण भी पूर्वजन्म के कर्म ही हैं। इतना ही नहीं—एक आत्मा के धनी परिवार में जन्म लेने किन्तु विकृतांग अथवा अस्वस्थ होने के कारण यथेच्छ भोग करने में असमर्थ होने और दूसरे के स्वस्थ शरीर के स्वामी होकर भी निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण भूख से तड़प-तड़पकर मर जाने में भी पूर्वजन्म के कर्म कारण हैं। एक के मनुष्य-योनि में जन्म लेकर भी पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करने को विवश होने और दूसरे के कुत्ते की देह में जन्म लेकर भी मोटरों में सैर करने, मनचाहा भोजन करने और गोद में बैठकर दुलराये जाने में भी आत्मा के सुकृत और दुष्कृत कर्म ही निमित्त हैं। यह ठीक है कि **'कर्मणो गहना गतिः'** कर्मगति बड़ी गहन और विचित्र है, किन्तु इतना निश्चित है कि जिस प्रकार हम एक ही धरती में से एक-सी परिस्थितियों में कहीं आम, कहीं गुलाब, कहीं मटर और कहीं गेहूँ आदि को अंकुरित होता देख सहज ही जान लेते हैं कि यह सब अन्तर बीजों में निहित अन्तर के कारण है, वैसे ही प्राणियों के देह, आयु और भोगों में अन्तर देखकर उनसे संयुक्त आत्माओं के पूर्वकर्मों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, अतः जन्मादि सम्बन्धी विशेषताओं के नियामक अपने-अपने विशेष कर्म ही हैं। यह भी देखा गया है कि जिनकी जाति अथवा प्रसव (**समानप्रसवात्मिका जातिः**—न्याय २।२।६८) समान होता है उनकी आयु प्रायः समान होती है और जिनका प्रसव तथा आयु समान होते हैं उनका भोग भी प्रायः समान होता है। जाति, आयु और भोग की प्राप्ति में पूर्वजन्म के कर्मों के स्थानपर ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह को कारण मान लिया जाए तो ईश्वर तो अन्यायकारी सिद्ध होगा ही, जीवों की भी धर्म में प्रवृत्ति न होकर संसार में पाप की वृद्धि होगी।

सूत्रान्तर्गत 'जाति' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का ग्रहण नहीं होता। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४।१।६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'जाति' का निम्न लक्षण लिखा है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिंगानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा—**'आकृतिर्ग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थः। एतेन गोत्व अश्वत्वादिर्जातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न संगृहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीनां संस्थानस्य सदृशत्वादिति'** ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर-अवयव-रचनाविशेष से ज्ञान होता है वह 'जाति' है। जैसे—गोत्व, अश्वत्वादि। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के शरीर-अवयव-रचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का 'जाति' शब्द से ग्रहण नहीं होता।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि आकृतिमात्र से ज्ञेय उस प्रकार की मुख्य जाति नहीं है। **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** (न्याय २।२।६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी 'आकृतिग्रहणा' जाति से ही है। यतः ब्राह्मणादि सामान्य जातिलक्षण से जातिवाचक नहीं हैं, अतः ये शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से मनुष्य-

[प्राणिमात्र में जीव की समानता]

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक-सा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के ?

उत्तर—जीव एक-से हैं, परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

[पाप-पुण्य के कारण विभिन्न योनियों की प्राप्ति]

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में, और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता-आता है, वा नहीं ?

उत्तर—हाँ, जाता-आता है। क्योंकि जब पाप बढ़ जाता और पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर, और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता। और जब पुण्य-पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं। और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य-शरीर में आता, और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जाति के अन्तर्गत विशेष जाति हैं। इसी से इसे सामान्य विशेषात्मक जाति कहते हैं। वस्तुतः ब्राह्मणादि जातिवाचक न होकर वर्णवाचक शब्द हैं ॥८॥

आगे किस प्रकार के कर्म करने से किस प्रकार के शरीर मिलते हैं—इसका वर्गीकरण करते हैं—

अधर्माद्धर्मपरिवृद्धौ देवानां शरीराणि ॥९॥

अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवों का शरीर।

जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है और इस कारण जिनका पाप न्यून और पुण्य अधिक होता है उन्हें देवों (**विद्वांसो हि देवाः**—शत०) का शरीर मिलता है। यह शरीर उन वीतराग पुरुषों का समझना चाहिए जो फल की अभिलाषा छोड़कर केवल कर्म का अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करनेवाले यतियों, ब्रह्मचारियों तथा ऐश्वरी सृष्टि में जन्म लेनेवाले ऋषियों का इस कोटि में समावेश समझना चाहिए ॥९॥

पापपुण्ययोः समत्वे मानुषाणाम् ॥१०॥

पाप-पुण्य समान होने पर मनुष्यों का।

जब इसी जन्म में पाप-पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो यथास्थिति उन्हें देवों अथवा पश्वादि के शरीरों में भोगकर जब पाप-पुण्य बराबर हो जाएँ तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमें भी पाप-पुण्य के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने पर मनुष्ययोनि में भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। उभययोनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहता है ॥१०॥

पुण्यतो दुरितबाहुल्ये पश्वादीनाम् ॥११॥

पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक होने पर पश्वादि का।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है। यहाँ भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है। इसमें रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है वह केवल

जब शरीर से निकलता है उसी का नाम **'मृत्यु'**, और शरीर के साथ संयोग होने का नाम **'जन्म'** है। जब शरीर छोड़ता, तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है, क्योंकि **'यमेन वायुना'** । वेद में लिखा है कि **'यम'** नाम वायु का है, गरुडपुराण का कल्पित **'यम'** नहीं। इसका विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें समुल्लास में लिखेंगे। पश्चात् **'धर्मराज'** अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है।

वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री, और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक गर्भ की स्थिति के समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता, क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्पपर्यन्त जन्म-मरण-दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

भोगसम्पादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार का संस्कार या वासना उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नहीं होता।

मिस्र देश की गुफाओं में मिले शिलालेखों में पुनर्जन्म से सम्बधित एक शिलालेख में लिखा है—

"ईश्वर और मनुष्य में इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में फँसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नहीं—(इस कथन में वेदोक्त **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** का भाव स्पष्ट है। अंग्रेजी में कहावत है—Man on earth is God subject to death while God in heaven is man free from death' अर्थात् मनुष्य, जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह चमत्कारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति है)। पुनर्जन्म के चक्कर में फँसी आत्माएँ कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम में से गुज़रती हैं तथा विपरीत क्रम में भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओं को पाप का फल भोगने के लिए पशुजन्म मिलता है।"

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि में, पश्वादि का मनुष्य में, स्त्री का पुरुष में और पुरुष का स्त्री में आता-जाता रहता है। जीव परिच्छिनन्न (अणुपरिमाण) है। इसलिए वह परमाणु में भी रह सकता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुसार आत्मा को मध्यमपरिमाण मानने पर (जैनमतानुसार) उसमें संकोच-विकास होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के बराबर हो तो मनुष्य शरीर में ही वह जन्म के समय छोटा और स्थूलकाय आदि व्यक्ति का शरीर बड़ा होगा। इससे जीव अवयवी होगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ का शरीरों के अनुसार घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संकोच-विकास के कारण जीव विकारी हो जाएगा। अणु-परिमाण जीव चींटी में भी रह सकता है और हाथी के शरीर में भी। ऐसा न मानकर जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समाएगा ? यही स्थिति बड़ के विशाल शरीर से निकलकर छोटे से पौधे में जाने में होगी। इसलिए पुनर्जन्म के सन्दर्भ में विशेषतः जीव को अणु-परिमाण मानना होगा—न महत्परिमाण और न मध्यम-परिमाण ॥११॥

पापातिशये स्थावराणाम् ॥१२॥

अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है।

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों से यह प्रमाणित है कि कर्मानुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति (१२-६) में स्पष्ट कहा है—**"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः"** अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१।३२।१) में **'वीरुधः प्राणन्ति'** कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८।७।६) तथा छान्दोग्य (६।११।३) में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं ॥१२॥

न तत्र सुखदुःखानुभूतिः बाह्यसम्बन्धाभावात् ॥१३॥

बाह्य व्यवहार के अभाव में वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती।

आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करानेवाले अन्तःकरण का बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। सांख्यदर्शन (५।२७) के अनुसार **"पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः"**—पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध होने पर ही जीवात्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। बाह्यावयवों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण ही सुषुप्ति अथवा मूर्च्छितावस्था में प्राणी को सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती। कर्णेन्द्रिय के व्यर्थ हो जाने पर गाली मिलने पर भी सम्बद्ध व्यक्ति को बुरा नहीं लगता, पीनस रोग से ग्रस्त व्यक्ति पर दुर्गन्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अन्धे को न सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता और न कुरूपता के कारण विकर्षण। इस प्रकार यद्यपि प्राकृत नियम व व्यवस्था के अनुसार वनस्पति-जगत् में वृद्धि, ह्रास, विकास, बढ़ना-घटना एवं साजात्य प्रजनन आदि क्रियाएँ अन्य प्राणियों के समान देखी जाती हैं तथापि बाह्यावयवों के अभाव में वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती ॥१३॥

कर्मों का फल कब तक मिलता रहता है—अगले सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

सति मूले तद्विपाकः ॥१४॥

मूलकारण के रहने तक फल मिलता है।

पत्तों और शाखाओं के बार-बार काट देने पर भी वृक्ष यथासमय फिर पूर्ववत् अंकुरित हो पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक उसकी जड़ बनी रहती है।

कर्मों का मूल क्लेश—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः'** (योग०२।३) हैं। जब तक धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूल कारण अविद्यादि क्लेशों का नाश नहीं होता तब तक उनका विपाक होता रहता है। जिस प्रकार तुषरहित दग्धबीजभाव चावल में अंकुरित होने का सामर्थ्य नहीं रहता अथवा मूल के काट दिये जाने पर वृक्ष की शाखाओं में फूल-फल नहीं उगते उसी प्रकार विवेक-ज्ञान द्वारा उक्त क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्माशय फल का आरम्भक नहीं रहता। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कर्मफल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते रहना पड़ता है, क्योंकि **'कर्मैव देहारम्भस्य कारणम्'**—कर्म ही शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं ॥१४॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में कुछ और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सामर्थ्यभेदात् ॥१५॥

सामर्थ्य भेद के कारण।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही माँ-बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिए एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ़ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता जबकि दूसरे की धारणाशक्ति इतनी अच्छी है कि संकेतमात्र से सब समझ जाता है। उसे पढ़ाते समय ऐसा लगता है कि जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है अपितु

वह पहले पढ़े हुए की आवृत्तिमात्र कर रहा है। एक ओर जहाँ संसार में निपट मूर्खों की कमी नहीं वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु में ही सम्पूर्ण गीता सुना डालनेवाले अथवा वेद मन्त्रों के अर्थ करनेवाले बालक भी देखने को मिलते हैं। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्माएँ संसार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराजा भोज के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनकर श्लोक याद हो जाते थे। इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर ने ऐसा कर दिया—यह मानें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण माननेवाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य में पाये जानेवाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पानेवाले शंकराचार्य की महान् उपलब्धियाँ उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानीं जा सकतीं। ७-८ वर्ष की आयु में ही काव्यरचना करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वड्र्स्वर्थ को कब किसने कविता करना सिखा दिया ? पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है—ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या सम्भव नहीं। प्रारम्भ से ही किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है ॥१५॥

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१६॥

मरने के बाद (पूर्वजन्म के) आहार के अभ्यास के कारण (जातमात्र बालक को) स्तन्य की अभिलाषा से।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है, तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने या रोने लगता है। माता का स्तन खींचकर दूध पीने लगता है। पूर्व संस्कारों के बिना यह प्रवृत्ति कहाँ से आई ? उसे कब, कौन बता गया कि दूध कहाँ है और कैसे मुँह चलाकर पिया जाता है। उसे दूध पीते देखकर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से भली-भाँति पहले से ही परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड़कर अलग हो जाता है। यह निवृत्तिभाव भी कहाँ से आया? एक दिन के बालक को जिसने अभी अच्छी तरह आँखें भी नहीं खोलीं, माता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि बालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले की ही कुछ स्मृति है। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र बालक का भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और उसके स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मारकर और रो-रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्व देह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति में कारण हैं ॥१६॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकभयसम्प्रतिपत्तेः ॥१७॥

पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के कारण सद्योजात बालक के हर्ष, शोक, भय आदि प्रकट होने की सम्भावना से।

बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बड़े हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दुःखी-सा होकर मुँह बनाने लगता है और कभी डर के मारे काँप उठता है या चीख पड़ता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ही ऐसा होता है। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं

हो सकती। स्वप्नावस्था में भी वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है जो पहले कभी जाग्रदवस्था में देखा, सुना या अनुभव किया होता है। इस जन्म में अभी तक बालक ने सुख, दुःख या भय के कारणों को अनुभव ही नहीं किया। बाह्य जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निष्कर्ष आरम्भ नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता ॥१७॥

मरणभयदर्शनाच्च ॥१८॥

और मृत्यु का भय देखे जाने से।

कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश रहता है उसी प्रकार शास्त्रज्ञ विद्वान् में भी देखा जाता है। कुशल और अकुशल दोनों में ही यह भावना समानरूप से एवं सहजभाव से रहती है। कोई विषय पहले अनुभूत होने पर ही बाद में उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वह विषय चित्त में आहित रहता है और उसका पुनः बोध ही स्मृति होती है। मरण-भय आदि की स्मृति देखी जाती है। इस जन्म में मरण-भय अनुभूत हुआ नहीं है। यदि वह पूर्वजन्म में अनुभव न हुआ होता तो उसका संस्कार संचित न होता। संस्कार के बिना स्मृति न होती। स्मृति के बिना भय न होता। जिसने पहले कभी मरणत्रास का अनुभव न किया हो वह **'मा न भूवं भूयासम्'** (मैं मरूँ नहीं, मैं जीवित रहूँ) ऐसी इच्छा नहीं कर सकता। इस प्रकार अमर होने पर भी मरणत्रास से अभिभूत होने से आत्मा के पूर्वजन्म का होना सिद्ध होता है।

'मृत्योर्माऽमृतं गमय' (मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो), **'यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'** (जिसकी छाया—आश्रय में अमरता है, अन्यथा मृत्यु), **'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'** (उसे जानकर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है) तथा **'मृत्युं तीर्त्वाऽमृतमश्नुते'** (मृत्यु को पार करके अमरत्व की प्राप्ति) आदि श्रुतिवचनों से सहज ही पुनर्जन्म की भी सिद्धि होती है। **'हेयं दुःखमनागतम्'** (यो० २।१६) अनागत—भविष्यत् दुःख त्याज्य होता है। भूत दुःखभोग से निवृत्त हो चुका है और वर्तमान दुःख भोगारूढ़ होने से समय पाकर स्वयं निवृत्त हो जाएगा। इसलिए विचारशील मनुष्य आनेवाले दुःखकी निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। इस जन्म में तो मृत्यु निश्चित है, अतः उससे बचने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। निश्चय ही इसके बाद होनेवाली किसी और मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिए मनुष्य पुरुषार्थ करता है। दूसरी मृत्यु तभी होगी जब पहले दूसरा जन्म होगा। इस जन्म में होनेवाली मृत्यु के अनन्तर मोक्ष तो किसी-किसी को ही मिलेगा। अधिसंख्य आत्माएँ तो आवागमन-बार-बार मृत्यु के चंगुल में फँसी रहेंगी। इसी से बचने के लिए यह अमरता अथवा मुक्ति के लिए लालायित है। इस प्रकार मरणत्रास से जैसे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है, वैसे ही पुनर्जन्म की भी ॥१८॥

सर्वग्राह्यत्वादप्यस्य ॥१९॥

इस (पुनर्जन्म) के सभी के द्वारा मान्य होने से भी।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी—दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक—इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊँचा है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिक वहाँ हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है'। उसके मत में आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है वस्तुतः वह पूर्वजन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है—'ज्ञान केवल स्मरण है' (To know is to remember)। प्लेटो की हो दो अन्य सूक्तियाँ हैं—

'आत्मा अपना चोला सदा बदलता रहता है' (The soul always weaves her garment anew.)

'आत्मा में बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है' (The soul has a natural strength which will hold out and be born many times.)

पिथेगोरस ने लिखा—'अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशुयोनि में जन्म लेता है' (All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied spirit flies, by time and force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast.)

प्लैटो के सुयोग्य किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotal) की मान्यता है कि आत्मा नित्य और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुज़रकर उस-उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है।

एम्पीडोक्लीज़ ने पुनर्जन्म का आधार सांख्यदर्शन (**नावस्तुनो सिद्धिः**—१।४३) तथा गीता (**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**) के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को ही माना। पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांसभोजन से भी घृणा करता था—"There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike to flesh as food." (Calcutta Review, Vol. LXii, p. 97)

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है—"Metempsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable" अर्थात् दर्शनशास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है, वह अनादि (अनुत्पन्न) है।

फ्राँस के लैसिंग ने तर्क दिया कि "मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसाकि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाए। अन्यथा पाप कहाँ से आया ? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है।" काण्ट ने अपने समस्त दर्शन-शास्त्र की नींव आचारशास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है—"धर्म का सम्बन्धं सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ, किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फूलते-फलते हैं तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग कराएगा।"

स्पीनोज़ा हेगल आदि ने भी आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले जाए और यह भी बताए कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिलाते हुए आइकन ने भी कहा —"If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of soul."

—Eucken's Essays, p. 106

ईसाई लोग (मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं, किन्तु नाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र के आचार्य प्रोफैसर मैकटेगर्ट ने अपनी पुस्तक (Human immortality and pre-existence) 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा—"यदि प्रत्येक

आत्मा बनाया गया तो प्रश्न होता है कि किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी। संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था—"

"If the universe got on without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more."

यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो। और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही आत्माएँ अनेक हैं—कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब, जिस कारण वर्त्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

प्रकृति के महान् कवि वड्स्वर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की इन शब्दों में व्याख्या की है—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star—
Hath had its setting elsewhere,
And cometh from afar.

जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते हैं, इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर बहुत दूर कहीं दूसरा जन्म धारण कर लेता है। अपनी एक और कविता "The Primrose of the Rock" में पुरुषों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्त्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के बाद पुनर्जन्म होता है—

Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

टेनीसन कहता है—

And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
We say, all this hath been before,
Although I know not in what time or place,
Me thought that I had often met with you.

हमें ठीक तरह याद भले ही न हो कि पूर्वजन्मों में कब, कहाँ मिले किन्तु यह निश्चित है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।

अमरीका के महान् सन्त साहित्यकार तथा दार्शनिक इमर्सन अपना अनुभव बताते हैं—'We wake and find ourselves on a stair. There are other stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.'

बहुत-सी सीढ़ियाँ हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत-सी हमसे ऊपर हैं जिनपर हमें अभी चढ़ना है।

वर्त्तमान युग में इंग्लैंड में ऋषिकल्प समझे जानेवाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The Drama of love and hatred—a study of human evolution and transmigration' में लिखा कि 'जो मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।'

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है—इस तथ्य की कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा—

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.'

जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है, किन्तु ज्यों ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है, वह शान्त हो जाता है ॥१६॥

विपक्षी शंका करता है कि यदि पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं रहती ? इस शंका का समाधान करते हैं—

संस्कारदौर्बल्याद् विस्मरणम् ॥२०॥

संस्कारों की निर्बलता के कारण (पूर्वजन्म की) स्मृति नहीं रहती।

संस्कारों की निर्बलता के दो कारण होते हैं—एक तो ज्ञान के समय ही उनकी गहरी छाप न पड़ना और दूसरा आवश्यकता न होने के कारण उनके बार-बार न उभरने से शिथिल हो जाना। दो जन्मों के बीच का अन्तराल भी संस्कारों को निर्बल कर देता है। व्यवस्थानुसार कुछ जीव शीघ्र ही दूसरे शरीर में पहुँच जाते हैं। ऐसे जीवों के संस्कारों के सर्वथा शिथिल न होने के कारण उन्हें पूर्वजन्म की अनेक बातें याद रह जाती हैं। आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह स्मृति शिथिल होती जाती है, परन्तु जो आत्माएँ दूसरे शरीर को देर से ग्रहण कर पाती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुमण्डलों में लम्बी यात्रा के कारण उनके संस्कार निर्बल पड़ जाने के कारण उन्हें पिछले जन्म की बातें भूल जाती हैं ॥२०॥

पूर्वजन्म का स्मरण न होने में एक अन्य हेतु देते हैं—

उद्बोधकाभावाद्वा ॥२१॥

उद्बोधक कारण के अभाव में भी (स्मरण नहीं होता)।

अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के अनेक संस्कार पड़े रहते हैं, परन्तु उपयुक्त उद्बोधक के अभाव में उनकी स्मृति नहीं होती। स्मरण उन्हीं का होता है जिनके उद्बोधक उपस्थित हो जाते हैं। इसी जन्म में कई वर्ष पूर्व देखे गये व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति तब तक नहीं हो पाती जब तक कोई उपयुक्त उद्बोधक उपस्थित नहीं कर दिया जाता। इस जन्म में पूर्वजन्म के संस्कारों का उद्बोधक न रहने से उनका स्मरण नहीं रहता ॥२१॥

इसी विषय में एक और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

निमित्ताभावाच्च ॥२२॥

और निमित्त न रहने से।

जीव का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान नित्य होता है किन्तु नैमित्तिक ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है। अग्नि का स्वाभाविक गुण उसकी दाहक शक्ति है। यह गुण उसके परमाणुओं तक में रहता है। इसलिए उसका यह निज धर्म उसे कभी नहीं छोड़ता। इस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। जल में शीतलताविषयक ज्ञान स्वाभाविक है। फिर भी अग्नि के संयोग के कारण जल में उष्णता का धर्म उत्पन्न हो जाता है और वियोग होने से

नहीं रहता है। इसलिए जल के उष्ण होने का ज्ञान नैमित्तिक है। इसी प्रकार जीव को—'मैं हूँ' अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक है, परन्तु नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान नैमित्तिक है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा-जैसा सम्बन्ध होता है वैस-वैसे संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं। जैसे-जैसे ये निमित्त हटते जाते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान में कमी आती जाती है अर्थात् पूर्व जन्मदेश, काल और शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता।

जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। परिमित सामर्थ्यवाला होने से उसके आत्मा में अनेक जन्मों के सभी संस्कार नहीं रह सकते, अतएव पूर्वजन्म के अनुभवों के आवश्यक अंश (जिनके बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं) छोड़कर शेष वहीं रह जाते हैं। फिर, **'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** (न्याय० १।१।१६) ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपद् क्रम से होता है अर्थात् एक समय में आत्मा में एक से अधिक ज्ञान स्फुरित नहीं हो सकते। इसलिए भी पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता। मन का स्वभाव भी ऐसा होता है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में राग-द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसे विस्मरण हो जाता है। फिर पूर्व जन्मावस्था में यदि आत्मा को दूरगत पदार्थविषयक विस्मरण होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है? ॥२२॥

तो क्या किसी भी अवस्था में पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं हो सकता? इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजन्मज्ञानम् ॥२३॥

संस्कारों का साक्षात्कार होने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

जिससे स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख-दुःख प्राप्त होते हैं उस वासना-विशेष तथा धर्माधर्मरूप अदृष्ट का नाम 'संस्कार' है अर्थात् स्मृति एवं राग-द्वेष की जनक चित्त में रहनेवाली वासना और सुख-दुःखरूप भोग के जनक धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्म—इन दोनों को संस्कार कहते हैं। जो योगी संयम के द्वारा उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों को साक्षात् कर लेता है, उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों में स्मृति, इच्छा तथा द्वेष उत्पन्न होता है उन्हें 'वासना' और जिनसे जन्म, आयु तथा भोग की प्राप्ति होती है उन्हें धर्माधर्म कहते हैं। ये दोनों प्रकार के संस्कार जिस जाति के होते हैं उसी के समान पदार्थों की स्मृति तथा प्राप्ति आदि के हेतु होते हैं। इसलिए संयम द्वारा उक्त संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। योगी होने के कारण ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपः ॥—गीता ४।५

जीवात्मा के अनादि होने के कारण तुम्हारे और मेरे दोनों के ही अनेक जन्म हो चुके हैं। अपने योग व सामर्थ्य से मैं उन्हें जानता हूँ किन्तु तू नहीं जानता।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योग० १।२) चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। जब मनुष्य बाह्य विषयों से चित्त को हटाकर भीतर केन्द्रित करता है तो संस्कारों और संस्कारजन्य जन्मों का यथावत् स्मरण हो सकता है, किन्तु इस कार्य के लिए वांछनीय संयम और अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है। इसी को स्पष्ट करने के लिए योगदर्शन (१।२४) में कहा गया—**'स तु दीर्घकाल-**

नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' । यहाँ 'दीर्घकाल' से तात्पर्य जीवनपर्यन्त, 'नैरन्तर्य' से निरपवाद तथा 'सत्कार' से ब्रह्मचर्यानुष्ठान है—

मनुस्मृति (४।१४८, १४६) में भी इसी संयम और एकाग्रता को पूर्वजन्म-स्मरण का साधक बताया है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

'क्या योगी के अतिरिक्त किसी अन्य को भी पूर्वजन्म का स्मरण हो सकता है' इसका उत्तर देते हैं—

मुक्तात्मनश्च तथैव ॥२४॥

इसी प्रकार मुक्तात्माओं को भी ।

जिसे धनञ्जय वायु का ज्ञान हो जाता है और जिसकी आत्मा उसमें संचार करती है तथा जिसके आत्मा से पूर्वजन्म के संस्कार निकल चुके हैं, जिसके आत्मा को स्थायी शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जिसे अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता और ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है । ऐसे मुक्त पुरुषों को देश-काल-वस्तु परिच्छेद का युगपद् ज्ञान होता है । उन्हें युगपद् ज्ञान की बाधा नहीं होती ।

मुक्त और बद्ध जीवों का अन्तर बताते हुए प्रशस्तपादाचार्य ने वैशेषिकदर्शन के भाष्य में लिखा है—

"शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च । योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादिदुःखप्रबन्धेन विलुप्तसंस्कारो जन्मान्तरानुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति । ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीरविशिष्टाः दृढसम्बन्धिनो दृढसंस्काराः कल्पान्तरा भूतं सर्वमेव शब्दार्थव्यवहारं सुप्तप्रतिबुद्धवत्प्रतिसन्दधते ।"

योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का शरीर होता है । साधारण योनिज प्राणियों को गर्भवासादि का दुःख सहन करना पड़ता है, अतएव उनके लिए पुनर्जन्म और वर्त्तमान जन्म के मध्य बड़ा अन्तर पड़ जाने से सब-कुछ स्मरण नहीं रहता । सृष्टि के आदि में जो लोग उत्पन्न होते हैं वे अमैथुनी सृष्टि में होते हैं । उन्हें गर्भवास का कष्ट नहीं सहना पड़ता, अतएव वे लोग अपने पूर्वजन्म के ज्ञान का स्मरण करने में समर्थ हैं । उनकी अवस्था सोकर उठे मनुष्य के समान होती है, जिसे सोने से पहले की बातें प्रायः स्मरण रहती हैं ॥२४॥

तो क्या मात्र स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध हो सकता है ?

न तु स्मृत्यभावात्प्रतिषेधो वर्त्तमानजन्मन्यनुभूतस्यापि विस्मरणात् ॥२५॥

स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध नहीं होता, वर्त्तमान जन्म की घटनाओं और व्यवहारों का विस्मरण हो जाने से ।

पूर्वजन्म में हमारा आत्मा जिन साधनों से सम्पन्न था उन निमित्तरूप साधनों के इस जन्म में न होने से यदि पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता तो कुछ भी आश्चर्य का विषय नहीं है । जबकि हम देखते हैं कि हमें वर्त्तमान जन्म में देखे, सुने और अनुभव में आये व्यवहारों और घटनाक्रम में से भी बहुत कम का स्मरण है । इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा । फिर पाँच वर्ष की आयु तक बहुत कुछ कहा, किया और भोगा, किन्तु कालान्तर में वह सब भूल गया । आज कुछ भी स्मरण नहीं है । तो क्या इससे यह मान लिया जाएगा कि न वह कभी गर्भ में था, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका बचपन रहा ? इसके बाद भी जो कुछ हुआ उसका बहुत थोड़ा अंश हमारी स्मृति में शेष है । फिर भी भूले हुए

की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता। हम यह भी देखते हैं कि जाग्रदावस्था में जिन बातों का स्मरण होता है उनका निद्रा में सर्वथा विस्मरण हो जाता है और आगे जागने के बाद भी उनमें से बहुतों का विस्मरणं हो जाता है। फिर, दो जन्मों के बीच तो मृत्यु आ जाती है और मृत्यु होना महाव्यावृत अन्धकार में गिरना है। वस्तुतः विस्मृति के बिना स्मृति हो ही नहीं सकती। पुराने और अनावश्यक को छोड़ते जाना तथा नये एवं उपयोगी को ग्रहण करते जाना ही अच्छी स्मृति का लक्षण है, अतः पूर्वजन्म की स्मृति न होने से उसके होने में सन्देह नहीं किया जा सकता ॥२५॥

किन्तु पूर्वजन्म की स्मृति बिल्कुल न रहती हो ऐसी बात नहीं है—

न हि स्मृतेरत्यन्ताभावः ॥२६॥

निश्चय ही स्मृति का अत्यन्ताभाव नहीं होता।

इससे पूर्व सूत्र १०, ११, १२, १३ में स्पष्ट किया जा चुका है कि बालक को पूर्वजन्म की स्मृति होने से ही वह पालने में पड़ा-पड़ा हँसता, रोता, दुःखी होता और भयभीत होकर चीख पड़ता है। धीरे-धीरे वह नये अनुभव प्राप्त करता जाता है। फिर भी पूर्वजन्म में अनुभूत मरण-भय को नहीं भूल पाता। ४-५ वर्ष की आयु का बालक जिसने इस जीवन में अभी कुछ नहीं जाना वह जब धाराप्रवाह संस्कृत में गीता के श्लोकों या वेदमन्त्रों की झड़ी लगा देता है अथवा दूर तक एक भी फ्रैंच या अन्य किसी भाषा के जानने-वाले के न होने पर भी विदेशी भाषा में धाराप्रवाह भाषण देने लगता है तो यह पूर्वजन्म की स्मृति का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो और क्या है? आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में उन बालकों की चर्चा होती है जो अपने पूर्वजन्म के विषय में पूरी-पूरी जानकारी देते हैं और खोज करने पर वह सत्य प्रमाणित होती हैं। योगियों तथा मुक्तात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के स्मरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अतः यदि पूर्वजन्म की स्मृति को ही पूर्वजन्म में होने में प्रमाण माना जाए तो वह भी सर्वथा सिद्ध है ॥२६॥

फिर एक शंका उपस्थित होती है—

नातः शुद्धिर्न्यायश्चेति स्मृत्यभावात् ॥२७॥

स्मृति के अभाव में न न्याय होगा, और न सुधार।

ईश्वर पूर्वजन्म में किये कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख तो देता है किन्तु उन कर्मों से जीव को अवगत नहीं कराता। अपराधी को अपराध बताये बिना और उसे स्पष्टीकरण का अवसर दिये बिना दण्ड देना घोर अन्याय है। इसके अतिरिक्त दण्ड का उद्देश्य अपराधी को भविष्य में वैसे अपराध से विरत करके उसका सुधार करना और सत्कर्मी को पुरस्कृत कर शुभ कर्मों में अधिकाधिक प्रवृत्त करना होता है, किन्तु सम्बद्ध व्यक्ति को कर्मों का ज्ञान न होने से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती, अतः स्मृति के अभाव में कर्मफल देना न न्याय है, न उपयोगी ॥२७॥

अगले सूत्र में इस शंका का समाधान किया है—

नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनादभीष्टसिद्धिः ॥२८॥

नीच-ऊँच तथा सुख-दुःख को देखने से अभीष्ट की सिद्धि है।

संसार में कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन। यह सब प्रत्यक्ष देखा जाता है। हम यह भी जानते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। इस प्रकार सुख-दुःखादि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उनके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय हो जाता है। यह ठीक है कि जहाँ विद्वान् पुरुष कारण और कार्य दोनों का यथावत् निश्चय करने में समर्थ होता है वहाँ सामान्य जन कार्य को ठीक जानता हुआ भी उसके कारण का यथावत् निश्चय नहीं

कर पाता। रोग से ग्रस्त होने पर प्रत्येक रोगी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वह यह भी जानता है कि इस रोग का कारण कोई-न-कोई कुपथ्य है। कुपथ्यों का भी उसे पर्याप्त ज्ञान होता है, किन्तु किस कुपथ्य विशेष से कौन-सा रोग होता है, वह इतना नहीं जानता। इसके विपरीत चिकित्सा-शास्त्र में निष्णात वैद्य रोगी के समान रोगरूपी कार्य का प्रत्यक्ष करने के साथ-साथ उसके कारणविशेष का भी यथावत् निश्चय कर लेता है। इसी प्रकार जगत् में व्याप्त सुख-दुःख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं। क्या पाप है और क्या पुण्य तथा पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है—यह भी सब जानते हैं। केवल इतना नहीं जानते कि किस कर्मविशेष का कौन-सा फल होता है। तब सब प्रकार के दुष्कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों में ही प्रवृत्त रहने से जीव का सुधार सहज सम्भव है। इसी प्रकार यह निश्चय होने से कि ईश्वर न्यायकारी है इसलिए वह अकारण किसी को सुखी-दुःखी नहीं बना सकता, उसकी न्यायव्यवस्था में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ होने के कारण उसे अपराधी से स्पष्टीकरण की भी अपेक्षा नहीं होती। वह जीव के विषय में—उसकी अन्तःस्थिति, परिस्थिति, अल्पज्ञता तथा अल्पशक्ति आदि के विषय में इतना जानता है कि जितना जीव स्वयं नहीं जानता। इस प्रकार ईश्वर की न्याय-बुद्धि में आस्था रखने और कार्य-कारणभाव को जानने से पूर्वजन्म के कर्मों को ठीक-ठाक न जानने पर भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है ॥२८॥

पूर्वजन्म की स्मृति न रहने में ही जीव का कल्याण है—इसका प्रतिपादन करते हैं—

आत्महितार्थं विस्मरणम् ॥२६॥

भूल जाने में जीव का हित है।

पूर्वजन्मों का स्मरण न रहने से ही जीव सुखी है। परमकारुणिक परमात्मा की यह असीम कृपा है कि हमें पूर्वजन्म के घटनाक्रम का स्मरण नहीं होता। अन्यथा जीव पूर्वजन्मों की याद कर-करके मर जाता। दुःखद योनियों एवं घटनाओं को स्मरण करके अपने वर्तमान जीवन में विष घोल लेता और अच्छे दिनों की याद कर-करके सदा रोया करता। वस्तुतः यदि साधारण मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों की स्मृति बनी रहती तो पुनर्जन्म का उद्देश्य ही पूरा न हो पाता। उसका हित इसी में है कि वह अतीत को भूलकर अपने को नई परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करे। जब कोई मरता है तो इस जन्म का सार अपने साथ ले-जाता है और अनावश्यक अंश यहाँ छोड़ जाता है। इस सार को ही संस्कार कहते हैं। यही संस्कार अगले जन्म में आत्मा के साथ जाते हैं। आत्मा पर पड़े नाना प्रकार के इन संस्कारों के सहारे ही वह अपने भावी जीवन का निर्माण करता है। जन्म जन्मान्तर की यदि सारी बातें याद रह जाएँ तो उनके बोझ को ढोते फिरना आत्मा के लिए दुःसाध्य हो जाए। यदि सब-कुछ याद रह जाए तो पूर्वजन्मों के शत्रुओं से बदला लेने के घात-प्रतिघात में लगा रहे। पुरानी समृद्धि को ललचाई आँखों से देख-देखकर ईर्ष्यालु हो हड़पने की चेष्टा किया करे। बेटे-पोतों के मोह में उनसे लिपट-लिपट कर रोता रहे। निश्चय ही अधिकांश लोगों का जीवन दुःखमय हो जाए। इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के साधनोपायों में न लगकर दुर्लभ मानवजीवन को व्यर्थ गँवा बैठे, अतएव पुरानी बातों को स्वतः भूल जाने की व्यवस्था करके परमेश्वर ने जीवों का कल्याण ही किया है ॥२६॥

अब कर्मफलोपभोग के लिए जन्म-जन्मान्तर की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं—

अनेकं कर्मैकजन्मकारणम् ॥३०॥

अनेक कर्म एक जन्म का निष्पादन करते हैं।

कर्मों के उपभोग के विषय में चार कल्पनाएँ सम्भव हैं—

१. एक कर्म एक ही जन्म का कारण होता है।

२. एक कर्म अनेक जन्मों का सम्पादन करता है।

३. अनेक कर्म अनेक जन्मों का कारण बनते हैं।

४. अनेक कर्म एक ही जन्म का निष्पादन करते हैं।

एक कर्म एक ही जन्म का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादिकाल से संचित, असंख्य अवशिष्ट कर्मों तथा वर्त्तमान कर्मों के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने से कर्माचरण में कोई आश्वासन नहीं रहता। एक-एक कर्म के लिए एक-एक जन्म होगा तो अनन्त कर्मों के भोग का पर्याय कैसे आएगा?

एक कर्माशय अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक कर्मों में से यदि एक-एक कर्म ही अनेक जन्मों का निष्पादक हो जाए तो अवशिष्ट कर्मों के लिए फलदान का समय ही न रहेगा।

अनेक कर्म अनेक जन्मों का सम्पादन भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनेक जन्म एक साथ तो हो ही नहीं सकते। यदि क्रम से होना माना जाए तो पूर्वोक्त दोष आता है।

अतः अनेक कर्म मिलकर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं। जिन कर्माशयों से एक जन्म होता है वही जन्म उनसे आयु पाता है और आयुष्काल में उन्हीं से सुख-दुःख का उपभोग करता है। इस प्रकार जाति, आयु और भोग के रूप में कर्माशय त्रिविपाक है ॥३०॥

पुनर्जन्म के रूप में प्राप्त होनेवाली योनियों का वर्गीकरण करते हैं—

कर्मभोगोभययोनिभेदात्त्रिधा व्यवस्था ॥३१॥

कर्म, भोग तथा उभय योनि के भेद से तीन प्रकार की व्यवस्था है।

योनियाँ तीन प्रकार की हैं। एक कर्मयोनि—जिसमें जीव के पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मों का विपाक नहीं होता। वह केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं। दूसरी भोगयोनि—इसमें जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है। तीसरी उभययोनि—इसमें जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ भविष्य के लिए कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में भी कुछ-न-कुछ अवश्य करता है, क्योंकि बिना कर्म के तो भोग भी सम्पन्न नहीं होता। किन्तु विधि-निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मों से फलोत्पादक अन्य संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते। इसलिए ऐसे कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार कर्मदेह में भी भोग होता है, क्योंकि देह रक्षा के लिए उपयुक्त खान-पान, वस्त्रादि की व्यवस्था तो करनी पड़ती है, किन्तु यह भोग कर्म-विपाक के रूप में नहीं होता, अतः जो देह मुख्यरूप से जिसलिए मिलता है उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहाँ ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण आये भोग को प्रस्तुत करते हैं, वह उभययोनि कहलाती है ॥३१॥

कर्मयोनिर्मुक्तात्मनाम् ॥३२॥

मुक्तात्मा को (मुक्ति से लौटने पर) कर्मयोनि मिलती है।

कर्म शेष न होने से मुक्तात्माएँ सृष्टि के आदि में प्रकट होनेवाले वेदप्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव-पुरुषों के रूप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का दुःख भी नहीं सहना पड़ता ॥३२॥

भोगयोनिः पश्वादीनाम् ॥३३॥

पशु आदि भोगयोनि हैं ।

पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं । जीवनयापन के लिए उन्हें भी कुछ-न-कुछ करना पड़ता है, परन्तु उनके ये कर्म मात्र नैसर्गिक क्रियाएँ हैं । उनका विपाक नहीं होता ॥३३॥

उभययोनिस्तु मानवानाम् ॥३४॥

किन्तु मनुष्य उभययोनि है ।

एक मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है । इसीलिए अन्य योनियों में पाप-पुण्य के फल भोगकर बार-बार इस योनि में आता है । इसी योनि में संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन सम्भव है । इसी में **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** सार्थक होता है । मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना गया है । पाप-पुण्य केवल मनुष्य-जन्म में ही सम्भव है ॥३४॥

एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में डालने की व्यवस्था कौन करता है—अगले सूत्र में इसका प्रतिपादन किया है—

असुनेता परमेश्वरः ॥३५॥

प्राणों को (एक से दूसरे शरीर में) ले-जानेवाला परमेश्वर है ।

जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते । जीव अपनी इच्छा से श्रेष्ठ योनियों में तो चला जाएगा किन्तु निकृष्ट योनियों में जाना कभी नहीं चाहेगा । वहाँ उसे बलात् धकेलना होगा । अल्पज्ञ होने के कारण वह ठीक-ठीक निश्चय भी नहीं कर पाएगा, अतः उसे एक शरीर से छुड़ाकर दूसरे में भेजना ईश्वरीय व्यवस्था में ही सम्भव है । इस विषय में श्रुति के अनेक वचन प्रमाण हैं । उदाहरणार्थ—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
ररन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥

—ऋग्वेद १०।५९।५, ६

यहाँ पुनर्जन्म के प्रसंग में परमेश्वर को 'असुनीते' (प्राणों को ले-जानेवाला) नाम से पुकारकर उससे उत्तम जन्म और भोगादि के साधन प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है ॥३५॥

देहान्तरप्राप्ति कब—जीवात्मा अपने प्राणादि सहचरों तथा विद्या-कर्म-पूर्वप्रज्ञारूप तीन प्रकार के पाथेय को साथ लेकर एक देह से दूसरे देह को किस प्रकार प्राप्त करता है, इस बात को बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।३) में एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ।" (सुंडी) नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटी-सी पिपीलिका एक तिनके के अन्तिम छोर पर पहुँच एक दूसरे तिनके पर जाने की इच्छा करती हुई प्रथम उस दूसरे तिनके को अपने अग्रिम भाग से दृढ़ता से पकड़कर अपने शरीर के पिछले भाग को खींचकर अग्रिम स्थान पर रखती हुई चलती है । ठीक इसी प्रकार यह आत्मा गृहीत जीर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर, स्त्री-पुत्र-मित्रादिकों के वियोगजनित शोक की उपेक्षा करके दूसरे देहरूपी आश्रय को पकड़ने के बाद ही अपने उस शरीर को छोड़ता है । स्थूल शरीर के बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं, अतः असुनेता ईश्वर की व्यवस्था में यह आत्मा तृणजलायुकावत् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है ।

ऐतरेय उपनिषद् (४।४) के अनुसार यहाँ से मरते ही पुनः जन्म ले लेता है—

'स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते' ।

महाभारत में लिखा है—

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभावः ॥ वनपर्व १८३।७७

अर्थात्—आयु पूर्ण होने पर आत्मा अपने जराजर्जर शरीर का त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को ग्रहण करने के मध्य में क्षणभर के लिए भी असंसारी नहीं होता।

तथापि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने में कुछ-न-कुछ समय तो लगता ही है। क्योंकि कोई भी कार्य काल के बिना नहीं हो सकता, परन्तु यह समय इतना थोड़ा होता है कि समय की नाप-तोल करने के लिए मनुष्य ने समय के जो विभाग (घड़ी, पल, मुहुर्त्तादि) किये हैं उनमें यह कभी नहीं आता। इसलिए उसका निर्देश सम्भव नहीं।

१२ दिन के बाद पैदा होने की कल्पना भ्रमात्मक है। इस प्रसंग में यजुर्वेद का निम्न मन्त्र विवेच्य है—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीये आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमा पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥ —यजुः० ३९।६

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा ......किंचित कालं भ्रमणं कृत्वा'**। यदि यहाँ एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करने से पहले जीवात्मा के भ्रमण की अवधि १२ दिन निर्दिष्ट होती तो **'किंचित् कालं भ्रमणं कृत्वा'** क्यों कहा जाता? वस्तुतः यहाँ 'किंचित् काल' से 'तत्काल' अथवा 'नाममात्र' काल अभिप्रेत है। इस मन्त्र पर ग्रन्थकार के दिये भावार्थ में लिपिकर के प्रमाद से वाक्यविन्यास अयथास्थान हो गया प्रतीत होता है। यथास्थान कर देने पर शुद्धरूप में कुछ इस प्रकार बनता है—

"हे मनुष्याः! यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा किञ्चित् कालं भ्रमणं कृत्वा स्वकर्मानुयोगेन गर्भाशयं गत्वा सूर्यप्रकाशादीन् पदार्थान् प्राप्य शरीरं धृत्वा जायन्ते तदैव पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखानि फलानि भुङ्क्ते ॥"

वस्तुतः इस मन्त्र में मरणोपरान्त जीवात्मा के भ्रमण की बात न होकर गर्भाशय में प्रविष्ट जीव की भ्रूणावस्था अर्थात् उसके क्रमिक विकास का वर्णन किया है। गर्भस्थित भ्रूण को प्रथम दिन सूर्य, दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन मास, पाँचवें दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मरुद्गण अथवा मनुष्यादि प्राणी, आठवें दिन बृहस्पति या सूत्रात्मावायु, नवें दिन प्राण, दसवें दिन उदान, ग्याहरवें दिन विद्युत् तथा बारहवें दिन समस्त उत्तम दिव्य गुण प्राप्त होते हैं।

गर्भाशय में जीव की भ्रूणावस्था में प्रतिदिन के क्रम से सविता आदि देवों से शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पुनः उसका विकास उत्तरोत्तर उक्त देवों की शक्तियाँ करती हैं। आयुर्वेदशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ चरकसंहिता के गर्भप्रकरण में भौतिक देवों से प्राप्त होनेवाली शक्तियों के सन्दर्भ में लिखा है—**"यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे— । लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः आदित्यस्त्वादानं रुद्रो रोषः सोमः प्रसादः वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहः विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि च तमो मोहः ज्योतिर्ज्ञानं यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा गर्भाधानम्"** (चरक, शरीरस्थान ५।६)। अर्थात्—जितने भी लोक में विशेष पदार्थ देवरूप से हैं, उतने पुरुष शरीर में

[मुक्ति अनेक जन्मों के प्रयत्न से]

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में ?
उत्तर—अनेक जन्मों में। क्योंकि—

हैं, जैसे—लोक में प्रजापति है वैसे शरीर में बुद्धि है, लोक में जो इन्द्र है शरीर में वह अहंकार, लोक में जो आदित्य वह शरीर में आदान—रसादान शक्ति, लोक में जो रुद्र वह शरीर में रोष, लोक में जो सोम वह शरीर में शान्तभाव, लोक में जो वसु वह शरीर में सुख, लोक में जो विश्वेदेव वे शरीर में समस्त इन्द्रियाँ ..... जिस प्रकार लोक में सर्गादि हैं, वह शरीर में गर्भाधान है। इस प्रकार वहाँ बारह समान नामों तथा पर्याय नामों से गर्भ में देवों का नाम दर्शाया है।

यह कल्पना कि मरने के बाद आत्मा यमलोक में जाता है, सर्वथा मिथ्या है। इस कल्पना का आधार गरुड़पुराण आदि में यमलोक का वर्णन है, परन्तु यह बात वेदों में आये 'यम' शब्द को न समझने के कारण हुई है। वेदों में यम शब्द अनेकार्थवाची है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उसका अर्थ है—नियमन करनेवाला, अनुशासन में रखनेवाला।

वेद में जिसे 'असुनेता' कहा गया है, वही यम है—कर्मव्यवस्था के अनुसार एक शरीर से छुड़ाकर दूसरे शरीर में पहुँचानेवाला।

गर्भाधान—बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।१) में बताया है—

> **एषा वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥**

महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधि, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का रस फल, फलों का रस पुरुष और पुरुष का रस वीर्य है।

यही बात तै०उप० में इस प्रकार कही गयी है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥
—ब्रह्मवल्ली १।१

इस वीर्य के स्त्री के शरीर में प्रविष्ट होने से गर्भधारण होकर पुरुष का जन्म होता है। इस विषय का विवेचन द्वितीय समुल्लास के आरम्भ में द्रष्टव्य है।

मुक्ति अनेक जन्मों के फलस्वरूप—मुक्ति के लिए अपेक्षित साधनों का अभ्यास दीर्घकाल तक करना पड़ता है और वह भी इस प्रकार कि उसमें नैरन्तर्य बना रहे अर्थात् अन्तराल में कभी उसका विच्छेद न होने पाये। श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित यह अभ्यास अनेक जन्मों तक करना पड़ता है। तब कहीं मोक्ष प्राप्त होता है। इसमें जीवन्मुक्त श्रीकृष्ण का निम्न वचन प्रमाण है—

> **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।** —गीता ६।४५

मुक्ति में ज्ञान की नाप-तोल नहीं होती, 'इसलिए जितना ज्ञान अधिक होता है' में ज्ञान की न्यूनाधिकता का निर्देश साधारणरूप में किया गया समझना चाहिए। इसी प्रकार आगे की पंक्ति में मीमांसा के **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) के न्यायानुसार 'पूर्णज्ञानी' का तात्पर्य 'जीव का जितना ज्ञान बढ़ सकता है' उतने की पूर्णता से है। अन्यथा 'पूर्णज्ञानी' तो परमेश्वर से अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता।

स्वर्ग-नरक—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला (१४, १५) के अनुसार 'सुख-विशेष'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ —मुण्ड० २।२।८

जब इस जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते, और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा, जोकि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है ।

[मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं होता]

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है ?

उत्तर—पृथक् रहता है, क्योंकि जो मिल जाए, तो मुक्ति का सुख कौन भोगे ? और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें । वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिए । जो जीव परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तम कर्म, सत्सङ्ग, योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥ —तै० आ० व० १।१

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस **'विपश्चित्'**=अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है, अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है । यही **'मुक्ति'** कहाती है ।

[विना शरीर के स्वशक्ति से आनन्द का भोग]

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा ?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कह आये हैं और इतना अधिक सुनो— जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है । वह मुक्त जीव अनन्त, व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में, अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सबमें घूमता है । वह सब पदार्थों को, जोकि उसके ज्ञान के आगे हैं, देखता है । जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है ।

[स्वर्ग-नरक की व्याख्या]

मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है । यही सुखविशेष **'स्वर्ग'** और विषयतृष्णा में फँसकर दुःखविशेष भोग करना 'नरक' कहाता है । **'स्वः' सुख का नाम है, 'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः', 'अतो विपरीतो दुःखभोगो यस्मिन् स नरक इति'** जो सांसारिक सुख है वह **'सामान्य स्वर्ग'**, और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है, वही 'विशेष स्वर्ग' कहाता है ।

भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का नाम 'स्वर्ग' तथा 'दुःख-विशेष' भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का नाम 'नरक' है ।

सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा करते और दुःख का वियोग होना चाहते हैं, परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा, क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—**'छिन्नेमूले वृक्षो नश्यति, तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति'**। जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है।

[पाप-पुण्य की गति; सत्वादि के लक्षण वा प्रतीति]

देखो ! मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥१॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥२॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥३॥
तत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥४॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥५॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥६॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥७॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥८॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥९॥
आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥१०॥
लोभः स्वप्नो धृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥११॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥१२॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥१३॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥१४॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥१५॥

—मनु० अ० १२।८, ९२, ५-३३, ३५-३८॥

अर्थात् मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ, मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण, मध्य और निकृष्ट का त्याग करे। और यह भी निश्चय जाने कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी, और शरीर से किये को शरीर से अर्थात् सुख-दुःख को भोगता है ॥१॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, **उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म,** वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है ॥३॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥४॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान, और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥५॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नता-रहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान हैं ॥६॥

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फँसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित, जानने योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान, और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं ॥७॥

अब जो इन तीन गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है, उसको पूर्णभाव से कहते हैं ॥८॥

जो वेदों का अभ्यास, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया, और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥६॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझमें वर्त्त रहा है ॥१०॥

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, **नास्तिक्य** अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से याचना, और प्रमाद अर्थात् किन्हीं व्यसनों में फँसना होवे, तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥११॥

तथा जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है ॥१२॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है ॥१३॥

और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाए, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे, और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्मचरण ही में रुचि रहे, तब समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है ॥१४॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण स सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥१५॥

[किस-किस गुण से कौन-कौन योनि प्राप्ति होती है]

अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उसको आगे लिखते हैं[1]—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च[2] कच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥२॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा[3] व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥६॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥७॥

देवत्वम्—पाप-पुण्य के फलस्वरूप होनेवाली योनियों के निर्देशक ये सभी श्लोक मनुस्मृति के १२वें अध्याय से उद्धृत हैं। इन श्लोकों में महर्षियों द्वारा भृगु से प्रश्न और भृगु द्वारा उनका उत्तर देने का वर्णन होने से ये मनु प्रोक्त न होकर भृगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचकर संकलित किये गये प्रतीत होते हैं, अतएव इनका प्रामाण्य सन्दिग्ध है। इनका मूल तथा आधार विद्वज्जनों द्वारा अन्वेष्य है। इन श्लोकों में निर्दिष्ट कर्मफल-व्यवस्था के ग्रन्थकार द्वारा मान्य होने का कोई स्पष्ट संकेत भी उपलब्ध नहीं है। इन्हें यहाँ उद्धृत करने में ग्रन्थकार का तात्पर्य इस विषय में एक सम्भावित रूपरेखा प्रस्तुत करना-भर प्रतीत होता है।

योगः—वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को एक स्थान पर केन्द्रित करना योग कहाता है। जब चित्त में स्थैर्यशक्ति उत्पन्न होती है तब किसी भी लक्ष्य में उसे स्थिर किया जा सकता है। स्थिरता की चरम सीमा ही समाधि है। चित्त शब्द का अर्थ यहाँ अन्तःकरण है और यह सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्रकृति का परिणाम होने से त्रिगुणात्मक है। इसी के बाह्याभ्यान्तर व्यापार को वृत्ति कहते हैं। चित्त इनमें से किसी-न-किसी वृत्ति से व्याप्त रहता है। इन वृत्तयों के क्रम का निरोध होना 'योग' है।

तदा द्रष्टुः—तब, अर्थात् जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और समस्त वृत्तियाँ बाह्य विषयों से

---

१. **द्र०—येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्षामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥** —मनु० १२।३३

२. मनुस्मृति में 'सर्पाः सकच्छपाः पाठ है।

३. द्वि० सं० में 'हिंस्रा' पाठ है, पर आर्य-भाषार्थ में 'सिंह' है, अतः ऋषि को भी 'सिंह' पाठ अभिप्रेत था। लिपिकर की अनवधानता से 'हिंस्र' लिखा गया प्रतीत होता है। —भ० द०

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥८॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥६॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥१०॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥११॥

—मनु० १२।४०, ४२-५०, ५२॥

जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥१॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥२॥

जो मध्यम तमोगुणी हैं, वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करनेहारे, सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् शूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥३॥

जो उत्तम तमोगुणी हैं, वे चारण (जो कि कवित्त दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं), सुन्दर पक्षी, दांभिक पुरुष अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा करनेहारे, राक्षस=जो हिंसक पिशाच अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥४॥

जो अधम रजोगुणी हैं, वे 'झल्लाः' अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदनेहारे, 'मल्लाह' अर्थात् नौका आदि के चलानेवाले, नट जो बाँस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, शस्त्रधारी भृत्य और मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है ॥५॥

जो मध्यम रजोगुणी होते हैं, वे राजा, क्षत्रियवर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वादविवाद करनवाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील वारिस्टर), युद्ध-विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥६॥

जो उत्तम रजोगुणी है वे गन्धर्व (गानेवाले), गुह्यक (वादित्र बजानेहारे), यक्ष (धनाढ्य), विद्वानों के सेवक, और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूपवाली स्त्री उसका जन्म पाते हैं ॥७॥

जो तपस्वी, यति=संन्यासी, वेदपाठी विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्वगुण के कर्म का फल जनो ॥८॥

जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्ता, वेदार्थवित् विद्वान्, वेद, विद्युत् आदि और कालविद्या के ज्ञाता, रक्षक ज्ञानी और **'साध्य'**=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥६॥

जो उत्तम सत्वगुणयुक्त होके उत्तमकर्म करते हैं, वे 'ब्रह्मा'=सब वेदों का वेत्ता, 'विश्वसृज'=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे, धार्मिक, सर्वोत्तम बुद्धियुक्त, और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥११॥

इस प्रकार सत्व, रज और तमोगुणयुक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता है, उस-उस को उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है ।

[चित्तवृत्ति का निरोध]

जो मुक्त होना चाहते हैं वे गुणातीत अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फँसकर महायोगी होके मुक्ति का साधन करें, क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥

—ये योगशास्त्र पातञ्जल १।२,३ के सूत्र हैं ॥

मनुष्य रजोगुण-तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर 'एकाग्र' अर्थात् एक परमात्मा और नाभि, हृदय, कण्ठ, नेत्र और नासिका के अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥

जब चिति एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥ इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे। और—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' ॥ सांख्य० १।१

जो **आध्यात्मिक** अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीड़ा, **आधिभौतिक** जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, आधिदैविक जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन, इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है। इस त्रिविध दुःख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है ॥

इसके आगे आचार-अनाचार और भक्ष्याऽभक्ष्य का विषय लिखेंगे ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये

नवमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥६॥

हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है और जीवात्मा का प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में वह अपने चेतनस्वरूप से परमेश्वर में स्थिर हो जाता है।

अथ त्रिविध०—मानवजीवन का सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी प्रयोजन अपवर्ग की प्राप्ति है। इसलिए इसे सांख्यदर्शन में अत्यन्त पुरुषार्थ कहा है। इसी का अपर नाम मोक्ष है। सांख्यकार यदि जीवात्मा को ब्रह्मरूप मानते तो पहले ही सूत्र में उसे त्रिविध दुःखों से निवृत्ति का निर्देश न करते। समस्त शास्त्र ईश्वर प्राप्ति के द्वारा मोक्षसाधन के निमित्त आवश्यक विधि-निषेधात्मक वाक्यों से भरे पड़े हैं, क्योंकि पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) का पर्यवसान मोक्ष-प्राप्ति में है।

अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

[आचार-अनाचार का लक्षण]

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का सङ्ग, और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि **'आचार'**, और इनसे विपरीत **'अनाचार'** कहाता है,उसको लिखते हैं—

[वेदोक्त धर्म का सेवन]

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्चय सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चत् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

आचार और विचार में साध्य-साधन सम्बन्ध है। विचार का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है और आचार का जीवन के साथ। जानना जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है, अर्थात् ज्ञान का पर्यवसान कर्म में है। आचार एक व्यापक शब्द है। इसी से आचार्य शब्द निष्पन्न होता है। केवल पुस्तकस्थ विद्या पढ़ाने और परीक्षा पास करानेवाले शिक्षक या अध्यापक कहला सकते हैं, पर आचार्य नहीं। आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य शिष्य को आचारवान् बनाना है—**'आचारं ग्रहयतीति आचार्यः'**।

भगवान् मनु का कथन है— **आचारः परमो (प्रथमो) धर्मः'** ।(मनु ० १।१०८) इतना ही नहीं, उनका कहना है—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ —मनु० १।१०६

अर्थात् धर्माचरण से च्युत द्विज वेदप्रतिपादित सुखरूप फल को प्राप्त नहीं होता और जो धर्माचरण करता है वह समस्त सुखों को पाने का अधिकारी होता है।

मनु ने इस श्लोक की मान्यता की पुष्टि यत्र-तत्र अनेक श्लोकों में भी की है। तद्यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥७॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥६॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१०॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥१३॥

—मनु० २।१-४, ६, ८, ११-१३, २६, ६५ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥
वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमांश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि आचारहीन व्यक्ति को उक्त वेदोक्त कर्मों में सफलता नहीं मिलती, आचारवान् को ही मिलती है। महामति चाणक्य का सूत्र है—**'सुखस्य मूलं धर्मः'** अर्थात् सुख का मूल धर्म है। मानो मनु के निम्न श्लोक में इसी का व्याख्यान उपलब्ध है—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ —मनु० १।११०

अर्थात् (एवम्) इस प्रकार (आचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य गतिम्) धर्म की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि को (दृष्ट्वा) देखकर (मुनयः) मुनियों ने (सर्वस्य तपसः मूलम्) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूलाधार (आचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है।

तब इस आचाररूप धर्म का स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ? ग्रन्थकार द्वारा यहाँ मनुस्मृति से उद्धृत श्लोकों में इसी का विवेचन किया है। इस विवेचन का सार इन्हीं में से एक—निम्न श्लोक में उपलब्ध है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ —मनु० २।१२

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन राग-द्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्यकर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है ॥१॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म, ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥२॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूँ वा हो जाऊँ, तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत यम-नियमरूपी धर्म सङ्कल्प ही से बनते हैं ॥३॥

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो, तो आँख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥४॥

इसलिए सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार, और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शङ्का, लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो, जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय, शङ्का, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं ॥५॥

अर्थात्—वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचरण तथा अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के लक्षण हैं, अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है।

यहाँ उद्धृत श्लोकों में **'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः'** (सदाचारः), **'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः'** (स्वस्य च प्रियमात्मनः), **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (वेदः), **'स्मृतिशीले'** (स्मृति) **'आचारश्चैव साधूनाम्'** (सदाचारः), **'आत्मनस्तुष्टिः'** (स्वस्य च प्रियमात्मनः); **'श्रुतिप्रामाण्यतः'** (वेद), **'श्रुतिस्मृत्युदितम्'** (वेद व स्मृति); **'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'** (वेद), **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (स्मृतिः); **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (वेद); **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'** (वेद) तथा **'वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः'** (वेद)—इत्यादि वाक्यों के द्वारा इन्हीं चार आधारभूत लक्षणों का निर्देश किया गया है। मनुस्मृति में अन्यत्र भी अनेकत्र एकैकशः अथवा समवेतरूप में इनका संकेत उपलब्ध है।

मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में भी अनेकत्र वेद और श्रुति शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस विषय में ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भूमिका में लिखा है—

"**प्रश्न**—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादिसंहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उत्तर—अर्थभेद से, क्योंकि एक **विद्** धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी—धातु सत्तार्थक है, तीसरी **विद्लृ** का अर्थ लाभ है, चौथी विद् धातु का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। तथा **श्रु** धातु श्रवण अर्थ में है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का नाम वेद है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब विद्याओं को सुनते आये हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है। ...... जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता-भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं।"

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वर निर्भ्रान्त है, अतः उसका ज्ञान भी निर्भ्रान्त होने से स्वतःप्रमाण है। स्वतःप्रमाण होने से **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**। स्मृतिग्रन्थ वेदों में पारंगत ऋषि-मुनियों की रचना है। जीव अल्पज्ञ है, इस कारण उसकी रचना में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा की सम्भावना है, अतः जीवकृत होने से

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र से देख करके श्रुतिप्रमाण से स्वात्मानुकुल धर्म में प्रवेश करे ॥६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥७॥

'श्रुति' वेद और **'स्मृति'** धर्मशास्त्र को कहते हैं। इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिए ॥८॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही **'नास्तिक'** कहाता है ॥९॥

इसलिए वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार, और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण —ये **चार धर्म के लक्षण,** अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥१०॥

स्मृतिग्रन्थ परतःप्रमाण हैं, अर्थात् वे वहीं तक प्रमाण है जहाँ तक वेदानुकूल हों। जाबालस्मृति में लिखा है—**'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी'**। जिन बातों के सम्बन्ध में वेद में कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध न हो, उनके विषय में आप्तपुरुष देश-काल-परिस्थिति के अनुसार नियम बना सकते हैं, परन्तु उनका वेदाविरोधी होना आवश्यक है, अर्थात् उनमें ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो वेद की आधारभूत मान्यताओं के विपरीत हो। सदाचार का तीसरा मापदण्ड वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के जानने और तदनुसार व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषों का आचरण है। जिन कामों के विषय में न वेद में स्पष्ट निर्देश हो और न वेदानुकूल निर्मित स्मृतियों में, उनके विषय में जो काम महापुरुषों के आचरण के अनुकूल होगा वही धर्म माना जाएगा और इसके विपरीत अधर्म। धर्म का चौथा स्रोत 'आत्मा की सन्तुष्टि' या 'आत्मा का प्रिय' कार्य है। यहाँ हर किसी के प्रिय को धर्म की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। वेदानुकूल आचरण करनेवाले, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी अपनी आत्मा की सन्तुष्टि, प्रसन्नता और प्रियता के अनुकूल जो कार्य हैं, वही धर्म है। इस विषय में महाकवि कालिदास की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।

एतदनुसार सज्जन पुरुषों के अन्तःकरण में उद्भूत विचार को ही प्रमाणकोटि में रक्खा जाता है। मनु ने जहाँ-जहाँ आत्मा की सन्तुष्टि की बातें कही हैं, वे द्विजों के धर्माधर्म के प्रसंग में हैं, उनसे इतर निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। हाँ, जिस कार्य में आत्मा को भय, शंका, लज्जा आदि का अनुभव नहीं होता, ऐसे कर्म अवश्य आत्मा के प्रिय कर्म कहे जा सकते हैं, इससे विपरीत कर्म आत्मा के प्रिय नहीं माने जा सकते।

योऽवमन्येत—जो (हेतुशास्त्राश्रयात्) तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें। वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक होता है।

मनु तथा अन्य आचार्य धर्माधर्म का निश्चय करने में तर्क को प्रमाण मानते हैं। निरुक्तशास्त्र (परिशिष्ट ११।१३) में तर्क को ऋषिस्थानीय माना है। उसे वेदमन्त्रों के अर्थ का निश्चायक बतलाया है। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि—**'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'** (१२।१०६) अर्थात् जो तर्क से अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को समझता है, अन्य नहीं। इसलिए जब मनु **'हेतुशास्त्राश्रय'** अर्थात् तर्क का निषेध करते हैं तो उनका अभिप्राय 'तर्क' से नहीं, 'कुतर्क' से है। विवेच्य श्लोक में **'अवमन्येत'**

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवा में फँसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है । जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है ॥११॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्रकरने वाला है ॥१२॥

ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें, और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्तकर्म=क्षौर-मुण्डन हो जाना चाहिए, अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी-मुँछ और शिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए, अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधानदेश हो तो कामचार है, चाहै जितने केश रक्खे । और जो अति उष्ण देश हो, तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है, और उससे बुद्धि कम हो जाती है । डाढ़ी-मूँछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता, और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है ॥१३॥

क्रियापद का प्रयोग किया है जिससे उनका भाव यह है कि तर्कशास्त्र की आड़ में जल्प, वितण्डा आदि कुतर्क के द्वारा जो शास्त्र का अपमान करते हैं वे वेदनिन्दक समाज में रहने योग्य नहीं । ऋषियों ने जहाँ तर्क को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, वहाँ तर्क करने का अधिकार किसे है, यह भी निर्धारित कर दिया है । तदनुसार तत्त्वज्ञानी, शास्त्रवेत्ता तथा सत्यान्वेषण में प्रवृत्त व्यक्ति को ही तर्क करने का अधिकार है ।

अर्थकामेषु—अर्थ और काम पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तर्गत होने से उनका निषेध नहीं किया जा सकता । दोष आसक्ति में है । पूना में दिये गये अपने प्रवचनों में एक दिन ग्रन्थकार ने कहा था कि "जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फँसे हुए हैं, उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता । धर्म के जिज्ञासुओं (अभिलाषियों) के लिए ही वेद परम प्रमाण है ।"

केशान्तः—मनुस्मृति (२।२१९) के अनुसार—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥

ब्रह्मचारी चाहे तो सब केश मुँडवाकर रहे, चाहे सब केश रक्खे रहे अथवा केवल शिखा रखकर, शेष केश मुँडवाकर रहे । इस ब्रह्मचारी को किसी निवासस्थान में रहते सूर्य न तो अस्त हो, न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवासस्थान पर रहते-रहते सूर्य अस्त नहीं होना चाहिए और न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए, अपितु उससे पूर्व ही सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्मों के लिए वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए (२।७६, ७८, ७७, ७६)

मुण्डो जटिलः शिखी (लौगाक्षिगृह्य० १।२५) अर्थात् चाहे मूँड मुँडवाये, वा जटा रक्खे अथवा शिखा रक्खे । **मुण्डाः शिखारहिताः** (लौगाक्षिगृह्य० ४०।४) अर्थात् मुण्ड का अर्थ है शिखारहित ।

चरकसंहिता (सूत्रस्थान ८।१६) के अनुसार कम-से-कम एक पक्ष में तीन बार दाढ़ी-मूँछ तथा शिर के बाल कटवाते रहना चाहिए ।

वशे कृत्वा०—युक्ताहारविहार—इस सन्ददर्भ में गीता का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६।१७

अर्थात् जिसका आहार-विहार नियमित है, जिसकी चेष्टाएँ नियमित हैं, जिसका सोना-जागना नियमित है, योगाभ्यास से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं ।

[मनुष्यों के कुछ विशेष कर्तव्य]

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥१॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥२॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥६॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥९॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१४॥

—मनु० २।८८,९३,९४,९७,१००,९८,११०,१३६,१५३-१५७,१५९॥

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित को हरण करनेवाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़े को सारथी रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटाके धर्ममार्ग में सदा चलाया करे ॥१॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है, तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ॥२॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिए ॥३॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसको **'विप्रदुष्ट'** कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब जितेन्द्रिय, धार्मिकजन को सिद्ध होते हैं ॥४॥

इसलिए पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके, युक्ताहारविहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ॥५॥

'जितेन्द्रिय' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष, और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख, और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न, और दुष्ट रूप देख अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित, और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता ॥६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछनेवाले को कि जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे। हाँ, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे ॥७॥

एक धन, दूसरे बन्धु=कुटुम्ब-कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पाँचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पाँच मान्य के स्थान हैं, परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म, और कर्म से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ॥८॥

क्योंकि चाहे सौ वर्ष का भी पुरुष हो, परन्तु जो विद्या-विज्ञानरहित है वह **'बालक'**, और जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी **'वृद्ध'** मानना चाहिए, क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् अज्ञानी को **'बालक'** और ज्ञानी को **'पिता'** कहते हैं ॥९॥

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से, और बड़े कुटुम्बके होने से वृद्ध नहीं होता, किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है, वही **'वृद्ध'** पुरुष कहाता है ॥१०॥

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से, और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है ॥११॥

शिर के बाल श्वेत होने से बुड्ढा नहीं होता, किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं ॥१२॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा काष्ठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है ॥१३॥

इसलिए विद्या पढ़, विद्वान्, धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं ॥१४॥

नित्य स्नान करे, वस्त्र, अन्न-पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे, क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल, दुर्गन्ध दूर हो जाए।

[आचार की महत्ता]

'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च' ॥ —मनु० १।१०८

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ 'आचार' है ॥

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् ॥ —यजुः० १६।१५

मा नो वधीः—हमारे माता-पिता को मत मार।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ —अथर्व० ११।५।३
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ॥
—तै० आ० ७।११

माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना **'देवपूजा'** कहाती है ॥

और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है । कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे । 'आप्त' जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं, उनका सदा संग करने ही क नाम **'श्रेष्ठाचार'** है ।

[क्या विदेशगमन से आचार का नाश होता है ?]

प्रश्न—आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं ?

उत्तर—यह बात मिथ्या है, क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहाँ-कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म और आचारभ्रष्ट कहावेगा ।

[देश-देशान्तर में जाने-आने में प्रमाण]

जो ऐसा ही होता, तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ।
क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत् ॥१॥
स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान् ॥२॥
—ये श्लोक भारत, शान्तिपर्व (३२५।१४-१५) मोक्षधर्म में व्यासशुक-संवाद में हैं ॥

आचार्य उपनयमानो०—यहाँ पूरा पाठ **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'** (११।५।३) **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** (११।५।१७) इस प्रकार बनता है । पूरे सन्दर्भ का अर्थ इस प्रकार है—आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी शिष्य की कामना करता है । आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है । गर्भ में धारण करने का अर्थ माता बनना है । आचार्य का व्यवहार विद्यार्थी के साथ ऐसा होना चाहिए जैसा माता का अपने गर्भस्थ बालक के साथ होता है । जैसे गर्भिणी की तनिक-सी असावधानी से गर्भस्थ बालक का बहुत अनिष्ट हो सकता है, वैसे ही आचार्य के आचार-विचार का थोड़ा-सा दोष भी बालक के जीवन में विकार उत्पन्न कर देता है और जैसे माता की प्रत्येक चेष्टा का गर्भस्थ बालक पर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही आचार्य के क्रियाकलाप से ब्रह्मचारी प्रभावित होता है । इसलिए आचार्य को गर्भिणी की भाँति सावधान रहना चाहिए ।

मातृदेवो भव—इत्यादि तीनों उद्धृत वचनों को ग्रन्थकार ने ग्याहरवें समुल्लास में 'पंचायतन-पूजा' के प्रकरण में भी उद्धृत किया है । तात्पर्य यह है कि माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि इन को देवों के समान पूज्य मानना चाहिए ।

मेरोर्हरेश्च—यह निश्चित है कि वर्तमान में उपलब्ध महाभारत का लगभग ६० प्रतिशत भाग प्रक्षिप्त है और जिस प्रकरण में से यहाँ उद्धृत श्लोक लिये गये हैं वह इतना कल्पनाप्रसूत, अश्लील, असम्बद्ध एवं

अर्थात् एक समय व्यासजी अपने पुत्र शुक और शिष्य-सहित **'पाताल'** अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं, उसमें निवास करते थे। शुकाचार्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक ? व्यासजी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया, क्योंकि उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिए अपने पुत्र शुक से कहा कि—'हे पुत्र! तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा'।

पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश वसते हैं, उनका नाम **हरिवर्ष** था, अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्रवाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय **'यूरोप'** है, उन्हीं को संस्कृत में **'हरिवर्ष'** कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण 'यहूदी' भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये॥

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में **'अश्वतरी'** अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, उसपर बैठके पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह **'गांधार'** जिसको **'कंधार'** कहते हैं, वहाँ की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री **'ईरान'** के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह **पाताल** में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं, वहाँ के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं ?

उपहासास्पद है कि उसपर समग्रता से विचार करना सम्भव नहीं, परन्तु इससे इतना अवश्य ध्वनित होता है कि जिस-किसी भी कालखण्ड में इन श्लोकों की रचना हुई है, उस समय विदेशयात्रा का प्रचलन था। सम्भवतः यही प्रमाणित करना ग्रन्थकार को अभीष्ट था। वेदों में अनेक मन्त्रों में जलपोतों, वायुयानों आदि के निर्माण तथा संचालन का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि अनादिकाल से देश-विदेश में यात्रा करना शास्त्रसम्मत तथा तर्कसंगत है। आगे ११वें समुल्लास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" पौराणिकों द्वारा विदेशयात्रा को पाप घोषित करने का परिणाम यह हुआ कि विदेशी तो भारत के सम्पर्क में आकर धनाढ्य होते गये और हम पारसमणि होते हुए भी दरिद्र होते गये। वे हमारे यहाँ आकर और तरह-तरह की विद्याएँ सीखकर अपने देशवासियों को लाभान्वित करते रहे और हम कूपमण्डूक बनकर जो कुछ हम जानते थे उसे भी भूलते गये। एक समय था जब हमारे पास सब प्रकार के आयुध थे। फिर एक दिन वह समय आया जब राणा सांगा को अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी पराजय का मुँह देखना पड़ा, क्योंकि उसकी सेना के तीर और तलवार बाबर की तोपों के गोलों का सामना न कर सके। संसार में तोपों का आविष्कार हो गया था। तब यदि वह बाबर को सुलभ हो सकती थी तो राणा सांगा को क्यों नहीं हो सकती थी ? पर तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर उनके हाथ-पैर बाँधकर डाल दिये थे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (सन् १८७५) में चतुर्थ समुल्लास में अन्तर्देशीय विवाहों का अनुमोदन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा—

"यह बात भी अवश्य होनी चाहिए कि देश-देशान्तर से विवाह का होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम देशों में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तरों के व्यवहार भी जाने जाएँगे। बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन-व्यवहार भी एक ही होगा। इससे मनुष्यों

मनुस्मृति (८।४०६) में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है, वह भी आर्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है और जब महाराजा युधिष्ठर ने राजसूय यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो दोष मानते होते, तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे।

[देश-देशान्तर में जाने-आने से अनेक लाभ]

और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्यों के समागम, रीति-भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय, शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट, धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं, यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है ?

[अनार्यों से व्यवहार और गुणग्रहण में कोई दोष नहीं]

हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं। इसलिए उनके सङ्ग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जाएँ, यह तो ठीक है, परन्तु इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है, किन्तु इनके मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है।

[पाखण्ड-खण्डन सीखकर ही विदेशों में जावें]

सज्जन लोगों को राग-द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर, प्रीति, परोपकार, सज्जनतादि का धारण करना उत्तम 'आचार' है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

[देश-देशान्तर में व्यापार किये विना उन्नति नहीं होती]

क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो

को बड़ा सुख होगा, जैसेकि पूर्व-दक्षिण देश की कन्या और पश्चिम-उत्तर देश के पुरुषों से विवाह जब होगा और पश्चिम-उत्तर देश के मनुष्यों की कन्या और पूर्व तथा दक्षिण देश में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल-बुद्धि-पराक्रमादिक तुल्यगुण हो जाएँगे। पत्र द्वारा और आने-जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण ग्रहण होगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के मनुष्यों को विदित होंगे। परस्पर जो विरोध है सो नष्ट हो जाएगा। इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा।"

देश-देशान्तर में व्यापार—देश की आर्थिक स्थिति पर ग्रन्थकार ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया।

सकती है ? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते, और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें, तो सिवाय दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता ।

[पाखण्डियों की झूठी आशङ्का]

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे, और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी । इसलिए भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें । हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि मद्य-मांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें ।

[युद्ध के समय का आचार-अनाचार]

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि राजपुरुषों का युद्धसमय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना, अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना, और दूसरे हाथ से सत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही 'आचार', और पराजित होना **'अनाचार'** है ।

[चौके के चक्कर में देश को नष्ट कर दिया]

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वतन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं, और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकार खावें, परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है ।

[भोजन-स्थान वा पाकशाला की शुद्धि आवश्यक]

हाँ, जहाँ भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना ।

विदेशियों के भारत में व्यापार करने और भारतीयों के विदेशों में व्यापार न करने को वह देश की दरिद्रता का मूलकारण समझते थे । इसका उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए किसी समय श्रीमती सरोजिनी नायडू ने लिखा था—"इंग्लैंड में रूई पैदा नहीं होती । इसलिए वह रूई भारत से खरीदता है और इंग्लैंड में उसका वस्त्र बनाकर भारत में उसे बेचता है। एक रूपये में बिकनेवाले वस्त्र में लगी रूई के दो पैसे भारत को मिलते हैं और ६२ पैसे इंग्लैंड में रह जाते हैं ।" (उन दिनों एक रूपये के ६४ पैसे होते थे) । इसलिए ग्रन्थकार राष्ट्र के आर्थिक विकास, व्यापक दृष्टिकोण तथा सर्वांगीण उन्नति के लिए विदेशों के साथ व्यापार करना तथा इस निमित्त उनसे सन्धियाँ करना आवश्यक समझते थे । उस काल में समुद्र-यात्रा से धर्मभ्रष्ट हो जाने के फलस्वरूप स्थापित वर्जनाओं की निन्दा करते हुए पूना में दिये गये एक प्रवचन में उन्होंने कहा था—"देशाटन में अड़ंगा लगाना मूर्खता है । इतना ही नहीं, अपने हाथों अपने देश का सर्वनाश करना है ।" देश-देशान्तर-व्यापार को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने व्यापारियों को प्रत्येक देश की भाषा सीखने का निर्देश किया (संस्कृतवाक्यप्रबोध) । ग्रन्थकार ने अपने वेदभाष्य में यत्र-तत्र-अनेकत्र व्यापार के अन्तर्देशीय स्वरूप का निर्धारण करते हुए राजा को व्यापारियों के लिए अपेक्षित सुविधाएँ प्रदान

[सखरी-निखरी का पाखण्ड]

प्रश्न—सखरी-निखरी क्या है ?

उत्तर—**'सखरी'** जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी-दूध में पकाते हैं वह **'निखरी'** अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है, क्योंकि जिसमें घी अधिक लगे उसके खाने में स्वाद, और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे, इसीलिए यह प्रपञ्च रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ वह **'पक्का'**, और न पका हुआ **'कच्चा'** है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं, क्योंकि चणे आदि कच्चे[1] भी खाये जाते हैं।

करने का निर्देश किया है। **'व्यापारे वसति लक्ष्मीः'** इस नीति का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य (१६।४२) में लिखा है—"धन की कामना करनेवाले नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रखकर समुद्रादि के इस पार उस पार आ-जाके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में व्यवहार से धन की उन्नति करें।"

शिल्प, उद्योग तथा आयात-निर्यात का व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तृतीय समुल्लास में शिक्षानीति के अन्तर्गत राजधर्म से सम्बन्धित 'धनुर्वेद' के पश्चात् अथर्ववेद के उपवेद 'अर्थवेद' का उल्लेख हुआ है। अर्थवेद ही शिल्पशास्त्र है। ग्रन्थकार ने उसे छह वर्ष के भीतर पढ़कर तार, विमान, भूगर्भादि विद्याओं को जानने का उपदेश दिया है। वह उपदेश देकर ही नहीं रह गये, शिल्पोन्नति-हेतु तकनीकी प्रशिक्षण के लिए उन्होंने भारतीय युवकों को विदेश भेजने की व्यावहारिक योजना भी बनाई। उनकी जीवनी के प्रामाणिक लेखक श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने इस प्रसंग में ग्रन्थकार की मानसिक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—"जब वह (दयानन्द) देखता था कि भारत के शिल्पजीवी लोग बड़ी दुर्दशा में दिन काटते हैं, भारत की कारीगरी दिन-प्रतिदिन लुप्त होती जा रही है, दूसरी ओर विदेशी शिल्पी नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, हिन्दुओं के घर विदेशी वस्तुओं से सजे हुए और प्रतिष्ठा के पात्र समझे जा रहे हैं, तब वह सर्वत्यागी संन्यासी महात्मा हिन्दुओं पर आक्षेपमात्र करके ही चुप नहीं रह जाता है, बल्कि एक शोकातुर मनुष्य के समान उसे अत्यन्त दुःख होता था।"—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय : महर्षि दयानन्द का जीवनचरित।

ग्रन्थकार कला-कौशल के प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षण-विद्यालय की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। (पत्र तथा विज्ञापन, भाग १, पृ० ४५०)। वे यह भी चाहते थे कि कुछ युवकों को कला-कौशल सीखने के लिए जर्मनी भेज दिया जाए (वही पृ० ३७६) इस निमित्त उनका जर्मनी के प्रो० जी० वाईज़ से पत्राचार भी हुआ। प्रो० वाईज़ ने २७ जून १८८० से १७ अक्तूबर १८८० ईसवी तक ६ पत्र ग्रन्थकार को लिखे। उन्होंने भारतीय युवकों को जर्मनी में पोलिटिकल इकोनोमी, स्टैनोग्राफी, बढ़ईगीरी, लोहे का काम, कपड़े की रंगाई, घड़ी-साज़ी आदि का प्रशिक्षण देने के लिए सहमति प्रदान कर दी थी (वही तथा भाग ३, पृ० ८७, ६४, ६५-६८), परन्तु, क्योंकि ग्रन्थकार अपने अन्तरतम से विशुद्धतः जनतान्त्रिक पद्धति के पक्षधर थे, उन्होंने इस योजना को लाला मूलराज आदि सहयोगियों की समिति में विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया, जहाँ अन्ततः अस्वीकृत कर दिया गया (वही भाग १, पृ० ४०३)। जब इसकी सूचना प्रो० वाईज़ को दी गयी तो उसने १० अक्तूबर १८८० को लिखे अपने पत्र में ग्रन्थकार से उक्त समिति के निर्णय की उपेक्षा करके युवकों को जर्मनी भेजने का आग्रह करते हुए लिखा कि आप कमेटी की परवाह न करें। बहुमत सदा ही बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय नहीं करता, चाहे उसमें का प्रत्येक सदस्य चतुर तथा तर्कपूर्ण ही क्यों न हो। यह कहावत भी है

---

१. कच्चे चने भिगोकर, अथवा हरे चने कच्चे।

[रसोई कौन बनाये ?]

प्रश्न—द्विज अपने हाथ से रसोई बनाके खावें, वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें ?

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य-पालन, और पशुपालन, खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहें और शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—

कि कई सारे रसोइए भोजन को बिगाड़ देते हैं। थोड़े दिन बाद कमेटी अपनी राय बदल भी सकती है और वह आप तथा मुझसे सहमत भी हो सकती है। जो धन उच्चतर शिक्षा पर व्यय किया जाता है, वह फैंका हुआ नहीं माना जाएगा, अतः आप अपने छात्रों को मेरे पास भेजने में संकोच न करें। हम उन्हें आपकी शर्तों पर ही ले लेंगे (वेदवाणी, वर्ष ४१, अंक ४, फरवरी १९८९ पृ० ८०)। परन्तु न तो ग्रन्थकार ने अपने जनतान्त्रिक निर्णय को अन्यथा किया और न समिति ने अपना निर्णय बदला। परिणामतः भारतीय युवक तकनीकी प्रशिक्षण के लिए जर्मनी न जा सकें।

पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक का विचार है कि कमेटी के सदस्य हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मुंशी बख़्तावर सिंह, मुंशी इन्द्रमणि आदि ने अंग्रेजों के धन के प्रलोभनवश और लाला मूलराज ने अंग्रेजों के एजेंट होने के कारण सरकारी दबाव के कारण ग्रन्थकार की योजना को विफल करने के लिए ऐसा निर्णय दिया। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो ग्रन्थकार मनु के इस सिद्धान्त को माननेवाले थे कि यदि 'एक अकेला सब वेदों का जाननेवाला, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ है ..... (मनु० १२।१३), और दूसरे वे इस चण्डाल-चौकड़ी से भली प्रकार परिचित थे, ऐसी दशा में उन्होंने स्वतः स्फूर्त्त तथा प्रो० वाइज़ जैसे सुविज्ञ द्वारा अनुमोदित योजना का परित्याग क्यों कर दिया ? इस घटना-क्रम का अन्वेषण अपेक्षित है। इस योजना के असफल हो जानेपर भी ग्रन्थकार की प्रेरणा से शीघ्र ही एक शिल्पादि विद्यालय की स्थापना की गई। १६ मार्च १८८३ को आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री जवाहरसिंह द्वारा निम्नलिखित विज्ञापन प्रसारित किया गया—

"येक परम हर्ष की बात है कि हमारी समाज से येक शिल्पादि विद्यालय खुलनेवाला है। येह हमारे देश में पहली बात होगी। बिजली, तार, रेल आदि कारीगरी सब सिखाई जायेंगी। सब असबाब विलायत से मंगवाया जायेगा। पुना यह बात आप पर विदित होगी कि यहाँ पर लड़कीओं का सकूल है, १ बरस व्यतीत हो गया, अब तीस लड़की पढ़ती हैं। सकूल समाज के मन्दर के अन्दर है। हिन्दी में पढ़ाई होती है अर दसताने जुराब अरु गलुबन्द बुनती हैं। अर कसीदा काढ़ती हैं। प्रीक्षा पूर्वक इनाम भी दिये जाते हैं।" आश्चर्य की बात है कि अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी ग्रन्थकार ने दानापुर के ठाकुरदास नामक घड़ीसाज से घड़ी बनाने की कला सीखी थी (Radhey Shyam : Contribution of Arya Samaj in the making of modern India, P. 218)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राष्ट्र के आर्थिक विकास की नींव को सुदृढ़ करने में ग्रन्थकार की शिल्प एवं उद्योग के क्षेत्र में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। योगाभ्यास के द्वारा मोक्षलाभ प्राप्त करने के लिए निकले एक वीतराग संन्यासी द्वारा देश की आर्थिक उन्नति के लिए किया गया यह प्रयास वस्तुतः आश्चर्यजनक है।

रसोई बनाना शूद्र का काम—इस प्रसंग में प्रथम संस्करण में लिखा है—"रसोई के बनाने में बड़ा परिश्रम होता है और काल भी बहुत जाता है। इससे रसोई आदिक सेवा का शूद्र को ही अधिकार है।

'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः' ।

—यह आपस्तम्ब २।२।४।४ का सूत्र है ।

आर्यों के घर में **'शूद्र'** अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि-सेवा करें ।

परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहैं । आर्यों के घर में जब रसोई बनावें, तब मुख बाँधके बनावें, क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े । आठवें दिन क्षौर नखछेदन करावें । प्रतिदिन स्नान करके पाक बनाया करें । आर्यों को खिलाके आप खावें ।

[मीठा-मीठी गड़प, कड़वा-कड़वा थू]

प्रश्न—शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं ?

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित झूठी है, क्योंकि जिन्होंने गुड़ चीनी, घृत, दूध, पिसान, शाक, फल-फूल खाया, उन्होंने जानों सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया, क्योंकि जब शूद्र, चमार, भङ्गी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते, छीलते, पीलकर रस निकालते हैं, तब मलमूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते-धरते, आधा साँठा चूस रस पीके आधा उसी में डाल देते, और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं ।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं वे तो विद्यादि प्रचार, प्रजा का धर्म से रक्षण, व्यापार और नाना प्रकार के शिल्प इनकी उन्नति ही में पुरुषार्थ करैं, क्योंकि जो बुद्धि और विद्यायुक्त हैं उनको सेवा करना उचित नहीं । रसोई आदिक जो सेवा मूर्ख पुरुष जो शूद्र उसी का अधिकार है, क्योंकि अग्नि के सामने बैठना, बर्तन माँजना अन्न को शुद्ध करना, नाना प्रकार के पदार्थ बनाना इसमें बड़ा परिश्रम जाता है । इस काम के करने में विद्वान् की विद्या नष्ट हो जाए, इससे यह काम शूद्र ही का है ।"

शूद्र के घर का न खाये—लोकोक्ति के अनुसार 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन ।' चारों वर्णों का खान-पान, रहन-सहन आदि अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप होता है । क्षत्रिय के रजोगुणी भोजन से सात्त्विक ब्राह्मण नहीं बन सकता । इसी प्रकार तमोगुणी शूद्र के भोजन से सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण और रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय नहीं बन सकता । भोजनानुसार ही पात्रादि होते हैं । ब्राह्मण के घर में कुशासन तथा कदली और पलाश आदि की व्यवस्था होगी । क्षत्रिय के घर में राजसी ठाठ होंगे । अपवादों को छोड़कर शूद्र के घर में प्रायः पुरानी हाँडी आदि में पके और उसी से मिलते-जुलते अस्वच्छ पात्र में लाये गये भोजन को खाकर द्विज की सात्त्विक वा राजसी वृत्ति को आघात लगे बिना नहीं रहेगा । इसी भावना से ग्रन्थकार ने इस बात का उल्लेख किया है ।

आर्याधिष्ठिता०—यह आपस्तम्बधर्मसूत्र प्रपा० २, पटल २, खण्ड ४ के चतुर्थ सूत्र का पाठ है । मूर्ख से तो कोई भी काम नहीं कराना चाहिए और रसोई का काम तो मूर्ख को कदापि नहीं सौंपना चाहिए । इसलिए यहाँ 'मूर्ख' शब्द का अर्थ 'अनपढ़' समझना चाहिए । भोजन के अनुरूप ही मुख से गन्ध निकलती है । शूद्र के घर में खाये जानेवाले भोजन के दुर्गन्धयुक्त होने की सम्भावना के कारण ही उसके मुख पर कपड़ा बाँधने का निर्देश किया है ।

क्षौरादि—इस विषय में बौधायन धर्मशास्त्र प्रश्न १, अ० ५, सूत्र ८६ के अनुसार **'शूद्राणामार्याधिष्ठिता-नामर्धमासि मासि वा वपनम्'** मास में एक बार या दो बार क्षौर, नखछेदनादि कराना चाहिए । चरकसंहिता सूत्रस्थान ८।१६ में पक्ष (१५ दिन) में तीन बार अर्थात् पाँचवें दिन क्षौर आदि का विधान किया है । ग्रन्थकार

जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं। दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते, और आटा पीसने के समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते, और पसीना भी आटे में टपकता जाता है, इत्यादि और फल-मूल-कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सब के हाथ का खा लिया।

[क्या अदृष्ट में दोष नहीं ?]

प्रश्न—फल-मूल-कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं मानते।

उत्तर—वाहजी वाह ! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल-राख खाते ? गुड़-शक्कर मीठी लगती, दूध-घी पुष्टि करता है, इसीलिए यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है ? अच्छा जो अदृष्ट में दोष नहीं' तो भङ्गी वा मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे, तो खा लोगे वा नहीं ? जो कहो कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है। हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है, परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता।

ने मध्यम मार्ग अपनाकर ८वें दिन क्षौरादि का निर्देश किया है। इस प्रकरण का इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि शुद्ध, स्वच्छ मनुष्य के हाथ शुद्ध-स्वच्छ बर्तनों में बना और परोसा गया भोजन ही खाना चाहिए, चाहे वह कोई भी मनुष्य हो।

यहाँ यह कहा जाता है कि शूद्रस्तरीय व्यक्ति सम्पन्न घरों में विविध प्रकार के व्यंजन नहीं बना सकता, क्योंकि वह पाकविद्या में निपुण नहीं होता। मनु ने लिखा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ —२।१६८

अर्थात् जो द्विज वेदाध्ययन में प्रवृत्त न होकर अन्यत्र अर्थात् अन्य कार्यों में श्रम करता है, उसकी शूद्र संज्ञा है। ऐसा व्यक्ति वेदशास्त्र में पारंगत न होकर पाकविद्या में निष्णात हो सकता है। 'आर्याधिष्ठिताः' का अर्थ है आर्यों के निरीक्षण अथवा मार्गदर्शन (Supervision) में काम करनेवाले। इसलिए सूत्रकार का कथन है—**'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः।'** गृहस्थ महिलाएँ अपनी देखरेख में नौकरों से सब प्रकार के काम (जिनमें रसोई बनाना भी शामिल है) कराती हैं, यह सबके अनुभव का विषय है। पानी भरकर लाना, बर्तन माँजना, कपड़े धोना तो अब सामान्य गृहस्थों के यहाँ भी नौकरों (शूद्रों) का ही काम हो गया है। फिर शूद्र के लाये जल से उसी के हाथों से माँजे-धोये गये बर्तनों में बनाये और परोसे गये भोजन को अछूत मानने में क्या तुक है ?

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आर्यसमाज का अंग होने से शास्त्रानुसार प्रायः मांसाहारी नहीं होते, जबकि म्लेच्छ, चाण्डाल, मुसलमान, ईसाई आदि आर्यमर्यादा के विपरीत आचरण करने से प्रायः मद्य-मांसाहारी होते हैं। जैसा भेद ब्राह्मण और चाण्डाल में है, वैसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में आपस में नहीं, इसलिए शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चाण्डालादि (जिनका शरीर प्रायः अभक्ष्य पदार्थों के परमाणुओं से बना होता है) के पाक का वर्जित करना सर्वथा युक्तियुक्त है।

यहाँ लिखा है—'आर्यों को खिलाके आप (पाचक) खावें।' इसके विपरीत 'पञ्चमहायज्ञविधि' (बलिवैश्वदेवयज्ञ के अन्त में) में लिखा है-"माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके

[केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार न होगा]

जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है, परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जबतक बुरी बातें नहीं छोड़ते, और अच्छी बातें नहीं करते, तबतक बढ़ती के बदले हानि होती है।

[विदेशियों के राज्य होने के कारण]

विदेशियो के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण-आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषाणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

[आपस की फूट का फल]

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं, उनको भी भूल गये ? देखो, महाभारत-युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु **अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा, वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।**

पश्चात् गृहस्थ को भोजन करना चाहिए।" 'पञ्चमहायज्ञविधि' की रचना विशेषतः यज्ञों का विधान करने के लिए हुई है, इसलिए हमारी सम्मति में इस प्रसंग में उसका कथन मान्य होना चाहिए।

खान-पान एक होने से एकता नहीं हो सकती। प्रतिदिन होनेवाली घटनाएँ ग्रन्थकार के इस कथन को पुष्ट करती हैं। एक ही थाली में भोजन करनेवाले सहोदरों में झगड़े होते हैं। बिरादरी के आधार पर रोटी-बेटी एक होने पर भी लोगों में सिर फुटौवल होता है। कौरव-पाण्डवों के बीच खान-पान के आधार पर कोई मतभेद नहीं था। सन् १९२५ में कोकोनाडा में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक ही गिलास से एक-दूसरे का जूठा पानी पिया, किन्तु फिर भी एकता के स्थान पर एक-दूसरे के प्रति घृणा में वृद्धि ही हुई। इस घृणा का पर्यवसान अन्ततः १९४७ में देश के विभाजन में हुआ। वर्त्तमान में भारतीय संविधान के अनुसार छुआछूत दण्डनीय अपराध है। क्लबों होटलों और ढाबों में सबके साथ समान व्यवहार होता है। रेलवे-स्टेशनों पर हिन्दू-पानी, मुस्लिम-पानी की आवाज़ लगना कभी का बन्द हो चुका। पंजाब में हिन्दुओं और सिखों में विवाहसम्बन्ध बेरोक-टोक होते रहे। यह सब-कुछ होने पर भी कौन कह सकता है कि आज देश में पहले की अपेक्षा अधिक एकता है ?

महाभारत का समय—ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व द्वापर का अन्त तथा कलिसंवत् का प्रारम्भ हुआ। युधिष्ठिर ने ३८ वर्ष राज्य किया। ३१०२ में ३८ जोड़ने पर युधिष्ठिर-संवत् का प्रारम्भकाल ३१४० वर्ष होगा। यही महाभारत-युद्ध की समाप्ति का काल है। इस प्रकार आज से ३१४०+१९९०=५१३० वर्ष पूर्व महाभारत का युद्ध हुआ था। विस्तृत जानकारी के लिए देखें—चिन्तामणि वैद्यकृत 'महाभारत-मीमांसा' तथा पं०

[भक्ष्याऽभक्ष्य के दो भेद]

भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है। एक—**धर्मशास्त्रोक्त**, दूसरा—**वैद्यकशास्त्रोक्त**। जैसे धर्मशास्त्र में—

'अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च' ॥ —मनु० ५।५॥

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन विष्ठा-मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक-फल-मूलादि न खाना चाहिए।

'वर्जयेन्मधुमांसं च' । —मनु० २।१७७

जैसे अनेक प्रकार के मद्य गांजा भाँग अफीम आदि। जो-जो—

'बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते' । —शार्ङ्गधर आ० ४, श्लोक २५

बुद्धि का नाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें। और जितने अन्न सड़े-बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए, और मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उसके हाथ का न खावें ॥

भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' पृ० २१२। पाश्चात्यों द्वारा निर्धारित काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व कल्पनाप्रसूत है।

भक्ष्याभक्ष्य-मीमांसा—मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके दाँत और आँतों को देखकर डॉक्टरों ने निर्णय किया है कि मनुष्य की स्वाभाविक खुराक फल ही है। डॉक्टर लुई कुन्हें के हवाले से पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल, फूल और कन्द आदि हैं। स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविध भाँति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ा है कि जिस वस्तु को देखकर हमें घृणा होनी चाहिए, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। इस विषय में पशु ही हमसे अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं वे मांस की तरफ देखते भी नहीं और जो मांस खाते हैं, वे घास की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। इसी प्रकार फल और कन्द आदि के खानेवाले जीव भी उन पदार्थों को छोड़कर घासपात नहीं खाते और प्यास लगने पर भी सोडावाटर और मद्य नहीं पीते, परन्तु मनुष्य एक विलक्षण पशु है। वह घास-पात, फल-फूल, मांस-मदिरा, सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर बन जावे? भोजन के अनुसार स्थलचर पशुओं के तीन भेद हैं—मांसभक्षी, वनस्पतिभक्षी, और फलभक्षी। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जन्तु हैं, वे सब मांसभक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है। इसीलिए उनके दाँत लम्बे, नुकीले और दूर-दूर होते हैं। इस प्रकार के दाँतों से ये जीव मांस को फाड़कर निगल जाते हैं। उनके दाँतों की रचना से यह सूचित होता है कि ईश्वर ने इन्हें मांस खाने के ही लिए वैसे दाँत दिये हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जीव वनस्पतिभक्षी हैं। इसीलिए ईश्वर ने उनके दाँत ऐसे बनाये हैं, जिससे वे इन दाँतों से घास को सहज ही काट सकें। उनके दाँतों की रचना ही उनके वनस्पतिभक्षी होने का प्रमाण है, किन्तु मनुष्य के दाँत न तो मांसभक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घासभक्षी पशुओं से ही। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है, जैसी बन्दर आदि फलभोगी जीवों की होती है। इसलिए यह बात निर्विवाद है, निर्भ्रान्त है और निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दाँत फल खाने ही के लिए बनाये हैं, परन्तु हम लोग जब उनसे मांस और मछली काटने लगे हैं, आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं, इसपर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है।

मांसभक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अँतड़ियाँ ३ से लेकर ५

[गाय आदि की हिंसा से हानि, और रक्षा से लाभ]

जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा होती है[1], इसलिए मांस का भक्षण कदापि न करें, अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल-गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है, वैसे पशुओं को न मारें न मारने दें। जैसे किसी गाय से बीस सेर, किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे, उसका मध्य भाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने तक दूध देती है। उसका भी मध्य भाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्मभर के दूध से २४,९६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं।

गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। वनस्पतिभक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है। वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं! अब रहे फलभक्षी जीव। उनका मेदा मांसभक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से १० से लेकर१२ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों में मनुष्य का मिलान कीजिए। सिर से लेकर रीढ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १ से २ फुट तक होती है और मनुष्य की अन्तड़ियों की लम्बाई १६ से २८ फुट तक होती है, अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेके रीढ के छोर तक) की लम्बाई से १० से १२ गुणा तक अधिक हुई। यहाँ भी फलभक्षी पशुओं से मनुष्यों की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अन्तड़ियाँ फल खानेवाले पशुओं ही की-सी निकलीं। अतएव मनुष्य के फलभक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ।

इसी तरह 'Odontography' नामी ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१ में प्रोफेसर Owen कहते हैं कि मनुष्यों के दाँत वनमानुष और बन्दरों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं और इनका भोजन फल, अन्न एवं मेवा एक ही प्रकार का है। इन चौपायों और मनुष्यों के दाँत-सम्बन्धी सादृश्य से विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के लिए स्वाभाविक भोजन फल ही निर्माण किया गया था। इसी सम्बन्ध में लिनाकुस (Linnacus) कहते हैं कि फल, मूल मनुष्यों के लिए अत्यन्त हितकर भोजन है, जो चौपायों से प्रकाशित होता है, तथा जंगली मनुष्य और लंगूरों के सादृश्य एवं उनके मुख, पेट और हाथों की बनावट से भी प्रकट है। इसी तरह डॉक्टर एब्रामाउस्की, जो एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं और जिन्होंने सब रोगों की एक ही सहज दवा निकाली है, लिखते हैं कि हम जो पका हुआ, रँधा हुआ, भुना हुआ, कृत्रिम भोजन करते हैं वह हमारे लिए बहुत ही अस्वाभाविक है। हमारे शरीर के बढ़ने तथा पुष्टि पाने के लिए प्रायः ऐन्द्रिक पदार्थों (Organic Matter) की ही आवश्यकता होती है। फलों तथा अनाजों में वह बहुतायत से विद्यमान रहता है, किन्तु यदि फलों तथा अनाजों को अग्नि में पकाया जावे तो उनका बहुत-सा ऐन्द्रिक अंश पृथक् हो जाता है। शेष पदार्थ न केवल मुश्किल से पचनेवाला ही होता है, किन्तु पचकर हमारे शरीर के लिए कुछ लाभ भी नहीं दे सकता। जब ऐसा भोजन करने में बहुत-सा अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर में घर कर लेता है, तब अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। प्रायः सभी आन्तरिक रोगों की उत्पत्ति इसी निकम्मे पदार्थ के एकत्रित हो जाने से होती है, अतः इन सब रोगों का एक यही इलाज है कि किसी प्रकार वह अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर से निकल जाए और नया प्रवेश न करे। ऐसा होते ही वे रोग स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। इसीलिए प्रायः नई सम्मति के चिकित्सक लोग भी रोगियों से उपवास करवाते हैं। उन्हें कई दिन तक सिवा गर्म पानी के और कुछ नहीं देते। यह ओषधि प्रायः बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। यथाशक्ति उपवास से प्रायः रोग

१. यह प्रकरण ग्रन्थकार ने 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ में अति विस्तार से लिखा है।

उसके छः बछियाँ छः बछड़े होते हैं। उनमें से दो मर जाएँ तो भी दश रहे। उनमें से पाँच, बछिड़ियों के जन्मभर के दूध को मिलाकर १,२४,८०० एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल, वे जन्मभर में ५००० पाँच सहस्र मन अन्न न्यून-से-न्यून उत्पन्न कर सकते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे, तो अढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिलाकर ३, ७४, ८०० तीन लाख चौहत्तर सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिलके एक गाय की एक पीढ़ी में ४, ७५, ६०० चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ[1] मनुष्य एक बार पालित होते हैं और पीढ़ी-पर-पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें, तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है।

दूर हो जाता है, किन्तु ओषधि के करने में एक डर यह है कि कभी बहुत दिन तक शरीर को आधारभूत पदार्थ न मिलने से रोगी इतना निर्बल हो जाता है कि वृद्धि होने की जगह धीरे-धीरे क्षय का राज्य हो जाता है, और रोगी थोड़े ही दिनों में मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसलिए खाली उपवास के स्थान में फलोपवास अधिक उपयोगी है, क्योंकि फलों के खाने से कोई अनुपयोगी पदार्थ शरीर में नहीं घुसता और बल प्राप्त होता है, रोग नष्ट हो जाता है और शक्ति नहीं घटती।'[2]

इन विदेशीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य की आदिम और मौलिक खूराक फल ही है और फलों के सेवन से मनुष्य कभी बीमार तो होता ही नहीं, प्रत्युत यदि बीमार हो भी तो अच्छा हो जाता है और सुदृढ़ तथा दीर्घजीवी हो जाता है। इसीलिए आर्यों ने अपनी मूल सभ्यता में फल और दूध ही को स्थान दिया है और कृषि को तथा कृषि से उत्पन्न होनेवाले अन्नों को आपत्काल में खाने की व्यवस्था की है। व्रतों और उपवासों में फलाहार की महिमा से तथा आर्यरिवाजों और आर्यसभ्यता में पिरोई हुई विशेषताओं से यही सूचित होता है कि आर्यों का आहार सात्त्विक ही है, जिसमें फल दूध, और घृत की ही प्रधानता है।

राम, लक्ष्मण, भरत और सीता फलाहार करके ही तपस्वी जीवन निर्वाह करते थे। गुहराज के आतिथ्य करने पर रामचन्द्र कहते हैं कि—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥

—वाल्मीकि रा० आयोध्या० ५०।४४

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए, तापस भेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल-फूल ही खाकर रहता हूँ। भरत ने भी कहा है कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरोम्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥ —वाल्मीकि रा० अयोध्या० ५०

अर्थात् मैं भी चौदह वर्ष तक जटा धारण करके और फल-मूल ही खाकर रहूँगा।

---

१. यहाँ संख्या में भूल है। शुद्ध संख्या ३९९७६० तीन लाख निन्यानवें सहस्र सातसौ साठ होनी चाहिए। यथा—गाय की पाँच बछियाओं के दूध से १२४८० मनुष्य एक बार में तृप्त होते हैं, ५ बैलों से उपजाये अन्न से २५०००० अढ़ाई लाख मनुष्य पालित होते हैं। दोनों (५ बछियाँ+५ बैल) को मिलाकर दूध अन्न से ३७४८०० मनुष्यों तृप्त होते हैं। इस में प्रथम गाय के दूध से पालित २४९६० चौबीस सहस्र नौ सौ साठ संख्या मिलाई जाए, तो योग ३७४८००+२४९६०=३९९७६० बनता है। इस प्रकार यहाँ योग में ७५८४० संख्या का भेद प्रत्यक्ष है। इका कारण चिन्त्य है।

2. Linnasi Amoonitales Academical, Vol. X, P.8

लक्ष्मण भी कहते हैं कि—

आहरिष्यामि ते नित्यं फूलानि च फलानि च ।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥

—वाल्मीकि रा. आयोध्या. ३१।२६

अर्थात् आपके लिए तपस्वियों के से वन्य पदार्थ लाकर दूँगा और मैं भी फल-फूल-ही खाकर रहूँगा। इसी तरह अयोध्याकाण्ड २७।१६ के अनुसार सीताजी भी कहती हैं कि—

'फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः ।'

अर्थात् मैं सदैव फल-मूल ही खाकर रहूँगी, इसमें सन्देह नहीं।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष तक फूल-फल खाकर वृद्ध नहीं किन्तु जवान आदमी भी रह सकते थे और बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करते थे। अब भी युक्तप्रान्त के बैसवाडे में आम की फसल पर तीन महीने केवल आमों को ही खाकर लोग पहलवानी करते हैं। कहने का मतलब यह है, कि आर्यसभ्यता के उच्चादर्श के अनुसार मनुष्य की खुराक फल, फूल, दूध, दही ही है। अन्न तो यज्ञशेष पुरोडाश ही के नाम से खाया जाता था। पर जब खेती बढ़ी और जंगलों का नाश हुआ तब लोग अन्नवाली ज़मीन का आश्रय करने लगे। कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत वनपर्व अध्याय १९० में लिखा है कि—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥

अर्थात् जिन देशों में यव और गेहूँ आदि विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग उन्हीं देशों का आश्रय लेंगे। इससे ज्ञात होता है कि दूसरे युगों में लोग उन देशों का आश्रय लेते थे, जहाँ फूल-फल ही अधिक हों, अन्न नहीं। यही कारण है कि हिन्दूजगत् में फलाहार की अब तक जितनी प्रतिष्ठा है, उतनी दूसरे खद्य की नहीं है। फलाहार एक प्रकार का महान् उच्च आचरण और तप समझा जाता है। यही नहीं, किन्तु जितने व्रत, शुभ अनुष्ठान अर्थात् सतोगुणी कार्य हैं, सबमें फलाहार ही का विधान है। इसका भाव स्पष्ट है कि फलाहार सात्विक आहार है। इसलिए सतोगुणी अनुष्ठानों में उसका उपयोग होता है। इसी से हम बलपूर्वक कहते हैं कि आर्य-भोजन फलाहार ही है। इस आर्य-भोजन की अधिक प्रतिष्ठा का कारण यह है कि फलाहार कामचेष्टा का भी प्रतिषेधक है। कोई मनुष्य यदि ब्रह्मचारी रहना चाहे, तो उसे फलाहार ही करना चाहिए। फलाहार से कामचेष्टा कम हो जाती है। इसलिए विधवा स्त्रियों को फलाहार के द्वारा काम को शरीर में ही शोषण करने के लिए मनु भगवान् ने विधान किया है[1]। इसके अतिरिक्त फल और फूलों[2] से मनुष्य का सारा जीवन निर्विघ्नता से बीत सकता है। आज भी साल के तीन मास हमारे अवध के वैसवारा प्रान्त में आम, महुवा और जामुन से ही काटे जाते हैं। ज्येष्ठ से भाद्रमास तक, आम, महुवा और जामुन के कारण बहुत-से घरों में चूल्हा जलता ही नहीं है, पर कोई भूख से व्याकुल या दुर्बल दिखलाई नहीं पड़ता। यह तो हुई आर्यशास्त्र और आर्यावर्त्त की बात। अब हम दूसरे देश के प्रमाणों से भी दिखलाना चाहते हैं कि फलहारी लोग कितने बलवान्, परिश्रमी और दीर्घकाय होते हैं। एक ही प्रकार फलों को खाकर मनुष्य की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए सीरिया प्रान्त के अस्सद याकूब

१. **कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ (मनुस्मृति)**
२. शास्त्रों में फूलों के खाने का वर्णन है। फूलों में महुवा एक विशेष लाभदायक फूल है।

कयात नामी एक विद्वान् ने अपने भाषण में कहा है कि मैं लेबेनन पर्वत पर गया था। वहाँ मैंने मनुष्यों को राक्षसों की भाँति बलवान् और चंचल देखा। ये लोग केवल खजूर पर ही निर्वाह करते हैं। इनमें से अनेक की आयु एक सौ दश वर्ष की थी।[1]

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब एक प्रकार के फल से इतना लाभ है, तो नाना प्रकार के फलाहार से बहुत बड़ा लाभ सम्भव है। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य फलों के द्वारा अच्छी प्रकार निर्वाह कर सकता है और फलाहार से दीर्घायु, दीर्घकाय और बलवान् भी हो सकता है। जो लोग समझते हैं क फलाहार से मेहनत करने की ताकत नहीं रह जाती, वे भी ग़लती पर हैं। सन् १६०२ में जर्मन के विटसनटाइड नामक स्थान में अन्तरजातीय पैदल दौड़ हुई थी। यह दौड़ ड्रस्डन से बर्लिन तक १२४॥ मील लम्बी थी। दौड़नेवाले सब ३२ आदमी थे। मौसम गर्मी (अर्थात् १८वीं मई सन् १६०२) का था। दौड़नेवाले ड्रस्डन से ७॥ बजे निकले। इनमें कुछ फलाहारी, कुछ शाकाहारी और कुछ मांसाहारी थे। शाकान्नाहारियों में बर्लिन का प्रसिद्ध चलनेवाला कार्लमान भी था। बर्लिन में जो सबसे पहिले पहुँचनेवाले ६ मनुष्य थे, वे तो शाकान्न और फलाहारी ही थे। इनमें कार्लमान प्रथम था। कार्लमान ने २६ घण्टे और ५८ मिनट में यात्रा समाप्त की थी। दौड़ की समाप्ति पर वह बिल्कुल तरोताज़ा था, किन्तु बड़े-बड़े प्रसिद्ध मांसाहारी पहलवान थकावट से चकनाचूर होकर पहुँचे थे। यह घटना बतलाती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं प्रत्युत फलाहारी है।

यज्ञों में पशुबलि का विधान होने के नामपर प्राचीन आर्यों के मांसाहारी होने की कल्पना की गयी है। यह नितान्त मिथ्या है।

व्याकरणानुसार यज्ञ शब्द **यज** धातु से नङ् प्रत्यय होकर बनता है। यज धातु के देवपूजा, दान और संगतिकरण ये तीन अर्थ हैं—**'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'**। तदनुसार संसार में जितने भी शुभ और उपयोगी कर्म हैं, उन सबको यज्ञ कहते हैं। शतपथब्राह्मण (१।७।४५) के अनुसार यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**। इसका अभिप्राय यह है कि जितने श्रेष्ठ कर्म हैं, उनकी संज्ञा यज्ञ है। यज्ञ से समस्त, प्रकृति, समस्त मनुष्य, पशु-पक्षी और समस्त कीट-पतंगों की समानरूप से तुष्टि होती है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त आर्यों के सम्पूर्ण क्रियाकलाप यज्ञ के अन्तर्गत हैं। मनुस्मृति में कहा है—**"दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्"** (३।७५)। अर्थात् यज्ञ में प्रवृत्त मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। अग्निहोत्र से जलवायु की शुद्धि होकर भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और इस प्रकार यज्ञ से सबका कल्याण होता है। ऐसे सर्वहितकारी कृत्य में किसी प्रकार की हिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी आम धारणा यह बनी हुई है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण वेदों के वास्तविक अर्थों को न समझना है।

बहुत दिन हुए, भारत के प्रसिद्ध विद्वान्, दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नाम का एक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसमें 'श्रुति में गणेश' शीर्षक अध्याय में **'गणानां त्वा..... गर्भधम्'** (यजुः० २३।१६) इस मन्त्र का महीधर और उव्वट के भाष्य के अनुसार अर्थ देकर उन्होंने लिखा —"इस अर्थ को देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं।" इस अर्थ और उससे होनेवाले

१. Assad Yakoob Kayat, a native Syrian, in a speech at Exeter Hall (16th May 1838) remarked that he had lately visited Mount Lebanon, where he found the people as large as giants and very strong and active. They lived almost entirely on dates and there were many among them one hundred and ten years of age.

—Fruits and Farinacea

कृत्य को अत्यन्त अश्लील और बीभत्स मानते हुए उसकी भर्त्सना की, परन्तु 'दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं' लिखकर इस सबके लिए उन्होंने वेद को ही दोषी ठहराया। तब हमने अपने पत्र दिनाँक ६ फरवरी १९५१ में उन्हें लिखा—"आप महीधर और उव्वट के अर्थ को अश्लील और बेहूदा मानते हुए उसे प्रामाणिक मानते हैं। यदि आप वेदों को महीधर और उव्वट के चश्मे से देखेंगे तो वेदों में सर्वत्र हिंसा, व्यभिचार, चोरी, जुआ, मद्यपान आदि सब-कुछ मिलेगा। तब आपके ही ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध वेदों के स्तुतिपरक वचनों का उनके साथ कैसे सामंजस्य होगा ? जहाँ तक महीधर आदि के वेदार्थ का सम्भन्ध है, उसका आधार वैदिक व्याकरण व कोश न होकर प्रचलित लौकिक संस्कृत के व्याकरण व कोश हैं। फलतः अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ हो गया है। खेद है कि आप जैसे मनीषी भी उनके भ्रमजाल में फँस गये और आपने यहाँ तक लिख डाला कि इस मन्त्र का दूसरा अर्थ सम्भव नहीं।

यह ठीक है कि शतपथब्राह्मण में यह मन्त्र अश्वमेध के प्रसंग में आया है, परन्तु वहीं (शतपथ में) **'अश्वमेध'** का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** अर्थात् राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास करने को अश्वमेध कहते हैं। इस सन्दर्भ में महीधर का किया अश्लील और हिंसापरक अर्थ कैसे फिट बैठ सकता है ? वेद के प्रत्येक मन्त्र की देवता या प्रतिपाद्य विषय होता है। इस मन्त्र (**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे**) की देवता 'गणपति' है और इससे आगे पीछे के मन्त्रों की देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय राजा, प्रजा, राजप्रजे, सभासद्, न्यायाधीश आदि हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसका सम्बन्ध देश की शासन-व्यवस्था से है। वहाँ 'गणपति' पद राष्ट्रपति का पर्याय है। गणतन्त्र या गणराज्य के सर्वोच्च शासक को राष्ट्रपति की जगह गणपति नाम देना अधिक सार्थक है। वस्तुतः प्रसंग प्राप्त इस मन्त्र में राष्ट्रपति में अपेक्षित गुणों या योग्यताओं का उल्लेख हुआ है।" तदनुसार हमने इस मन्त्र का पूरा अर्थ उन्हें लिख भेजा।

श्री सम्पूर्णानन्दजी ने अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ में लिखा—"यह मन्त्र राजप्रजे दैवत हो सकता है और उसका अर्थ भी वह हो सकता है जो आपने लिखा है, परन्तु जब मुझे उन प्रथाओं और मान्यताओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातनधर्मावलम्बी लोगों में प्रचलित हैं तो मैं उनके सामने उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ जिनको वे प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को रखता हूँ जिन्हें वे स्वीकार करते हैं। मेरे तर्क का रूप यह है—मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, पर आप लोग उव्वट और महीधर के भाष्य को प्रमाण मानते हैं। उन दोनों ने इसे अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में उसका विनियोग किया है, अतः आपके माने आचार्यों के अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप भी गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते, अतः आपके माने हुए प्रमाणों के अनुसार भी वेद गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।"

यहाँ तक तो ठीक था, परन्तु जहाँ उन्होंने वेदों में वर्त्तमान में प्रचलित गणेशपूजन को अपने ढंग पर अवैदिक सिद्ध किया वहाँ प्रसंग न होने पर भी इतना और लिख दिया—"अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक काल में भी मद्य-मांस आदि का व्यवहार होता था, और पशुबलि भी होती थी।" परन्तु अपनी मान्यता की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। सच तो यह है कि शतशः प्रमाणों से यह सिद्ध है कि न आर्य लोग मांस-मदिरा का प्रयोग करते थे और न यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा होती थी।

संसार के सभी धर्मग्रन्थ इस बात की पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के आदिकाल में मानवों का भोजन कन्द-मूल-फल और कृषि द्वारा उत्पन्न अन्नादि ही था। दुर्जनतोषन्याय से, यदि विकासवाद के अनुसार, यह

मान लिया जाए कि विकासक्रम में मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से हुई तो इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पूर्वज पहले तो फलाहारी थे ही, आज भी मांसाहारी नहीं हैं। जितने निरामिषभोजी पशु हैं, वे भूखे मर जाएँगे, पर मांस नहीं खाएँगे। वस्तुतः मनुष्य स्वभावतः मांसाहारी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके दाँतों और आँतों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है। मांसाहारी भी इस रूप में निरामिषभोजी हैं कि वे प्रायः निरामिषभोजी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारी पशुओं का नहीं।

यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में **अध्वर** शब्द का प्रयोग चारों वेदों में सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद—१।१।४ ; १।१।८ ; १।१४।२१ ; १।१६।१ ; १।४४।१३ ; १।७४।१ ; १।६३।१२ ; १।१०१।८ ; १।१२८।४; १।१३५।३ ; १।१५१।३ व ७ ; २।२।५ ; ३।१७।५ ; ३।२०।१ व ५ ; ३।२४।२ ; ३।५४।१२ ; ४।२।१० ; ४।६।६ ; ४।१५।२ ; ४।३७।१ ; ५।४।८ ; ५।२८।३ व ६ ; ५।४४।५ ; ६।२।३ ; ६।१६।२ ; ७।३।१ ; ७।४।१६; ८।३।५ व ७; ८।२७।१; ८।२७।२३; ८।४६।१८; ८।५०।५; ८।६६।१ ; ८।७०।२ ; ८।७१।१२ ; ८।६३।२३ ; ६।६७।१; १०।७७।८ ; १०।२२।७ ।

यजुर्वेद में अध्वर शब्द का प्रयोग कम-से-कम ४३ स्थानों पर मिलता है।

उदाहरणार्थ—२।४ ; ३।११ ; ६।२३ ; ६।२५ ; १५।३८ ; २६।२६ ।

सामवेद में अध्वर शब्द का प्रयोग निम्नांकित तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—पूर्वार्चिक—१।२।६ ; १।३।१ ; १।३।१२ ; २।२।६ ; १।६।७ उत्तरार्चिक—६।३।४।२, ६।३।५।१ ।

अथर्ववेद में उदारणतः ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं—१।४।२ ; २।२४।३ ; ५।१२।२; ३।१६।६ ; १८।२।२ ; १६।४२।४।

निघण्टु पठित **'ध्वृ'** धातु हिंसार्थक है। 'अध्वर' में उसका निषेध है, अर्थात् 'नञ् पूर्वक ध्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ है। अध्वर शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः । —(निरुक्त १८।८)

अर्थात् यज्ञ का नाम अध्वर है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है।

इस प्रकार यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। यज्ञ में पशु-वध होने पर 'अध्वर' शब्द सार्थक नहीं हो सकता।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जिनमें स्पष्टतः पशुरक्षा का निर्देश किया है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१।१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है—**'पशून् पाहि'**, पशुओं की रक्षा करो। इसी मन्त्र में गौ को **'अघ्न्या'** (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद ६।११ में पति-पत्नी के लिए आदेश है—**'पशूंस्त्रायेथाम्'** पशुओं की रक्षा करो। वहीं १४।८ में कहा है—**'द्विपादव चतुष्पात् पाहि'** अर्थात् दो पैरोंवाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरोंवाले (पश्वादि) की रक्षा करो।

पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वाक्य भी यत्र-तत्र-अनेकत्र मिलते हैं। उदारणतः—

मा गामनागामदितिं वधिष्ट । —ऋ० ८।१०१।१५

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
योऽघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ —ऋ० १०।८७।१६

जो राक्षस मनुष्य के मांस और घोड़े आदि पशुओं के मांस से प्रसन्न होता है, हे अग्ने (परमात्मन्)! आप उसका शिरश्छेद कर दें।

ऋग्वेद में गोवध को मनुष्यवध जैसा अपराध घोषित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति यह अपराध करता है, उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए—

आरे गोहा नृहा वधो वोऽस्तु ....। —ऋ० ७।५६।१७

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् । —ऋ० १।११४।१०

इसी प्रकार अथर्ववेद में गौ, अश्व और पुरुष का हनन करनेवालों को समानरूप से गोली से उड़ा देने का आदेश दिया गया है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामः .... ॥ —अथर्व० १।१६।४

यजुर्वेद में पशुओं के मारे जानेपर प्रतिबन्ध लगाते हुए कहा है—

मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः । —यजुः० १२।३२
इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् । —१३।४७
मा मा हिंसीरदितिं विराजम् । —१३।४३
घृतं दुहानामदितिं जनाय ...... मा हिंसीः । —१३।४६
अन्तकाय गोघातम् । —३०।४८
इमं मां हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । —१३।४८

अथर्ववेद मांस और अण्डा खानेवालों का नाश करने की आज्ञा देता है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ —अथर्व० ८।६।२४

मांसाहार को सुरापान, जुआ खेलने और व्यभिचार करने के समान पाप समझा गया है—

यथा मांसं यथा सुरा यथा अक्षा अधि देवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥ —अथर्व० ६।७०।१

अर्थात् जैसा मांस, जैसा मद्य और जैसा जुआ है, उसी प्रकार पुरुष का मन स्त्री में (लीन होने पर) मारा जाता है।

इसके विपरीत पशुओं से होनेवाले लाभों का वर्णन वेदों में इन शब्दों में मिलता है—

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥

—अथर्व० १९।३१।५

मैं पशुओं से पुष्टि लेता हूँ, द्विपदों और चतुष्पदों से भी पुष्टि लेता हूँ और उनसे धान्य भी लेता हूँ। पशुओं से दूध, ओषधियों (वृक्षादि) से रस लेता हूँ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ । —अथर्व० ४।२७।३

गौओं से दूध, ओषधियों से रस और घोड़ों से (यात्रा में) वेग कवि लोग प्राप्त करते हैं

आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् । —अथर्व० २।२६।५

मैं गौओं से दूध लेता हूँ तथा (भूमि) से धान्य तथा रस लेता हूँ।

संसिचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् । —अथर्व० २।२६।४

मैं गौओं से दूध-सिञ्चन करता हूँ तथा घी से बलवर्धक रस लेता हूँ।

उपर्युक्त वेदमन्त्र पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि वैदिक आर्य न यज्ञों में पशुहिंसा करते थे और न

मांसाहार करते थे।

वेदों, उनके व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में अनेकत्र **संज्ञपन, अवदान, आलम्भ** तथा **मेध** शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिनका अर्थ 'मारना' मानकर वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थानों पर स्पष्टतः हिंसारहित कर्म के वाचक **'अध्वर'** नाम से अभिहित यज्ञों में पशुबलि के विधान की कल्पना कर ली गयी है। **'संज्ञपन'** शब्द सम् पूर्वक णिजन्त **ज्ञा** धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। **'देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते'** आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि सम् पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्यक् ज्ञान आदि हैं। अथर्ववेद (६।७४।१-२) के निम्नलिखित मन्त्रों में **संज्ञपन** तथा **संज्ञपयामि** आदि पदों का प्रयोग हुआ है। प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ वहाँ ज्ञान देना-दिलाना या मेल कराना है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥
संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥

अर्थात्—तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन सम्पृक्त हों, व्रत एक-जैसे हों। ब्रह्मणस्पति कल्याणमय प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम से किये श्रम का फल मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ।

इसी प्रकार शतपथ में एक आख्यायिका है, जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए किये गये झगड़े का उल्लेख है। उसमें अन्त में कहा है—

अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद् वै त्वं वेत्थाहं तद् विज्ञापयाम्यहं संज्ञपयामीति।
—१।४।५।१०

वाणी कहती है—बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो ज्ञान है। तेरा वह ज्ञान किस काम का ? जो कुछ तू जानता है, उसे प्रकट तो मैं करती हूँ। मैं ही उसे दूसरों को अच्छी तरह जनाती हूँ—**संज्ञपयामि।**

प्रायः अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञान करना तो है ही, यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से उसका अतिरिक्त अर्थ काटना भी मान लिया जाए तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरणसंगत होगा, वही माना जाएगा। अग्नीषोम में पशुसंज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि, . . . चरित्रांस्ते शुन्धामि, वाक् त आप्यायताम्** आदि जितने भी शब्द हैं, सम्यक् ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं। **'चरित्रांस्ते शुन्धामि'** (तेरा चरित्र सुधारता हूँ) की संगति पशुवध में नहीं, पशुप्रकृति, मूढ़ बालकादि को सम्यक् ज्ञान कराने में ही हो सकती है।

यज्ञों में पशुहिंसा की मान्यता के समर्थक **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** (यजुः० २४।२६) आदि वाक्यों को उद्धृत करते हैं। आलम्भ का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है। चरक (चिकित्सास्थान १६।४) में लिखा है—**"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभुवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।"** अर्थात् आदिकाल में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे।

चरक के इस पाठ में **'समालभनीया'** तथा **'समालम्भनीया'** पदों के प्रयोग से स्पष्ट है कि **'आलभन'** और **'आलम्भन'** ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं। **'लभ'** और **'लम्भ'** इनकी दो स्वतन्त्र धातुएँ हैं। आङ् पूर्वक 'लभ' का अर्थ प्राप्त करना या स्पर्श करना है और आङ् पूर्वक 'लम्भ' का अर्थ मारना है। वेद और वैदिक वाङ्मय में जहाँ-जहाँ पशुयज्ञों का वर्णन मिलता है, वहाँ सर्वत्र **'आलभते'** क्रिया का प्रयोग है और उससे पशु का प्राप्त करना या स्पर्श करना अभिप्रेत है, मारना नहीं।

पशुयज्ञों की संज्ञा **'पशुबन्ध'** है, पशुवध नहीं। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ के अवसर पर पशुओं की प्रदर्शनी के निमित्त पशुओं को यूप से बाँधा-भर जाता था। पशुयागों में यदि पशुओं का वध अभिप्रेत होता तो उनकी संज्ञा पशुवध होनी चाहिए थी। निघण्टु अथवा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में **'आलभ्'** का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७६॥
स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम् । —गौतमधर्मसूत्र २।२२

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिंसा का सर्वथा निषेध करनेवाले श्लोकों में स्त्रियों का आलम्भन न करने का अर्थ स्त्रियों का स्पर्श करने के सिवा और क्या हो सकता है ? प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध करने के बाद स्त्रियों के वध का निर्देश कैसे संगत हो सकता है ?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसमधि हृदयमालभते । —पा० गृह्यसूत्र

पारस्कारगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है—आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने **'आलभते'** का अर्थ **'स्पृशति'** किया है।

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् । —सुश्रुत, कल्पस्थान १।१६
वरो वध्वा दक्षिणांसं अधि हृदयमालभते । —विवाहप्रकरण
कुमारं जातं पुरान्यैर्लम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन आशयेत् ।
—जातकर्म, पा० गृह्यसूत्र

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसाशास्त्र (२।२।७०) की सुबोधिनी टीका में आये **'वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवति'** वाक्य में **'आलम्भ'** का अर्थ स्पर्श करना है। तब **'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए हाथी प्राप्त करता है' करना होगा। इसी प्रकार **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** आदि ब्राह्मणवाक्यों में भी **'आलभेत'** स्पर्श अथवा प्राप्ति का ही द्योतक होगा, न कि मारने का।

'अवदान' शब्द **'डुदाञ् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे'** आदि धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न-भिन्न निमित्तक हवि के लिए प्रयुक्त होता है। वर्तमान मीमांसक लोग इसे **'दो अवखण्डने'** से निष्पन्न मानकर पशु के विभिन्न अंगों को काट-काटकर यज्ञाग्नि में होम करते हैं, परन्तु शतपथब्राह्मण के उपज्ञाता याज्ञवल्क्य स्वयं इस शब्द को 'देङ् रक्षणे' से निष्पन्न मानते हैं। यह सन्दर्भ (शत० का० १ अ० ७) में आये **'तदेनांस्तदवदयते'** से स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम'**—अर्थात् आहुतियों का नाम 'अवदान' इसलिए है, क्योंकि वे रक्षा करती हैं—ऋण के बन्धन से बचाती हैं।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम होता है। वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध शब्द को छोड़कर अन्य किसी शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है। **'मेधृ'** धातु के **'मेधृ संगमे हिंसायां च'** इस धातुपाठ के अनुसार

शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा—ये तीन अर्थ हैं, परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या के विधान की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ तथा **नृयज्ञ** तीनों पर्यायवाची हैं। मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या **'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्'** (मनु० ३।७०) कहकर की गयी है। नृयज्ञ वा नरमेध यज्ञ में मनुष्य की बलि देना अभिप्रेत न होकर उत्तम विद्वानों की पूजा करना है। **मेधृ** धातु के संगमनार्थ को लेकर मनुष्यों को उत्तम कार्य करने के लिए संगठित करना भी नृमेध के अन्तर्गत है। सामवेद के कुछ मन्त्रों का ऋषि (मन्त्रार्थद्रष्टा) नृमेध है। निश्चय ही वह मनुष्यों की बलि चढ़ानेवाला नहीं हो सकता। मनुष्यों में संगतिकरण या मेलमिलाप बढ़ानेवाले की संज्ञा नृमेध हो सकती है।

अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता। शतपथ (१३।१।१६) में कहा है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः', 'वीर्यं वा अश्वः'**, अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है। तब अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के बल व वीर्य की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है। यजुर्वेद (२३।१६-४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधरादि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है, उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः इन मन्त्रों के देवता **गणपति, राजप्रजे, प्रजा, श्री, विद्वांसः, सभासदः** आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का वर्ण्यविषय राष्ट्र और उसकी शासन-व्यस्था है। महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में राजा वसु के अश्वमेध का वर्णन है, जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था। उसके सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—**'न तत्र पशुघातोऽभूत्'**। वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में अजमेध के विषय में लिखा है—

> **अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।**
> **अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ।**
> **नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः ॥**

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है, बकरों का वध करना ठीक नहीं। पशुओं की हत्या करना भले आदमियों का धर्म नहीं है।

वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र गोवध को महापाप माना है। जैसे यज्ञ की संज्ञा ***'अध्वर'*** (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की ***'अघ्न्या'*** (न मारने योग्य) है। अतएव वेद में तथा अन्यत्र गोवध करनेवाले के लिए प्राणदण्ड दिये जाने का आदेश है। ऐसी अवस्था में गोमेध के नाम पर गौ की हत्या करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः गौ शब्द अनेकार्थवाची है। इसलिए गोमेध के 'वाणी का संस्कार करना, धरती को कृषियोग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होनेवाले घी, दूध आदि की वृद्धि करना तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था, आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। अंग्रेज़ी में Agriculture शब्द का अर्थ 'The science and art of cultivating the soil' है। ज़न्दभाषा का गोमेज आर्यों के गोमेध शब्द का ही अपभ्रंश है। पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है, अतः खेती से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलाप का नाम गोमेज है।[1] कृषि के लिए समय-समय पर वर्षा होना आवश्यक है। देवयज्ञ इसमें परम सहायक है। इसलिए आर्यों का जीवन यज्ञमय था।

१. The Parsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of Gomez.
—Essays on the sacred language, writers and religion.

यज्ञ के प्रसंग में जहाँ-कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखनेवाले नाम आये हैं, उन सबका तात्पर्य अन्न से है, चतुष्पाद् पशु से नहीं। वेदों में अन्नमय पशु के होम का ही विधान है। द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है, उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है। अथर्ववेद (१८।४।३२) में लिखा है—

धाना धेनुरभवद्वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत् ।

अर्थात् धान ही धेनु है और तिल उसके बछड़े हैं। धान अनेक प्रकार के होते हैं, अतः अनेक धानों के नाम भी बता दिये गये हैं। अथर्ववेद में लिखा है—

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै ॥

—अथर्व० १८।४।३४

अर्थात् हरिणी, श्येनी, कृष्णा, और रोहिणी आदि धान, धेनु हैं। इनके तिलरूपी बछड़े हमें बल दें। इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषा । अथर्व० ११।३।५
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् । अथर्व० ११।३।७

अर्थात् चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है। चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है।

अन्य सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो आपाततः पशुओं के नाम प्रतीत होते हैं, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों में वे पशुसंज्ञक नाम तथा अवयव वनस्पतियों तथा विशेष ओषधियों के वाचक हैं। इतना ही नहीं, वेद के व्याख्यानग्रन्थों=ब्राह्मणों (प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर) ने भी कतिपय द्व्यर्थक शब्दों का निर्वचन किया है। उदाहणतः शतपथब्राह्मण के अनुसार—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति ।
यदाप आनयति अथ त्वग् भवति ॥
यदा स यौत्यथ मांसं भवति ।
एषा वा संपद्याहुः पांक्तः पशुरिति ॥

अर्थात् आटे की लोम संज्ञा है, पानी मिलने पर वह चर्म कहलाता है और गूँधे जाने पर उसकी संज्ञा मांस होती है। इस प्रकार पके हुए पदार्थ का नाम पशु है। महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात् पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। **मद्य-मांसादि** का प्रचार तो धूर्तों ने किया है, वेदों में यह कहीं नहीं है।

वेदों में यज्ञ के पर्यायवाची किसी भी शब्द के अर्थ से पशुवध या किसी प्रकार की हिंसा का संकेत नहीं मिलता, जबकि अध्वर शब्द से स्पष्टतः यज्ञ में हिंसा का निषेध सूचित होता है। यज्ञ में **'अध्वर्युः'** नाम से एक नियुक्ति भी इसलिए की जाती है कि वह यज्ञ में कायिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा न होने दे—**अध्वर्युः अहिंसं यज्ञमिच्छुः**। इतना ही नहीं, यज्ञवेदी में जल से परिपूर्ण तीन परिखाएँ इसलिए बनाई जाती हैं कि कोई कीड़े-मकौड़े भी अग्नि में गिरकर न जलने पाएँ।

क्या अहिंसा के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करनेवाला समाज, वेदों में मांसाहार के विरुद्ध अकाट्य प्रमाणों के होते हुए, अपने सदस्यों को मांसाहार की अनुमति दे सकता था ? फिर भी समझदार लोगों में यह धारणा बनी हुई है कि प्राचीन आर्य लोग मांसाहारी थे। समझदार लोगों से तात्पर्य यहाँ उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं, समाज में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु जिन्हें मूलग्रन्थ पढ़ने का अवसर नहीं मिला है या वैदिक भाषा पर जिन्हें अधिकार नहीं है। ऐसे लोग अपनी भ्रान्त धारणाओं को बलात् वेदों पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। ऋग्वेद (१०।८५।१३) का प्रसिद्ध मन्त्र है—

सूर्याया वहतुः प्रगात्सविता यमत्रासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

'हन्' धातु का प्रसिद्ध अर्थ हिंसा=वध करना या मारना है, परन्तु पाणिनि के अनुसार इसके निम्नलिखित अर्थ भी हैं—

गति—(जाना, चलाना, प्रेरित करना आदि)।
ज्ञान—(जानना, समझाना, परिचित होना आदि)।
प्राप्ति—(पाना, प्राप्त करना, पहुँचाना आदि)।

उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त **'हन्'** धातु का प्रयोग इन अर्थों में भी होता है—गुणा करना, रक्षा करना, उठाना, ताड़ना, दुःख पहुँचाना, बाधा पहुँचाना, स्पर्श करना, दूर हटाना आदि।

दुर्भाग्य से प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसका 'मारना या वध करना' अर्थ ही लिया है और इस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डाला है। वैदिक इण्डेक्स (खण्ड २, पृष्ठ १४५) में लिखा है—"विवाह-संस्कार के बाद भोजन के लिए बैलों को क़त्ल किया जाता था।"[1]

उक्त मन्त्र का सम्बन्ध सूर्या के विवाह नामक आख्यान से माना जाता है। यह आख्यान भले ही अस्पष्ट हो, परन्तु यह निश्चित है कि मन्त्रान्तर्गत **'सूर्या'** और **'गावः'** इत्यादि सभी पद अलौकिक तत्त्वों के बोधक हैं। समूचे सूक्त के अध्ययन तथा पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए विवेच्य मन्त्र में गोवध की कल्पना नहीं की जा सकती। **'अघासु हन्यन्ते गावः'** का अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि सविता के द्वारा सूर्या के विवाह में दी गयी गौएँ मघा नक्षत्र में सूर्या के प्रति सोम के घर की ओर प्रेरित की जाती हैं। यहाँ **'हन्'** धातु का अर्थ 'मारना' न होकर 'प्रेरित करना' है। वस्तुतः इस मन्त्र में सूर्य की सुषुम्णा रश्मियों के चन्द्रमा के साथ विवाह (मिलन) का आलंकारिक वर्णन है। अथवा मघा नक्षत्र (माघ मास) में सूर्य की किरणें मारी जाती हैं=मन्द पड़ जाती हैं और अर्जुनी नक्षत्र (फाल्गुन मास) में फिर चमक उठती हैं। यहाँ **'गावो हन्यन्ते'** का अभिप्राय गोवध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में सैकड़ों स्थानों पर गौ को **'अघ्न्या=अहन्तव्या'** कहा गया है।

वैदिक भाषा की एक विशेषता यह है कि यहाँ 'कृत्स्न' (सम्पूर्ण वस्तु) के परिचायक शब्द द्वारा उसके अन्वंगों (कृत्स्न से उत्पन्न उसके भागों) का भी बोध होता है।[2] सिद्धान्ततः इस बात को 'वैदिक इण्डेक्स' (खण्ड २, पृष्ठ २३४) में इन शब्दों में स्वीकार किया है—"गो शब्द गौ से बने पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है। गो शब्द प्रायः दूध के लिए आता है, कहीं-कहीं पशु के मांस के लिए भी आता है। कई जगह गो शब्द का अर्थ गोचर्म भी है जिसे धनुष् की डोरी, गुलेल, चाबुक की रस्सी, लगाम या रथ के किसी भाग

१. The marriage ceremony was followed by the slaying of oxen, clearly for food.
२. 'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः" ।—निरुक्त २।२।३।

को बाँधने के लिए एक रस्सी आदि के रूप में बरता जाता है।"[1] यह जानते और मानते हुए भी वे यह लिखने में संकोच नहीं करते कि "मृतक के दाहसंस्कार के लिए एक अनिवार्य कार्य के रूप में गोवध आवश्यक होता था, क्योंकि गोमांस से मृतक के शरीर को ढका जाता था।"[2] इस धारणा की पुष्टि में यहाँ ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया गया है—

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते ॥ —१०।१६।७

यहाँ गो शब्द से तात्पर्य गौ से उत्पन्न पदार्थ घी से है, परन्तु सायण ने गोचर्म अर्थ करके मन्त्रार्थ को विकृत कर दिया है। मन्त्र का देवता अग्नि है, इसलिए यहाँ अग्निदेव के रूप में चिता की अग्नि अभिप्रेत है, जो मृत शरीर को जलाती है। 'गो' शब्द का अर्थ गोचर्म किये जाने में मन्त्र के शब्दों से कोई प्रमाण नहीं मिलता। **'अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्व'** का अर्थ है कि मृतक के शरीर को गोघृत से उत्पन्न अग्नि की ज्वालारूपी कवच से अच्छी तरह ढक दो जिससे वह अच्छी तरह जल जाए। ऋग्वेद का यह मन्त्र अथर्ववेद १८।२।५८ में भी आया है। इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए श्री सातवलेकरजी ने लिखा है "मुर्दे को जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रा में डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोर से प्रज्वलित होकर उसे पूरी तरह जला दे। यास्क ने निरुक्त २।२।३ में उद्धृत **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋक्० ६।४६।४) का अर्थ **'गोदुग्ध** के साथ सोमरस को पकाओ' लिखा है।

ऋग्वेद के निम्नलिखित दो मन्त्रों में बैल को पकाने का उल्लेख हुआ कहा जाता है—

१. अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम् । —१०।२७।२
२. पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः । —१०।२८।३

वस्तुतः **'वृषभम्'** और **'पचन्ति'** का अर्थ सर्वत्र 'बैल' और 'पकाना' ही नहीं होता। वेद में वृषभ शब्द कई स्थानों पर **'मेघ'** और **'नरपुंगव'** अथवा समर्थ पुरुष के अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त (६।२२।१) में इसकी निरुक्ति की गयी है—वर्षणात् **वृषभः** अर्थात् वर्षा के कारण मेघ को 'वृषभ' कहा जाता है। **'पच्'** धातु का अर्थ आगपर रखकर राँधना ही नहीं है। हिन्दी में भी 'कान पक गये', 'बाल पक गये', 'फ़सल पक गयी' आदि वाक्यों में पक (पच्) धातु का अर्थ 'आगपर रखकर राँधना' नहीं है। उपनिषदों में **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'** (कठ०१।६), **'अग्नेनाभिषिक्ताः पचन्तीमे प्राणाः'** (मैत्र्युपनिषद् ६।१२) इत्यादि वाक्यों में भी 'पच्' का अर्थ 'आग पर राँधना' नहीं है। प्रकरणानुसार इसका अर्थ पुष्ट करना, परिपक्वता (परिणति=परिपाक) को प्राप्त करना, आत्मशक्ति को बढ़ाना, उसका विकास करना आदि भी है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वेदविषयक अनेक भ्रान्तियों का कारण लौकिक और वैदिक भाषा में भेद न करना है। लोक में **'उक्षा'** शब्द का अर्थ बैल है, परन्तु निरुक्त (१।४) में उक्षा **'शब्द'** की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—**"उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः उक्षन्तमुदकेनेति वा"** अर्थात् **'उक्ष'** धातु से, जिसका अर्थ वृद्धि करना और सिंचन करना है, उक्षा शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि मेघ पृथिवी का सिंचन करके

१. The term Go (गो) is often applied to express the products of the cow. This frequently means milk, but rarely the flesh of the animal. In many passages it designates leather used as the material of various objects as a bow string or a sling or tongs to fasten parts of the chariot or reins of the lash of a whip.

२. The ritual of the cremation of the dead required the slaughter of a cow as an essential part, the flesh being used to envelop the dead body. —Ibid. P. 147.

ओषधियों की वृद्धि करता है, इस कारण मेघ को भी **'उक्षा'** कहते हैं। वेद के शब्द यौगिक हैं, यौगिक के स्थान पर रूढ़ अर्थ लेकर ही ग्रिफिथ आदि ने प्राचीन (वैदिक कालीन) आर्यों के गोभक्षक होने का दुष्प्रचार कर दिया।

अथर्ववेद ६।६।३६ में सूक्त का देवता अतिथि-सत्कार है। वहाँ **'एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्'** में मांस भोजन को स्वादिष्ट बताया गया कहा जाता है। इस मन्त्र के पूर्व का प्रसंग यह है कि अतिथि को भोजन कराने से पूर्व गृहस्थ को स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। मांस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार **'मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा'** (निरुक्त ४।१।३)—'मन को प्रिय लगनेवाला कोई भी उत्तम मनभावना पदार्थ' यह अर्थ लिया जा सकता है। शतपथब्राह्मण (११।७) में **'एतद्ध वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्'** कहा है और अमरकोश, हेमचन्द्र, मेदिनी, शब्दार्थकौस्तुभ आदि संस्कृत कोशों में 'परमान्नं तु पायसम्' खीर के लिए पायस शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में अभी तक खीर को परमान्न कहा जाता है।

'अतिथिग्व' शब्द का अर्थ **'अतिथीन् प्रति सेवार्थं गच्छन्'** अर्थात् अतिथियों की सेवा के लिए जानेवाले हैं। 'वैदिक एज' में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इसका अर्थ 'अतिथियों को गोमांस परोसनेवाला' कर दिया, परन्तु इसके लिए उन्होंने एक भी प्रमाण नहीं दिया। सायणाचार्य और महर्षि दयानन्द ने **'अतिथिग्व'** का वही अर्थ किया है जो यहाँ हमने दिया है। मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit English Dictionary में इस शब्द का अर्थ 'To whom guests should go' किया है। ब्लूमफील्ड ने उसका अर्थ 'Presenting cows to guests' किया है।

मांसाहारी स्वभाव से हिंसक—

Dr. D.C. JAIN M.B.B.S., M.D., D.M.,

Head of the Deptt. of Neurology,Safdarjung Hospital, New Delhi

And

Dr. S.K. SHARMA,SENIOR SCIENTIFIC OFFICER

Deptt. of Neurology,All India Institute of Medical Sciences,

New Delhi

Write—

मांसाहारसे उत्तेजनात्मक (मारकाट की) प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

MEAT-EATING ENCOURAGES AGGRESSIVE BEHAVIOUR

(Paper was read in the national Seminar, held in Vigyan Bhawan, New Delhi on 13-4-1984)

The canine animals are violent. They are cruel whereas the herbivorous animals like horse, elephant are very powerful but at the same time very docile and peaceful. By these examples, it becomes clear that the strength of herbivorous animals is not less than the carnivorous animals.

The strange behaviour of carnivorous is well known to everyone. They eat away their own siblings during the period of hunger. Cats, bitches, lioness eat away their own young ones during the period of hunger, whereas the herbivorous animals like cow, buffalo etc. are not known to behave in such a manner in the period of hunger crisis. It looks very apparent that the aggressive behaviour of carnivorous animals is related to their food intake. Same must be true amongst the human beings.

Mechanism of action of such behaviour appears to be through the neuro-endocrinal numeral disturbances. The neuro excitatry substances must be getting released by such animal food substances.

[गाय की विशेषता]

इससे भिन्न बैल गाड़ी, सवारी, भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं तथा वैसे गाय दूध में अधिक उपकारक होती है। परन्तु जैसे बेल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध-घी से नहीं। इससे मुख्योपाकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा[1]।

[अन्य प्राणियों से लाभ]

बकरी के दूध से २५६२० पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस आदमियों का पालन होता है। वैसे हाथी, घोड़ों, ऊँट, भेड़, गदहे[2] आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारनेवालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाले जानिएगा।

[गोहत्या विदेशियों के शासनम से आरम्भ हुई]

देखो, जब आर्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्य्यावर्त्त वा अन्य भूगोल के देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे, क्योंकि दूध-घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपायी राज्याऽधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है, क्योंकि **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'** (वृद्धचाणक्य १०।१३)। जब वृक्ष का मूल ही काट किया जाए, तो फल-फूल कहाँ से हों ?

Vegetarian nutrition is the basis of all degnified moral life. It maintains the equilibrium of the body and mind. **Non-vegetarian food on the other hand spoils the equilibrium of body and mind and makes the man impulsive and emotional. His understanding is clouded by emotional feeling and he may indulge in immoral activities.** Therefore vegetarian nutrition has not only moral aspects in abundance but it is the sole basis of moral life.

Mental health of the person also depends upon the type of food which he is consuming. For example, the food substances which are excitant to the nervous system makes the person restless, violent, where as the food which is derived from plant food has a tranquilling action. **Animal food makes the person restless and aggressive.**

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि एडविन आर्नल्ड (Edwin Arnold) ने 'The Light of Asia' नाम से महात्मा बुद्ध की छन्दोबद्ध जीवनी लिखी है। संसारभर में व्याप्त हिंसा को लक्ष्य करके उसने एक स्थान पर कहा है—

To live on death and seek peace of mind,
What a folly I find in mankind.

मनुष्य कितना मूर्ख है जो मृत्यु (हिंसा से प्राप्त भोजन) पर जीवित रहकर मन की शान्ति खोज रहा

---

१. आधुनिक वैज्ञानिक इस बात पर चकित हैं कि प्रत्येक पशु के मांस वा दुग्ध में संखिया का अंश पाया जाता है। गाय के मांस में भी संखिया का अंश उपलब्ध होता है, परन्तु उसके दुग्ध में आज तक संखिया का अंश उपलब्ध नहीं हुआ। इस से भी गाय के दुग्ध का वैशिष्ट्य प्रत्यक्ष है।

२. शीतला=चेचक रोग में गदही का दूध रामबाण औषध है।

[व्याघ्रादि से गौ आदि पशुओं की रक्षा]

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जाएँ, तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएँ।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें, और प्राण से भी वियुक्त करदें।

[मारे गये हिंस्र पशुओं के मांस का क्या करें ?]

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें ?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा को मांसाहारी खावे, तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।

[भक्ष्य-अभक्ष्य की परिभाषा]

जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह **'अभक्ष्य'** और अहिंसा, धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना 'भक्ष्य' है।

[वैधकशास्त्रोक्त भक्ष्याऽभक्ष्य]

जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि-बलपराक्रम-वृद्धि और आयुवृद्धि होवे, उन तण्डुलादि, गोधूम, फल-मूल, कन्द, दूध-घी, मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब 'भक्ष्य' कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करनेवाले हैं, उन-उनका सर्वथा त्याग करना और जो-जो जिस-जिसके लिए विहित हैं, उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी 'भक्ष्य' है।

है। **'एकस्य क्षणिका प्रीतिरेकः प्राणैर्विमुच्यते'** जो अपने ज़रा से मज़े के लिए दूसरे की जान लेने में संकोच नहीं करते, ऐसे मनुष्यों से भरे संसार में सुख-शान्ति कहाँ हो सकती है ? मनु ने इस दुष्कर्म की जघन्यता के कारण लिखा है—

> **अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।**
> **संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥** —मनु० ५।५१

(अनुमन्ता) मारने की अनुमति देनेवाला (विशसिता) मांस काटनेवाला, (निहन्ता) पशु की हत्या करनेवाला (क्रय-विक्रयी) मांस ख़रीदने और बेचनेवाला (संस्कर्त्ता) पकानेवाला (उपहर्त्ता) परोसनेवाला (च) और (खादकः) खानेवाला—ये सभी हत्यारे और पापी हैं। ये सभी दण्डनीय हैं—फाँसी, आजीवन कारावास, दस साल ..... छह महीने—अपने-अपने अपराध के अनुरूप सभी को फल भोगना पड़ेगा—इसी जन्म में अथवा जन्मान्तर में। हिंसक की हिंसा अहिंसा है, क्योंकि वह हिंसा का नाश है।

आयुर्वेदोक्त भक्ष्याभक्ष्य—वैद्यकशास्त्र में अनेक स्थलों में विभिन्न प्रकार के मांसों के गुण दोषों के आधार पर रोगियों के लिए मांसाहार का निर्देश किया गया है। औषध या पथ्यापथ्य के रूप में यह विधान मांसाहारियों के लिए किया गया है। आयुर्वेदशास्त्र तो मनुष्यमात्र के लिए है, अतः वहाँ यह व्यवस्था अधिकारी-भेद से जाननी चाहिए। वह धर्माधर्म की दृष्टि से नहीं, रोगी-विशेष के हिताहित की दृष्टि से विशुद्ध वैज्ञानिक अथवा रासायनिक आधार पर है। धर्मशास्त्र से अविरुद्ध आयुर्वेदोक्त भोजन सर्वश्रेष्ठ है।

मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी विज्ञान के पण्डित थे। रोगी होनेपर जब उनसे कहा गया कि मांसाहार से आप को रोग से मुक्ति मिल सकती है, तो उन्होंने पूछा—क्या फिर मैं कभी नहीं मरूँगा ? सकारात्मक उत्तर न मिलने पर उन्होंने कहा—यदि मरना अनिवार्य है तो कुछ दिन जीने के लिए किसी और के प्राण क्यों लूँ ?

FOOD VALUE CHART

पौष्टिक तत्त्वतुलनात्मक चार्ट

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित

नाम पदार्थ Name of Food Stuff	प्रोटीन Protein %	चिकनाई Fat %	खनिज लवण Mineral %	कार्बोहाइड्रेट्स Carbo-hydrates %	कैलशियम Calcium %	फासफोरस Phos-phorus %	लोहा Iron Units	कैलोरी Calories per % Grs
शाकाहारी खाद्य Vegetarian Foods (प्रत्येक 100 Grams में)								
Green Gram मूंग	२४.०	१.३	३.६	५६.६	०.१४	०.२८	८.४	३३४
Black Gram उड़द	२४.०	१.४	३.४	६०.३	०.२०	०.३७	६.८	३५०
Red Gram अरहर (तूअर)	२२.३	१.७	३.६	५७.२	०.१४	०.२६	८.८	३३३
Lentil मसूर	२५.१	०.७	२.१	५६.७	०.१३	०.२५	२.०	३४६
Peas मटर	२२.६	१.४	२.३	६३.५	०.०३	०.३६	५.०	३५८
Bengal Gram चना	२२.५	५.२	२.२	५८.६	०.०७	०.३१	८.६	३७२
Cow Gram लोभिया (चौला)	२४.६	०.७	३.२	५५.७	०.०७	०.४६	३.८	३२७
Soya Beans सोयाबीन	४३.२	१६.५	४.६	२०.६	०.२४	०.६६	११.५	४३२
Almond बादाम	२०.८	५८.६	२.६	१०.५	०.२३	०.४६	३.५	६५५
Cashewnut काजू	२१.२	४६.६	२.४	२२.३	०.०५	०.४५	५.४	५६६
Coconut नारियल	४.५	४१.६	१.०	१३.०	०.०१	०.२४	१.७	४४४
Gingelly तिल	१८.३	४३.३	५.२	२५.२	१.४४	०.५७	१०.५	५६४
Groundnut मूंगफली	३१.५	३६.८	२.३	१६.३	०.०५	०.३४	१.६	५४६
Pistochionut पिस्ता	१६.८	५३.५	२.८	१६.२	०.१४	०.४३	१३.७	६२६
Walnut अखरोट	१५.६	६४.५	१.८	११.०	०.१०	०.३८	४.८	६८७
Cumin जीरा	१८.७	१५.०	५.८	३६.६	१.०८	०.४६	३१.०	३५६
Kandanthippli पीपल	६.४	२.३	४.८	६५.८	१.२३	०.१६	६२.१	३१०
Fenugreek मेथी	२६.२	५.८	३.०	४४.१	०.१६	०.३७	१४.१	३३३
Cheese पनीर	२४.१	२५.१	४.२	६.३	०.७६	०.५२	२.१	३४८
Ghee घी	—	६८.०	—	—	—	—	—	६००
Skimmed milk Pwoder स्प्रेटा दूध पाउडर	३८.३	०.१	६.८	५१.०	१.३७	१.००	१.०४	३५७

मांसाहारी खाद्य Flesh Foods (प्रत्येक १०० ग्राम में)

Egg अण्डा	१३.३	१३.३	.१६	—	०.०६	०.२२	२.१	१७३
Fish मछली	२२.६	०.६	०.८	—	०.०२	०.१६	०.६	६१
Mutton बकरी का मांस	१८.५	१३.३	१.३	—	०.१५	०.१५	२.५	१६४
Pork सुअर का मांस	१८.७	४.४	१.०	—	०.०३	०.२	२.३	११४
Beef गाय का मांस	२२.६	२.६	१.०	—	०.०१	०.१६	०.८	११४

अण्डों से हार्ट अटैक

EGGS CAUSE MOSTLY FATAL HEART ATTACKS

(The Hindustan Times, Dt. Oct. 19, 1985, Page-5, Column-4)

Prof. Michael Brown and Prof. Josef Goldstein of U.S.A. winneres of Noble Prize for Meicine in 1985 recommend a diet free of eggs and saturated animal fats to avoid atherosclerosis which causes fatal heart attacks. They have found a direct relationship between fatty diet and atherosclerosis. Atherosclerosis is caused by accumulation of cholesterol on the walls of arteries supplying blood to heart muscles. Over the years, the deposition narrows the channel until a clot suddenly forms, inhibiting blood supply starving the heart muscles of oxygen and causing a heart attack, mostly fatel, they say. Cholesterol—the fatty alcohol, is carried within certain particles circulating in the blood. Called low-density-lipoproteins (LDL).

अमेरिका में पिछले वर्ष १९८५ में, मैडिसन के अन्दर नोबल प्राइज़ के विजेता प्रो० माइकल ब्राउन और जोसफ गोल्डस्टीन ने अपने मैडिकल रासायनिक विश्लेषणों (Medical Chemical Analysis) द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि अण्डे-मांस आदि खाने से घातक हार्ट अटैक (Fatal Heart Attack) पैदा होता है। क्योंकि अण्डों और मांस में कोलेस्टरोल नामक विष की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है। यह चिकना अल्कोहल होता है जो दिल को रक्त पहुँचानेवाली धमनियों (Arteries) में धीरे-धीरे जमा होकर उनको सुकेड़ लेता है और एक दिन अचानक धमनियों (arteries) का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस तरह दिल को खून मिलना बन्द हो जाता है और वह व्यक्ति तुरन्त हार्टफेल से निश्चितरूप से मर ही जाता है। इस असाध्य रोग का अभी तक कोई इलाज़ नहीं निकला है।

American Dr. Ketherine Nimmo, D.C.R.N., Oceano, California (U.S.A.) लिखते हैं—

An egg contains about 4 grains of cholesterol. When eggs are eaten, the cholesterol content of the blood rises and the tendeny towards the development of gall stones, heart troubles, brain and kidney diseases increases.

वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि एक अण्डे में लगभग ४ ग्रेन कोलेस्टरोल नामक भयानक तत्त्व पाया गया है। कोलेस्टरोल की इतनी अधिक मात्रा के कारण अण्डे दिल की बीमारी, हाई ब्लडप्रैशर, धमनियों में ज़ख्म, गुरदों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा करते हैं।

(नवभारत टाइम्स, दि० ११ सितम्बर, १९८५ पृष्ठ १, कालम ८ पर छपा)

INSTITUTE OF HEALTH AND NUTRITION

All India Institute of Medical Sciences, New Delhi

की

नयी खोज

अण्डे खाने से कैंसर

EGG-EATING MAY CAUSE CANCER

प्रत्येक १० में से ९ अण्डों में कैंसर पैदा करनेवाले डी.डी.टी. विष के अंश पाये गये हैं।

D.D.T Poison, which is found in nine eggs out of every ten eggs, may cause cancer—a fatal disease. What the hens eat, is mixed with D.D.T. poison and thus their eggs contain D.D.T. poison. Relation between D.D.T. and cancer is well established now-a-days.

Moreover vegetarian diet is quite useful for health while non vegetatian diet is absolutely harmful to health. Therefore, for the sake of health everyone should give up eating of eggs, fish and meat.

अण्डे का कैंसर के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कारण—मुर्गियाँ जो चारा खाती हैं, उसमें वातावरण प्रदूषण के कारण कुछ डी.डी.टी. विष अण्डों में आ जाता है।

इस बात का प्रमाण है कि डी.डी.टी. विष तथा अन्य कीटनाशक पदार्थ कैंसर उत्पन्न करने में योगदान दे सकते हैं। इस तरह अण्डे खाने से कैंसर उत्पन्न हो सकता है।

आधुनिक मैडिकल खोजों ने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि आमिष भोजन की अपेक्षा निरामिष भोजन निश्चयपूर्वक गुणकारी तथा हानिरहित होता है, अतः स्वास्थ्य चाहनेवालों को सामिष आहार—अण्डा, मछली, मांस को छोड़कर शाकाहार ही करना चाहिए।

The Indian Council of Medical Research, New Delhi

की

नई खोज

NEW MEDICAL RESEARCH

अण्डे, मछली, व मांस खाने से आँतों में अनेक रोग

EATING EGGS, FISH & MEAT

CAUSES SEVERAL INTESTINAL DISEASES

(Speech given in the world conference, New Delhi on 31st October 1985)

ABSTRACT

Prof. Ramalinga Swamy, chief of the Indian Council of Medical Research, said that the developing countries should not copy the western style of diet. People in many western countries have realised that eating mutton or other non-vegetarian food was not good. The Proliferation of intestinal diseases was the

direct result of too much meat being consumed. The cult of vegetarianism was gaining ground in the west, he added.

अर्थात् भारतवासियों के लिए यूरोप, अमेरिका आदि पश्चिमी देशों के खानपान की अन्धाधुन्ध नकल करके अपने खानपान में मांस, शराब आदि का प्रयोग करना, सर्वथा अनुचित है। अब तो बहुत सारे पश्चिमी देश, यह अच्छी तरह से समझ गये हैं कि बकरे का या सूअर का या गाय का मांस अथवा किसी भी प्रकार का सामिष आहार (अण्डे, मछली, मांस का भोजन) स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैडिकल साइंस ने अण्डे, मछली, मांस का, अन्तड़ियों के रोगों के साथ गहरा सम्बन्ध बताया है। पश्चिम में शाकाहार बढ़ता जा रहा है जबकि भारत में घटता जा रहा है—यह दुर्भाग्य का तथा बड़े खेद का विषय है। मानव को अपने स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए मांसाहार का त्याग कर शाकाहार अपनाना चाहिए।

A GREAT MEDICAL AUTHORITY OF AMERICA

Dr. ALVIN E. ADAMSA M.D.

MEDICAL DIRECTOR

WILLIAMSPORT NURSING HOME, WASHINGTON

की

नई खोज

New Medical Scientific Research

मछली व मांस खाने से आँतों में कैंसर

EATING FISH and MEAT MAY CAUSE COLON CANCER

It was brought into the notice that colon cancer is likely to be produced by meat-eating which include fish, beef and pork. Cancer relationship with the animal food is related to low fibre contents in it.

Meat in the diet is now suspected by many Scientists to be a major cause of cancer of the colon. With a high meat diet the transit time of food through the gastrointestinal system is prolonged. Waste matter which should be eliminated promptly remains in contact with the rectal tissue for long periods of time. Cancer causing compounds may be formed by chemical reactions or as by products of bacterial motabolism. These chemicals may initiate cancer in the colan wall. Cancer is the number two killer in U.S.A. and colon cancer is the most common cause of cancer deaths. 75% of all colon cancer occur within the last six inches of the colon where faeces are stored.

साराँश—आज बहुत-से वैज्ञानिकों ने आँतों के कैंसर का मुख्य कारण, मछली, भेड़, बकरी, सूअर, गाय आदि के मांस-भक्षण को बताया है, क्योंकि इनमें भोजन-तन्तुओं (Dietary Fibres) की बहुत कमी होने के कारण मांस खानेवालों को प्रायः कब्ज रहता है, इस कारण मलाशय में मल लम्बे अरसे तक रहने के कारण—रासायनिक प्रक्रिया से तथा ख़तरनाक कीटाणुओं की संख्या वृद्धि से कैंसर पैदा करनेवाले तत्त्व उत्पन्न होते हैं, जो आन्तों के अन्तिम ६″ भाग में कैंसर का रोग पैदा करते हैं।

[सहभोजन में दोष]

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं ?

उत्तर—दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसीलिए—

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ —मनु० २।५६

न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे, न किसी के भोजन के बीच आप खावे। न अधिक भोजन करे, और न उच्छिष्ट अर्थात् भोजन किये पश्चित् हाथ-मुख धोये विना कहीं इधर-उधर जाए।

[उच्छिष्ट' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—'**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**'[१] इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना, अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके पश्चात् शिष्य को भोजन करना चाहिए।

[उच्छिष्ट' पर विशेष विचार]

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध, और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है। पुनः उसको भी न खाना चाहिए।

उत्तर—सहत कथनमात्र ही उच्छिष्ट होता है, परन्तु वह बहुत-सी ओषधियों का सार होने से ग्राह्य है। बछड़ा अपनी माँ के बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं पी सकता, इसलिए उच्छिष्ट नहीं। परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता।

---

१. द्र०—'गुरोरुच्छिष्टमन्नं यो भक्षयेद् भक्तिभावतः' । प्राणतोषिणी पृ० १८६, जीवानन्द संस्करण ।

देखो, स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही[1] है, इसलिए मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट न खावें ?

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

प्रश्न—कहोजी ! मनुष्यमात्र के हाथ की की-हुई रसोई, उस अन्न के खाने में क्या दोष है ? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चाण्डाल-पर्यन्त के शरीर हाड़-चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है, वैसा ही चाण्डाल आदि के। पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्ध आदि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिए ब्राह्मिणादि उत्तमवर्णों के हाथ का खाना, और चाण्डालादि नीच, भङ्गी, चमार आदि का न खाना।

भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का भी है। तो या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ?

[गोबर से चौका लगाने के लाभ]

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते ? और गोबर के चौक में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता, जैसाकि मनुष्य के मल से। गोबर चिक्कना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलीन होता है। जैसा मिट्टी से मैल चढ़ता है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता। मट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं, वह देखने में अति सुन्दर होता है। और जहाँ रसोई बनती है, वहाँ भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है। उससे मक्खी कीड़ी आदि बहुत-से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं। जो उसमें झाडू लेपनादि से शुद्धि प्रतिदिन न की जाए, तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है, इसलिए प्रतिदिन गोबर, मिट्टी, झाडू से सर्वथा शुद्ध रखना। और जो पक्का मकान हो तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिए, इससे पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

जैसे मियाँजी के रसोई के स्थान में कहीं कोयला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हाँडी, कहीं जूठी रकेबी, कहीं हाड़गोड़ पड़े रहते हैं, और मक्खियों का तो क्या कहना ? वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे, तो उसे वान्त होने का भी सम्भव है और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वही स्थान दीखता है। भला, जो कोई इनसे पूछे की यदि गोबर से चौका लगाने में तो तुम दोष गिनते हो, परन्तु चूल्हे में कण्डे जलाने, उसकी आग से तमाकू पीने, घर की भीति पर लेपन करने आदि से भी मियाँजी का चौका भ्रष्ट हो जाता होगा, इसमें क्या सन्देह ?

१. इस वाक्य में 'यह व्यवहार' पदों से प्रकरण-प्राप्त 'दूसरे का उच्छिष्ट खाना' रूप व्यवहार की ओर संकेत है।

[भोजन स्वच्छ स्थान में बैठकर करें]

प्रश्न—चौके में बैठके भोजन करना अच्छा, वा बाहर बैठके ?

उत्तर—जहाँ पर अच्छा, रमणीय, सुन्दर स्थान दीखे, वहाँ भोजन करना चाहिए, परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठके वा खड़े-खड़े भी खाना-पीना अत्यन्त उचित है ।

[आर्यों द्वारा शुद्ध रीति से बनाया भोजन भोज्य है]

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, और दूसरे के हाथ का नहीं ?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे, तो बराबर सब आर्यों के हाथ का खाने में कुछ भी हानि नहीं, क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, वर्त्तन-भाँडे माँजने आदि बखेड़ों में पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके ।

[भोजन-सम्बन्धी प्राचीन आर्यों का व्यवहार]

देखो ! महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा-ऋषि-महर्षि आये थे । एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे । जब से ईसाई, मुसलमान आदि के मत-मतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ उन्होंने मद्यपान गोमांसादि का खाना-पीना स्वीकार किया । उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया ।

देखो, काबुल, कंधार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे । शकुनि आदि कौरव-पाण्डवों के साथ खाते-पीथे थे, कुछ विरोध नहीं करते थे, क्योंकि उस समय सर्वभूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे तभी भूगोल में सुख था। । अब तो बहुत-से मत वाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है । इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है ।

परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अङ्कुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों । इसमें सब विद्वान् लोग विचारकर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें ।

[पूर्वार्ध-उत्तरार्ध का सम्बन्ध]

यह थोड़ा सा आचार-अनाचार भक्ष्याऽभक्ष्य विषय में लिखा । इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशवें समुल्लास के साथ पूरा हो गया । इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिए नहीं लिखा कि जब तक मनुष्य सत्याऽसत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते, तब तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते । इसलिए प्रथम सबको सत्य शिक्षा का उपदेश करके, अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे ।

[उत्तरार्द्ध के समुल्लासों का विभाग]

इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मत-मतान्तर, दूसरे में जैनियों के, तीसरे में ईसाइयों, और चौथे में मुसलमानों के मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे । और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखालाया जाएगा । जो कोई विशेष खण्डन-मण्डन देखना चाहें, वे इन चारों समुल्लासों में देखें ।

[ग्रन्थकार की पाठकों से अभ्यर्थना]

परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों मे भी कुछ थोड़ा-सा खण्डन-मण्डन किया है। इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्याय-दृष्टि से जो देखेगा, उसके आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा और जो हठ-दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिए जो कोई इसको यथावत् न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा और विद्वानों का यही काम है कि सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं॥

इति श्रमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित आचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषये
दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१०॥
समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः

चरक ऋषि ने भक्ष्याभक्ष्य के सन्दर्भ में कहा है—'**हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्**'—स्वस्थ मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह (१) अपने शरीर की प्रकृति के अनुकूल भोजन करे, (२) आवश्यकता से अधिक भोजन न करे, (३) ईमानदारी से कमाया हुआ भोजन करे—'**अग्ने नय सुपथा राये**'।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ —मनु० २।५७

अधिक भोजन करना, स्वास्थ्यनाशक, आयुनाशक, सुखनाशक, अहितकर और लोगों द्वारा निन्दित माना गया है, इसलिए उसका अर्थात् अधिक भोजन का परित्याग कर देवे।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण केवल १२ समुल्लासों का छपा था। इस कारण कुछ लोगों का यह कहना है कि १३वाँ और १४वाँ समुल्लास आर्यों ने ग्रन्थकार के निधन के पश्चात् लिखकर मिला दिये। किन्तु प्रथम संस्करण में ही दशम समुल्लास के अन्त में उपलब्ध ग्रन्थकार के लेख को पढ़ने पर यह शंका निर्मूल हो जाती है। वहाँ लिखा है—

"ए दश समुल्लास सिक्षा के विषय में लिखे। इसके आगे आर्यावर्त्तवासी मनुष्य, जैन, मुसल्मान और अंग्रेजों के आचार-अनाचार सत्यासत्यमतमतान्तर के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे। इनमें से प्रथम समुल्लास में आर्यावर्त्तवासी मनुष्यों के मतमतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। दूसरे समुल्लास में जैनमत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। तीसरे में मुसलमानों के मत के विषय में खण्डन-मण्डन लिखेंगे और चौथे में अंग्रेजों के मत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। सो जो देखा चाहैं खण्डन और मण्डन की युक्ति उन चारों समुल्लासों में देख लेवैं। दस समुल्लास तक खण्डन व मण्डन नहीं लिखा, क्योंकि जब तक बुद्धि मनुष्यों की सत्यासत्यविवेकयुक्त नहीं हो जाती तब तक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में समर्थ नहीं होते। इस हेतु ग्रन्थ के पूर्व भाग में सत्य-सत्य मनुष्यों के हित के हेतु शिक्षा लिखी और इस ग्रन्थ के उत्तरभाग में सत्य मत का मण्डन और असत्य मत का खण्डन लिखेंगे। संस्कृत में रचना करते तो सब मनुष्यों के समझ में नहीं आता, इस हेतु भाषा में किया गया।"

इससे स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण में भी लिखे चौदह समुल्लास ही गये थे, छपे भले ही बारह थे। हाँ, एक बात का भेद अवश्य है—प्रथम संस्करण में तेरहवें में मुसल्मान-मत का खण्डन-मण्डन और चौदहवें में अंग्रेजों (ईसाइयों) के मत का विवेचन था। आजकल तेरहवें में ईसाई-मत और चौदहवें में इस्लाम की समीक्षा है। इन मतों के प्रादुर्भाव के ऐतिहासिक क्रम को देखते हुए यह युक्तिसंगत है।

हम यहाँ प्रथम संस्करण में दशम समुल्लास के अन्तिम पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट (प्रतिकृति) दे रहे हैं—

समेंफिरभोजनमेंकेसेभेदहोगा यहभेदथोड़े दिनसेचलाहै कि जबसेनानाप्रकारकेमतमतान्तरचल औरमनुष्यकीबुद्धिमेंपरस्पर विरोधहोनेसे प्रीतिनष्टहोगई वैरहोगया इसमें कोईकिसीक उपकारमें चितनहींदेता औरअपने देशकेमनुष्योंके उपकारकेहेतु कोईप्रवृत्तनहीहोताकिन्तुअपनेर मतरूबमेंरहतेहैं सोसबकानाश होताजाताहै यहबड़ाअनाचारहै औरतथाविचारसेशुद्धपदार्थके खानेसे किसीकापरलोक वाधर्मविगड़तानहीं परन्तु विद्याऔर विचारकेनहोनेसे इनबखेड़ मेंमनुष्यलोगपड़केसदादुःखीरह ते हैं औरजोपरस्परगुणग्रहणकरेंतोसुखीहोजांय औरदेखनाचा- हिए किसमयकेऊपरभोजननहीं प्राप्तहोताहै भोजनकेपात्रोंको उठाकेलादेफिरतेहैं बैलोंकोनांईदरिद्रलोग औरधनाढ्यलोगव- हुतरसोईदार आदिकसाथमेंरहतेहैं उसमें मिथ्याधन बहुतखर्च होजाताहै इत्यादिकसबव्यवहार बुद्धिमानलोगविचारलें युक्तर व्यवहारकरें अयुक्तकभीनहीं एदशसमुल्लासमिच्छाके विषयमेंलि- खे इसकेआगेआर्यावर्त्तवासीमनुष्य जैनमुसल्मान औरअंगरेजों केआचारअनाचार सत्यासत्यमतमतान्तरकेखण्डन औरमण्डन केविषयमेंलिखेंगे इनमेंसेप्रथमसमुल्लासमें आर्यावर्त्तवासी मनु- ष्योंकेमतमतान्तरके खण्डनऔरमण्डनकेविषयमेंलिखाजायगा दूसरेसमुल्लासमेंजैनमतके खण्डनऔरमण्डनकेविषयमें लिखा जायगा तीसरेमेंमुसल्मानोंकेमतकेविषयमें खण्डनऔरमण्डन लिखेंगें औरचौथेमेंअंगरेजोंकेमतमें खण्डनऔरमण्डनकेविषय मेंलिखाजायगा सोजोदेखाचाहै खण्डनऔरमण्डनकोयुक्तिउन चारोंसमुल्लासोंमेंदेखलें इससमुल्लासतकखण्डन वामण्डननहीं लिखा क्योंकिजबतकबुद्धिमनुष्योंकी सत्यासत्यविवेकयुक्तनहींहो- तो तबतक सत्यके ग्रहण औरअसत्यके त्याग करनेंमेंसमर्थ नहीं होते इसहेतुग्रन्थकेपूर्वभागमेंसत्यर मनुष्योंकेहितकहेतुशिक्षालि- खी औरइसग्रन्थकेउत्तरभागमें सत्यमतकामण्डनऔरअसत्यम-

कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

पे PhonePe

ACCEPTED HERE

Scan & Pay Using PhonePe App

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.